॥श्री हरिः॥

श्रीमद्भागवत महापुराण की महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य
विरचित संस्कृत टीका (हिंदी अनुवाद सहित)

श्री सुबोधिनी

तृतीय स्कन्ध

तृतीय खण्ड

अध्याय : १७ - २४

।। श्री हरिः ।।

श्री मद्वल्लभाचार्य महाप्रभु पंच शताब्धी महामहोत्सव

प्रकाशन :

श्री सुबोधिनी द्वितीय ग्रंथ-माला चतुर्थ सुमन

श्री मद्खण्ड भूमण्डलाचार्य श्री कृष्ण वदन विरह वैश्वानरावतार

श्री मद्वल्लभाचार्य प्रादुर्भाविता

श्री मच्चतुर्थ प्रस्थान श्री मद्भागवत शास्त्र सर्ग लीला प्रतिपादक

तृतीय स्कन्ध सुबोधिनी

हिन्दी अनुवाद सहित

अध्याय १७ से २४

सहायक ग्रंथ – "प्रकाश" – श्री मद्गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजी महाराज

श्री भागवत गूढार्थ प्रकाशन परायण ।
साकार ब्रह्म वादैकस्थापको वेद पारगः ।।
मायावाद निराकर्ता सर्ववाद निरासकृत ।
भक्तिमार्गाब्ज मार्तण्ड स्त्रीशुद्राद्युद्धतिक्षमः ।।
श्री भागवत पीयूष समुद्र मथनक्षमः ।
तत्सार भूतरासस्त्री भाव पूरित विग्रहः ।।
श्री भागवत प्रतिपदमणिवर भावांशु भूषिता मूर्ति ।
श्री वल्लभाभिवानस्तनोतुनिजदास सौभाग्यम् ।।

(श्री मद्विट्ठलेश प्रभुः चरण)

राष्ट्र भाषा अनुवादक :
गो. वा. प. भ. श्री फतहचन्दजी वासु (पुष्करणा) शास्त्री, विद्याभूषण, जोधपुर ।
अध्याय १७ से २१
प. भ. त्रिपाठी नारायणजी शास्त्री नाथद्वारा अध्याय २२ से २४

प्रथमावृति - १०००
श्री दोलोत्सव
तिथि फाल्गुन शुक्ला १५ वि० सं० २०३७
दिनांक २० मार्च १९८१

सादर भेंट
संस्था सदस्यों को

प्रकाशक :

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (पञ्जीकृत)

मानधना भवन चौपासनी मार्ग,
जोधपुर नगर (राजस्थान) पिन कोड - ३४२००३

॥ श्री हरि ॥

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (पञ्जिकृत)

जोधपुर (राजस्थान)

उद्देश्य – जगद्गुरु श्री वल्लभाचार्य चरण द्वारा प्रति पादित शुद्धाद्वैत दर्शन एवं पुष्टि-मार्गीय सिद्धान्तों व ग्रन्थों का राष्ट्रभाषा एवं अन्य भाषाओं में अनुवाद करवा कर जन साधारण निमित्त प्रकाशन करवाना।

संगीत कला, चित्रकला एवं अन्य ललित कलाओं से सम्बन्धित उपलब्ध साहित्य सामग्रियों का शोध करवा कर उनका प्रकाशन करवाना।

विशिष्ठ सहायक सदस्य— रु० ५०००) व इससे अधिक चल अचल सम्पत्ति भेंटकर्त्ता। इनके शुभ नाम सब ग्रंथ मालाओं की सब पुस्तकों में दिये जाते हैं।

सहायक सदस्य— रु० १०००) से रु० ४९९९) तक की चल व अचल सम्पत्ति भेंटकर्त्ता इनके शुभ नाग एक ग्रंथमाला की सब पुस्तकों में दिये जाते हैं।

सम्मानित सदस्य— रु० ५०१) से रु० ९९९) तक भेंटकर्त्ता इनके शुभ नाम केवल एक पुस्तक में प्रकाशित किये जाते हे।

सदस्य रु० १५१) से रु० ५००) भेंट कर्ता - साधारण सदस्य

इस द्वितीय ग्रन्थमाला के सर्व सुमन अर्थात् श्री मद्भागवत महापुराण के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और एकादश स्कन्ध (प्रथम पांच अध्याय) की श्री सुबोधिनी संस्कृत टीका हिन्दी अनुवाद सहित की पुस्तकें सदस्यों को भेट की जावेगी।

इस संस्था के विशिष्ट सहायक—

(१) गो. वा. प. भ. श्री नन्दलालजी मानधना जोधपुर ५०००)
(२) गो. वा. प. भ. श्रीमती सौभाग्यवतीजी नन्दलालजी मानधना जोधपुर ५०००)
(३) हरिलालजी हरिवल्लभदासजी धर्मादा ट्रस्ट अहमदाबाद १०,०००)
(४) श्री वालाभाई दामोदरदास ट्रस्ट तथा बाई रुकमणी पत्नी वकील चिमनलालजी कपूरचन्दजी वैष्णव मंडाण ट्रस्ट अहमदाबाद द्वारा गो. वा. सेठ साकरलाल वाला भाई रु० ५०००)

सहायक सदस्य—

गो. वा. प. भ. हरगोविंददासजी की स्मृति में उनके सुपुत्र प. भ. चिमनलालजी, मोहन लालजी एवं नटवरलालजी उनके ट्रस्ट बम्बई द्वारा भेंट १५०१)
गो. वा. प. भ. मोहनलालजी शर्मा की स्मृति में प.भ. बंशीबाई जतीपुरा १६०१)
प. भ. कृष्णदासजी मूंधड़ा व उनकी धर्म पत्नी सहोदराबाई कलकत्ता १५०१)
प. भ. लाजवन्तीबाई नन्दलालजी भाटिया दिल्ली ११०१)
प. भ. कस्तूरी बहन एवं उनके पुत्र श्री विट्ठलदासजी शाह हैद्राबाद १२५१)

।। श्री हरिः ।।

श्री मद्वल्लभाचार्य महाप्रभु पंच शताब्धी महामहोत्सव

श्री सुबोधिनी द्वितीय ग्रंथ-माला चतुर्थ सुमन

तृतीय स्कन्ध सुबोधिनी

अध्याय १७ से २४

मुख पत्र	अ
संस्था के उद्देश्य एवं विशिष्ठ आजीवन सदस्यों की सूची	आ
विषय सूची	इ
'दो शब्द' गोस्वामी श्री बृज भूषणलालजी महाराज संस्थाध्यक्ष महोदय	ई
विनम्र निवेदन - नन्ददास (रामचन्द्र) मंत्री	उ
संरक्षक एवं द्वितीय ग्रंथ माला के आजीवन सदस्यों की सूची	ऊ
पुष्टिमार्ग के आराध्यदेव श्रीनाथजी	ए
श्री तत्वदीप निबन्ध के भागवतार्थ प्रकरण तृतीय स्कन्ध अध्याय १७ से २४	१
भूमिका	१५
श्री सुबोधनी पुष्पवाटिका से सौरभ पूर्ण चुनी हुई कुछ कलियां (सुबोध रत्नाकर)	१६

अध्याय	शीर्षक	पृष्ठ क्रमांक
१७	हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष का जन्म तथा हिरण्याक्ष की दिग्विजय	१
१८	हिरण्याक्ष के साथ वराह भगवान् का युद्ध	३१
१९	हिरण्याक्ष वध	६९
२०	ब्रह्माजी की रची हुई अनेक प्रकार की सृष्टि का वर्णन	१११
२१	कर्दमजी की तपस्या और भगवान का उन्हें वरदान	१६९
२२	कर्दमजी को देवहूतिजी अर्पण कर मनु महाराज का राजधानी में पहुँचना	२२१
२३	योग द्वारा तैयार किये हुए विमान में कर्दमजी का दाम्पत्य जीवन	२५५
२४	श्री कपिलदेवजी का प्राकट्य एवं कर्दमजी का वन गमन	२९७
	श्लोकों की अनुक्रमणिका तथा शुद्धिपत्रम्	३३३

चित्र सूची

श्री नाथजी (गोवर्धन नाथजी) नाथद्वारा	ऋ
श्री मद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा श्री सुबोधिनी का आलेखन	१

।। श्री हरिः ।।

दो शब्द

तत्व ज्ञान (ब्रह्म, जीव, जगत् बन्ध और मोक्ष) के सत्य स्वरूप की सिद्धि के लिये पूर्व में श्री शंकराचार्यादि चरणों ने वेद गीता और ब्रह्म-सूत्र इन शास्त्रों को मुख्य प्रमाणिक रूप में स्वीकार किया है जिसे प्रस्थानत्रयी कहते हैं किन्तु श्री मद् वल्लभाचार्य चरण ने श्रीमद् भागवत् को प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं किया है अपितु इसे मूर्धन्य प्रस्थान माना है क्योंकि यदि वेदों के अर्थ में शंका हो तो उसे भगवद् गीता से यदि गीता के विषय में शंका हो तो व्यास सूत्रों से यदि व्यास सूत्रों में कोई संशय हो तो उसे श्री मद्भागवत् द्वारा मिटाया जा सकता है।

वेदा : श्री कृष्ण वाक्यानि व्यास सूत्राणि चैवहि
समाधि भाषा व्यासस्य प्रमाण तच्चतुष्टयम

१. वेद (अर्थवाद सहित सब वेद २. गीता (श्री कृष्ण के वचन)
३. व्यास सूत्र और ४. श्रीमद्भागवत् (में समाधि भाषा) ये चारों शास्त्र प्रमाण है।

इस तृतीय स्कन्ध के अध्याय १४ से १९ की कथा समाधिभाषा न होकर मतान्तर या परमत भाषा में है।

मैत्रेयजी ने जैसी कथा श्रवण की उसे विदुरजी को सुनाई है। इस प्रसंग में सनकादि ऋषियों का वैकुण्ठ में पधारना, जय विजय द्वारपालों द्वारा उन्हें द्वार पर रोका जाना, ऋषियों का उस अपराध के कारण पृथ्वी पर तीन जन्म लेकर भगवान् से वध होकर वैकुण्ठ में लौटने का शाप देने का वर्णन है इस प्रसंग से यह सिद्ध होता है कि शास्त्रीय मर्यादा का उल्लंघन भी पर ब्रह्म परमेश्वर की इच्छा से हो जाता है। जय विजय मुक्त थे उनका भूमि पर जन्म लेना मर्यादा के विरुद्ध है। उनके गर्भ धारण से पूर्व संध्या समय कश्यप ऋषि और दिति का ऋषि की इच्छा न होने पर भी समागम होना, जिससे इन बलीष्ट दो राक्षसों का जन्म हुआ जिन ने सारे विश्व पर विजय प्राप्त कर भगवान् से युद्ध किया। हिरण्याक्ष का वराह भगवान् से हनन होना और भगवान् के दर्शन करते हुए देह त्याग करना फिर भी मुक्त न होना, आश्चर्य जनक है क्योंकि भगवन्नाम का महात्म्य इतना प्रबल है कि अजामिल जैसे पतित के मुख से मरते समय "नारायण" पुत्र का नाम लेने पर भी उसका उद्धार हो गया। इन सब का एक ही कारण है कि भगवान् की इस प्रकार की ही लीला करने की इच्छा थी।

हमारे नैतिक जीवन में भी हम देखते हैं कि हमारे विचारे हुए मनोरथों मे भी पूर्ण सफलता नहीं मिलती है जिसका मुख्य कारण भी भगवद् इच्छा ही है। महाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि प्रभु अपनी इच्छा से सब करते हैं। इसलिए निश्चित होकर भगवद्-भजन में तल्लीन होना चाहिए जिसमें ही जीवन की सार्थकता है।

— गोस्वामी वृजभूषणलाल

श्री सुबोधिनी

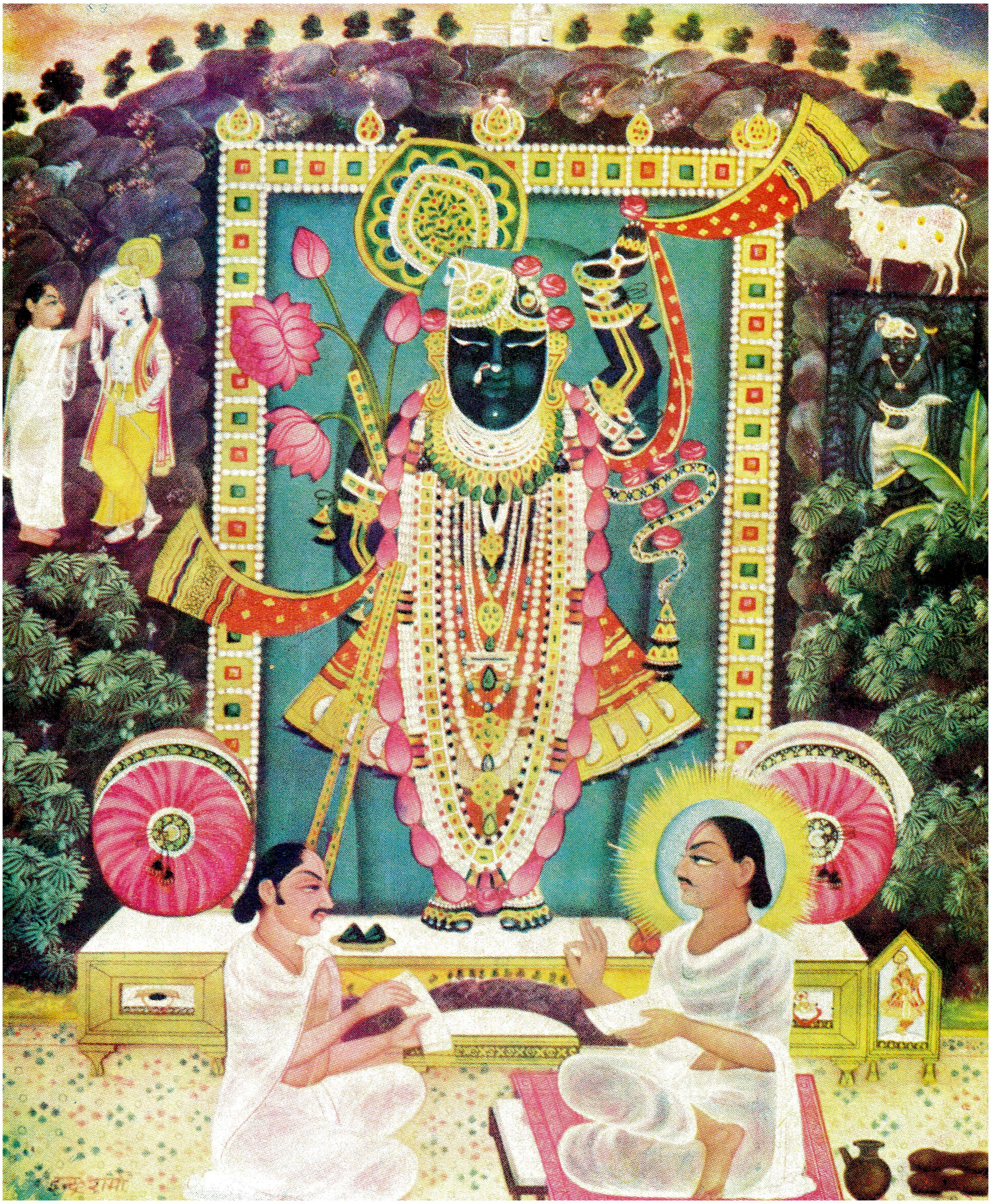

श्री गोवर्द्धन नाथ की मुख्य लीलाओं का मानसी में रसास्वादन करते हुए श्री मद्वल्लभाचार्य जी महाप्रभुजी श्री सुबोधिनी टीका श्री माधव भट्ट जी कश्मीरी को लिखवा रहे हैं ।

श्री हरि

संरक्षक महानुभाव

तिलकायत गोस्वामी श्री गोविन्दलालजी महाराज	नाथद्वारा (राज०)
गो. श्री ब्रजरत्नलालजी महाराज	सूरत
,, श्री गोविन्दरायजी महाराज	पोरबन्दर
,, श्री रणछोड़ाचार्यजी महाराज	कोटा
,, श्री ब्रजरायजी महाराज	राजनगर (अहमदाबाद)
,, श्री घनश्यामलालजी महाराज	कामवन
,, श्री ब्रजभूषणलालजी महाराज	चोपासनी (जोधपुर) जामनगर

निम्न प्रत्येक महानुभाव से रु. १००१) और रु. ५०१) या अन्यथा कथित की सेवा प्राप्त–

प. भ. ठाकुरदासजी हरिदासजी श्रोफ	पूना
,, ,, रामदासजी कृष्णादासजी माँडी वाले	पूना
,, ,, श्रीमती प्रेमा बाई किशनचन्दजी भाटिया डेरे वाले	कानपुर
,, ,, रुक्मणी बाई बिन्नाणी	कलकत्ता
,, ,, मुन्नी बाई (शान्ता देवीजी) एवं उनके सुपुत्र अशोक कुमारजी शर्मा बी.ए.	दिल्ली
,, ,, अमिता बहिनजी पटेल	बडोदरा
,, ,, श्रीमती लक्ष्मीदेवीजी गांधी	बीकानेर
,, ,, श्री केदारनाथजी दम्माणी	मद्रास
,, ,, श्री विजयकुमारजी दम्माणी	कलकत्ता
,, ,, श्रीमती विमला बाई सिंघी	कलकत्ता
,, ,, श्रीमती काशीबाई बिन्नाणी	बम्बई
,, ,, श्रीमती सूरजबाई कोठारी	कलकत्ता
,, ,, श्री उद्धवदासजी एवं उनकी धर्मपत्नी काशीबाई मूंधड़ा	कलकत्ता
,, ,, श्री चत्रभुजदासजी माहेश्वरी एवं उनकी धर्मपत्नी कृष्णाबाई	मुरैना मंडी
,, ,, श्रीमती निर्मलादेवीजी अरोड़ा	इलाहाबाद
,, ,, श्रीमती चन्द्रकान्ताजी आनन्दकुमारजी कर्वा	उदयपुर
,, ,, श्रीमती गंगाबाई गोपालदासजी मोहता	अकोला
,, ,, श्रीमती रतनबाई मोहता (हरदा) एवं उनकी बहिन श्रीमती रंभाबाई राठी	कटक
,, ,, श्री दामोदरदासजी एवं उनकी धर्मपत्नी सूरजबाई मूंधड़ा	कलकत्ता
,, ,, श्री गग्गुभाईजी खुशहालभाईजी सोनी	राजकोट
,, ,, विठ्ठलदासजी वल्लभदासजी कराणी	बम्बई
,, ,, मोहनीबाई माहेश्वरी	कलकत्ता
,, ,, राधादेवीजी लोहिया	मिरजापुर
,, ,, एक भगवदिया वैष्णव बहन	हैदराबाद
,, ,, इन्द्रवदनजी ईश्वरलालजी शाह–रु. १०५१)	अहमदाबाद

निम्न सदस्य महोदय से रु. ५०१) की सेवा प्राप्त हुई।

प. भ. गोकुलदासजी राठी	हिंगनघाट
,, ,, कंचनलालजी लीमड़ो	बम्बई
,, ,, बाबुभाई संघवी	हुबली
,, ,, गोकुलदासजी लालजी भाई राजाणी	जामनगर

निम्न प्रत्येक भेंटकर्ता महानुभाव से अपने स्व-जन गौलोकवासो महोदय को स्मृति में रु. १००१) और ५०१) की आर्थिक सेवा प्राप्त हुई है।

स्मृति में	भेंटकर्ता का शुभ नाम
नि. लो. श्रीमतीकृष्णप्रिया बेटी जी महोदया आत्मजा	पूजनीया अम्माजी काशी
प. भ. प्रेमलता बाई, बलदेवदासजी डागा आत्मजा	उद्धवदास जी एवं काशी बाई मून्धड़ा—कलकत्ता
प. भ. गोकुलदास जी एवं सरस्वती बहन	सुपुत्र पुरुषोत्तम दास जी पूना
प. भ. द्वारकादास जी श्यामदास जी	सुपुत्र कृष्णदास जी द्वारकादास जी पूना
प. भ. दिलसुख राय जी राठी	धर्मपत्नी श्यामा बाई एवं सुपुत्र लक्ष्मी नारायण जी दिल्ली
प. भ. चन्द्रप्रकाश जी	माता जमुना बाई अनुज आत्म प्रकाश जी दिल्ली
प. भ राधा बाई रामनारायण जी	सुपुत्र नन्ददास जी (रामचन्द्र जी) पुरुषोत्तमदास जीएवं देवकीनन्दनजी वर्मा जोधपुर
प. भ. पन्नालाल जी फूमड़ा	धर्मपत्नी सूरज बाई जी सुपुत्र चुन्नीलाल जी कलकत्ता
प. भ. घनश्यामदास जी मून्धड़ा	सुपुत्र श्री दास जी एवं पुत्रवधु लक्ष्मी देवीं जी मद्रास
प. भ. जीवनदास जी मून्धड़ा	सुपुत्र ठाकुरदास जी कलकत्ता
प. भ. पारवती बाई जी जीवन दास जी	,, चेतनदास जी मूधड़ा ,,
प- भ. मुकन्द दास जी मून्धड़ा	धर्मपत्नी काशी बाई एवं सुपुत्र ब्रजगोपालदास जी ब्रजमोहनदासजी और गिरधरदास जी हैद्राबाद
प. भ. धन्नावती बाई कुमारी	पति देव मूलचन्दजी कुमार—इन्दौर
प. भ. हरकिशनदास जी हर लोचनदास जी शाह	सुपुत्र घनश्यामदास जी एवं पुत्र वधु डा. गोकुल कुमारी जी एम. ए. पी. एच. डी बम्बई
प. भ. श्री मंगतराय जी चावला मुल्तानीजी	सुपुत्र श्री आसकरण दास जी एवं पुत्रवधु रामप्यारी बाई बम्बई
प. भ. जमुनादास जी एवं शान्ति देवी जी अग्रवाल	सुपुत्र गिरधारी लाल जी बिट्ठलदास जो ब्रजरत्नदास जी पद्मनाभदास जी नागरीदासजी काशी
प. भ. प्रह्लाददास जी एवं चन्द्र मणिजी	सुपुत्र कृष्ण गोपालदास जी अग्रवाल काशी
प. भ. मदन मोहनदास जी मऊवाले	धर्मपत्नी इन्द्रमणि देवी जी एवं सुपुत्र राधा कृष्णदास जी—काशी

वे सदस्य जिनसे रु. ५०१) की सेवा प्राप्त हुई।

प. भ. श्री अम्बालालजी जोहरी	धमपत्नी गोमती देवी जी एवं सुपुत्र डा. सोहनलाल जी जोधपुर
प. भ. श्री राजगोपाल जी राठी	धर्मपत्नी कान्ता देवी जी एवं सुपुत्र नितिनकुमार जी सोलापुर

।। श्रीहरिः ।।

विनम्र निवेदन

तृतीय स्कन्ध के ३३ अध्यायों की चार पुस्तकों में से यह तीसरी पुस्तक सदस्य महानुभावों को भेंट की जा रही है। शेष २५ से ३३ अध्यायों का मुद्रण कार्य हाथ में है जिसका शीघ्र प्रकाशन कराने का सत्प्रयास चल रहा है महाप्रभुजी की कृपा से सफलता मिलेगी।

इस पुस्तक को भेंट करने में अत्यन्त विलम्ब का कारण सुबोध प्रिंटिंग प्रेस की अकर्मण्यता है। २२० पृष्ठ छाप कर पांच अध्याय पूरे कर किसी न किसी बहाने से १० मास तक कुछ काम न करके बन्द हो गया। शेष तीन अध्याय को छपवाने के लिये प्रयास करने पर भी सफलता नहीं मिली। दिनांक ६ अगस्त १९८० के दिन बम्बई से लौटते समय गाड़ी में से मेरा एक सूट केस चुराया गया जिसमें इन तीन अध्यायों के मूल अनुवाद एवं प्रेस कापी की कापियाँ भी थी जिनको अन्यत्र से छपवाने के लिये ले गया था अतः २२से२४इन तीन अध्यायों का अनुवाद त्रिपाठी प. भ. नारायणजी शास्त्री नाथद्वारा वालों ने अपने निज कार्य-भार से समय निकाल कर अनुवाद कर भेजा इसमें काफी समय लगा, अन्त में पुराने प्रेस हिमालय प्रिन्टर्स को फरवरी १९८१ को उनके वचन देने पर कि नित्य प्रति ८ पेज छाप कर देंगे इसलिये डेढी दर पर काम दिया परन्तु खेद है कि लगभग १२५ पृष्ठ की छपाई में चार मास पूरे कर दिये। जिल्दसाज ने तकाजा करने पर भी प्रेस से कागज उठाने में विलम्ब की है, सो खेद का विषय हो गया है।

प. भ. त्रिपाठी नारायणजी (आत्मज श्रीमान् पंडित राम कृष्णजी) शास्त्री नाथद्वारा ने सहर्ष तीसरे स्कन्ध के २२ से ३३ कुल १२ अध्यायों की श्री सुबोधिनीजी का एवं भागवतार्थ प्रकरण का हिन्दी अनुवाद करने का सहयोग दिया है आपने नाथद्वारा के विद्या विभाग के प्रवर कार्यकर्त्ता होने पर भी समय निकाल कर यह प्रशस्त निष्काम सेवा की है जिससे प्रसन्न होकर संस्थाध्यक्ष पूज्यपाद गोस्वामी श्री ब्रजभूषणलालजी महाराज ने इन शास्त्रीजी को आशिर्वादात्मक प्रशंसा पत्र प्रदान कर प्रन्यास मंडल के सदस्य पद पर इनकी नियुक्ति की है। संस्था के सब ही कार्यकर्त्ता आपको सादर धन्यवाद निवेदन करते हैं।

हृदय-विदारक सूचना देने में अन्तःकरण को घोर संवेदना है कि इस्वी सन् १९८० में श्री मद्वल्लभ वंशज। निम्न तीन प्रवर गोस्वमिवर्य के नित्य लीला संवरण से सम्पूर्ण वैष्णव समाज शोक—ग्रस्त एवं संतप्त है।

१—पूज्यपाद गोस्वामी श्री ब्रजभूषणलालजी महाराज, कांकरोली नरेश एवं इस संस्था के संरक्षक।

२—पूज्यपाद गोस्वामी श्री कृष्ण जीवनजी (गिरधरलालजी) महाराज बम्बई-मद्रास इस अनुवाद-कार्य के पूर्ण समर्थक

३—पूज्यपाद गोस्वामी श्री पुरषोत्तमलालजी महाराज कोटा, आप श्री इस संस्था के संरक्षक एवं प्रवर सदस्य भी थे।

इन श्रीमानों की इस नित्य लीला प्रवेश से पुष्टि सम्प्रदाय की अनिर्वचनीय क्षति हुई है।

तदीय चरणरजा कांक्षी
नन्ददास (रामचन्द्र)
मंत्री

।। श्रीहरि: ।।

पुष्टिमार्ग के आराध्य इष्ट देव

श्री नाथजी - श्री गोवर्धननाथजी

प्राकट्य श्री गोवर्धन पर्वत की कन्दरा में से हुवा है। दर्शन का महात्म्य गर्ग संहिता के गिरराज खण्ड में निम्न प्रकार से है—

येन रूपेण कृष्णेन, धृतो गोवर्द्धनो गिरि: ।
तद्रूपं विद्यते तत्र राजन् शृङ्गारमण्डले ।।१।।
अब्दाश्चतु:सहस्राणि तथा पञ्च शतानि च ।
गतास्तत्र कलेरादौ क्षेत्रे शृङ्गारमण्डले ।।२।।
गिरिराजगुहामध्यात्सर्वेषां पश्यतां नृप ।
स्वत: सिद्धं च तद्रूपं हरे: प्रादुर्भविष्यति ।।३।।
श्रीनाथं देवदमनं तं वदिष्यन्ति सज्जना: ।
गिरिराजगिरौ राजन् सदा लीलां करोति य: ।।४।।
ये करिष्यन्ति नेत्राभ्यां तस्य रूपस्य दर्शनम् ।
ते कृतार्था भविष्यन्ति श्रीशैलेन्द्रे कलौ जना: ।।५।।
जगन्नाथो रङ्गनाथो द्वारकानाथ एव च ।
बदरीनाथश्चतुष्कोणे भारतस्यापि वर्तते ।।६।।
मध्ये गोवर्द्धनस्यापि नाथोयं वर्तते नृप ।
पवित्रे भारते वर्षे पञ्च नाथा: सुरेश्वरा: ।।७।।
सद्धर्ममण्डपस्तम्भा आर्तत्राणपरायणा: ।
तेषां तु दर्शनं कृत्वा नरो नारायणो भवेत् ।।८।।
चतुर्णां भुवि नाथानां कृत्वा यात्रां नर: सुधी: ।
न पश्येद्देवदमनं सा यात्रा निष्फला भवेत् ।।९।।
श्रीनाथं देवदमनं पश्येद्गोवर्द्धने गिरौ ।
चतुर्णां भुवि नाथानां यात्रायाश्च फलं लभेत् ।।१०।। –इति

वि० सं० १४६६ श्रावण कृष्णा ३, आदित्यवार उदय काल में श्रवण नक्षत्र में श्री गोवर्धननाथजी की उर्ध्व भुजा का प्राकट्य हुवा। आन्यौर के एक व्रजवासी को सर्व प्रथम १६ दिन बाद नाग पंचमी (श्रावण शुक्ला ५) को उर्ध्वभुजा के दर्शन हुए, तब से चमत्कार बताने लगे और व्रज मण्डल के सहस्रों नरनारी समुदाय नाग पंचमी को दर्शनार्थ आने लगे। वि० सं० १५३५, वैशाख कृष्णा ११ वृहस्पतिवार को शतभिजा नक्षत्र मध्याह्न काल अभिजित नक्षत्र में श्री गोवर्धननाथजी का मुखारविन्द प्रकट हुवा। इसके बाद वि० सं० १५४९ फाल्गुन शुक्ला ११ वृहस्पतिवार को श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरण को झारखंड में आज्ञा करी कि आप यहाँ पधार कर मेरी सेवा की व्यवस्था करें तब आप श्री ने पधार कर सेवा व्यवस्था की, श्रावण शुक्ला ११ को ब्रह्म सम्बन्ध की आज्ञा मिलने पर पवित्रा प्रभु को धारण कराया। श्री सुबोधिनीजी का आलेखन किया, पादुकाजी स्वरूप से विराज रहे हैं। इन चरित्रों के चित्र में दर्शन हैं।

॥ श्री हरिः ॥

श्री मद्भागवत महापुराण के श्री मद्वल्लभाचार्य महाप्रभु विरचित तत्वार्थदीप निबन्ध का

भागवतार्थ प्रकरण

— तृतीय स्कन्ध —

अध्याय १७ से २४

भागवतार्थ प्रकरण की कारिकाओं के अर्थ का स्पष्टीकरण गोस्वामी पुरुषोत्तमजी महाराज ने 'प्रकाश' द्वारा किया जिसका एवं आभास का हिन्दी अनुवाद ही यहाँ दिया जा रहा है—

आभासार्थ--इस तरह तीन *अध्यायों का अर्थ असंगत सा हो जायेगा ऐसा निरूपण कर के पुनः अन्य अध्यायों में भी असंगतता आ जायेगी ऐसा निरूपण करते हैं—

कारिका अलौकिकी तदुत्पत्तिर्वृद्धिर्दिग्विजयस्तथा ॥ १४२ ॥
स्वामिनो दुर्वचो वादो युद्धं ब्रह्मभ्रमस्तथा ।
संमुखे मरणे कृष्णान्न मुक्तः किं ततोऽद्भुतम् ॥ १४३ ॥

कारिकार्थ— उस (हिरण्याक्ष) की अलौकिकी उत्पत्ति तथा वृद्धि (बढना) और दिग्विजय का वर्णन अपने स्वामी को दुर्वचन कहना और उनसे युद्ध करना एवं उनके ब्रह्मविषय में भ्रम का होना। कृष्ण के सामने मरने पर भी मुक्ति न होना इससे अद्भुत बात और क्या होगी।

प्रकाशार्थ— महत्पुरुषों की उत्पत्ति में दुष्ट शकुन नहीं होते हैं। वृद्धि और विजय भी अलौकिक थे। पञ्चम अर्थात् १८ वें अध्याय के अर्थ में अनौचित्यता बताते हैं स्वामी को दुर्वचन बोलना, स्वामी के साथ युद्ध करना यह भी अनुचित है। ब्रह्म विषय मे भ्रम होना तो सुतराम् अयुक्त है। कृष्णके सामने मरे और मुक्ति न हो इस तरह छठे अर्थात् १९ वें अध्याय का अर्थ भी अयुक्त है ॥ १४३ ॥

आभासार्थ— अब उपसंहार करते हैं—

कारिका— सोपपत्तिकमाख्यानं जीवानां जननं हरिः ।
ऐहिकामुष्मिकफलं दातुं सृजति नाऽन्यथा ॥ १४४ ॥

कारिकार्थ— युक्ति सहित इन सब का कथन तथा जीवों को भगवान् एहिक (लौकिक) तथा पारलौकिक फल को देने के लिये ही उत्पन्न करते हैं अन्यथा नहीं ॥ १४४ ॥

---

*तीन अध्यायों से आशय हैं 'मतान्तर भाषा के छः अध्यायों में १४ से १९ वे अध्याय तक के प्रथम तीन अध्याय १४ वें १५ वें और १६ वें अध्यायों का अर्थ

प्रकाशार्थ— ऐहिक और पारलौकिक फल देने के लिए हरि ही उत्पन्न करते हैं। इसलिए सर्ग को भी गणना लीला मे होती है यह कहा गया ।। १५५ ।।

आभासार्थ— इस तरह अन्य भाषाओं से निरूपण करके समाधिभाषा में भी यही अर्थ है इस का निरूपण करते हैं—

कारिका—इति दर्शयितुं साङ्ख्यमते सृष्ट्यादिवर्णनम् ।
तेषां गुणप्रधानत्वाद्गौणी सृष्टिर्निरूप्यते ।। १४५ ।।

कारिकार्थ— इस को दिखलाने के लिये सांख्यामत में सृष्टि आदि का वर्णन है। परन्तु उस सृष्टिमें गुणों की प्रधानता है अतः उस सृष्टि का निरूपण गौणी नाम से किया गया है ।। १५५ ।।

प्रकाश:— सांख्य पुरुष । जीवन्मुक्त: हें । अत: उनके मत के अनुसार उत्पन्न जीव मुक्ति के लिये ही होते हैं यह सिद्ध होता है उनके यहाँ सृष्टि के भेद ग्यारह है उनका कारण यह है कि उन में गुणों की प्रधानता है । इसीलिये पहले गौणी सृष्टि का निरुपण करते है ।। १४५ ।।

आभासार्थ— यहाँ शौनक आदि ऋषियों का भगवान् की कथा के प्रसंग में मनु की कथा का प्रश्न उचित नहीं है इस आशंका पर कहते हैं—

कारिका—प्रकारान्त रसम्प्रश्नः स्वकृतः परतस्तथा ।
भक्तकर्तृत्वतस्तस्य कृष्णलीला त्वमूच्पते ।। १४६ ।।

कारिकार्थ—अपने द्वारा अथवा अन्य के द्वारा प्रकाशन्तर से किया जाने वाला प्रश्न यदि भक्त के विषय में है तो उने कृष्ण लीला ही कहना चाहीए ।। १४६ ।।

प्रकाशार्थ— यह प्रशन भी भगवत्कथा का ही है किन्तु यह प्रश्न अन्य प्रकार से किया गया है । मनु भगवान के भक्त हैं इसलिये उनके विषय में किया गया प्रश्न भगप्रीतिजनक होने से लीला का वह हेतु है अत: वह भी भगवल्लीला ही है ।। १४६ ।।

आभासार्थ— एवमुगुश्रवा : पुष्ट : इस तरह उग्रश्रवा (सूत) के पूछे जाने पर ऐसा व्यास जी का वचन हो नहीं सकता क्योंकि व्यास जी से सुनी हुई कथा को उग्रश्रवा कहता है व्यास जी उग्रसवा की बात को कैसे कह सकते हैं ऐसी आशंका करके प्रक्रियान्तर बोध के लिये ऐसा कहते हैं—

कारिका—प्रक्रियान्तरबोधाय व्यासोक्तिः शुकसूतयोः ।
एकरूपत्वकथनादेकोक्तिः पाक्षिकोऽन्ययोः ।। १४७ ।।

कारिकार्थ— प्रक्रियान्तर का बोध कराने के लिये 'एवमुगुश्रवा : पुष्ट :' को व्यासजी की मुक्ति कहीं गयी हैं इस तरह शुक देवजी और सूत उक्ती को शुक देवजी के वाक्य से कही गई है । एक ही रूप से कहने के कारण दोनों में से किसी एक की ही उक्ति को यहां ले लिया है ।। १६६ ।।

प्रकाशार्थ–जिस तरह एवमुग्रश्रवाः कोव्यास जी की उक्ति कहा है उसी तरह शुक देवजी और सूत जी की उक्ति का शुकदेवजी के वाक्य से ही निरूपण है। यदि ऐसा न होता तो सूत विदुरजी के वाक्य को नही कहते शुक को ही विदूर जी का वचन कहना था। एक रूपता से कहना ही एकोक्ति में कारण है एकोक्ति शब्द से और अर्थ से भी समान है। यहाँ अन्यायों: से राजा परीक्षित और शुकदेवजी इन से किसी एक की उद्भि जननी जाहीए। अर्थात जैसे शौनकने पूछा उसी तरह राजा ने पुछा और जैसे सूत जी ने उत्तर दिया उसी, तरह शुक देवजी ने उत्तर दिया इसलिये समानता होने से किसी एक पक्ष को यहाँ कह दिया है ।। १४६ ।।

आभासार्थ— सांख्यामत की सृष्टि किस कल्प में हुई इस आकांक्षा पर कहते है

कारिका–आण्डकोशे पद्मकल्पो विशेषेणोच्यतेऽधुना ।
साङ्ख्याचार्यास्तु कल्पेऽस्मिन्मुक्तिमार्ग हरीच्छया। १४८
ज्ञानमेकप्रकारेण हृदि प्राप्य परं गताः ।

कारिकार्थ— ब्रह्माण्ड के मध्य में जो पद्मकल्प है उसे अब विशेष रूप से कहा जा रहा है। इस पद्मकल्प में ही सांख्याचार्य हुए थे उन्होंने भगवान् की इच्छा से मुक्ति मार्ग बताया है। ज्ञान को एक ही प्रकार से हृदय में प्राप्त कर के मुक्ति को प्राप्त हो गये ।। १८८ ।।

प्रेकाश— ब्रह्माण्ड में जो पद्मकल्प है केवल कल्प से भिन्न है उसी कल्प में सांख्यमत प्रसिद्ध है। उस में वे सिद्ध ही हेतु थे। यदि शका हो कि उनके ज्ञान की तत्कासूत्र में निन्दा की हैं तो फिर उनके ज्ञान से मुक्ति अेसे होगी इस आकाक्षा पर कहते हैं कि वह एक प्रकार का ज्ञान भगवान् की इच्छा के अनुसार है इस लिए मुक्ति में कोई शंका नहीं करना ।। १८९ ।।

कारिका–इति दर्शयितुं सङ्क्षेपे कल्पस्याऽस्य च वर्णनम् ।। १४९ ।।
पञ्चशः प्रकृतोत्पत्तिस्तत्त्वज्ञापनाय हि ।

कारिकार्थ— इस बात को दिखाने के लिये ही साँख्य शास्त्र में इस कल्प का वर्णन है। तत्त्वता को बताने के लिये ही पच्चीस तत्व से प्राकृत की उत्पत्ति कही है। ।। १४९ ।।

प्रकाश— 'अस्य कलपस्य' से पद्मकल्प लिया गया हैं। 'च' भी इसमें हैं इसलिये वराहकल्प का भी वर्णन है। अन्यथा उस में सांख्य मार्ग से मुक्ति न होती। उस कल्प की सृष्टि का प्रकार पूर्व कल्प से विलक्षण है उस को बताने के लिये पञ्चाशः प्राकृतो–त्पतिः ऐसा कहा 'पञ्चभिः पञ्चभिब्रह्मन्' ऐसा आगे कहेंगे। तथा इस मत से संख्या ही उचित है इसलिये इस मत को सांख्या मत कहा है। तत्वांता पदार्थो की होती है ।। १४९ ।।

आभासार्थ—इस मत में सृष्टि का वर्णन विस्तार से नहीं किया है उसका कारण तो उपलक्षण मात्र (परिचय मात्र) ही है—

कारिका–उपलक्षणमात्रत्वादल्पोक्तिर्न विरुध्यते ।। १५० ।।
तत्रैका दशधा सृष्टिः स्वभावगुणकार्यतः ।

कारिकार्थ—परिचय मात्र का कथन होने से अल्प उक्ति विरुद्ध नहीं है वहाँ स्वभाव-गुणों के कार्य से सृष्टि ग्यारह प्रकार की है ।। १५० ।।

प्रकाशार्थ—उसी सृष्टि का जब प्रकाशन्तर से निरूपण किया जाता है । तो उसका निरूपण करने वाला वाक्य उपलक्षक हो जाता है । वहाँ एक ही अध्याय में ग्याराह प्रकार की सृष्टि का निरूपण किया है । स्वभावगुणों के कार्य भेद से सृष्टि के ग्याराह प्रकार हैं [उन में स्वभाव के तो दो भेद हैं और गुणों के नौ भेद हैं इस तरह ग्यारह भेद हो जाते हैं ।। १५० ।।

आभासार्थ—उन्हीं को त्रैगुण्य से स्पष्ट करते हैं—

कारिका—त्रैगुण्यं निर्गुणावस्था भगवच्चिन्तनं तथा ।। १५१ ।।
एवमेकादश प्रोक्ताः स्वभावे विस्तृतिः स्फुटा ।

कारिकार्थ—सत्व-रज और तमः इन तीन गुणों के द्वारा नौ और एक निर्गुणसृष्टि तथा भगवच्चिन्तन इस तरह मिलाकर ग्यारह प्रकार की सृष्टि कही है स्वभाव सृष्टि का तो बहुत विस्तार है वह आगे स्पष्ट हो जायेगा ।। १५१ ।।

प्रकाशार्थ—निर्गुणावस्था दशम् है वह ज्ञानरूप है । भगवच्चिन्तन यह एकादश है इस का एवमेकादशप्रोक्ताः से उपसंहार किया है । गुणसृष्टि को एक ही अध्याय में संक्षेप से कही है स्वभाव सृष्टि तो ज्ञान और भक्ति के भेद से चार अध्यायों से और नौ अध्यायों से क्रमशः विस्तार से कही है वह आगे चलकर स्वयं ही स्पष्ट हो जायगी ।। १५१ ।।

आभासार्थ—उन में पहले तामस आदि भेदों को कहते हैं--

कारिका—यक्षरक्षांसि देवाश्च दैत्याश्च प्रथमास्त्रयः ।। १५२ ।।
उपाधिरपि तेषां हि तथेति प्रतिपादितम् ।

कारिकार्थ—यक्षराक्षस, देवता और दैत्य पहले ये तीन उत्पन्न हुए । उनकी उपाधि भी उसी तरह प्रतिपादित की ।। १५२ ।।

प्रकाशार्थ—यहाँ अविद्या की उत्पति पहले की तरह ही समझना । यहाँ विशेषता यह है कि यक्ष और राक्षसों की उत्पति अविद्या के साथ उसी तरह देवताओं की भी उत्पति भावान्तर से हुई ।। १५२ ।।

कारिका—विलक्षणत्वसिद्ध्यर्थं देहत्यागःप्रजापतेः ।। १५३ ।।
तत्तत्कालाभिमानिन्यो देवतास्ताः पृथक् स्थिताः ।

कारिकार्थ--प्रजापति का देहत्याग विलक्षणता की सिद्धि के लिये है । उनके वे देह तत्कालाभिमानिनी देवता है । अतएव वे सब अलग अलग रहे ।। १५३ ।।

प्रकाशार्थ—भावान्तर ग्रहण के लिये ही वहाँ शरीर का त्याग किया था। त्याग किये हुए शरीर का स्वरूप तत्कालाभिमानिनी देवता था ।। १५३ ।।

आभासार्थ—शंका होती है कि पञ्चपर्वा अविद्या की जब उत्पत्ति हो गई तो फिर देह का परित्याग क्यों किया—

कारिका—देवतोपाधिसम्बन्धात्कार्योत्पत्याऽतिविह्वलः ।। १५४ ।।
तामसत्वात्तु ते मूढा वाक्यमात्रेण संस्थिताः ।

कारिकार्थ—पञ्चपर्वा अविद्या देवतोपाधि सम्बन्ध वाली थी ब्रह्माजी यक्ष राक्षस इन की उत्पति से अत्यन्त घबड़ा गये थे । वे यक्ष राक्षस तामस होने के कारण मूढ तो थे ही अतः जब ब्रह्माजी को खाने लगे तो ब्रह्माजी ने उनसे कहा अरे तुम मेरी ही सन्तान होकर मुझे खा रहे हो ऐसा कहने पर वे खड़े हो गये। १५४।

प्रकाशार्थ—पञ्चपर्वा अविद्या देवता रूप थी वह अविद्या ब्रह्माजी के लिये उपाधी रूप जब हो गई तब ब्रह्माजी से यक्ष राक्षसों की उत्पत्ति हुई असमानरूप वाले इन्हे देखकर ब्रह्माजी ने भय से घबड़ा कर अपने शरीर को छोड़ दिया ऐसा मानना चाहिए। जब वे भगवान् की इच्छा से उत्पन्न हुए थे तो ब्रह्माजी उन को सह नहीं सके और वे यक्ष राक्षस भगवान् की प्रेरणा से ही ब्रह्माजी को खाने के लिये उद्यत (तैयार) हुए। तो फिर उन्होंने ब्रह्माजी को छोड़ कैसे दिया उसके लिये कहते है कि तामस होने से मूर्ख तो थे ही ब्रह्माजी ने उन से कह दिया अरे तुम मेरी संतान हो कर मुझे खाते हो इतना कहने मात्र से ही वे उनको खाने से निवृत हो गए ।। १५४ ।।

आभासार्थ---देवपक्ष तो सुगम है

कारिका--सात्विके नास्ति शङ्कैव राजसेषु महान् श्रम, ।। १५५ ।।
पृथक् स्थितां देवतां हि वर्णयन्ति कुबुद्धयः ।

कारिकार्थ--सात्त्विक के विषय में तो कोई शंका ही नही है राजसों के विषय में महान् श्रम होता है। कुछ समय तक अलग स्थित देवता का कुछ कुबुद्धि लोग वर्णन करते है ।। १५५ ।।

प्रकाशार्थ---राजसों के विषय में महान् श्रम होता है। इसलिये यमन (मैथुन) से आरम्भ करके भगवान् को आज्ञा से देहत्याग पर्यन्त की कथा का निरूपण है। अन्य जितने भी शरीर थे वे शीघ्र ही कालरूपता को प्राप्त हो गये अतः कालरूपता से उन में व्यवहार होता है। रजोगुण के द्वारा राजसी यह देह सन्धया के साथ एक भावता को प्राप्त नहीं हुई किन्तु कुछ समय तक अलग रही। अतः उसको वर्णन पृथक् स्थितां से किया गया है। जब उसो देह की काल के साथ एकता हो गई तो दैत्यों की निवृति हो गई ऐसा भाव है । १५५ ।

आभासार्थ---अब दूसरे त्रिक को कहते है-

कारिका--गन्धर्वाश्च पिशाचाश्च पितर स्त्रिविधा गुणैः ।। १५६ ।।
सत्वं तमो रजश्चेति नतैर्दोषोऽस्वभावतः ।

कारिकार्थ--सत्वगुण से गन्धर्वों को तमोगुण से पिशाचों को, और रजोगुण से पितरों की उत्पत्ति हुई उनमें दोष का वर्णन इसलिये नहीं है कि उनमें दोष स्वभावता नहीं थी ।। १५६ ।।

प्रकाशार्थ--सत्वं तमो रजश्चेति से उनमें गुणों को कम बताया है । उनमें दोषों का वर्णन इसलिये नहीं है कि उनका वह स्वभाव नहीं है । अर्थात् सत्व आदि में गुणता तो है परन्तु दोष स्वभावता नहीं है । भाव इसका यह है कि दोष रूप से इतर के प्रवेश का अभाव है ।। १५६ ।।

आभासार्थ--तीसरे त्रिक् को कहते है-

कारिका--सिद्धाश्च किन्नराः सर्पाः सत्वादिभिरुदीरिताः ।। १५७ ।।

कारिकार्थ--सत्वगुण से सिद्धों की, रजोगुण से किन्नरों की और तमोगुण से सर्पों की सृष्टि कही ।। १५७ ।।

आभासार्थ--निर्गुणावस्था कैसी है इस आशंका पर कहते हैं

कारिका--कृतकृतयाता च नैर्गुण्यं कृष्णत्वं तपआदिभिः ।
ऋषिभाव स्ततो भाव्यो नाऽन्यत्र विरमेद्बुधः ।। १५८ ।।

कारिकार्थ--जिस में किसी प्रकार का करना शेष न हो उसे कृत-कृत्यता कहते है अर्थात् परमपुरुषार्थता इसी को निर्गुणावस्था कहा है तप आदि से तो कृष्णता हो जाती है तब ऋषि भाव होता है ऋषि भाव होने के अनन्तर तो सृष्टि से विराम नहीं होना चाहिये । १५८ ।

प्रकाशार्थ--कृतकृत्यता कहते हैं अपने में ही परमपुरुषार्थता का होना । तप आदि से तो कृष्णता होती है । प्रकरण में तो वह ऋषि भाव है इसलिये ब्रह्मा जी में भी वह भाव होना चाहिये । ऐसा भाव होने पर क्या होता है उसे बताने के लिये नाऽन्यत्र विरमे-द्बुधः ऐसा कहा यदि ऐसा नहीं होता तो ब्रह्माजो सृष्टि करते ही रहते विश्राम नहीं करते इस तरह एक अध्याय का अर्थ कहा (चौदह कारिकाओं से एक अध्याय का निरूपण किया) ।। १५८ ।।

आभासार्थ--इस के बाद ज्ञान और भक्ति का विस्तार कहने को तेरह अध्याय हैं उन में दो भेद हैं-

कारिका--चतुर्भिः सुखपूर्वा हि पुम्मुक्तिर्नवभिः स्त्रियाः
एकस्य तु स्वतः सिद्धं ज्ञानं कृष्णप्रसादतः । १५९ ।

कारिकार्थ--चार अध्यायो से सुखपूर्वक पुरुष की मुक्ति का कथन है और नौ अध्यायों से स्त्री की मुक्ति का । एक (पुरुष) के लिये तो कृष्ण की कृपा से ज्ञान स्वतः सिद्ध है । १५९ ।

प्रकाशार्थ--शंका होती है कि एक (पुरुष)के लिये तो स्वल्प से ही मुक्ति और अपर (स्त्री)के लिये अधिक से । उस का कारण यह है कि पुरुष के लिये तो चार पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये चार अध्याय हैं तथा उस में भी मुक्ति का साधनरूप ज्ञान उस के लिये स्वतः सिद्ध है । पुरुष के ऊपर भगवान् की कृपा होने से ही उसी से साधन सहित पुरुषार्थो की सिद्धि होती है ।। १५९ ।।

कारिका– अन्यस्या उपदेशे हि स्त्रीत्वात्सर्वं प्रकाश्यते ।
नवकन्याः कारणत्वात्स्त्रीजीवा अत्र बोधिताः । १६० ।

कारिकार्थ–एक किसी को उपदेश करने से स्त्रीत्व सब में समान होने से उनको भी बोध हो जाता है । नौ कन्याओं के कारण से स्त्री जीवों का यहाँ बोधन हैं । १६० ।

प्रकाशार्थ– पुरुष के सहभाव के कारण स्त्रियों के भी धर्म अर्थ और काम सिद्ध हो जाते हैं । अब मोक्ष को ही अलग कहना चाहिये क्यों कि मोक्ष केवल (अकेले) का ही होता है उस में दम्पती की आवश्यकता नहीं होती । इसलिये पुरुष की मुक्ति के लिये तो एक ही अध्याय कहा । स्त्री मुक्ति को नौ अध्यायों से इसलिये कहा है कि स्त्री के अन्दर गुण रूप नौ अंत: करण के दोष हैं उनको छुड़ाने के लिये नौ अध्याय है और उन दोषों को छुड़ाने के लिये बहुत से साधनों का निरूपण है यहाँ यह शंका होती है कि कन्याओं की मुक्ति का कथन तो अनुचित है उसका उत्तर देते हैं कि यहाँ कन्याओं से स्त्रीजीव लिये गये है कारण कि स्त्री जीव प्रकृति के अधीन है । १६० ।

आभासार्थ – शंका होती हैं कि जीवों की कारणता का तो निरूपण पहले ही किया जा चुका है अब पुन: उस का निरूपण किसलिये है—

कारिका– प्रकृतेः कारणत्वाय मायाशक्तिर्हि तादृशी ।
रमणौपयिकरूपा हि शुद्धसत्त्वादिभेदतः । १६१ ।

कारिकार्थ–यहाँ प्रकृति की कारणता के लिये जीवों की कारणता का निरूपण है । मायाशक्ति गुणमयी है स्त्रीरमण में उपयुक्त होती है । उसमें शुद्धसत्व आदि नौ भेद हैं । १६१ ।

प्रकाशार्थ–स्त्री जीव प्रकृति के अधीन है जब स्त्री को कारण मानते हैं तो उससे प्रकृति की कारणता सिद्ध होती है । तथापि नौ का उपयोग कहाँ होता है इस आशंका का उत्तर दिया है माया शक्ति हि तादृशी माया गुणमयी (सत्व-रज-तम) है उन में एक एक गुण तीन प्रकार का है इस लिये वह नौ प्रकार की है । प्रश्न होता हैं कि स्त्रीत्व क्या है उसका उत्तर देते है जो रमण में उपयोगी हो उसे स्त्री कहते हैं । प्रकृति त्रिगुणात्मिका है अत: गुण की प्रधानता होने से जो क्रोध आदि के वशीभूत हैं उस में भी स्त्रीत्व होगा । गुणों से अलग तो प्रकृति है ही नहीं, इस मत का निराकरण करते हैं ।

गुणभावं परित्यज्य............स्त्रीभवे तु सा । १–३ ।

जो गुण भाव का परित्याग करके अपने स्वरूप (शक्तिरूप) से स्थित है और जो पुरुष को रमण कराती है उसे स्त्रीरूपा कहते हैं । १ । पुरुष के और स्त्री के अंश सब तत्वों में अलग ही हैं उस में दृष्ट तथा अदृष्ट (धर्म और अधर्म) कारण है । २ । भोग्यभावता को प्राप्त हुए प्रकृति के अंश स्त्री में आये है वे उस (स्त्री) में बीज भाव को प्राप्त होते है और स्त्री भाव में उन अंशो की वृद्धि होने के

कारण स्त्रीभाव में वह रमण में उपयुक्त होती है । ३ । इसी अभिप्राय को लेकर शुद्धसत्वादिभेदत: ऐसा कहा है जिन में गुणों का मिश्रण होता है उन्हीं में गौणत्व होता है जिस में सत्वगुण की प्रधानता होती है वह देवताओं की स्त्री होती है । रजोगुण प्रधान होने पर मनुष्य-स्त्री और तमोगुण प्रधान होने पर पशुस्त्रीपन होता है । १६१ ।

कारिका— आनन्दांशस्वरूपेपि शुद्धसत्वादिरूपतः ।
शक्तिप्राधान्यतः स्त्रीत्वं तत्वतः पुरुषाकृतिः । १६२ ।

कारिकार्थ–आनन्दांश स्वरूप होने पर भी शुद्ध सत्व आदि रूप होने से तथा शक्ति की प्रधानता से उस में स्त्रीपन है तत्वों से तो वह भी पुरुषाकृति है । १६२ ।

प्रकाशार्थ–स्त्री में आनन्दांश प्रविष्ट है इसलिये स्त्री में भोग्यता है । यद्यपि पुरुष में भी आनन्दांश का प्रवेश होता तो पुरुष भी स्त्री का भोग्य हो जाता तथापि गुणों की प्रबलता से और शक्ति की प्रधानता से उस में स्त्रीपन रहता है । स्त्री की पुरुष के समान आकृति तो तत्वों के कारण वास्तविक है उसमें पुरुष के अंशों का जब समवाय होता है तो उस में पुरुषत्व हो जाता है ।। १६२ ।।

आभासार्थ–स्त्रीत्व में और पुरुषत्व में नियामक क्या है उसे कहते है—

कारिका— मोहकत्वमतः स्त्रीणां शक्त्याकृतिविशेषतः ।
विसर्गस्याऽत्र सम्प्रश्न उत्तरत्रोपयुज्यते । १६३ ।

कारिकार्थ–शक्ति की आकृति की विशेषता के कारण ही स्त्रियों में मोहकता है । विसर्गलीला का जो यह प्रश्न है उसका उपयोग आगे होगा ।। १६३ ।।

प्रकाशार्थ–क्योंकि स्त्री पुरष को मोहित करती है अतः स्त्रियों में प्रकृति का प्रकृतिपन है । शंका होती है कि विसर्गलीला में जो मनुवंश आदि है उसका रुचि आदि के वंश के प्रश्न का उपयोग कहाँ होगा इस का उत्तर उत्तरत्रोपयुज्यते से दिया है अर्थात् यह प्रश्न आगे उपयुक्त होगा ।। १६३ ।।

आभासार्थ–प्रश्न होता है कि यदि ऐसा ही है तो बीच में यहाँ कर्दम जी के चरित्र का निरूपण क्यों है इसका उत्तर देते है ।

कारिका— नित्यसम्बन्धतासिद्धयै कर्दमोऽत्रैव योजितः । १६३ ।

कारिकार्थ–प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध नित्य है इस की सिद्धि के लिये कर्दमजी का चरित्र भी यहाँ कह दिया है । १६३ ।

प्रकाशार्थ–प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध नित्य है इस को बताने के लिये कर्दमजी की कथा है । सम्बन्ध का उपयोग तो सर्ग लीला मे होगा । भिन्नता से प्रसिद्धि होने पर भी स्वभाव से मुक्ति में परस्पर आकांक्षा है । इसलिये यह अर्थ निरूपण करने योग्य है इसलिये कर्दम चरित्र का सर्गलीला

में निरूपण किया। सहज होने पर भी उन दोनों में जब विश्लेष (अलग) होता है तो मुक्ति होती है ऐसा न्याय है इसलिये त्याग से दोनों की मुक्ति का कथन युक्त है ।। १६३ ।।

आभासार्थ--इस तरह प्रकरण के अर्थ का शोधन करके प्रथम अध्याय में तप के द्वारा भगवत्तोष का प्रयोजन कहते हैं-

कारिका--सर्वस्य कारणं कृष्णप्रसाद इति तत्कथा ।। १६४ ।।

कारिकार्थ--भगवान् का प्रसन्न हो जाना ही सब का कारण है इसलिये उन (कर्दमजी) की कथा है।

प्रकाशार्थ--अतएव प्रकरण के आदि में भगवान् को प्रसन्न करने के लिये कर्दमजी की प्रवृति है ।। १६४ ।।

आभासार्थ--भनवान् किस से प्रसन्न होते हैं इस आकांक्षा पर कहते हैं—

कारिका--भक्तानां निर्णय स्तौत्रे सर्गार्थमुपयुज्यते ।
कामितं च हरिः पूर्वं स्वयमेव विधास्यति । १६५ ।
व्यर्थं वचनमित्यर्थं बोधयत्युत्तरं वदन् ।

कारिकार्थ--भगवान् स्तुति से प्रसन्न होते हैं ऐसा भक्तों का निर्णय है। सर्गलीला में स्तुति का उपयोग होता है। अपनी चाही हुई की पूर्ति तो भगवान् स्वयं ही पहले कर देते हैं तो फिर उसके लिये प्रार्थना व्यर्थ है यह स्वयं भगवान् ही के वचन से जाना जाता है । १६५ ।

प्रकाशार्थ--भगवान् तप से प्रसन्न न हुए और न स्तुति से प्रसन्न हुए किन्तु यथार्थ बात के कहने से प्रसन्न हुए उसमें भी अपने घर के मर्म की बात के कहने से प्रसन्न हुए तब भक्तों को इस तरह का निर्णय हुआ। ऐसा कहने का प्रयोजन अपने लिये है। जो महान् होते हैं उनका निष्कपट भाव से भजन करना चाहिये तभी उनकी कृपा होती हैं। कोई यदि ऐसी आशंका करे कि भगवान् की कृपा अनित्य होगी उसका उत्तर देते हैं कि भगवान् तो कामित (चाही हुई) वस्तु का दान पहले ही कर देते हैं उसके दान में किसी कारण की आवश्यकता नहीं होती वहां तो कारण भगवान् की प्रसन्नता ही हैं। भगवदीय पदार्थो के भोगने के लिये शरीर इन्द्रिय, संस्कार और तप होने चाहिये। इसलिये भगवान् से प्रार्थना करना व्यर्थ है। यह तो भगवान् के कथन से जाना जाता हैं। अन्यथा वृत्तान्त न कहते । १६५ ।

आभासार्थ--ईश्वर की प्रेरणा के बिना पदार्थ सिद्धि कैसे होगी और ईश्वर की प्रेरणा में क्या हेतु हैं यदि ऐसा कहा जाय कि बिना ही हेतु के प्रेरणा होती हो तो सभी लोगों को पदार्थ सिद्धि हो जायगी इस आशंका पर कहते हैं—

कारिका--पुरुषार्थाः स्वयं सर्वे समायान्ति हरिप्रिये । १६६ ।
इति दर्शयितुं राज्ञः स्वयमुद्यम्य याचनम् ।

कारिकार्थ--भगवद् भक्त के लिये सभी पुरुषार्थ स्वयं आ चाते हैं इस को दिखाने के लिये स्वयं राजा (मनु) ने अपनी कन्या को स्वीकार करने के लिये कर्दमजी से याचना की । १६६ ।

प्रकाशार्थ--भगवत् प्रिय होना ही साध्य हैं अन्य नही । भगवत् प्रियता से सर्व सिद्धि होती हैं यह इसका तात्पर्य है । १६६ ।

आभासार्थ--कर्दमजी ने जो कन्या का वर्णन किया वह तो राजा को अच्छा लगे इसलिये किया क्योंकि राजा भक्त था । कार्य की शुद्धि के लिये भक्ति आवश्यक है और अपनी मुक्ति के लिये तप आवश्यक है । १६७ ।

कारिका--दुहितुर्वर्णनं प्रीत्यै राज्ञो भक्त त्वतः समम् ।। १६७ ।।
भक्तिश्च कार्य शुद्धयै हि तपश्चैव स्व मुक्तये ।

प्रकाशार्थ--अथवा राजा ने अपनी पुत्री के गुणों का वर्णन ऋषि को प्रसन्न करने के लिये किया । शंका होती हैं कि मुनि ने जब यह कह दिया था कि मैं इस कन्या के साथ एक बार ही भोग करूंगा तो फिर राजा ने उन्हें अपनी कन्या क्यों दी उसका उत्तर भक्तत्वत: समम् से दिया है राजा भक्त था इसलिये वह तो यह चाहता ही था कि सबकी पुरुषार्थ सिद्धि हो अत: समता के कारण उसने ऋषि की प्रतिज्ञा के अनन्तर भी कन्या दे दी शंका होती है कि विवाह के अनन्तर कैसे तो भक्ति होगी और कैसे तप होगा इसका उत्तर भक्तिश्च आदि आधी कारिका से देते हैं भक्ति कार्य शुद्धि के लिये है यदि कार्य में दोष होगा तो कारण भी सदोष होगा जैसे पुत्र यदि अनुचित कार्य करता है तो पिता को नरक की प्राप्ति होती है । यहां पर कार्य है 'लड़कियां'; 'च' से बिना भक्ति के कार्य धर्मो का ग्रहण नहीं होता । तप का प्रयोजन अपनी मुक्ति है यह प्रयोजन इससे भिन्न है । 'च' से उस (कन्या) की भी मुक्ति ली जाती है । अथवा भक्ति से तप का भी संग्रह हो जायगा उसके लिये तप तो पूर्व संस्कार के लिये है । १६७ ।

आभासार्थ--चाहे हुए से अधिक करने में हेतु कहते हैं--

कारिका--अलौकिकस्य करणादनासक्तिः फलिष्यति । १६८ ।
ध्यानं भगवतो योगो भगवत्प्रेषितं च तत् ।
कन्याश्चैव तथा ज्ञानं तत्कृपातोऽस्य जायते । १६९ ।
स्त्रिया माहात्म्यबुद्धयर्थमृषिकर्तृत्वमुच्यते ।

कारिकार्थ--अलौकिक कार्य के करने से अनासक्ति फलित होगी । भगवान् का ध्यान करना ही योग है विमान का निर्माण आदि अलौकिक था (भगवान् के द्वारा भेजा गया था ।) कन्याएँ तथा ज्ञान भगवत्कृपा से ही कर्दमजी को हुए । स्त्री को ऋषि के माहात्म्य का ज्ञान हो इसलिये इन सबको ऋषि के द्वारा किया गया ऐसा कहा । १६९-१६९ ।

प्रकाशार्थ--विमान आदि का निर्माण तो अलौकिक है यदि ऐसा न होता तो चित्त में अना-

सक्ति न होती। 'कर्दमोयोगमा स्थितः' यहां योग का अर्थ भगवान् का ध्यान है। यदि ऐसा अर्थ न होगा तो विमान आदि भगवान् की कृपा से उत्पन्न न होते और बन्धन भी हो जाता। तो फिर विमान की उत्पत्ति कैसे हुई उसका उत्तर है भगवत्प्रेषिते चतत् विमान तो भगवान् ने भेजा था। विमान तामस है, कन्याएं राजस है और ज्ञान सात्विक है। यदि ऐसा है तो उसे स्पष्ट क्यों न कहा गया उसके लिये स्त्रियाः ऐसा कहा अर्थात् स्त्री को ऋषि के माहात्म्य का ज्ञान हो जावे। १६८-१६९।

आभासार्थ—तथापि नियत उपपत्ति (युक्ति) कहनी चाहिये इस आशंका पर कहते हैं—

कारिका—अत एव ऋषौ यातेऽप्रणवस्थानं तु तस्यहि ॥ १७० ॥
कायव्यूहेन नवधा स्वरूपकरणं मतम् ।

कारिकार्थ—विमान भगवान् के द्वारा भेजा गया था इसीलिये ऋषि के वन में चले जाने पर भी विमान स्थित रहा। अपने शरीर के व्यूह से ही ऋषि ने अपने नौ रूप किये ऐसा समझना।

प्रकाशार्थ—क्योंकि भगवान् ने ही विमान को भेजा था ऋषि के योग से वह उत्पन्न नहीं हुआ था। यदि ऐसा होता तो जिनकी भोग के लिये सृष्टि हुई वे सब भोग के अभाव में चले जाने चाहिये। 'नौ प्रकार के अपने रूप करके' ऐसा जो निरूपण किया है तो नौ प्रकार का निरूपण कैसे किया इस आशंका का उत्तर देतें है कायव्यूहेन अर्थात् अपने शरीर के व्यूह से नौ रूपों का निर्माण किया आगे परस्पर विवाह की सिद्धि के लिये भिन्न-परम्परा के कहने के लिये नौ रूप किये यह सृष्टि गौण थी मुख्य नहीं थी। गुणातीत सृष्टि तो भगवद्रूप होती है। अतः कायव्यूह कर के नौ प्रकार से बीज का आधान किया। १७०।

आभासार्थ—यदि ऋषि ने नौ रूप किये तो उसे देवहूति ने कैसे मान लिया इस आशंका का उत्तर देते हैं।

कारिका—समानत्वान्न वैषम्यं दोषाभावः फलं ततः। १७१।
रेतः सेकः क्रमेणैव सूक्ष्मत्वात्स न दृश्यते ॥

कारिकार्थ--नौ रूपों के समान होने से कोई विषमता नहीं हुई इससे कोई दोष नहीं हुआ और उनसे फल (गर्भाधान) तो हुआ ही गर्भाधान तो क्रम से ही हुआ परन्तु सूक्ष्मता के कारण दिखाई नहीं दिया। १७१।

प्रकाशार्थ—समान होने से ही दोष नहीं हुआ और गर्भाधान रूप फल तो अलग अलग ही हो गया। जब अलग अलग गर्भाधान किया तो देवहूति को पता कैसे न लगा, आशंका के समाधानार्थ सूक्ष्मत्यात् ऐसा कहा अर्थात् गर्भाधान का भेद इतना सूक्ष्म था कि उसे ज्ञात न हो सका। उस गर्भाधान में इतना सूक्ष्म समय था कि भेद दिखाई ही नहीं दिया। १७१।

आभासार्थ—ऐसा करने का प्रयोजन बताते हैं—

कारिका–मरीच्यादिविवाहेच्छां बहवपत्ये स्त्रियास्तथा । १७२ ।
स्ववाक्यं च ऋतं कर्तुं गमनं स्त्रीविरक्तये ।

कारिकार्थ–मरीचि आदि ऋषियों के विवाह करने की इच्छा से तथा स्त्री को भी बहुत संतान की इच्छा होती है एवं अपने वचन को सत्य करना (निभाना) था इसलिये कर्दमजी वन में चले गये । १७२ ।

प्रकाशार्थ—मैथुन धर्म से ही सृष्टि हो ऐसी भगवान् की इच्छा से ही मरीचि आदि को मार्या की अपेक्षा होने से तथा स्त्रियों को भी अधिक संतान की इच्छा होती है 'जब मेरे तेज को यह धारण कर लेगी' ऐसा मुनि का अपना कथन था । मुनि ने अपने वाक्य का पालन नहीं किया क्योंकि एक तेज नहीं था और बहुत पुरुषों के सम्बन्ध से स्वयं तो दोषी हुए ही और स्त्री को भी दोषी बनाया इस शंका का उत्तर देते है 'आत्मनोमे' इस वाक्य में जो 'मे' शब्द है उस का अर्थ अहङ्कार है वह अहंकार त्रिगुणात्मक (सात्विक-राजस-तामस) है इनके परस्पर मिलन से नौ रूप हो जाते हैं । यह सांख्य की प्रक्रिया है तेज: में जो एक वचन है वह तो तेजस्त्व जाति को लेकर कहा गया है । मनु आदि के चित्त की परीक्षा के लिये ही ऐसा कहा था अत: उनका कहना उचित ही था । ऋषि कर्दमजी तो समर्थ हैं वे योग से देह-त्याग करके भी मुक्ति को प्राप्त कर सकते थे फिर उन्होंने वन में गमन क्यों किया इसका उत्तर तो यह है कि ऋषि वन में न जाय तो स्त्री को वैराग्य नहीं होता वास्तव में तो योग में भी त्याग की अपेक्षा है । घर को त्याग देने से आधी मुक्ति हो जाती है । तदनन्तर आधे में देह और अन्त:करण भेद से दो भाग करके उसका परित्याग करते हैं तभी मोक्ष होता हैं यह साँख्य और योग का निष्कर्ष है । परन्तु भगवत्मार्ग में तो त्याग नहीं किया जाता वहां अन्य के सहारे की अपेक्षा है । इस मार्ग में तो भगवान् ही फल है यह उसकी टीका में बताया गया है अत: यहां अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है । १७२ ।

आभासार्थ–यदि यह प्रश्न हो कि कपिलावतार का प्रयोजन क्या है उस पर कहते हैं—

कारिका–विरक्तो ज्ञानसिद्ध्यर्थं कृष्णंभावयते यदि । १७३ ।
ज्ञानांशश्च तदाव्यक्तो येन सर्वं फलिष्यति ।

कारिकार्थ--विरक्त होते हुए जो ज्ञान की सिद्धि के लिये कृष्ण की यदि भावना करता है तो **ज्ञानांश प्रकाश में आ** जाता है और उस से सब फल प्राप्त हो जाता है । १७२ ।

प्रकाशार्थ—इससे यह सिद्ध होता है कि 'यावत्तेज:' यहीं पर वाक्य समाप्त हो जाता है । नौ रूप तो अन्य हैं ।

आभासार्थ--यह सब ब्रह्माजी को अभीष्ट था इसलिये ब्रह्माजी चले गये लोक प्रतीति के लिये अन्य प्रयोजन को कहते हैं—

कारिका—अवतारो हरेर्यावान् तत्र ब्रह्मा स्वयं व्रजेत् । १७४ ।
वरादनुक्ते ऽप्येवं हि स्तुतिः पूर्णे तु सर्वतः ।

कारिका—बोधनं सर्व बोधाय गमनं सर्व बोधकम् । १७५ ।
पुत्रे च हरौ सर्वत्यागादावश्यकी भजिः ।

कारिकार्थ—भगवान् के जितने भी अवतार होते हैं वहां ब्रह्माजी स्वयं जाते हैं अतः जहां ब्रह्माजी का जाना नहीं कहा है वहां भी वरदान से ब्रह्माजी का जाना निश्चित होता है परन्तु ब्रह्माजी की स्तुति तो जहां पूर्णावतार (कृष्ण का अवतार) होता है वहीं होती है । सर्व बोध के लिये बोध (कथन) किया है गमन तो सर्व बोधक है ही । भगवान् के पुत्र रूप में होने पर भी सर्वत्याग इस का द्योतक है कि भजन सबसे आवश्यक है । १७४-१७५ ।

प्रकाशार्थ—जहाँ जहाँ भगवान् का अवतार होता है वहाँ वहाँ यदि ब्रह्माजी जाते हैं तो उनके गमन का वर्णन होना चाहिये इस आशंका का उत्तर 'वरादनुक्तेऽप्येवंहि' से दिया है । ब्रह्माजी ने भगवान् से यह वर मांगा था कि जहाँ जहाँ आप गुणों को ग्रहण करके अवतार ले वहाँ वहाँ मैं उपस्थित रहूं तब भगवान ने ब्रह्माजी को उनकी प्रार्थना के अनुसार वर दिया था इसलिये जहाँ जाना न भी लिखा हो वहां ब्रह्माजी का गमन समझना चाहिये । परन्तु मुख्य रूप से स्तुति तो पूर्णावतार 'कृष्णावतार' में ही होती है । कन्यादान का बोधन और ये (कपिल) भगवान् हैं ऐसा बोधन तो सबके लिये है । कर्दमजी तथा देवहूति को तो इसका ज्ञान पहले ही था । विवाह के अनन्तर मरीचि आदि ऋषियों का गमन जो कहा है उसका उपयोग कहाँ होगा इस आशंका का उत्तर यह है कि उनका गमन भी लोगों को बोध कराने के लिये है । अन्यथा सब ये समझते हैं कि इस कल्प में स्त्रियों का पति के साथ सम्बन्ध स्वेच्छिक है भगवान् तो ज्ञान स्वरूप हैं उनका परित्याग करके चला जाना सो अनुचित है उसके लिये कहते हैं कि ज्ञान से भी भक्ति आवश्यक है । १७४-१७५ ।

आभासार्थ--पुरुष मुक्ति का उपसंहार करते हैं—

कारिका—एवं चतुर्भिभोगादि भुक्त्यन्तं पुंसि वर्णितम् । १७६ ।

कारिकार्थ—इस तरह चार अध्यायों से भोग से लेकर मुक्ति पर्यन्त का वर्णन पुरुष के लिये कहा । १७६ । (सतरहवें अध्याय से चौबीसवां अध्याय हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण)

१७ से २४ अध्यायों की सूर कथा का सार

सृष्टि रचना–

प्रथम कियो स्वायंभू मनु नृप, अज आज्ञा यह दीनीं।
भू पर जाय राज तुम करि हों, सृष्टि विस्तार यह कीनो ॥
स्वायंभू मनु और सतरूपा, तुरत भूमिपर आये।
जल मैं मगन भये भुव देखे, फिर अज पै फिर आये ॥
अज सौं आय कही सबही विधि, भुव द्रव देखियत नाहीं।
तब अति ध्यान कियौ श्रीपति को, केसौ भये सहाई ॥

वाराह अवतार–

आई छींक नाक तें प्रगटे, सूकर अति लघु रूप।
देखत गज से होय गये हैं, कीन्हौं वृहत स्वरूप ॥
जै जै करत सकल सुर-नर मुनि, जल में कियौ प्रवेश।
जाय पताल बाट गहि लीन्हीं धरनी रमा - नरेस ॥
ते भुव कमल - कुसुम की नाईं, चले मनहु गजराज।
कछु डर नाहिन जिय में डरवत, अति आनंद समाज ॥

जय-विजय को सनकादि ऋषियों का शाप–

जोगि साधु सनकादिक चारौं, गये हरि के निज लोक।
कीन्हे क्रोध, मनैं जब कीन्हे, दियो साप अति सोक ॥
जै अरु बिजै असुर जोनिन कूं, भये तीन अवतार।
तिनमैं प्रथम लियौ कश्यप गृह, दिति के कुख मंझार ॥
प्रथम भयौ हिरनाक्ष महाबल, जिन जीते लोकपाल।
नारद सीख गयौ सूकर पै, देखौ रूप विकराल ॥
सहस्र बरष लौं जल मैं जूझे, कियौ दनुज संहार।
पाछैं आय भूमि कौं थापी, कियौ जज्ञ - विस्तार ॥

कपिल अवतार–

देवहूती करदम कूं दीनीं, तिन कीन्हौं तप भारी।
बिंदु सरोवर आये माधौ, कियै गरुड़ असवारी ॥
दियौ वरदान सृष्टि करिवे कूं, अस्तुति करी प्रमान।
मेरे अंस अवतार होयगौ, कहि भये अंतरध्यान ॥
पाछैं रिषि निज तप मन लायौ, कीनौ प्रगट बिमान।
तामैं बैठ सकल जग देख्यौ, कन्या नैं सुखदान ॥
पाछैं कपिल रूप हरि प्रगटे, दरसन करि मुनिराय।
कीनौं त्याग, गये बन कूं तब, ब्रह्म परम पद पाय ॥

— 'सूर सारावली'

।। श्री हरि: ।।

भूमिका

इस पुस्तक में तृतीय स्कन्ध के १७ वें अध्याय से २४ वें अध्याय तक की श्री सुबोधिनी संस्कृत टीका हिन्दी अनुवाद सहित हैं जिसका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार से है—

१७ वें अध्याय में हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु की उत्पत्ति का वर्णन है, इनके उत्पन्न होते समय महान् अशकुन होने लगे जिससे सारा विश्व घबराने लगा, ये दोनों ही बड़े पराक्रमी और बलवान् थे जिन्होंने सब दिशाओं के राजाओं पर विजय प्राप्त की।

१८ वें अध्याय में जब हिरण्याक्ष वराह भगवान् से युद्ध करने लगा तब उसने बहुत से अनुचित वचन भी कहे उसने अपना इतना पराक्रम बतलाया कि जिसके कारण ब्रह्माजी भी घबरा गये और इसलिए उन्होंने वराह भगवान् को प्रार्थना की कि आप इस दुष्ट को तुरन्त ही नष्ट कीजिए क्योंकि इस युद्ध से सब ही भयभीत हो रहे हैं।

१९ वें अध्याय में 'ऐसा वर्णन है' कि जब वराह भगवान् ने हिरण्याक्ष का वध किया तब वह भगवान् के सन्मुख उनके दर्शन कर रहा था तो भी उसको मुक्ति न मिली।

इस स्कन्ध में १४ वें अध्याय से १९ वें अध्याय तक अर्थात् इन छ अध्यायों की कथा मतान्तर भाषा में है श्रीमद् भागवत में श्री मद् वल्लभाचार्य चरण ने तीन प्रकार की भाषाएें मानी है।

१) **लौकिक भाषा**—जिस भाषा (वर्णन) में किसी प्रकार के सिद्धान्त का वर्णन न हो केवल लोक स्थिति का वर्णन हो उसे लौकिक भाषा कहते हैं। जैसे पर्वत, नदी इत्यादि की शोभा का वर्णन हो।

२) **परमत भाषा**—जहाँ दूसरे ऋषियों के कहे हुए सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया हो उसे परमत भाषा (वर्णन) कहते हैं।

३) **समाधि भाषा**—व्यासजी ने स्वयं समाधि के द्वारा जिस 'पर' तत्व एवं लीलादि का अनुभव कर जिस सिद्धान्त का वर्णन किया है वह वर्णन समाधि भाषा है उसे ही आचार्य चरण ने प्रमाण माना है।

मतान्तर भाषा परमत भाषा को ही कहते हैं, इन छ अध्यायों में जो सनकादि ऋषियों द्वारा जय-विजय को शाप दिया गया और उन मुक्त जीवों की उत्पत्ति संसार में हुई और तीन जन्म के लेने के बाद उनका वध स्वयं भगवान् द्वारा ही हुआ यह प्रसंग मैत्रेयजी ने पूर्व में श्रवण किया हुआ विदुरजी को सुनाया, इस कथा से ऐसा सिद्ध होता है कि मुक्त-जीव भगवान् की इच्छा से

संसार में आते हैं। भगवान् की इच्छा भगवत्‌रूप होने से उनके संसार (उत्पत्ति और मरण) का इन छ अध्यायों से वर्णन किया गया है। इन छ अध्यायों में से पहले तीन अध्यायों में जय और विजय की हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु के रूप में उत्पत्ति कही गई है और पीछे के तीन अध्यायो में अर्थात् १७ वें अध्याय से १६ वें अध्याय में हिरण्याक्ष के मरने का वर्णन हैं अनित्य पदार्थो का जन्म तीन प्रकार का बताया गया है और इसी प्रकार मृत्यु भी काल, द्रव्य और गुणों से तीन प्रकार की है। १४ वें अध्याय का अर्थ बीज की उत्पत्ति (कश्यप द्वारा दिति में किया गया गर्भाधान) है। १५ वें अध्याय में जय और विजय का वैकुण्ठ में से भ्रष्ट होने का वर्णन किया गया है। १६ वें अध्याय में जय और विजय को जन्म दिति ने दिया यह कथा है। १७ वें अध्याय में इनके जन्म होने के वर्णन हैं। १८ वें अध्याय में हिरण्याक्ष के वराह भगवान् के साथ युद्ध करने औरउनको दुर्वचन कहने का वर्णन है। १६ वें अध्याय में हिरण्याक्ष के मारे जाने का वर्णन है इससे १] नाश का बीज २] नाश होने की स्थिति ३] 'नाश' इस प्रकार इन तीन अध्यायों का अर्थ है।

जय और विजय वैकुण्ठ में रहने वाले भक्तों का संसार में उत्पन्न होना और भगवान् से मारा जाना और भगवान् के दर्शन करते हुए भी हिरण्याक्ष की मुक्ति न होने का कारण भगवान् की इच्छा ही है।

इन छ अध्यायों का विषय भगवान् की इच्छा से ही घटित हुआ है मुक्त जीवों का जन्म होता है और भगवान् ही उनको इस लोक और परलोक के फल का दान करने के लिए उनकी उत्पत्ति कराते हैं इसलिए सर्ग (सृष्टि) भी हो भगवान् की लीला है यह सिद्ध होता है।

२० वें अध्याय में सांख्य मत के अनुसार सृष्टि इत्यादि का वर्णन किया गया है साँख्य पुरुष जीवन मुक्त है इससे यह सिद्ध होता है कि उस (सांख्य) मत के अनुसार मुक्ति प्राप्त करने के लिए ही जीव उत्पन्न होता है इस मत के अनुसार सृष्टि अलग-अलग ११ प्रकार की है, इस सृष्टि को ब्रह्माजी ने ही उत्पन्न की है इस सृष्टि में उत्पन्न हुए जीवों में सत्वगुण मुख्य होता है इसीलिए आरम्भ में गुणवाली नौ प्रकार की सृष्टि का वर्णन है। इस अध्याय में शौनकजी ने भगवान् की कथा के प्रारम्भ में मनुजी की कथा क्यों कही तो उसका उत्तर है कि मनुजी भी भगवान् के भक्त थे और उन्होंने जो कुछ भी किया वह भगवान् को प्रसन्न करने लिए ही किया इसलिए यह भगवान् की लीला ही है।

यदि ऐसा प्रश्न हो कि साँख्यमत की सृष्टि किस कल्प में हुई तो यह सृष्टि पद्म-कल्प ब्रह्माण्ड में हुई क्योंकि उस कल्प में ही साँख्याचार्य (कपिलदेवजी) का प्रागट्य हुआ इस प्रकार का वर्णन सांख्यमत में इस कल्प का है और इस अध्याय में पद्मकल्प का उत्तम प्रकार से वर्णन किया गया है और इस वराह कल्प का वर्णन भी यहां है यदि इसका वर्णन यहां न होवे तो जिसकी कथा चल रही है उस (श्वेत वराह) कल्प में सांख्य मत से मुक्ति प्राप्त न होवे।

सांख्य सृष्टि में पाँच पाँच के समूह से प्राकृत पदार्थो की उत्पत्ति होती है जो संख्या सहित कहे जाने से इसे सांख्यमत कहते हैं। यह सृष्टि ११ प्रकार की कही गई है जिसमें स्वभाव के दो प्रकार के है और गुणों के नौ गुण तीन (सत्व, रज और तम) प्रकार के है और प्रत्येक के तीन तीन प्रकार होने से नौ प्रकार होते हैं दसवां निगुण होने से ज्ञान रूप है और ग्यारवां भगवान् का चिंतन इस तरह गुण और स्वभाव के ११ भेद हैं। इस ग्यारह प्रकार की सृष्टि का संक्षिप्त वर्णन २० वें अध्याय में है। स्वभाव सृष्टि ज्ञान और भक्ति के भेद से सृष्टि चार प्रकार की है जिसका वर्णन २१ से २४ अध्यायों में हुआ है। नौ का वर्णन विस्तार पूर्वक २५ से ३३ अध्यायों में है। तामस सृष्टि तीन प्रकार की हुई जिसमें तामस-सात्विक से देव, तामस-राजस से दैत्य और तामस-तामस से यक्ष और राक्षसों की उत्पत्ति हुई। सात्विक सृष्टि तीन प्रकार की हुई जिससे सात्विक-सात्विक से गंधर्व, सात्विक-राजस से पितृ और सात्विक-तामस से पिशाचों की उत्पत्ति हुई। राजस सृष्टि भो तीन प्रकार की हुई जिसमें राजस-सात्विक से सिद्ध, राजस-राजस से किन्नर और राजस-तामस से सर्पों की सृष्टि हुई।

कृतकृत्य होना निर्गुण अवस्था है। अर्थात् स्वयं परमपुरुषार्थ रूप होना है। तप इत्यादि साधनो से कृष्णपन प्राप्त होता है। यहाँ कृष्णपन से कर्दम ऋषि की स्थिति कही गई है।

मुक्ति प्रकरण में तेरह अध्याय २१ से ३३ तक है। जिनमें से प्रथम चार अर्थात् २१ से २४ अध्यायों में पुरुष मुक्ति एवं २५ से ३३ नौ अध्यायों में स्त्री मुक्ति का वर्णन हैं। पुरुष कर्दमजी को चार पुरुषार्थो की सिद्धि जिसका वर्णन २१ से २४ चार अध्यायों में है वह कृष्ण की कृपा से हुई। कर्दमजी को चार पुरुषार्थ सिद्ध हुए उनमें से धर्म अर्थ और काम तो उनके साथ में देवहूति को भी हो गये परन्तु मोक्ष पुरुषार्थ तो पुरुष एवं स्त्री को अलग-अलग प्राप्त होता है पुरुष अर्थात् कर्दमजी की मुक्ति के विषय में चौबीसवें अध्याय में वर्णन है परन्तु स्त्री को मुक्ति तो अन्तःकरण के नौ गुण रूप दोषों को त्याग करने से होती है इसलिए देवहूतिजी की मुक्ति होने के साधन नौ अध्यायों में (२५ से ३३) कहे गये हैं। स्त्री प्रकृति के अधीन होने के कारण उसको उपदेश दिया जावे तब ही उसको अपने दोषों की जानकारी होती है क्योंकि स्त्री जीव प्रकृति के अधीन है। भगवान् की माया शक्ति नौ स्वरूप वाली है क्योंकि वह तीन गुण वाली है और हरेक गुण तीन प्रकार का होने से वह नौ स्वरूप वाली है, जिसमें सत्वगुण मुख्य हो वह देवता की जिसमें रजो गुण मुख्य हो वह मनुष्य की और जिसमें तमो गुण मुख्य हो वह पशु की स्त्री होती है। क्योंकि उनमें आनन्द का अधिक अंश रहता है इसलिए उनमें प्रकृति का रूप अधिक होता है प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध सदा से चला आरहा है और इसीलिए यहां पर कर्दमजी और देवहूतिजी के सम्बन्ध में कथा कही गई है जो सर्गलीला में उपयोगी है। इनके चरित्र में स्त्री और पुरुष दोनों को संसार का त्याग करने से मुक्ति हुई ऐसा कथन उचित ही है इस प्रकार प्रकरण का अर्थ कहा गया है।

२१ वें अध्याय में कर्दमजी के भगवान् को प्रसन्न करने के लिए तप करने का वृतान्त है, श्री कृष्ण की प्रसन्नता से ही सब पुरुषार्थ प्राप्त होते हैं कर्दमजी ने भगवान् की स्तुति करी परन्तु भगवान् न तो उनके तप से और न उनकी स्तुति से प्रसन्न हुए स्तुति में जो उन्होंने अपनी न्यूनताएं

(कमियें) निवेदन की अर्थात् अपने दैन्य भाव को प्रकट कर अपने आप को भगवद् भक्त बनना प्रमाणित किया, उत्तम पुरुष की कपट रहित सेवा करने से ही वे प्रसन्न होते हैं और इसलिए भगवान् ने कृपा करके कर्दमजी की कामना को स्तुति करने से पूर्व ही सिद्ध कर दी थी ऐसी भगवान् ने उनको आज्ञा की। २२ वें अध्याय में भगवान् ने कर्दमजी के गनोरथ को पूर्ण करने के लिए महाराज मनु के हृदय में यह प्रेरणा करी कि मैं अपनी कन्या देवहूति का विवाह कर्दमजी से करूं। क्योंकि भगवान् का स्वभाव है कि अपने भक्तों के सब पुरुषार्थ अपने आप ही सिद्ध कर देते हैं इसलिए मनुजी ने देवहूति का विवाह कर्दमजी के साथ करने के लिए उनको (कर्दमजी) को प्रार्थना की और उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी। इसलिए हमारा प्रयास वही होना चाहिए जिससे भगवान् प्रसन्न हों। राजा मनु भी भगवान् के भक्त थे और इसलिए अपनी कन्या देवहूति को सुयोग्य वर को देने का जो मनोरथ था वह भी भगवान् की कृपा से पूर्ण हो गया, क्योंकि कर्दमजी का विवाह देवहूतिजी के साथ हो गया।

२३ वें अध्याय में देवहूतिजी ने कर्दम ऋषि के साथ विवाह होने के बाद पूर्ण श्रद्धा और भक्ति के साथ कर्दमजी की सेवा को। देवहूतिजी को 'इंगित कोविद' अर्थात् संकेत मात्र से ही कार्य को समझ लेने में विद्वान कहा गया है, एक राज कन्या होते हुए भी उसने अपने शरीर की पर्वांह न की शरीर पर मैल जम गया सिर के बालों में लटें पड़ गई (सब वाल आपस में जुड़ गये) शरीर दुबला हो गया इस प्रकार की सेवा से प्रसन्न होकर कर्दम ऋषि ने भगवान् का ध्यान कर उसके मनोरथ को सफल किया जिससे भगवान् की कृपा से एक तामस विमान, भोग विलास की सामग्रियों से पूर्ण राजसी सेविकाओं सहित प्राप्त हुआ और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का ज्ञान कर्दमजी को हुआ जिससे उन्होंने सर्वत्र विमान के द्वारा भ्रमण कर दीर्घकाल तक देवहूतिजी से दाम्पत्य जीवन व्यतीत किया देवहूतिजी के नौ कन्याएं हुई जो मरीच आदि ऋषियों को पत्नी के रूप में दी गई क्योंकि भगवान् की इच्छा थी कि मैथुन धर्म से सृष्टि की उत्पत्ति हो देवहूतिजी की स्वयं की इच्छा थी कि मेरे बहुत सी सन्तानें हों। इसके पश्चात् देवहूतिजी ने कर्दम ऋषि को प्रार्थना की कि आप अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार तप करने के लिए वन में जा रहे हैं कन्याएं तो ऋषियों को ब्याही जायेगी और मैं अकेली किस प्रकार अपना समय बिताऊंगी इस पर कर्दम ऋषि ने उनको आश्वासन दिया कि भगवान् कपिलदेवजी का प्रागट्य होगा और वे तुमको उपदेश देंगे जिनका पालन करने से तेरी मुक्ति हो जायेगी इसलिए तुम किसी प्रकार की चिन्ता न करो।

२४ वें अध्याय में भगवान् कपिलदेवजी का प्रागट्य होने और कर्दमजो जिनमें वैराग्य पूर्णरूप से स्थित था उनके वन में जाने की कथा है। भगवान् कपिलदेवजी के प्रागट्य के समय ब्रह्माजी वहां आये और उन्होंने भगवान् की स्तुति को, ब्रह्माजी ने कर्दम ऋषि को अपनी कन्याओं का विवाह मरीचि आदि ऋषियों के साथ करने की आज्ञा दी और कर्दमजी ने अपनी सब कन्याओं का शुयोग्य ऋषियों के साथ विवाह कर उनको सहर्ष विदा किया। सांख्य, योग और भक्तिमार्ग इन तीन का उपदेश दिया गया है कपिलदेवजी ने माता देवहूतिजी को मुक्ति के लिए आगे के नौ अध्यायो में उपदेश दिया है।

अध्याय १७ से २४ तक की भूमिका पूण।

।। श्री हरि ।।

श्री सुबोधिनी पुष्पवाटिका में से चुनी गई सौरभपूर्ण कुछ कलियां

भगवन्तं भक्त एव जानाति ३-१८-१

भगवान् को भक्त ही जानते हैं

त्वं (भगवान्) मूढानपि कृतार्थान् करोषीति न भक्ति मार्गे ज्ञानापेक्षा ।। ३-१८-६

(हे भगवान्) आप मूढ का भी उद्धार करते हैं इसलिये भक्तिमार्ग में ज्ञान की आवश्यकता नहीं है ।

भगवद्विरोधिनो नाम न ग्राह्यम् ।। ३-१८-१०

भगवान् के विरोधी का नाम न लेवें

भगवता चेत्कामना पूर्यते तदा-मर्यादामुल्लंध्यापि पूर्यते ।। ३-१६-३

भगवान् जब कामना पूर्ण करते हैं तब मर्यादा का उल्लंघन करके भी करते हैं

भक्तानामाश्रयभूतो (भगवतः) पादः ।। ३-१६-२८

भगवान् का चरण कमल ही भक्त का आश्रय है

यः केवलं हरेरर्थे सर्वथायत्नवान् स्वतः । प्रसंगादपि न स्वार्थे महाभागवतस्तु सः ।। ३-२०-१

जो केवल हरि के लिये ही सवर्था प्रयत्नशील है और समय आने पर भी अपने लिये यत्न नहीं करता वह महाभागवत है

यः कश्चन तानि (भगवत्कर्माणि) कीर्तयेदेव, फलार्थी च । अफलार्थितो नित्यविधि कीर्तन्या नीति । फलार्थिनस्तु सर्वाण्येव फलानि । पात्रापात्र विचार-व्यतिरेकेणैव सर्वं फलदातृण्युदाराणि: तस्मात्कीर्तियानि । सर्वेषु पदार्थेषु सन्ति रसाः, रसज्ञं प्राप्याभिव्यक्ता भवन्ति । भगवतस्तु कर्माण्यभिव्क्ता न्येव, रसज्ञः परमपेक्ष्यते । यथाऽऽग्नेयेतौषधेन क्षुज्जायते,एवमन्नेन च तृप्यते । अन्नमेव चेत् क्षुज्जनकं स्यात् कथं तृप्येतः पीतेना मृतेनोत्तरत्रे च्छोत्पादनाह सहि दुःखहर्ता स्मरन्नेव, दुःखं चात्मतिरोभावत्, तिरोभावकश्च प्राकृतो गणः, स भूयानिति । कालादिरपि । अतो निरन्तरो त्पद्यमान दुःख निवृत्यथं हरिः स्र्मतव्यः ।। ३-२०-६

फल की इच्छा रखने वाले अथवा फल की इच्छा न रखने वाले को भगवान् की लीलाओं का कीर्तन करने का तो नियम हो है । फल चाहने वाले को कीर्तन से फल मिलता है । भगवान् का कीर्तन पात्र या अपात्र को देखे बिना सब ही को फल देने वाला है क्योंकि उदार है इसलिये अवश्य करना चाहिये सब पदार्थो में रस है, परन्तु उसका प्रकाशन रस के जानने वालों के मिलने पर ही होता है । परन्तु भगवान् के कर्म (लीला) तो प्रकट हो है तो भी रसिक (भक्त) को आवश्यकता है जिस तरह भूख बढाने वाली ओषधि के सेवन से अन्न बहुत खाते हैं परन्तु यदि अन्न ही भूख बढाने लगे तो तृप्ति कैसे होय ? इसी तरह कीर्तन करने वाले रसिक भक्त को तृप्ति कीर्तन से कैसे होय ? क्योंकि अमृत पीने वाले को और भी पीने की इच्छा होती है (हरि) का स्मरण होने मात्र से ही दुःख हरण हो जाता है दुःख हरि को भूलने से होता है और हरि को भुलाने वाले लौकिक गुण हैं । इसलिये दुःख को दूर करने वाले हरि

का निरंतर स्मरण करें

कामो विवेकादीनां नाशक ।। ३-२०-२३

काम वासना विवेक (ज्ञान) को नष्ट करती हैं।

त्वदीयानां नान्यः सुख दुःख दाता, किंतु त्वमे (भगवाने) व ।। ३-२०-२७

अपने (निजजन) को सुख या दुःख देने वाला अन्य कोई नहीं है किन्तु आप (भगवान्) ही हैं।

मदर्चनं कदाचिदपि मृषा फल रहितं न स्यात् कालभेदेनापि मद्भजनस्य न फलाभाव संबंधः ।। ३-२१-२४

मेरा (भगवान् का) भजन कभी भी व्यर्थ नहीं जाता काल के भेद से भी निष्फल नहीं होता है।

कामापेक्षयापि भगवद्वाक्यं महदिति विश्वासो भगवद्भावा पन्नस्यैव ।। ३-२१-२५

जिस को भगवद् भाव की प्राप्ति हो गई है उसे ही विश्वास होता है कि काम से भी बड़ी भगवान् की आज्ञा है

शरणागत श्चेत्क्लिष्टः, तथा तत्र कृपा भवति। ....भगवानस्वकृपां शरणागष्वेवत्रार्षितवान्, अतो न दीन मात्रे भगवतो दयायतः प्रपन्नाय दत्तवान् ।। ३-२१-३८

शरणागत दुःखी होय उस पर भगवान् की कृपा होती है..........भगवान ने अपनी कृपा का दान शरण में आये हुए को ही दिया है इसलिये सब दीनों पर उनकी दया नहीं है क्योंकि वह तो उन ने शरणागतों को दे रखी है।

यैः संघातात्पृथगात्मा न कृतः, भगवदर्थं वा अन्तःकरणं न कृतं, ते ऽकृतात्मानः । ३-२२-६

जिन ने आत्मा को देह से अलग नहीं किया हैं अर्थात् देह को ही आत्मा मानते हैं या जिनका अन्तःकरण भगवान् के लिये नहीं है वे अकृतात्मा हैं

इन्द्रिय चाञ्चल्ये सेवा न फलतीति लोक वेद सिद्धम् ।। ३-२३-२

लोक और वेद से सिद्ध है कि इन्द्रियों की चंचलता के कारण सेवा का फल नहीं मिलता है।

अन्य काम लीलाश्रवणेन जायमानः काम दुष्टो भवति ।। ६-२३-३७

दूसरे की काम लीला को सुनने से अपनी काम वासना दुष्ट हो जाती है

'चरणं पवित्रं विततं पुराणम्' इति श्रुत्या चरणस्य व्यापकत्वं, सनातनत्वम पहतपामत्वं च। आश्रिता नामपि तथात्वसंपादकत्वं च।

श्रुति भगवान् के चरण को "चरणं पवित्रं विततं पुराणम्" अर्थात् चरण व्यापक सनातन और पवित्र है बताती है इसलिये चरण व्यापक और पाप मिटाने वाले हैं और अपने आश्रितों को भी वैसे बनाने वाले हैं।

श्री सुबोधिनी

प० भ० श्रीमाधवभट्टजी
काश्मीरी

प० भ० श्रीकृष्णदासजी
मेघन

प० भ० श्रीदामोदर-
दासजी हरसानी

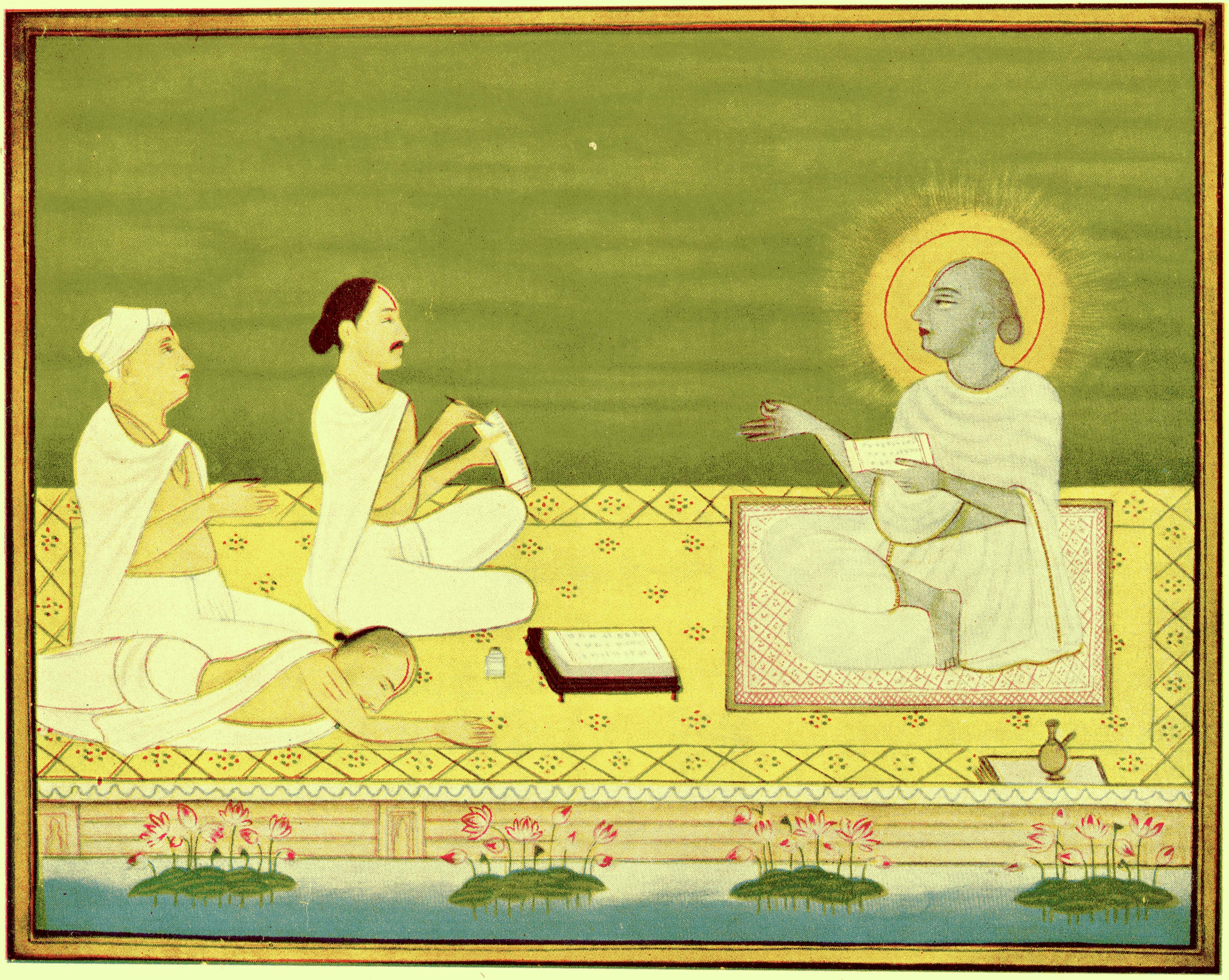

अखण्ड भूमण्डलचार्य
चक्र चूडामणी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण
(श्री महाप्रभुजी)

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण (महाप्रभुजी) प. भ श्री माधवभट्टजी को सुबोधिनी लिखवा रहे हैं।

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

तृतीय स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

(बन्ध सृष्टि) मतान्तर प्रकरण

"अध्याय"—१७

हिरण्य कशिपु और हिरण्याक्ष का जन्म तथा हिरण्याक्ष दिग्विजय।

कारिका- कामादिना मार्गनाशा उपोद्घातेन वर्णिताः ।
सृष्टिमात्रप्रयोगाय तत्फलं वर्ण्यते शुभम् ॥१॥

कारिकार्थ—काम आदि से मार्गों के नाश का होना उपोद्घात में वर्णन किया। सृष्टि मात्र के प्रयोग के लिये अर्थात् इसका सम्बन्ध उत्तम[1] से हो इसके लिये उसका शुभ फल वर्णन किया जाता है ॥१॥

कारिका—उत्पत्तिस्तामसी प्रोक्ता स्थितिर्वै राजसी मता।
सात्त्विकः प्रलयश्चेति विपरीतं फलं तयोः ॥२॥

कारिकार्थ—इन दोनों[2] की उत्पत्ति तामसी है स्थिति निश्चय पूर्वक राजसी मानी गयी है

१-१७ वें अध्याय का विवरण करते हुए प्रथम कहे हुए इन तीनों की सङ्गति 'कामादिना' कारिका से कहते हैं। भगवान् की रचना होने से सृष्टि का प्रकर्ष है और उसके सम्बन्ध होने के लिये तथा सृष्टि विषयक उपोद्घात इन तीनों का (१७, १८, १९ अध्यायों प्रति) कारणत्व है इस तरह कारण और कार्य की सम्बन्ध रूप सङ्गति है यों तात्पर्य है १७ से १९ अध्यायों को क्रम से कहते हैं।

प्रकाश

२-अर्थात् जय विजय की उत्पत्ति

और प्रलय (नाश) सात्विक है, इनको जो फल मिला है वह शाप से विपरीत [1] मिला है ॥२॥

कारिका— उत्पत्तिर्द्विविधा प्रोक्ता स्वरूपानिष्टभेदतः ।
यावद्वृद्धिरिहोत्पत्तिः; कायवाग्दोषवर्णनम् ॥
सजातीयविजातीयक्लेशदानाय जन्मनः ।

कारिकार्थ—स्वरूप और अनिष्ट भेद से उत्पत्ति दो प्रकार की कही है जहाँ तक देह की[2] वृद्धि होती रही वहाँ तक उत्पत्ति कही है इनका जन्म अपनी जाति को और अन्य जाति को दुःख देने के लिये हुआ है यों बताने के लिये देह और वाणी के दोषों का वर्णन है ॥३½॥

कारिका—शापस्त्वेक इति प्रोक्तो हिरण्याक्षो न चाऽपरः ।
आधारस्तु स एवोक्तो द्वितीये दोषवर्णनम् ॥४½॥

कारिकार्थ—शाप तो एक ही हैं फिर यहां केवल हिरण्याक्ष की कथा क्यों [3] कहीं ? दूसरे (हिरण्यकाशिपु) की क्यों नहीं कही ? आधार तो वह ही कहा गया है दूसरे के दोष का वर्णन किया है ॥४½॥

कारिका— उत्पत्तिरेव शापेन नीचयोनौ निरूपिता ।
स्थितिनाशौ तयोस्तस्माद्धरावेवाऽत्र वर्ण्यते ॥५½॥

कारिकार्थ-शाप से नीच योनि में उत्पत्ति[4] ही कही है उनकी स्थिति और नाश भगवान् के द्वारा हुए है ॥५½ ।

१-लोक से विपरीत फल मिला है अर्थात् जो शाप से फल मिलना चाहिये वह न मिलकर परिणाम में उत्कर्ष उन्नति करने वाला फल मिला ।

२-यहाँ से ४½ कारिकाओं से १७ से १९ तक तीन अध्यायों का अर्थ कहा है पहली सवा तीन कारिकाओं से १७ वें अध्याय का अर्थ कहा है ।

३-इस शङ्का को मिटाने के लिये दूसरे की उत्पत्ति संक्षेप से कही है और वृद्धि भी कही है । विशेष में हिरण्याक्ष आधार हैं । दिति के दोष के कारण पहले उसकी उत्पत्ति होने से बहुत दोषों का यह (हिरण्याक्ष) आधार है अतः पहले इसकी कथा कही है, दूसरा ऐसा नहीं है उसमें (हिरण्यकाशिपुमें) उग्रवीर्य से उनके दोष औद्धत्य आदि कहे हैं

४-यह उत्पत्ति प्रकरण है अत एव शाप से नीच योनि में उत्पत्ति कही है, स्थिति और नाश भगवान् द्वारा हुए हैं, अतः हिरण्य कशिपु के लिए अन्य नृसिंह अवतार होने से उसकी कथा यहाँ नहीं की है, प्राकृत (चालु) विषय होने से एक ही की कथा कही है ।

(प्रकाश)

कारिका—कृष्णेन सहिता लीला: स्थितिस्तस्य महात्मन: ।
निधनं चाऽपि तस्यैव कल्याणवचनान्मतम् ।।६½।।

कारिकार्थ—उस महात्मा की श्री कृष्ण के साथ लीला (युद्ध क्रीड़ा करने से हरि में ही स्थिति होने का वर्णन किया है और उसकी मृत्यु भी भगवान् के वचन द्वारा होगी कल्याण ही होगा इन वचनों के द्वारा हरि में ही होना माना हैं । ।।६½।।

कारिका—स्वरूपोत्पत्तिरन्यत्र हेतुरित्युच्यते बहु ।
अनिष्टसूचकं तत्र ज्ञानं दु:खप्रणाशनम् ।।७½।।

कारिकार्थ—अन्यों में देह की उत्पत्ति कारण है यों कहा जाता हैं बहुत अनिष्ट सूचक के हेतु का ज्ञान दु:ख नाश करने वाला है ।।७½।।

कारिका अत: सप्तदशेऽध्याये दु:खाभावस्तथोद्गम: ।
अनिष्टसूचनं दोषौ वर्ण्यन्ते पञ्च सम्भवे ।।८।।

कारिकार्थ—इससे १७ वें अध्याय में (१) दु:ख का अभाव, (२) उत्पत्ति (३) अनिष्ट का सूचन (४) काया और (५) वाणी के दोष, ये पांच विषय कहे हैं ।।८।।

आभास—तत्र प्रथमं निदानज्ञानेन भयनिवृत्तिमाह—

आभासार्थ—पहले कारण के ज्ञात हो जाने से भय की निवृत्ति कहते है-

मैत्रेय उवाच । श्लोक—निशम्याऽऽत्मभुवा गीतं कारणं शङ्कयोज्झिता: ।
तत: सर्वे न्यवर्तन्त त्रिदिवाय दिवौकस: ।।१।।

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी कहते हैं ब्रह्मा के कहे हुए कारण को सुनकर निर्भय हुए सर्व देव स्वर्ग में गये ।।१।।

सुबोधिनी—निशम्येति । आत्मभुवा ब्रह्मणा गीतं कारणं निशम्य शङ्कया उज्झिता जाता: । आत्मभुवेति कारणम् गीतमिति हर्षेण सार्वजनीनमुक्तमिति फले नि:सन्देह: । शङ्का स्वनाशे। पोडामात्रं तु परिच्छिन्नत्वात् सोढव्यमिति शङ्कयैवोज्झिता जाता:, इष्टानिष्टयो: कालस्य च निर्द्धारितत्वात् । शङ्कानिवृत्त्यनन्तरं च सर्वे त्रिदिवाय न्यवर्तन्त । दिवौकस इति तत्र गमनावश्यकत्वम् ।।१।।-

व्याख्या—'आत्मभू' (ब्रह्मा) के कहे हुए कारण को सुनकर अपने नाश की चिन्ता से छूटे, 'आत्मभुवा' पद से कारण की सूचना की, क्योंकि ब्रह्मा देवों की उत्पत्ति का स्थान है इसलिए देवों

का कारण है इसलिए इनका कहना देवों के लिए हितकर है 'कथितं' (कहा) न कहकर 'गीतं' (गाया हुआ) कहा जो हर्ष का सूचक होने से सर्व में प्रसिद्ध हुआ, इससे बताया है कि फल प्राप्ति में कोई सन्देह नहीं दुःख तो सीमा वाला है इससे सहन करना चाहिए। यों समझ कर (देव) निर्भय हो गये कारण कि सुख एवं दुःख की सीमा बन्धो हुई है शङ्का निवृत हो जाने के बाद सकल देव स्वर्ग को लौट गये क्योंकि स्वर्ग इनके रहने का स्थान हैं वहां जाना आवश्यक होने से वहां लौट गये ॥१॥

आभास—उत्पत्तिमाह—

आभासार्थ—इस श्लोक में उनकी (द्वारपालो की) उत्पत्ति कहते हैं।

श्लोक—दितिस्तु भर्तुरादेशादपत्यपरिशङ्किनी।
पूर्णे वर्षशते साध्वी पुत्रौ प्रसुषुवे यमौ ॥२॥

श्लोकार्थ—दिति को तो पति के आदेशानुसार (पुत्र उपद्रवी होंगे) यह शङ्का बनी रहती थी अतः जब पुत्रों को गर्भ में रहते हुए सौ वर्ष बीते तब दो यम पुत्रों को उत्पन्न किया ॥२॥

सुबोधिनि—दितिस्त्विति। ऋषिविचारेण सद्य एवोत्पादनीयौ, तथापि दित्या तथा न कृतमिति तुशब्दः। भर्तुः कश्यपस्य, आदेशात् वाक्यादाज्ञारूपात् अपत्ये विषये परितः शङ्कायुक्ता जाता। तया शङ्कया तयोर्दोषनिवृत्त्यर्थं मारकः कालः प्रतीक्षितः स हि वर्षशतात्मको भवति. अतः पूर्णे वर्षशतेपुत्रौ प्रसुषुवे। उभौ पुत्रौ जनितवती। तौ यमलावपि दुःखदातृत्व यमावित्युक्तौ। पुत्रापराधेन भर्ता स्वात्मानं त्यक्ष्यतीति भयाच्छतवर्षधारणमिति बोधयति साध्वीति। एते वर्षा मानुषाणाम्। २॥

व्याख्या—श्लोक में 'तु' शब्द देने का आशय है कि कश्यप ऋषिजी के विचारानुसार शीघ्र ही पुत्रों को उत्पन्न करना था किन्तु दिति ने यों नहीं किया, क्योंकि पति कश्यप के आज्ञा रूप वाक्य से सन्तानों के विषय में चारों तरफ से शङ्का शील थी कि यों उत्पन्न होकर उपद्रव ही करेंगे इस शङ्का से इनके कुसमय में गर्भ में स्थित होने से जो दोष हुआ है उसकी निवृति के लिए मारक काल की प्रतीक्षा की, वह काल सौ वर्ष का होता है अतः सौ वर्ष बीते तब वे दो पुत्र रूप से उत्पन्न किये यद्यपि वे जुड़वा थे इसलिए 'यमलौ' पद देना चाहिए था वह न देकर 'यमौ' कहा जिसका कारण यह है कि ये दुःख देने वाले होंगे, पुत्रों के अपराध से पति मेरा त्याग न कर दे इस भय से पुत्रों को सौ वर्ष तक गर्भ में धारण किया। क्योंकि दिति 'साध्वी' पतिव्रता थी, ये सौ वर्ष मनुष्यों के हैं ॥२॥

आभास—एवमुत्पत्तिमुक्त्वा तस्यास्तामसत्वं ज्ञापयितुमनिष्टसूचकान् बहूनुत्पातान् वर्णयति । कालप्रतीक्षा कृतेति संवत्सरात्मकः कालस्तत्राऽनिष्टसूचक द्वादशभिरनिष्टानि, फलं चैकेनोच्यते । तत्र प्रथमं सामान्यमनिष्टमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार उत्पत्ति कह कर सका तामसत्व जताने के लिए अनिष्ट की सूचना करने वाले बहुत प्रकार के उत्पातों का वर्णन करते है। काल की प्रतीक्षा की इसलिए अब संवत्सरात्मक काल इस प्रसंग में अनिष्ट की सूचना देने वाला हुआ है वे अनिष्ट १२ श्लोकों से और उसके फल का एक श्लोक से वर्णन करते हैं, उसमें पहले सामान्य अनिष्ट कहते हैं-

श्लोक—**उत्पाता बहवस्तत्र निपेतुर्जायमानयोः ।**
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च लोकस्योरुभयावहाः ॥३॥

श्लोकार्थ—उनके जन्म के समय स्वर्ग, पृथ्वी और अन्तरिक्ष में अनेकों उत्पात होने लगे जो उत्पात लोकों को अत्यन्त भयभीत करने वाले थे ॥३॥

सुबोधिनी—उत्पाता इति तत्राश्रमे, तदा वा तयोर्जायमानयोः सतोः त्रिविधा अपि जाताः । तेषां देशभेदेनत्रैविध्यमाह-दिवि भुव्यन्तरिक्षे चेति । सात्त्विकराजसतामसक्रमोऽत्र । चकारादात्मनि भूतकृतानि च । तेषां फलमाह-लोकस्योरुभयावहा इति । लोकस्येति सामान्यत , सतां वा । रुभयमावहन्तीत्यधिकं भयं लोकनाशात्,धर्मनाशाद्वा ॥३॥

व्याख्या—'तत्र' पद से आश्रम में अथवा उस समय दोनों का सूचक है। उन दोनों के पैदा होते हुए तीन प्रकार के उपद्रव हुए, उनको देश भेद से तीन प्रकार का कहा है, स्वर्ग में पृथ्वी पर और अन्तरिक्ष में इनमें सात्विक राजस और तामस क्रम हैं, अर्थात् स्वर्ग में सात्विक, पृथ्वी पर राजस अन्तरिक्ष में तामस उत्पात हुए (ये उत्पात नारद संहिता में कहे हुवे उत्पातों से जुदे प्रकार के हैं उनसे भी भीषण हैं इससे विरोध दोष वाला नहीं) 'च' पद से देह में भूत कृत उपद्रवों का सूचन किया है, उनका फल कहते हैं 'लोकस्योरुभयावहाः' लोक शब्द से सामान्य सब का सूचन किया है अथवा सत्पुरुषों को अत्यन्त भयंकर हुवे हैं कारण कि इनके उत्पातों से लोकनाश वा धर्म नाश होने वाला है । ॥३॥

आभास—उद्देशत उक्त्वा स्वरूपतस्त्रिविधानाह—

आभासार्थ—उत्पात उद्देश्य से कहकर निम्न श्लोक में वे स्वरूप से तीन प्रकार के हैं यों वर्णन करते हैं।

श्लोक—सहाचला भुवश्चलुर्दिशः सर्वाः प्रजज्वलुः ।
सोल्काश्चाऽशनयः पेतुः केतवश्चार्ऽतिहेतवः ॥४॥

श्लोकार्थ—पर्वतों सहित पृथ्वी के कुछ कुछ भाग हिलने लगे जगह जगह उल्का पात होने लगा । सकल दिशाएं जलने लगी । बिजलियां कड़ाके के साथ चमकने लगी । भय सूचक पुच्छल तारे आकाश में दिखाई देने लगे ॥४॥

सुबोधिनि—सहाचला इति । एतेऽपि दिव्या इति केचित् । पर्वतसहिता भुवः खण्डशश्चेलुः । अनवच्छिन्ना चेत्, भूश्चचालेति वदेत् । सहाचाला इत्यचलानामपि पृथक् चलनम् ।दिग्दाहोऽन्तरिक्षस्थः, अन्तरिक्षे प्रतिष्टिता दिश इति। सर्वा अष्टौ जज्वलुरिति न धूममात्रम् । दिव्यानाह-सोल्काश्चाऽशनय इति । उल्का अग्निसदृशा नक्षत्ररूपाः, तत्सहिता अशनयो वज्रा : केतवः शतं धूमकेतुप्रभृतयः सर्वेषां साधारण्येन भयजनकत्वेऽपिकेतूनामार्तिजनकत्वमधिकम् । ये.पातोदृश्यते, तेषां शरीरे पीडा भवतीति विशेषः । आर्तिहेतवो यमदुतादयो वा ॥४॥

व्याख्या—किसी का मत है कि ये उत्पात भी दिव्य थे पर्वत सहित पृथ्वी टुकड़े हो कांपने लगी । यदि टुकड़े हो न कांपती तो 'भूश्चचाल' एक वचन देते 'सहाचला' पद का भी यह आशय है कि पर्वत भी जुदे चलने लगे तात्पर्य यह है कि समग्र पृथ्वी एवं समग्र पर्वत साथ में नहीं चले थे । दिशाओं का जलना अन्तरिक्ष में हुआ, क्योंकि दिशाए अन्तरिक्ष में स्थित हैं सब दिशाएं आठ हैं जलने लगी, न केवल धूम्र (धुंआ) हुआ । आकाश के उत्पात कहते हैं उल्के होने लगे वे अग्नि के समान नक्षत्र रूप थे उनके साथ वज्र (बिजलियाँ भी कड़ाके के साथ चमक एवं ध्वनि करने लगी पुच्छल तारे एक सौ देखने में आये । यद्यपि सब साधारण रीति से भयजनक थे किन्तु विशेष पीड़ा करने वाले हैं, जो पुच्छल तारों को गिरते देखते हैं उनके शरीर में पीड़ा होती है इतनी इनमें विशेषता है आर्ति (पीड़ा) के कारण है व यम के दूतादि होने से जगत् में विशेष हानि करने वाले होते हैं ॥४॥

आभास—भौतिकमाह—

आभासार्थ—अब इस श्लोक में भौतिक उत्पात का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—वायुर्ववौ सुदुःस्पर्शः फट्कारानीरयन्मुहुः ।
उन्मूलयन्नगपतीन्वात्यानीको रजोध्वजः ॥५॥

श्लोकार्थ – बार बार धांय धांय करती बड़े बडे वृक्षों को मूल सहित उखाड़ती हुई अत्यन्त निकट वायु (आंधी) चलने लगी, जिससे उस समय आंधी की सेना, उड़ती हुई धूल ध्वजा के समान दीखती थी ॥५॥

सुबोधिनि-वायुरिति । वायुद्विविधः वात्यारूप सदागतिश्च । उभयविधोऽप्यनिष्टसूचक इत्याह । तत्र सदागतेरनिष्टसूचकरूपमाह—सुदुःस्पर्श इति । निरन्तरगमनमेव स्वभावतोऽनिष्टसूचकम्, तत्रापि सुष्ठु दुष्टः स्पर्शोयस्य । फट्कारानीरयन्निति दुष्टशब्दाननुकुर्वन् वातीत्यर्थः । मुहुरित्येकस्मिन्नपि धाराप्रवाहे बहुधा शब्दजननम् वात्यारूपस्याऽनिष्ट लक्षणमाह-उन्मूलयन्निति। नगपतीन् वृक्षश्रेष्ठान् मूलत उत्पाटयन् भ्रमणवायुवर्गगनपर्यन्तं रजउत्थापयतीत्यर्थः ॥५॥

व्याख्या—वायु दो प्रकार की होती है[1] तुफान रूप (आन्धी)[2] सदाचलने वाली अर्थात् धूलरहित तेज गति वाली होती हैं, दोनों तरह वे अनिष्ट सूचक हैं जिसमें सदा तेज चलने वाली वायु का रूप बताते हैं 'सुदुः स्पर्श' वह स्पर्श होने से दुःख दायी होती है निरन्तर तेज चलने से ही स्वभाव से अनिष्ट सूचक है उसमें विशेषता यह है कि उसके स्पर्श मात्र से दुःख होता है चलने के समय भी दुष्ट शब्द (धांय धाय) करती हुई चलती है 'मुहुः' एक ही धारा प्रवाह में अनेक प्रकार के शब्द (ध्वनि) प्रकट करती है । आन्धी रूप वायु के अनिष्ट लक्षण कहते हैं 'उन्मूलयन् नगपतीन्' श्रेष्ठ बड़े-बड़े वृक्षों को मूल सहित उखाड़ती हुई आकाश पर्यन्त रज को उठाकर फेंकती है यों अर्थ है ॥५॥

आभास—मेघानामनिष्टलक्षणमाह—

आभासार्थ—इस श्लोक में मेघों का अनिष्ट सूचक लक्षण कहते हैं ।

श्लोक—उद्धसत्तडिदम्भोदघटया नष्टभागणे ।
व्योम्नि प्रविष्टतमसा न स्म व्यादृश्यते पदम् ॥६॥

श्लोकार्थ—बिजली ऐसे चमक रही थी कि मानो हंस रही है, मेघों की घटा ने ऐसा सघन रूप धारण किया जिससे प्रकाशकगण (सूर्य चन्द्र आदि ग्रह) लुप्त हो गये इस कारण आकाश में अन्धकार फैल गया इससे उस समय कुछ भी दीख नहीं पड़ता था ॥६॥

सुबोधिनी—उद्धसदिति । ऊर्ध्वं हसन्त्य इव यास्तडितः, तत्सहिता येऽम्भोदाः, तेषां या घटा समूहः, तया कृत्वानष्टो भागणस्तेजः समूहो यत्र । एतादृशे व्योम्नि प्रविष्टं यत्तमः, तेन कृत्वा किमपि पदम्, ज्योतिषामन्येषां वा, न व्यादृश्यते स्म स्मेति लौकिकं प्रमाणं संमत्यर्थमुच्यते । तडितां हासतुल्यता अनिष्टम्, अत्यन्तं तमश्च । तमस इति पाठे तमसः पदं मेघादिकं न दृश्यत इत्यर्थः ॥६॥

व्याख्या—जोर से हंसती हुई बिजलियां उनके साथ जो बादलों की घटा थी उससे प्रकाशक सब आकाश में निस्तेज हो गया। ऐसे आकाश में जो तम (अन्धकार) प्रविष्ट हुआ, उससे कोई स्थान, सूर्यादि के व अन्यों के देखने में न आने लगे, 'स्म' इस पद से सम्मति के लिये लौकिक प्रमाण कहा हैं, बिजलियों की हांस समजता अनिष्ट सूचक है और अत्यन्त अन्धकार भी अनिष्ट सूचक हैं। 'तमसा' के स्थान पर यदि तमसः पद हो तो इसका अर्थ होगा मेघादिक भी देखने में नहीं आते थे। ॥६॥

आभास—समुद्रस्याऽनिष्टलक्षणमाह—

आभासार्थ—इस श्लोक में समुद्र के अनिष्ट सूचक लक्षण कहते हैं।

श्लोक—चुक्रोश विमना वार्धिरुदूर्मिः क्षुभितोदरः।
सोदपानाश्च सरितश्चुक्षुभुः शुष्कपङ्कजाः ॥७॥

श्लोकार्थ—ऊंची तरंगों (लहरों) वाला, भीतर के जीवों की खलभली से दुःखी हो जोर से गर्जने लगा, नदी आदि में भी खलबली से कमल आदि सूख गये ॥७॥

सुबोधिनी-चुक्रोशेति। विमना इव वार्धिः समुद्रश्चुक्रोश। ऊर्ध्वमूर्मयो यस्य। क्षुभितमुदरं यस्य। मकराद्युद्वेगेन ज्ञायते। सोदपाना कूपादि-सहिता सरितः पुष्करिण्यजा शुष्कपङ्कजा जाताः सरित एववा ॥७॥

व्याख्या—जैसे मनुष्य दुःखी होने पर जोर से पुकारता है समुद्र भी दुःखी हुवा हो वैसे जोर से आक्रोश (शोर) करने लगा जिसके चिन्ह थे ऊंची ऊंची तरगों का उठना और अन्दर के भाग में भीतर रहने वाले जीवों की मची हुई बड़ी हलचल कूप एवं सरित (नदी) आदि भी खलबली में पड़े हुए थे उनके कमल भी सूक गये थे ॥७॥

श्लोक—मुहुः परिधयोऽभूवन्सराह्वोः शशिसूर्ययोः।
निर्घातो रथनिर्ह्लादा विवरेभ्यः प्रजज्ञिरे ॥८॥

श्लोकार्थ—सूर्य और चन्द्र को साथ ही राहू बार बार अर्थात् सूर्य ग्रहण एवं चन्द्र ग्रहण होने लगे ग्रसने लगा बिना बादलों के बिजलियां गिरने लगी, गुफाओं से रथ की घर घराहट के समान शब्द होने लगे ॥८॥

सुबोधिनि—चन्द्रसूर्ययोरेकदैव राहुग्रस्तयोर्मुहुः परिधयोऽभूवन्। निर्घातो निरभ्रविद्युत्पातो जात इत्यर्थः। निर्ह्रादा शब्दाः, रथघोषसदृशाः। विवरेभ्यः, कान्दरादिभ्यः, पातालादिभ्यो वा सर्पादिबिलेभ्यो वा प्रकर्षेण जाताः। ॥८॥

व्याख्या -- राहुग्रस्त सूर्य एवं चन्द्रमा की साथ में ही परिधियां बार बार होने लगी। 'निर्घात बिना बादलों के बिजलियां गिरने लगी रथों के घरघराहट के समान शब्द विवरों से गुफाओं से पातालादि से व सर्पादि के बिलों से जोर जोर से होने लगे ॥८॥

श्लोक—अन्तर्ग्रामेषु मुखतो वमन्त्यो वह्निमुल्बणम् ।
शृगालोलूकटङ्कारैः प्रणेदुरशिवाः शिवाः ॥९॥

श्लोकर्थ-गाँवों में सियारियाँ मुख से दहकती आग को उगलती हुई, गीदड़ और उल्लुओं के भयंकर शब्दों के साथ अमंगल ध्वनि करने लगी ॥९॥

सुबोधिनी--अन्तर्ग्रामेषु मुखत उल्बणं वह्निं वमन्त्यः शिवाः शृगाल्यः शृगालोलूकटङ्कारैः सहिता वाचः प्रणेदुः प्रकर्षेण नेदुः । अशिवा इति लोकेऽपि तेषाममङ्गलत्वं प्रसिद्धमिति ज्ञापितम् ॥९॥

व्याख्या—गाँवों के भीतर सियारियाँ मुख से दहकती हुई आग को उगलती हुईं, गीदड़ और उल्लुओं के भयंकर शब्दों के साथ अमङ्गल ध्वनि करने लगी ॥९॥

आभास--शुनामाह-

आभासार्थ—निम्न श्लोक में कुत्तों के अमङ्गल शब्द बताते हैं।

श्लोक-संगीतवद्रोदनवदुन्नमय्य शिरोधराम् ।
व्यमुञ्चन्विविधा वाचो ग्रामसिंहास्ततस्ततः ॥१०॥

श्लोकार्थ-जहां तहां कुत्ते अपनी गर्दन ऊंची कर कभी संगीत (गाने) की तरह और कभी रोने की तरह अनेक प्रकार की बोलियां बोलने लगे ॥१०॥

सुबोधिनी—संगीतवदिति। यथा लोके गीतं भवति, यथा वा रोदनं पाश्चात्यानाम् । शिरोधरां ग्रीवामुन्नमय्य विविधा वाचो व्यमुञ्चन् । ततस्ततः परितः । ग्रामसिंहाः श्वानः ॥१०॥

व्याख्या—जिस तरह नगरों में गायन होता है अथवा जैसे पश्चिम के लोग रोते हैं वैसे कुत्ते गरदन ऊंची कर तरह २ के शब्द यहां वहाँ बोलने लगे ॥१०॥

आभास —गर्दभानामनिष्टलक्षणमाह-

आभासार्थ—गधों के अनिष्ट लक्षणों का वर्णन इस श्लोक में करते है

श्लोक—खराश्च कर्कशैः क्षत्तः खुरैर्घ्नन्तो धरातलम् ।
खार्काररभसामत्ताः पर्यधावन्वरुथशः ।।११।।
रुदन्तो रासभत्रस्ता नीडादुदपतन्खगाः ।।११½।।

श्लोकार्थ—हे संयमी ! (हे विदुर जी !) बहुत झुण्डों में इकट्ठे होकर अपने कठोर खुरों से भूमि को खोदते एवं रेंकने का शब्द करते हुए गधे मतवाले बन गये जिससे इधर उधर दौड़ने लगे गधों के रेंकने के शब्दों से डरे हुए पक्षी रोते हुए अपने घोसलों से उड़ने लगे ।।११½।।

सुबोधिनि—खराश्चेति । गर्दभाः । कर्कशैः खुरैर्धरातलं घ्नन्तः, तज्जातिशब्देन खार्कारेण, रभसमत्यन्तमामत्ताः, रभसा वा मत्ताः, वरूथशः पर्यधवन् । तच्छब्देनाऽनिष्टान्तरमाह रुदन्तः खगा रासभत्रस्ताः सन्तः नीडादूर्ध्वमपतन् । रासभशब्देन तेऽपि भीता इत्यर्थः ।।११-१२।।

व्याख्या—कठोर खुरों से भूमि को खोदते हुए गधे, अपनी जाति के शब्द रेंकने से अत्यन्त-मत हो गये, जिससे झुण्डों के रूप में इधर उधर दौड़ने लगे, उनके शब्द से दूसरा अनिष्ट बताते हैं कि गधों से डरे हुए पक्षी रोते हुए घोंसलों से उड़ने लगे, गधों के शब्द से वे भी डर गये यों अर्थ है ।। ११-१२।।

आभास—पशूनामनिष्टलक्षणमाह—

आभासार्थ—पशुओं के अनिष्टों का लक्षण निम्न श्लोक में कहते हैं

श्लोक—घोषेऽरण्ये च पशवः शकृन्मूत्रमकुर्वत ।।१२।।
गावोऽत्रसन्नसृग्दोहास्तोयदाः पूयवर्षिणः ।
व्यरुदन् देवलिङ्गानि द्रुमाः पेतुर्विनाऽनिलम् ।।१३।।

श्लोकार्थ—डर के मारे खिरक और वन में पशु विष्ठा और मुत्र छोड़ देते थे (त्याग देते थे) गौ डर गई खून स्रवित करने लगी बादल पीप बरसाने लगे, देव मुर्तियां रोने लगी, वायुबिना वृक्ष गिरने लगे ।।१२-१३।।

सुबोधिनी घोषे आभीराणां गृहे, **अरण्ये** च भयात् **शकृन्मूत्रं** चाऽकुर्वतं । गोयमयुक्तं वा मूत्रमकुर्वत । गावश्चाऽत्रसन् । **असृग्दोहा** रुधिरदोग्ध्र्यः । **तोयदा** मेघाश्च **पूयवर्षिणो** जाताः । पूर्वं तेषामाच्छादकत्वमेवोक्तम् । **देवलिङ्गानि** देवप्रतिमा विशेषेणाऽरुदन्, शब्दं नेत्राज्जलं चाऽत्यजन् । **द्रुमाश्चा**ऽनिलव्यतिरेकेण पेतुः ।।१३।।

व्याख्या—खिरकों में वन में गौ बैल आदि पशु डर के कारण जहां तहां बारम्बार मल के साथ मूत्र भी त्यागने लगे गौ ऐसी डर गयी कि उनके दूध के स्थान से खून निकलने लगा जल बरसाने वाले बादल पीप की वर्षा करने लगे । पहले बादल आच्छादकपन (अंधकार वाले) ही कहे हैं, देव मूर्तियां विशेष रूप से रोने लगी, मुख से शब्द और नेत्रों से जल की ध्वनि हो रही थी बिना वायु के चलते हुवे पेड़ गिरने लगे ।।१३।।

आभास—ग्रहयुद्धं च जातमित्याह—

आभासार्थ –निम्न श्लोक में ग्रहों के युद्ध का वर्णन करते हैं–

श्लोक—**ग्रहान्पुण्यतमानन्ये भगणांश्चाऽपि दीपिताः ।**
अतिचेरुर्वक्रगत्या युयुधुश्च परस्परम् ।।१४।।

श्लोकार्थ—शनि आदि क्रूर ग्रह शुक्रादि सौम्य ग्रहों के ऊपर पड़ उनको पीड़ित करने लगे तथा नक्षत्र भी प्रदीप्त हो वक्रगति से चलकर परस्पर युद्ध करनेलगे ।१४।

सुबोधिनी—**पुण्यतमान्** शुक्रादीन् । **अन्ये** शनैश्चरादयः, आलक्ष्य पेतुरिति संबन्धः । अपीडयन्निति वाऽर्थात् । **भगणाः** सर्वाण्येव नक्षत्राणि दीपिता जाताः, केनचित् ज्वालिता इव जाता इत्यर्थः ।।१४ ।

व्याख्या शुक्र आदि अति पवित्र ग्रहों को लक्ष्य कर शनैश्चर आदि क्रूर ग्रह उनके ऊपर गिरने लगे अर्थात् उनको पीड़ित करने लगे । समस्त नक्षत्र जलने लगे यों भासते थे कि किसी ने जलाये हैं ।।१४।।

आभास—एवं निमित्तान्युक्त्वा तेषां फलमाह—

आभासार्थ—यों निमित्त (कारण) बताकर उनका फल इस श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक–**दृष्ट्वाऽन्यांश्च महोत्पातानतत्त्वविदः प्रजाः ।**
ब्रह्मपुत्रानृते भीता मेनिरे विश्वसंप्लवम् ।।१५।।

श्लोकार्थ—इसी तरह के और भी महान् उत्पात देखकर सिवाय सनकादि के अन्य सकल प्रजा डर गयी क्योंकि इन उत्पातों के मर्म न समझने के कारण यों जानने लगे कि अब विश्व का प्रलय होने वाला है ॥१५॥

सुबोधिनी—अन्याननुक्तानपि महोत्पातान् सूर्यपातचन्द्रपातरूपान् । अतत्त्वविदः प्रजा अस्य विश्वस्य संप्लवं प्रलयमेव मेनिरे । परं ये चत्वारो मूलभूताः सनकादयस्तद्व्यतिरेकेण । सर्व एव भीता जाताः, प्रलयं च मेनिरे ॥१५॥

व्याख्या—जो कहे नहीं गये हैं ऐसे दूसरे सूर्य का एवं चन्द्रका पतन आदि उपद्रव भी देखकर इसके तत्व (आशय) को न जानने वाली प्रजा इस विश्व का प्रलय ही होने वाला है यों समझने लगी किन्तु मूल भूत इन चार सनकादिकों के सिवाय शेष प्रजा ने यों माना और इससे सब ही डर गये ॥१५॥

आभास—एवमनिष्टलक्षणानि सफलानि निरूप्य वृद्धिरूपामुत्पत्तिमाह—

आभासार्थ—इस तरह फल सहित अनिष्ट लक्षणों का निरूपण कर निम्न श्लोक में उनके जन्म वृद्धि संस्कार आदि का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**तावादिदैत्यौ सहसा व्यज्यमानात्मपौरुषौ ।**
ववृधातेऽश्मसारेण कायेनाऽद्रिपती इव ॥१६॥

श्लोकार्थ—वे दोनों आदि दैत्य जन्मते ही अपने इस दृढ़ काया से मेरू के समान हो गये और उनका पूर्व जन्म का पराक्रम भी प्रकट देखने में आया ॥१६॥

सुबोधिनी—मधुकैटभौ आदावेव दैत्यत्वं प्राप्ताविति वा, दितिपुत्राणामादिभूतौ वा । सहसा कारणकालविलम्बव्यतिरेकेण । व्यज्यमानमात्मनि पौरुषं ययोः । व्यज्यमानात्मानौ पुरुषाविति वा । तौ हि पूर्वजन्मनि भगवत्सारूप्यं प्राप्तौ, इदानीमपि तथैव व्यज्यमानदेहौ सन्तौ पुरुषौ जातौ न तु रूपान्तरेणेत्यर्थः । अथवा, व्यज्यमान आत्मनि पुरुषो याभ्याम् । अन्तश्चेद्भगवांस्तादृशरूपो भवति, तदैव बहिरप्यश्चतुर्भुजादिरूपो भवति; तथैमावपि वैजयन्त्यादियुक्तौ । अश्मवत्सारेण दृढेन कायेन, अद्रिपती इव मेरू इव, ववृधाते ॥१६॥

व्याख्या—इनको आदिदैत्य कहने का भावार्थ प्रकट करते है कि ये पूर्व जन्म में मधु और कैटभ दैत्य थे इसलिये कहा कि ये पहले भी दैत्य थे, अथवा दिति मे ये पहले ही जन्मे हैं अतः आदिदैत्य है ऐसे ये दोनों आदिदैत्य बिना विलंब के तथा बिना कारण के अपने देह में पौरुष को

प्रकट करने लगे, अथवा जिनके शरीर स्पष्ट दिखते थे ऐसे दो पुरुष हो गये क्योंकि इन दोनों ने पूर्व जन्म में भगवान् जैसी देह धारण की थी अत: अब भी वैसी ही देह वाले स्पष्ट दिखाई नहीं देते थे. अथवा जिन दोनों ने देह में पुरुष को प्रकट किया है, जब भीतर वैसे भगवान् विराजमान हो तब ही दूसरा आदमी (पुरुष) बाहर चतुर्भुज रूप वाला होता है, वैसे ये भी वैजयन्ती आदि मालाओं से युक्त देखने में आये। पत्थर जैसी दृढ़ शरीर से दो मेरु पर्वत के समान बढने लगे ॥१६॥

आभास—तयोवृद्धिं वर्णयति—

आभासार्थ—उन दोनों की वृद्धि का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—दिविस्पृशौ हेमकिरीटकोटिभिर्निरुद्धकाष्ठौ स्फुरदङ्गदाभुजौ।
गां कम्पयन्तौ चरणैः पदे पदे कट्या सुकाञ्च्याऽर्कमतीत्य तस्थतुः ।१७।

श्लोकार्थ—वे इतने दीर्घ थे जो उनके सुवर्ण मुकुटों की कोटियां (अग्र भाग) स्वर्ग को स्पर्श करती थी, तथा विशाल शरीरों से दिशाएं ढक (भर) जाती थी, उनकी भुजाओं में स्वर्ण के बाजूबन्द चमक रहे थे. पद-पद पर चरणों से धरातल को कम्पायमान करते थे, सुन्दर चमकती हुई करधनी से सुशोभित कटि से सूर्य को भी मात कर खड़े होते थे ॥१७॥

सुबोधनी—दिविस्पृशाविति । हेमकिरीटयोः कोटिभिर्दिविस्पृशौ । द्वितीयार्थे सप्तमी, अलुक् च । स्फुरदङ्गदयुक्तौ भुजौ अङ्गदाविल्यङ्गदा, 'सुपां सुलुक्' इत्याकारादेशः । पदे पदे गां कम्पयन्ताविति भूमिं रसातलं नेतुमुद्यताविव । कार्येण तयो रूपमनुमेयमित्यर्थः। सुकाञ्च्या शोभना काञ्ची यत्र तादृश्या, कट्या अर्कमतीत्य तस्थतुः। एतावदूर्ध्वप्रमाणौ यावता कटिः सूर्यमण्डलादूर्ध्वं भवति ॥१७॥

व्याख्या—सुवर्ण के दो मुकुटों के अग्रभाग स्वर्ग को छूते थे, (यहां श्लोक में दिविस्पर्शौ) समासान्त पद में 'दिवि' सप्तमी विभक्ति का लोप नहीं हुआ है और यह सप्तमी द्वितीया अर्थ में दी गयी है जिससे स्वर्ग को अर्थ किया गया है दोनों की भुजाएं प्रकाशमान बाजूबन्द वाली थी, (पाणिनी के सुपां सुलुक सूत्रानुसार 'अङ्गदौ' का 'अङ्गदा' रूप किया गया है) पद पद पर पृथ्वी को कम्पायमान करते थे जिससे यों समझ में आता था कि दोनों पृथ्वी को रसातल में ले जाने के लिये तैयार हुए है, कार्य के कारण का अनुमान होता है अत: इनके कार्य से इनके शरीर कितने और कैसे होंगे यह अनुमान लगा लीजिये, जिस कटि पर सुन्दर करधनी (कन्दोरा) है जिससे वे सूर्य को भी मात कर खड़े होते थे, अर्थात् खड़े होने पर जिनकी कटि सूर्य मण्डल से ऊपर जाती थी यह उनके लम्बे होने का प्रमाण है ॥१७॥

आभास—एवं तयोर्वृद्धिमुक्त्वा नामकरणादिसंस्कारानाह—

आभासार्थ--इस तरह उन दोनों की वृद्धि कहकर निम्न श्लोक में उनके नामकरण आदि संस्कार प्रजापति कश्यप ने किये जिनका वर्णन करते हैं-

श्लोक--**प्रजापतिर्नाम तयोरकार्षीद्यः प्राक्स्वदेहाद्यमयोरजायत ।**
तं वै हिरण्यकशिपुं विदुः प्रजा यं तं हिरण्याक्षमसूत साऽग्रतः ।।१८।।

श्लोकार्थ—वे दोनों साथ जन्मने से जुड़वा थे, उन दोनों के प्रजापति, कश्यप ने नामकरण संस्कार किया, उनमें से जो अपने (कश्यप के) वीर्य से पहले उत्पन्न हुआ था जिसका नाम हिरण्यकशिपु रखा, और जिसको दिति ने अपने उदर से पहले बाहर निकाला उसका नाम हिरण्याक्ष धरा ।।१८।।

सुबोधिनी—**प्रजापतिः** कश्यपस्तयोर्नामाऽकार्षीत् तेमध्ये । **प्राग्य स्वदेहाद्** रेतोरूपेण **अजायत** । यद्यपि स्वस्मिन् न प्रवेशः, तथापि पश्चादपि तथोत्पन्नबीजसंबन्धात् स्वदेहादजायतेत्युक्तम् । तत्र हि बीजमेव पुत्रत्वे कारणम् । यमयोर्मध्ये यः पश्चात् उत्पद्यते मातृतः स पितृतः प्रथममुत्पन्न इति ज्ञेयम्;क्रमेण प्रविष्टयोर्वैपरीत्येनैव निर्गमनसम्भवात् **तं हिरण्यकशिपुं विदुः प्रजाः** । सा दितिर्यमग्रे **असूत**, तं हिरण्याक्षं विदुरित्यर्थः । अतो हिरण्याक्षः प्रथमत उत्पन्नोऽपि कनिष्ठः ।।१८।।

व्याख्या--प्रजापति कश्यप जी ने दोनों का नामकरण किया, । दोनों में से जो पहले अपनी (कश्यप की) देह से निकले रेत (वीर्य) से उत्पन्न हुआ यद्यपि उनका अपने में प्रवेश नहीं हुआ था तो भी पीछे भी बीज सम्बन्ध से अपनी देह से वैसे ही उत्पन्न हुए यों कहा है, इसमें निश्चय से पुत्रपन में बीज ही कारण है । दोनों में से जो माता से पीछे उत्पन्न होता है वह पिता से पहले उत्पन्न हुआ जानना चाहिये, क्रम से प्रविष्ट हुओं का निर्गमन विपरीत ही होता है, उसको प्रजा हिरण्यकशिपु जानती हैं उस दिति ने जिसको पहले जना (उदर से निकाला) उस को प्रजा हिरण्याक्ष जानती है, अतः हिरण्याक्ष पहले पहले उत्पन्न हुआ भी कनिष्ठ (छोटा) है ।।१८।।

आभास—तत्र हिरण्यकशिपोर्दोषरूपं वासनायां वक्तव्यमिति स्थितिमात्रमत्र सूच्यते द्वितीयस्याऽतिक्रमाभावाय—

आभासार्थ--उन दोनों में से हिरण्यकशिपु के दोष का स्वरूप सातवें स्कन्ध में कहना चाहिये किन्तु दूसरे का अनादर न हो इसलिये यहां केवल इसकी (हिरण्यकशिपु की) स्थिति बताई जाती है-

श्लोक—चक्रे हिरण्यकशिपुर्दोर्भ्यां ब्रह्मवरेण च ।
वशे सपालाँल्लोकांस्त्रीनकुतोमृत्युरुद्धतः ॥१६॥

श्लोकार्थ–हिरण्यकशिपु ब्रह्माजी के वरदान से मृत्यु के भय से छूट जाने के कारण महान् उद्धत (ढीट) बन गया, अतः उसने अपनी दो भुजाओं से एवं ब्रह्माजी के वर के बल से लोकपाल सहित तीन लोकों को वश में कर लिया ॥१६॥

सुबोधिनी - अयं द्विभुजोऽपि भुजद्वयेनैव, ब्रह्मवरेण च सह, लोकपालसहितांस्त्रीनेव लोकान् वशे चक्रे एतस्य धर्मो मोक्षश्च नाऽस्तीत्याह–अकुतोमृत्युरुद्धतश्च जात इति । मृत्युरेव नाऽस्तीति मृत्युविशेषो मुक्तिः सुतरामेव नास्ति । उद्धतत्वान्न धर्मः, नम्रीभाव एव तदुत्पत्तिः ॥१६॥

व्याख्या–यद्यपि यह (हिरण्यकशिपु) दो भुजा वाला था तो भी ब्रह्माजी के वरदान के बल से उन दो भुजाओं से ही लोकपालों सहित तीनों लोकों को वश में कर लिया, जिसको धर्म और मोक्ष तो थे ही नहीं क्योंकि 'अकुतोमृत्युरुद्धतश्च' किसी से मृत्यु नहीं अतः उद्धत बन गया जब मृत्यु ही नहीं तो मृत्यु विशेष मुक्ति तो सुतरा (स्वतः) नहीं है, उद्धत होने से धर्म भी नहीं था कारण कि धर्म की उत्पत्ति वहां होती है जहां नम्रता होती है यहां नम्रता तो थी ही नहीं केवल उद्धतता (ढिटाई) थी ॥१६॥

आभास–एवं सामान्यतो हिरण्यकशिपुपराक्रममुक्त्वा हिरण्याक्षस्य दोषत्वज्ञापनाय कृतमुपद्रवं स्वर्गादावाह–हिरण्याक्षोऽनुज इत्यादिषड्भि, प्रथमं तस्य देवविरोधार्थं यत्नमाह–

आभासार्थ–इस तरह सामान्य प्रकार से हिरण्यकशिपु का पराक्रम कहकर हिरण्याक्ष का पराक्रम कहकर हिरण्याक्ष का दोषपन जताने के लिये निम्न श्लोक से लेकर छः श्लोकों में हिरण्याक्ष ने जो स्वर्गादि में उपद्रव किये उनका वर्णन करते हैं–

कारिका—प्रयत्नश्च भयोत्पत्तिरूप कार्यं च तस्य तत् ।
तेन गर्वस्ततो मादस्त-स्मात्सर्वभयं पुनः ॥१॥

कारिकार्थ–१-प्रयत्न, २-देवों को भय कारक रूप, एवं उसका परिणाम भी कार्य से वैसा होना ३-उससे उत्पन्न अहंकार, ४-जिससे माद होना, ५-उससे फिर सर्व को भय उत्पन्न होना ॥१॥ पहले देवों से विरोध करने के लिए प्रयत्न करते हैं ।

श्लोक—हिरण्याक्षोऽनुजस्तस्य प्रियः प्रीतिकृदन्वहम् ।
गदापाणिर्दिवं यातो युयुत्सुर्मृगयन् रणम् ॥२०॥

श्लोकार्थ—हिरण्याक्ष उसका (हिरयकशिपु का) छोटा प्यारा भाई था और वह छोटा भाई बड़े भाई को जो कार्य प्रिय था वह ही सदा करना चाहता था, अतः वह हाथ में गदा लेकर युद्ध का अवसर ढूंढते हुए एक दिन स्वर्ग में पहुँच गया ।२०।

सुबोधिनी—हिरण्याक्षोऽनुज इति । हिरण्यकशिपोरनुजः । तस्येवाऽपि जगत्त्रय वश इत्युक्तं भवति । प्रिय इतितस्य प्रीतिविषयत्वात् हिरण्यकशिपुकृतं जयादिकमप्येतद्गामीत्युक्तम् अयमपि प्रीतिकृत्, समानशीलव्यसनानाभावे प्रीतिर्मोत्पद्य इति । ज्येष्ठप्रीत्यर्थं देवविरोधार्थे यत्नं कृतवानित्याह **अन्वहं गदापाणिर्भूत्वारणं मृगयन्**; न दर्शनार्थं नारदवत्, किन्तु युयुत्सुः; देवैः सह युद्धं करिष्यन् **दिवं ययौ** ।।२०।।

व्याख्या—हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु का छोटा भाई था, उस की (हिरण्यकशिपु की) तरह तीन जगह इसके भी वश में थी, वह (हिरण्याक्ष) इसका (हिरण्यकशिपु) का प्यारा था उसकी प्रीति का पात्र होने से हिरण्यकशिपु ने जो विजय (जीत) आदि की वह फल मानो इसको मिला, फिर यह भी उसमे प्रेम करने वाला था, जब दोनों का स्वभाव और व्यसन समान होता है तब ही प्रीति होती हैं यदि यों न हो तो प्रीति उत्पन्न नहीं होती है, बड़े भाई को प्रसन्न करने के लिये देवों से लड़ने के लिये प्रयत्न करने लगा, प्रतिदिन हाथ में गदा लेकर लड़ाई को ढूंढता हुआ फिर रहा था नारदजी की तरह भगवान् के दर्शन के लिये एवं लोकों की क्या दशा है इसको देखने के लिये नहीं घूमता था क्योंकि युद्ध करने की इच्छा वाला था, अतः देवों से युद्ध करने के लिये एक दिन स्वर्ग में गया ।।२०।।

आभास-ततो देवानां भयोत्पत्त्यर्थं देवदृष्टं तस्य रूपमनुवर्णयति-

आभासार्थ-इसका जो रूप देवों ने देखा जिससे उनको भय उत्पन्न हुआ उसका वर्णन करते हैं।

श्लोक-तं वीक्ष्य दुःसहजवं रणत्काञ्चननूपुरम् ।
वैजयन्त्या स्रजा जुष्टमंसन्यस्तमहागदम् ।।२१।।

श्लोकार्थ-अत्यन्त असह्य वेग वाले, पैरों में सोने के नूपुरों की झनकार वाले, गले में वैजयन्ती माला धारण करने वाले कन्धे पर गदा को धारण करने वाले हिरण्याक्ष के रूप को देखकर ।।२१।।

सुबोधिनी—तं वीक्ष्येति । प्रथमत एव तस्य दुःसहो जवो वेगः । दूराद् दृष्ट एव क्षणेनैवाऽऽगत्य मारयतीति प्रतीकारासामर्थ्यम् । **रणत्काञ्चननूपुरमिति** । विरुदावली तस्य निरूपिता जयपरम्पराप्रतिपादिका । **वैजयन्त्या** श्रिया **जुष्टमिति** भगवदयित्वज्ञापकम्, स एव हि वैजयन्त्या जुष्टो भवति । **अंसन्यस्तमहागदमिति** श्रमः साधनाविक्यं चोक्तम् ।।२१।।

व्याख्या--पहले से ही असत्य एवं शीघ्र गामी (तेज चलने का) जिसका वेग था, दूर से देखा तो क्षण में ही आकर मार डालेगा कारण कि उससे बचने का उपाय इतने स्वल्प (थोड़े) समय में बन नहीं सकता, 'रणत्काञ्चननूपुर पद से यह सूचित किया है कि इसको जय एक के पीछे दूसरी होती रही है और रहेगी। वैजयन्ती माला धारण करने से इसका भगवदीयत्व सूचित किया है जो वह ही वैजयन्ती माला से सुशोभित हो सकता है कन्धे पर रखी हुई महती बड़ी गदा से यह बताया है कि इसने विशेष श्रम तथा साधन किये हैं ।।२१।।

आभास–एव चतुर्भिर्विशेषणैर्भयजनकं रूपमुक्त्वा भीता देवा: पलायितवन्त इत्याह–

आभासार्थ–इस तरह चार विशेषणों से उसका भयानक रूप कहा जिससे देव डर कर भागने लगे जिसका वर्णन अब करते है—

श्लोक—**मनोवीर्यमदोत्सिक्तमसृण्यमकुतोभयम् ।**

भीता निलिल्यिरे देवास्ताक्ष्यंत्रस्ता इवाऽहयः ।।२२।।

श्लोकार्थ—वह अपने मनोबल, शारीरिक बल के मद से उच्छृङ्खल हो गया था, किसी के अंकुश में न रहने से निर्भय एवं उद्धत हो गया था, उसे देखकर देवगण डर के कारण जहां तहां ऐसे छिप जाने लगे जैसे गरुड़ के डर से सांप छिपते हैं ।२२।

सुबोधिनी - **मनोवीर्येति । मन** उत्साहः, **वीर्यं** पराक्रमः, **मदो** गर्वः तः कृत्वा। **उत्सिक्त** उच्छलितः, मर्यादामतिक्रान्त इति यावत् **असृण्यो** निरङ्कुशः। भ्रातुर्नियामकत्वेऽपि तस्यैव तथा कारकत्वादौद्धत्येन नियामकत्वम् । सृणिरङ्कुशः । अत एव न विद्यते कुतश्चिद्भयं यस्य । एवं त्रिदोषयुक्तं दृष्टा भीताः सन्तो युद्धमकृत्वैव **निलिल्यिरे** लीना जाताः। ननु स्त्रीधनादिकं विहाय कथं लीना इत्याशङ्क्याऽऽह–**ताक्ष्यंत्रस्ता इवाऽहय इति** । गरुडो हि सर्पान् जीवग्राहं मारयति, न धनादिदानेनाऽपि त्यजति, तथाऽयमिति मत्वा स्वप्राणरक्षार्थं लीना जाता इत्यर्थः ।।२२।।

व्याख्या—मन का (मनोबल का) भावार्थ उत्साह है, 'वीर्य पद से पराक्रम तथा 'मद' से गर्व दिखाया है इनसे वह (हिरण्याक्ष) उच्छृङ्खल हो गया था, जिससे उसने मर्यादा छोड़ दी थी यद्यपि भ्राता वश में रखता था तो भी इसमें जो तेज उद्धतता (ढिटाई) थी उसने इसको निरंकुश बना दिया था जिससे निर्भय हो गया था इसी तरह इनके तीन दोषों को देखकर देव डर के मारे युद्ध भी न कर सके छिप गये (छिपने लगे) स्त्री धन आदि का त्याग कर कैसे छिपे होंगे ? इसके उत्तर

में कहते है कि जैसे सांपों को गरूड़ मार ही देता है धनादिदान से भी नहीं छोड़ता है वैसे यह हिरण्याक्ष भी है अतः अपने प्राणों की रक्षा के लिये छिप गये ।।२२।।

आभास--ततोऽपि गर्वो जात इत्याह--

आभासार्थ-देवों के छिप जाने से भी गर्व बढा जिसका वर्णन इस श्लोक में करते है—

श्लोक—**स वै तिरोहितान् दृष्ट्वा महसा स्वेन दैत्यराट् ।**
सेन्द्रान् देवगणान् क्लीबानपश्यन् व्यनदद्भृशम् ।।२३।।

श्लोकार्थ–उस दैत्यराज ने अपने तेज से, इन्द्र सहित नपुंसक देवों को छिप जाने से जब नहीं देखा तब जोर से (जबर्दस्त) गर्जना की ।।२३।।

सुबोधिनी—समानतायां शत्रुत्वम् । पुरुषस्य पुरुषो भवति समानः, न तु क्लीबः देवत्वं शूरत्वं वा दूरे । महाभिमानश्चैवं मन्यते । ननु कालादिना सर्व एव तिरोहिता भवन्ति किमाश्चर्यमिति चेत्तत्राऽऽह-**महसास्वेनेति** । अयुध्यमाना अपि तत्तेजसैव ते तिरोहिताः, यथा सौरप्रभयाऽधकारः । इन्द्रसहितान् सर्वानेव देवविशेषान् स्वकार्येणाऽपि कार्यासाधकान्, स्वरूपेणाऽप्यनुपयुक्तान् । अत एवाऽपश्यन्, **भृशंव्यनदत्** । तिरोहितज्ञानं क्लीबज्ञाने हेतुः । स्वेनैव महसा तिरोहितान् दृष्ट्वा स्वेनैव महसा दैत्यराट् जात इति भिन्नं वाक्यम् । अत एव क्लीबादिधर्मयुक्तानपि तान् अपश्यन् भृशं व्यनदत् । निकटस्थाश्चेत् नादेनैव मरिष्यन्तीति ।।२३।।

व्याख्या–पुरुष, पुरुष के समान होता हैं, समानता में शत्रुता व मित्रता होती है किन्तु पुरुष भी नपुंसक नहीं होना चाहिये, देवत्व और शूरत्व तो दूर की बात है महान् अभिमानी (हिरण्याक्ष) ने यों (देवों को नपुंसक) मानो काल आदि से सर्व तिरोहित हो जाते हैं अर्थात् छिप जाते है इसमें कौनसा आश्चर्य है ? जिसका उत्तर दते हैं कि देवता कालादि से तिरोहित नहीं हुवे हैं किन्तु मेरे अपने तेज के डर से छिपे है जैसे सूर्य की रोशनी से अन्धकार छिप जाता है ।

इन्द्र सहित सकल देवों को जो अपने कार्य सिद्ध करने में भी असमर्थ हैं और स्वरूप से भी कार्य करने में असमर्थ हैं इस कारण से भी उनको न देखता हुआ जोर जोर से ध्वनि करने लगा ये नपुंसक है ऐसे ज्ञान होने का कारण छिपना है, अपने ही तेज से ये छिपे देखकर अपने ही तेज से दैत्य राज हुआ यह वाक्य भिन्न है, अतएव क्लीबादिधर्मयुक्त (नपुंसक होने से) भी उनको न देखता हुआ जोर से गर्जने लगा जिसका कारण था कि जो निकट होंगे तो वे इस ध्वनि मात्र से मरेंगे ।२३।।

आभास-एवं हत्वा, सुतरां गर्भस्थान्, महागर्वेण ज्वलद्देहः समुद्रे जलक्रीडां कृतवानित्याह—

आभासार्थ-यों हनन कर बहुत गर्भस्थ देवों का पराभव करने (हराने) से महान् गर्व के कारण जिसकी देह मानों आग से जल रही थी अतः उस जलन को मिटाने के लिये समुद्र में जल क्रीडा करने लगा जिसका वर्णन करते हैं—

श्लोक—**ततो निवृत्तः क्रीडिष्यन् गम्भीरं भीमनिःस्वनम् ।**
विजगाहे महासत्त्वो वार्धि मत्त इव द्विपः ॥२४॥

श्लोकार्थ—वह महाबली दैत्य वहां से लौटकर जल क्रीड़ा करने के लिए मतवाले हस्ती के समान भयंकर गर्जना वाले गहरे समुद्र के मध्य में चला गया ॥२४॥

सुबोधिनी—महामदं ज्ञापयति-**ततो निवृत्त** इति । **क्रीडिष्यन्निति** । स्वर्गात् क्रीडार्थमेव समुद्रे आगतः । क्रीडा हि कामसाध्या भवतीति स्थिते क्रोधे युद्धाभिनिवेशे वा क्रीडा न भविष्यतीति ततो भावान्निवृतः । देवापेक्षया समुद्रं महान्तं ज्ञात्वा समागत इति वक्तुं समुद्रं विशिनष्टि-**गम्भीरं भीमनिःस्वनमिति** । भयजनकमगाधजलं गम्भीरम् अनेन समता, शोषाभावश्च तस्य सूचितः। **भीमनिः स्वनमिति** प्रतिपक्षवाक्यजननाद्युद्धार्थित्वमपि ज्ञातम् । मत्तत्वादेवं ज्ञानम् । तथापि न युद्धरसेन समागतः किन्तु क्रीडिष्यन्नेवेति तदाधिवयम् विगाहनं मध्ये पातः । तथाकरणे सामर्थ्यमाह-**महासत्त्व इति** । महत्सत्त्व यस्येति । अत्रैव ज्ञातव्यम् । पद्मकल्पे एतावुत्पन्नौ, मृत्योश्च जयान्न कल्पान्ते मरणम् । तदैव लोकत्रयं वशे कृतवान् (?) ततो मोहग्रस्तया रसातले शयनमादिवराहकल्पे प्रलये च । तत्राऽऽदिवराहकल्पः संपूर्णो न वृत्त इति भूम्युत्पत्तिः । देवानां कियत्प्रजानां च सृष्टि कृतवान् ब्रह्मा। तदाऽयं कनिष्ठो ज्येष्ठे शयना एव ब्रह्मणः प्रातः काले स्वर्गं गतः । सामिकृतत्वाच्च मध्ये पुनर्भूमिर्निमग्ना । ततोऽपि निवृतः प्रलयोदक एव पतितो देवा नाम स्पष्टत्वा दैत्याधिपतित्वाच्च वरुणो रसातले समानकटाहांशपश्चिमभागे वा स्थितः । मन्वादीनां जातत्वात् नारदादयोऽपि पद्मकल्प एवोत्पन्ना उपरि स्थिताः । दिती रसातले, कश्यपस्तु उपरि । मग्नायां पृथिव्यां जलस्य बाधकत्वा भावात् दैत्योपभोगः । अतो नारदवाक्यात् वराहसंबन्ध इति सर्वमेव युक्तम् । पुराणानि च एकचतुर्युगवार्तामिव कथयन्ति विशेषतः, सामान्यधर्माश्चाऽनूद्यन्ते । चतुर्युगान्तरवार्ता कल्पान्तरवार्ता च मतान्तर मिति न तद्विरोधः शङ्कनीयः । श्रुतार्थापत्तिरत्र प्रमाणम् । मत्तत्वादेर्वार्द्धिमपि प्रविष्टः । तत्र जलं निरन्तरमुत्पद्यते । विवेकसहितमदान्मत्त इवेत्युक्तम्, अन्यथा द्विप इत्येव वदेत् । महाघोषं जनयन्नित्यर्थे दृष्टान्तः । द्विपशब्देन च तस्य मज्जनाभावः सूचितः, शुण्डव्यतिरेकेण तस्याऽन्तर्जलप्रवेशात् ॥२४॥

व्याख्या—इस श्लोक से उसके महामद का ज्ञान होता है वहां से (स्वर्ग से) लौटा कारण कि जल क्रीडा करनी था, इसलिये समुद्र के पास आया, क्रीडा काम से होती हैं जब क्रोध हो व

लड़ाई की मन में चाहना हो तब उद्वेग होने से क्रीड़ा नहीं हो सकती हैं. इसलिये उन भावों से निवृत्त हो गया देवों की अपेक्षा समुद्र महान् हैं यों जानकर वहां आया जिसकी पुष्टि के लिये समुद्र के गुणों का वर्णन करते हैं 'गम्भीर भीमनिःस्वनम्' अगाध जल वाला होने से भय जनक था इससे समानता और शुष्क न होगा इन दो बातों की सूचना दी है, और भयानक गर्जना करने वाला होने से युद्धार्थी भी है यों भी जाना, स्वयं मतवाला होने से ऐसा ज्ञान हुआ तो भी युद्ध का रस लेने के लिये नहीं आया था किन्तु क्रीड़ा ही करूंगा इस इच्छा से आया था यह अधिकता थी 'विगाहन' का तात्पर्य है समुद्र में घुसे यों करने में वह समर्थ था जिसका प्रमाण (सबूत) देने के लिये 'महासत्व विशेषण दिया है अर्थात् जो महान् बली है[1] इस (पद्म) कल्प में ये दो उत्पन्न हुएहैं मृत्यु पर विजय करने से इनका मरण कल्पान्त में नहीं हुआ अतः उसी कल्प में हिरण्यकशिपु ने तीन लोक वश किये, अनन्तर वे दोनों मोहग्रस्त होने से आदि वाराह कल्प में रसातल में एवं प्रलय में सो गये, आदि वाराह कल्प पूर्ण नहीं हुआ इतने में पृथ्वी उत्पन्न हो गयी और ब्रह्मा ने, देवों ने कितनी अन्य प्रजा की रचना कर डाली तब यह छोटा हिरण्याक्ष बड़े हिरण्यकशिपु के सोते हुए ही ब्रह्माकृत सृष्टि के प्रातःकाल में स्वर्ग को गया, भूमि आधी ही बनी थी इसलिये भूमि फिर आधे में ही डूब गयी वहां से भी लौट कर हिरण्याक्ष प्रलय जल में पड़ा ब्रह्मा ने देवों को उत्पन्न किया था, वरुण दैत्यों का अधिपति होने से रसातल में अथवा ब्रह्माण्ड के अन्तिम पश्चिम भाग में स्थित हुवा, मनु आदि भी उत्पन्न हुवे थे तथा नारद आदि की भी उत्पत्ति पद्म कल्प में हुई थी ये सब ऊपर के लोकों में जो दो महालोक तथा स्वर्ग लोक डूबे नहीं थे उनमें जाके रहे, दिति रसातल में एवं कश्यप ऊपर के लोक में रहे, डूबी हुई पृथ्वी के समय में जल बाधक न होने से दैत्य उसका भोग करते थे, अतः नारदजी के वाक्यानुसार हिरण्याक्ष को वराह का सम्बन्ध हुआ यों सर्व उचित ही है, पुराण तो विशेषकर एक चतुर्युगी की ही कथा साथ कहते हैं, और सामान्य गुण फिर बताते हैं दूसरी चतुर्युगी की कथा अथवा कल्पान्तर की कथा व मतान्तर की कथा भी कही है, अतः विरोध नहीं है, समयान्तर की कथा होने से पृथकता होती है, इसमें 'श्रुतार्थापत्ति' प्रमाण है मद के कारण ही उसने समुद्र में प्रवेश किया, उसमें जल निरन्तर उत्पन्न होता रहता था, उसका मन विशेष काला था इसलिये 'मतइव' कहा, नहीं तो केवल 'द्विप' (मत्त) कहते मत्तहस्ती की तरह कहने से इसका मद विवेक युक्त था, महान् घोष करता हुआ क्रूर यह इसमें दृष्टान्त है द्विप शब्द से यह सूचित किया है कि इसके सूंढ के सिवाय जल में प्रवेश करने से डूबेगा नहीं ।।२४।।

आभास—ततोऽपि तत्रत्यानां महानुपद्रवो जात इत्याह—

आभासार्थ—इससे भी अधिक दुःख समुद्र में रहे हुए जीवों को हुआ वह इस श्लोक में कहते हैं

१—यहां (मतान्तर में) इस प्रकार जानना चाहिये १३ वें अध्याय में बराह आदि वाराहकल्प ने कथा की संगति कही है यहां (मतान्तर में भूमि दो बार डूबी है शेष पूर्व की तरह है (प्रकाश)

श्लोक—तस्मिन्प्रविष्टे वरुणस्य सैनिका यादोगणाः सन्निधयः ससाध्वसाः ।
अहन्यमाना अपि तस्य वर्चसा प्रधर्षिता दूरतरं प्रदुद्रुवुः ॥२५॥

श्लोकार्थ—हिरण्याक्ष के समुद्र में प्रवेश करते ही डर के मारे वरुण के सैनिक जलचर हकबका गये, छेड़ छाड़ मात्र न होने पर भी उसके तेज से डर कर बहुत दूर भाग गये ॥२५॥

सुबोधिनी—हिरण्याक्षे प्रविष्टे **वरुणस्य सैनिका** युद्धकुशला यादोगणा जलेऽतिबलवन्तो निधिसहिताः सर्वाधिव्यतिरिक्ताः सर्वतः पुष्टाः; एतादृशा अपि **ससाध्वसा** जाताः । अत एवाऽहन्यमाना अपि देववत् तस्य **वर्चसा** तेजसैव प्रकर्षेण धर्षिता गतसत्त्वाः कृता इति **दूरतरं प्रदुद्रुवुः** ।२५॥

व्याख्या—हिरण्याक्ष के समुद्र में प्रवेश करने पर वरुण के सैनिक जलचर जो युद्ध में कुशल भी थे और जल मे बहुत बलवान होते है, समुद्र अपना घर था इसलिये इनको निधि (खजाना धनादि) भी वहाँ इनके पास ही थी तथा किसी प्रकार की आधि (कमी) से रहित थे सारांश यह है कि सर्व प्रकार से पुष्ट बलवान थे ऐसे होते हुए भी डर गये अतः प्रहार न होते हुवे भी देवों के समान इसके तेज से ही बलहीन हो गये जिससे अत्यन्त दूर२ भागकर छिप गये ॥२५॥

आभास—एवं तस्य सर्वोपद्रवकारित्वेन कायिकी चेष्टामुक्त्वा वाचिकीं वदन् पूर्वचरित्रसंबन्धमेव वदति— स वर्ष पूगानिति षड्भिः—

आभासार्थ—इस तरह उसकी सर्वोपद्रवकारी शारीरिक चेष्टा (क्रिया) कहकर निम्न श्लोक से लेके छः श्लोक में वाणी की क्रिया कहते हैं जिसमें से पहले पूर्व चरित्र से सम्बन्ध ही कहते है

श्लोक— स वर्षपूगानुदधौ महाबलश्चरन्महोर्मीन् श्वसनेरितान्मुहुः ।
मौर्व्याऽभिजघ्ने गदया विभावरीमासेदिवांस्तात ! पुरीं प्रचेतसः ॥२६॥

श्लोकार्थ—महाबली हिरण्याक्ष कल्पान्त पर्यन्त समुद्र में ही घूमता रहा, अपने श्वास रूप वायु से ही उत्पन्न को हुई महोर्मियों (बड़ी लहरों) को हाथ जान कर घास तृण से बान्धी हुई अपनी गदा से उनके चारों तरफ से पीटने लगा, यों करते हुए वरुण को राजधानी विभावरी पुरी में जा पहुँचा ॥२६॥

सुबोधिनी—तत्र पूर्वं समुद्र आत्मानं महान्तं मन्यत इति ज्ञात्वा तस्य हस्तप्रायांस्तरङ्गान् । गदया ताडितवानित्याह । स हिरण्याक्षः । **वर्ष-पूगानिति** कल्पान्तपर्यन्तम् । **महाबल** इति कालेन

तस्य बलक्षयाभाव उक्तः । तत्रैव समुद्रे चरन् स्वश्वासवायुना निर्मितानप्यूर्मीन् तद्धस्तान् ज्ञात्वा, मौर्व्या तृणविशेषबद्धया महागदया अभितो जघ्ने श्वासेनैव यदोर्मयः, तदा चलने ताडने वा किं वक्तव्यम् । एवं समुद्रनिग्रहे क्रियमाणे ततोऽप्यधिकोर्मीन् दृष्टवा तस्याऽधिपतिं वरुणं ताडयितुं तत्पुरी**मासेदिवान्**, पुर्या निकटं प्राप्तवान् । तत्रत्यैव वा । तद्गृहं गत इत्यर्थः । **प्रचेतस** इति प्रकृष्टचित्तत्वान्न तस्य भयं पलायनं वा ।।२६।।

व्याख्या--हिरण्याक्ष ने जान लिया था कि समुद्र अपने को बड़ा मानता है इसलिये उसके हस्त रूप तरगों को गदा से ताड़ना करने लगा यों कहते हैं उस हिरण्याक्ष ने कल्पान्त पर्यन्त बहुत वष समुद्र में चक्कर काटते हुए प्रहार किये तो भी उसका बल क्षय न हुआ इसलिये 'महाबल' विशेषण दिया हैं तथा समुद्र में फिरते हुवे अपने श्वास रूप वायु से जो तरंगे (लहरें) उत्पन्न की थी उनको ही ऊनके हाथ जानकर, घास विशेष से बन्धी हुई अपनी गदा से उन पर प्रहार करने लगा, जब उसके (हिरण्याक्ष के) ऊर्ध्वश्वास (ऊपर के साँस) से तरंगे उत्पन्न हो जाती थी तो उसके प्रहार करने तथा घूमने के लिये कहा ही क्या जाय यों समुद्र का निग्रह (संयम) हो जाने पर, उसके बाद भी अधिक तरंगों को देख उसके अधिपति वरुण को ताड़ना करने के लिये उसकी पुरी के निकट पहुँच गया अथवा समुद्र में स्थित उसकी पुरी (गृह) में गया, वरुण उत्तम चित्त वाला है इसलिये नही डरा और भागा भी नहीं ।।२६।।

आभास—तत्र गत्वा तमुपहसतीत्याह—

आभासार्थ—उसके घर जाकर उसका उपहास किया जिसको कहते हैं

श्लोक-**तत्रोपलभ्याऽसुरलोकपालकं यादोगणानामृषभं प्रचेतसम् ।**
स्मयन्प्रलब्धुं प्रणिपत्य नीचवज्जगाद मे देह्यधिराज ! सङ्गरम् ।।२७।।

श्लोकार्थ—असुरों के लोकों का पालन करने वाला जलचरों के अधिपति वरुण को प्राप्त कर उसकी (वरुण को) हंसी उड़ाते हुए उसने (हिरण्याक्ष ने) नीच (छोटे) को तरह प्रणाम किया, और ठगने के लिए मुस्कुराते हुए कहने लगा कि, हे महाराज ! मुझे युद्ध रूप भिक्षा देने की कृपा कीजिये ।।२७।।

सुबोधिनी—**तत्रोपलभ्येति** । मारयेदेव तम्, परं दैत्यानां रक्षक इति न मारितवानित्याह—**असुरलोकपालकमिति** । असुराणां यावन्तो लोका रसातलादिस्थिताः, तेषामयं पालकः । ये असुरलोके उपद्रवकर्तारः, तन्मारका यादोगणाः, लोकपोषकाश्च । अत्र लोके गजाश्वा इव तेऽपि वरुणस्यैव वशे भवन्ति । अतो न हन्तव्य इत्याह—**यादोगणानामृषभमिति** । किञ्च स्वभावतोऽपि

प्रकृष्टचित्तयुक्तो गर्वादिरहितः, अतो मारणा-ध्यकृत्वा, ततोऽपि गर्वयुक्तः **स्मयन्** अल्पं हसन्, **प्रलब्धुं** वक्रोक्त्या वञ्चयितुम्, नमस्कृत्य सेवकादपि हीनवत् **जगाद**, अल्पाक्षरैर्विनयपूर्वकं किञ्चिदुक्तवान् । तदेवाऽऽह-हे अधिराज ! सङ्गरं देहीति अय मां न जानातीति हास्यम्; कार्येणैतज्ज्ञापनीय इति प्रलम्भवचनम्; प्रणिपातो गर्वोत्पादनार्थं; स्वस्य नीचानुकरणमवगणनार्थम्, अन्यथा संयुगे न प्रवृत्ता भविष्यतीति । **अधिराजेति** संबोधनं तव भयं नास्तीति ज्ञापनार्थम्, त्वयैव सह युद्ध कर्तव्यमिति वरप्राथना । सङ्गरं युद्धम् ॥२७॥

व्याख्या--मिल जाने पर उसको मार डालता, परन्तु मारा नहीं क्योंकि वे दैत्यों के रक्षक 'असुर लोकपालकमिति' असुरों के जितने लोक रसातल में हैं उनका यह पालक है, असुर लोक में जो उपद्रव करने वाले हैं उनको ये जलचर मारने वाले हैं और ये जलचर, लोक पोषक भी है, जैसे इस लोक में हाथी और घोड़े हैं उनकी तरह वे भी वरुण के वश में हो है, इसलिये यह मारने योग्य नहीं हैं, कारण कि जल जन्तुओं का अधिपति है तथा स्वभाव से भी उत्तम होने से निरभिमानो है, अतः मारना आदि न कर इसमें भी स्वयं गर्व युक्त हो मुस्कान करते हुए वक्र उक्ति से ठगने के लिये नमस्कार कर सेवक से भी तुच्छ के समान बन स्पष्ट कहने लगा, स्वल्प अक्षरों (थोड़े शब्दों विनय पूर्वक कुछ कहने लगा हे महाराज युद्ध दो, यह मुझे नहीं पहचानता है यों कहकर उपहास किया, कार्य से (युद्ध से) इसको अपनी पहचान कराऊंगा वञ्चक तरीके से वचन कहे, वरुण को गर्व हो कि मैं बड़ा हूँ इसलिये प्रणाम किया अपने को नीच निम्न कोटि का दिखाना उसकी अवगणना के लिये था अर्थात् तिरस्कार के लिये था, यदि यों न करूंगा तो वह युद्ध में प्रवृत्त न होगा । हे महाराजा यह सम्बोधन देकर उसको यह जताया है कि तूं निर्भय है अतः तुझ से युद्ध करना चाहिये यों प्राथना पूर्वक कहकर मानों युद्ध का वर मांगा है, 'सङ्गर' शब्द का अर्थ युद्ध है ॥२७॥

आभास-एवं याचयित्वा तूष्णींभूते तस्मिन् प्रोत्साहयति गुणान् वदन्-

आभासार्थ—इस तरह युद्ध माँग वरुण के शान्त रहने पर उनका गुणगान कर उसमें उत्साह पैदा करता है-

श्लोक--**त्वं लोकपालोऽधिपतिर्बृहच्छ्रवा वीर्यापहो दुर्मदवीरमानिनाम् ।**
विजित्य लोके किल दैत्यदानवं यद्राजसूयेन पुराऽयजत्प्रभुः ! ॥२८॥

श्लोकार्थ—आप लोकपाल, महाराजा और बड़े यशस्वी हैं, और जो आप बड़े वीर पुरुष मानते हैं उनके वीर्य मद को नष्ट करने वाले हैं, तथा पहले दैत्य तथा

दानवों को जीतकर राजसूययज्ञ से भगवान् को पूजा था, अतः आप (प्रभु सर्व-समर्थ) हैं ।।२८।।

सुबोधिनि—**त्वं लोकपाल इति**। त्वं यथा भगवान्, तथा षड्गुणैश्वर्ययुक्तः। तस्य षड्गुणानाह-आदौ त्वं **लोकपाल** ईश्वरः, सर्वपत्यपेक्षयाऽधिपतिस्त्वम्, **'स वै पतिः स्यात्'** इति न्यायेन वीर्यवानेवाऽधिपतिर्भवति । अत एव बृहच्छ्रवा अधिककीर्तिमान् । स्पष्टमेव यशः **दुर्मदवीरमानिनां वीर्यमाह** इ त श्रीः। शत्रुजये श्रीर्भवतीति दुर्मदाश्च ते, वीरा वयमिति मानिनश्च; यावता च तेषां वीर्यं गच्छति तावत्कर्तति, ते चेन्निःश्रीका भवेयुस्तदेवमिति स्वस्य श्रीमत्त्वम् । ज्ञानमाह-**विजित्य लोके किल दैत्यदानवमिति** । **'मिथ्याज्ञानेन च तमो ज्ञानेन च पर पदम्'** इति वाक्यात् दैत्यानां ज्ञानप्रतिपक्षत्वम् । तत्र दैत्या राजसाः दानवास्तामसा इति । उभयेषां द्वन्द्वैक्यम् । ज्ञानेनैव हि ते निराकर्तुं शक्यन्त इति । किञ्च, कर्मणाऽपि ते निराकर्तुं शक्या इति **यद्राजसूयेन पुरा**ऽयजदित्याह । देवानां लोकपालानां वीर्याधिकार तु क्षत्रियत्वे तेषां परमोत्कर्षहेतु **राजसूय** इति । तेन दैत्यजयः। **प्रभुरिति** वैराग्यम्, सापेक्षमसमर्थं भवतीति निरपेक्ष एव प्रभुः ।।२८।।

व्याख्या—जैसे भगवान् में षड् ऐश्वर्यादिगुण है वैसे आप में भी षड् ऐश्वर्यादिगुण विद्यमान (मौजूद) है, गुणों की गणना कर बताते है ? लोक पाल होने से ईश्वर हो जिसमें आप में ऐश्वर्य गुण प्रकट हो है, सकल पतियों की अपेक्षा आप अधिपति हैं अर्थात् महाराजा हो ऐसा पति वह हो सकता है जिसमें 'वीर्य' हो सवैपतिः स्यात इस वाक्यानुसार आप अधिपति तब बने हो जब आप में पुष्कल (बहुत) वीर्य है, वीर्यवान् होने के कारण आपकी कीर्ति सर्वत्र फैली हुई है इसलिये आपको 'बृहच्छ्रवाः' कहा है, जो बहुत मद के कारण अपने को वीर मानते हैं उनके मद को आपने नष्ट कर छोडा है इसलिये आप में श्री गुण भी है, 'श्री' तब होती है जब शत्रुओं को जीता जाता है आपने मद युक्त वीर अभिमानियों का मद मिटा दिया है जिससे वे 'श्री' रहित हो गये और आपकी 'श्री' बढ़ गयी, लोक में निश्चित रूप से दैत्य और दानवों को जीतकर, अपना ज्ञान गुण दिखाया है जैसे कि कहा है, मिथ्या ज्ञानेन चतमो ज्ञानेन पर पदम्' झूठे ज्ञान से नरक और सत्य ज्ञान से परम पद प्राप्त होता है, इस वाक्यानुसार दैत्य ज्ञान के विरोधी हैं, उनमें दैत्य राजस अज्ञानी हैं और दानव तामस अज्ञानी हैं यों दोनों एक समान ही हैं अतः इन दोनों का निराकरण में ज्ञान से ही किया जा सकता है और विशेष में आता है, इसलिये आपने पहले राजसूय यज्ञ भी किया है देव और लोकपाल वीर्यवान् होने के अधिकारी हैं जिससे उनकी गणना क्षत्रियों में की जाती है, अतः इनके परमोत्कर्ष (बड़प्पन) का कारण राजसूय यज्ञ ही है, उससे दैत्यों पर जीत पायी जाती है, 'प्रभु पद से वैराग्य गुण प्रकट किया है जिसकी अपेक्षा होती है वह असमर्थ होता हैं जो निरपेक्ष हैं वह 'प्रभु' हो सकता है ।।२८।।

आभास-एवं कृते स्तोत्रे प्रार्थितमभिधातुं मुख्यषड्गुणैश्वर्यसंपन्नमेव निर्देष्टुम्, प्रलम्भवाक्येनोत्पन्नमपि क्रोधं दूरीकृत्य, तथोक्तवानित्याह--

आभासार्थ—इस प्रकार जब हिरण्याक्ष ने वरुण की स्तुति की, जिसमें इसको षड़ऐश्वर्यादि गुण युक्त भगवान् को सिद्ध किया जिससे वरुण को जो वंचकतापूर्ण वचनों से क्रोध उत्पन्न हुआ था वरुण ने उस क्रोध का त्याग किया वह निम्न श्लोक में मैत्रेयजी कहते हैं

मैत्रेय उवाच । श्लोक–स एवमुत्सिक्तमदेन विद्विषा दृढं प्रलब्धो भगवानपां पतिः ।
रोषं समुत्थं शमयन्स्वया धिया व्यवोचदङ्गोपशमं गता वयम् ।।२६।।

श्लोकार्थ—मैत्रेय जी ने कहा अपने मदोन्मत्त उस शत्रु के मद से कहे हुए बहुत उपहास के वचन सुनकर वरुण को क्रोध तो बहुत आया किन्तु अपनी धैर्य मर्यी बुद्धि से उसको दूर कर दिया, फिर कहने लगे कि हे अङ्ग ! अब हमने लड़ना छोड़ शान्ति धारण की है ।।२६।।

सुबोधिनी—स एवमिति। ननु स्वय दैत्यपतिः कथं दैत्यानामहितमुक्तवान् । तत्राऽऽह–**उत्सिक्तमदेनेति** । दैत्यानां मदे विद्यमानेऽपि सर्वमज्जनार्थं न तदुत्सेकः, अस्य तूत्सेकात् सर्वनाशं करिष्यतीति तन्नाशः कर्तव्य इत्यर्थः । शिक्षाभावायाऽऽह–**विद्विषेति** । विशेषेण द्वेष्टीति तथा । दृढमिति मर्मोद्घाटनम् । अशक्तोऽन्यथा कथयतीत्याशङ्काव्यावृत्त्यर्थमाह–**भगवानीति** । तर्हि कथं न मारयतीत्याह–**अपां पतिरिति** । न हि जलस्थितो वह्निर्ज्वलति, अत एव समुत्थितमपि रोषमशमयदात्मज्ञानेन । तदाह–**स्वया धियेति** । विशेषेण स्पष्टतया अवोचत् । किं स्वया युद्धमात्रमपेक्ष्यते, मया सह युद्धं वा ? तत्र द्वितीये उत्तरमाह । हे **अङ्गेति** कोमलसंबोधनं ज्ञानपूर्णत्वबोधकम्, न हि स्वाङ्गं केनचिदुपहन्यते । **वयमुपशमं** शान्ति **गताः**, शस्त्रसंन्यासं गृहीतवन्त इत्यर्थः ।।२६।।

व्याख्या—वरुण दैत्यों के स्वामी होकर भी उनका अकल्याण कैसे चाहने लगे ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'उत्सिक्तमदेन' जिसका मद बढ गया है, दैत्यों का मद यदि बढ़ता है तो भी सबको डुबोना नहीं चाहते हैं, इसका मद बढ़ते ही यह सबको डुबोना चाहता है । इसलिये ऐसे को तो नाश करना ही चाहिये, इसको समझाते क्यों नहीं ? इस पर कहते हैं कि, यह विशेष शत्रुता करता है, अतः समझाने योग्य नहीं रहा हैं इसने द्वेष के कारण जो तिरस्कार किया वह 'दृढ' है अर्थात् मर्मस्थलों को पीड़ा करने वाला है,

वरुण अशक्त होने से यों कहता होगा ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि अशक्त नहीं है क्योंकि षडैश्वर्य गुण युक्त भगवान् है यदि शक्ति मान है तो इसको मारता क्यों नहीं ? जिसके लिये कहते

हैं कि 'अपांपतिः' अर्थात् जलों (जल) पति है–जल में स्थित वह्नी जलाती नहीं इसलिये उत्पन्न हुवे क्रोध को आत्मज्ञान से शान्त कर दिया है, वह 'स्वयाधिया' पद से स्पष्टता से कहा, तू लड़ाई मांगता है ? व मुझ से लड़ाई करना चाहता है ? यदि मुझ से लड़ाई करना चाहते हो तो, हे अङ्ग इस प्रकार का कोमल सम्बोधन पूर्ण ज्ञान का बोध कराता है, अपने अङ्ग को कोई नहीं मारता है, हमने तो अब शान्ति ग्रहण की है अर्थात् लड़ाई करने के लिये शस्त्र उठाने से सन्यास ले लिया है यो, अर्थ है ।।२९।।

आभास–युद्धमात्रं चेदपेक्ष्यते, तदाऽप्येक एवास्ति सर्वेच्छापूरको नाऽन्य इत्याह–

आभासार्थ – यदि तुमको लड़ाई करने की ही इच्छा है तो तुम्हारी उस इच्छा को पूर्ण करने वाला एक ही है अन्य कोई नहीं क्योंकि सर्वेच्छापूरक है–यों इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक–**पश्यामि नाऽन्यं पुरुषात्पुरातनाद्यः संयुगे त्वां रणमार्गकोविदम् ।**
आराधयिष्यत्यसुरर्षभेहितं मनस्विनो यं गृणते भवादृशाः ।।३०।।

श्लोकार्थ—पुराण पुरुष के सिवाय कोई ऐसा दीखता भी नहीं, जो तुम समान युद्ध की रीति (तरीकों) में कुशल वीर से युद्ध कर उसको प्रसन्न कर सके, अतः तुम उसके पास जाओ तुमको युद्ध द्वारा प्रसन्न करेंगे, वह उत्तम असुरों की इच्छा पूर्ण करते रहते हैं जिस कारण से आपके समान शूरवीर उनकी प्रशंसा करते हैं ।।३०।।

सुबोधिनि—पश्यामीति । तुच्छा हि त्वां न मन्यन्ते, ज्ञानी हि आक्रोशं न करोति, इत्याराधयिष्यतीत्युक्तम् । अन्यस्तु अनात्मा न पूजयिष्यतीति अत्र प्रमाणं मम ज्ञानम् । तदाह–पश्यामीति । पुरुषात् पुरातनादन्यं न पश्यामीति भिन्नं वाक्यं ज्ञानपरम्, अन्यथैवं भङ्ग्या न वदेत् । पुरुषो हि पौरुषयुक्तः, अन्ये सर्वे प्राकृतशरीरसंबन्धान् स्त्रियः, त एव हि परिदृश्यन्त इति । पुरातनादिति बलाधिक्यज्ञापनार्थम्, कालेन हि बलह्रासो भवतीति । अत एव यः संयुगे युद्धे त्वाम् राधयिष्यति । संतोषोत्पादनं ह्याराधनम् । संतोषस्तु स्वज्ञानादधिकज्ञाने । तदर्थं तस्य ज्ञानमाह–**रणमार्गकोविदमिति** । युद्धमार्गेषु परम्परासिद्धेषु युद्धप्रकारेषु कोविदम् । **असुरर्षभेति** संबोधनमात्मत्वेऽपि मारणार्थम् । आ समन्तात् ईहितं यस्य, सर्वप्रकारेण युद्धाभिज्ञम् । असुरर्षभेषु वा ईहितं यस्य; यथा महान्तोऽसुरा हता भवन्ति । तथा त्वमित्यर्थः । असुरर्षभा ईहितं यस्येति वा वधे हेतुः, एतद्वधे सर्व एवाऽसुरा हता भवन्ति । असुरर्षभे वा हिरण्यकशिपावहितम् विधेयविशेषणमेतत् । तस्यैवंकरणे किं सामर्थ्यमित्यत आह–**मनस्विनो यं गृणत इति** । **मनस्विन**. शूरा दृढमनसो यं भगवन्तं गृणते । तेन सह युद्धं कृत्वा पराजिता अपि तमेव स्तुवन्ति । एतद्वचनं प्रोत्साहकम् महता हि सह युद्धं कर्तव्यम् । **भवादृशा** इति स्तुतिः ।।३०।।

व्याख्या-तुच्छ पुरुष तुम्हारा आदर नहीं करता है ज्ञानी निन्दा नहीं करता है इसलिये वह तुझे सन्तोष देंगे अर्थात् सन्तुष्ट करेंगे यों वरुण ने हिरण्याक्ष को कहा दूसरे जो अनात्मा (निर्बल) है वे तुमको आदर नहीं देंगे इस विषय में मेरा ज्ञान प्रमाण है अपना वह ज्ञानप्रकट करते हैं पुरातन पुरुष से कोई अन्य ऐसा नहीं दीखता हैं यह पृथक वाक्य कहने का आशय ज्ञान बताने के लिये है। नहीं तो इस तरह (तरीके) से नहो कहे, पुरुष ही पराक्रमयुक्त होता है, पुरुष भगवान्) के सिवाय अन्य सर्व प्राकृत शरीर से संबंध वाले होने से स्त्रियां हैं अतः वे पौरुष हीन हैं। वे ही पुरुष निश्चय से दीखते हैं, पुरुष को पुरातनात् विशेषण देकर यह सिद्ध किया है कि उनमें सबसे अधिक बल है कारण कि काल से बल की कमी होती है परन्तु ये पुरातन होते हुए भी वैसे पौरुषयुक्त हैं काल भी इनके बल में कमी नहीं कर सका है, अतः जो युद्ध में तुझे सन्तोष देगा वह यही है। सन्तोष तब होता है जब अपने ज्ञान से उसमें विशेष ज्ञान हो, इसलिये उसका ज्ञान कहते हैं 'रणमार्गकोविद' लड़ाई के जो परम्परा सिद्ध प्रकार (तरीके) है उनमें निपुण, 'असुरर्षभेहितं' पद के पृथक् पृथक् अर्थ कर उनके आशय प्रकट करते हैं १-'असुरर्षभेहितं' इस पद में 'असुरर्षभ' सबोधन से यह सूचित किया है कि तुम असुरों में श्रेष्ठ हो इस कारण से भगवान् आत्मा होते हुए भी तुम्हे मारेंगे, क्योंकि 'आ-ईहितं' इन चारों तरफ की जिनमें पूर्ण ज्ञान क्रिया है, वे भी सर्व प्रकार की युद्धकला कुशल है, २-उत्तम असुरों के वध में जिनकी इच्छा है वैसा तूं है अतः तुमसे युद्ध कर तुम्हारा वध करेंगे कारण कि तुम्हारे वध से सकल असुर ही नष्ट हुए जाना जायेगा। अथवा 'असुरर्षभें' 'हिरण्यकशिपो अहितं' तुम्हारे मारने से तुम्हारे भ्राता हिरण्यकशिपु का भी अहित होगा, उसका यों करने में प्रमाण क्या ? 'मनस्विनो यं गृणत' प्रमाण यह है कि दृढ मन वाले मनस्वी शूरवीर उनसे (भगवान से) युद्ध में पराजित हो कर भी उनकी प्रशंशा करते हैं, यह वचन प्रोत्साहन देने के लिये कहा है; बड़े से ही युद्ध करना चाहिये, 'भवादृशा' विशेषण से यह सूचित किया है कि तुम सरीखे ही बड़े से युद्ध करना चाहते हैं-इस कथन से उसकी स्तुति भी की है ॥३०॥

आभास-एवं युद्धार्थं प्रतियोगित्वेन निरूप्य तस्य प्राप्तिमाह—

आभसार्थ युद्ध के लिये इस तरह आपके योग्य प्रतिद्वन्दी भगवान् ही हैं यों निरूपण कर उनकी प्राप्ति का प्रकार (तरीका) इस श्लोक में कहते हैं:—

श्लोक—तं वीरमारादभिपद्य निर्भयः शयिष्यसेवीरश ये श्वभिर्वृतः ।
यस्त्वद्विधानामसतां प्रशान्तये रूपाणि धत्ते सदनुग्रहेच्छया ॥३१॥

श्लोकार्थ-जो वीर तेरे समान असत् पुरुषों को नाश करने के लिये तथा सत्पुरूषों पर अनुग्रह करने की इच्छा से अवतार धारण करते हैं, वे वोर थोड़े ही

समय में तुमको मिल जायेंगे उनके द्वारा तुम कुत्तों से घिरी हुई वीर शय्या पर सो जावोगे, जिससे तुम्हारी यह शेखी पूरी (खतम) हो जाएगी ।।३१।।

सुबोधिनी—**तं वीरमिति** । सोऽपि भगवान् वीरः, युद्धमेवाऽभीप्सते । तदर्थमेव शापादिदानमिति भावः । कालविलम्बोऽपि नास्तीत्याह–**आरात्** निकट एवेति । **अभिपद्येति** । यथा शलभाऽग्नौ पतति, तद्वत्पतिष्यसीति भावः । तथापि त्वं **निर्भयो** मृत्युभयरहितः, न हि भगवन्तं प्राप्य कश्चिन्मृत्युना ग्रस्यते, अतो मृत्युभयरहित इत्यर्थः **विस्मय** इति पाठे विगतगर्वः तावदेव गर्व इति । ततः कस्य जयो भविष्यतीत्याशङ्कायामाहत्वमेव **वीरशये शयिष्यस इति** । रणाङ्गणे शयनं करिष्यस इत्यर्थः ·जित्वाऽपि निर्भयत्वज्ञापनार्थम् । रणाङ्गणेऽपि शयनं सुखादपि सम्भविष्यतीति तन्निवृत्त्यर्थमाह-**श्वभिर्वृत** इति । मृतमेव श्वानो वेष्टयन्तीति । ननु युद्धमात्रे प्रार्थिते कामितपूरको भगवान् किमिति मारयेदित्याशङ्क्याह-**यस्त्वद्विधानामिति** । यद्यपि त्वत्कामितं तावदेव, तथापि देवानां कामितं त्वन्मरणमिति मारयिष्यति । यतः-**असतां प्रशान्तय** एव नानाविधानि रूपाणि भगवान् बिभर्त्ति वराहादीनि, **अन्यथा** अवतारप्रयोजनं न स्यात् । नन्वात्मा भगवान् किमिति मारणार्थमेवं रूपाणि करोतीत्याशङ्क्याह-**सदनुग्रहेच्छयेति** । स तु रूपाणि सतामनुग्रहार्थमेव गृह्णाति । धर्मरक्षार्थमेव प्रवृत्तिः, आनुषङ्गिकं त्वसतां मारणं नान्तरीयकमिति । अनेन पुनरपि कामो नोत्पत्स्यत इत्यप्युक्तम्, अन्यथा पुनः कालान्तरे एवंभावे कः समाधानं कुर्यादिति भावः ।।३१।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्री लक्ष्मणभट्टात्मज श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे सप्तदशाध्यायविवरणम् ।

व्याख्या – वह भगवान् भी वीर है, जिससे युद्ध को चाहते हैं, इसलिये ही तुम्हें शाप मिला है काल का विलम्ब भी नहीं है, निकट अर्थात थोड़े ही समय में उनको तुम प्राप्त करोगे और ज्यों पतंग आग में स्वय गिरता हैं वैसे तुम भी वीराग्नि में स्वयं गिरोगे, तो भी तुम निर्भय बने रहोगे अर्थात् तुम्हें मृत्यु का भय न होगा, क्योंकि जिसका भगवान् से सम्बन्ध होता है उसको मृत्यु नहीं ग्रस सकती हैं, इसलिये मृत्यु भय तुम्हें नहीं होगा । 'विस्मय' पाठ हो तो अर्थ होगा, तुम गर्व रहित बन जावोगे[१] दोनों वीरों की लड़ाई में विजय किसकी होगी ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'त्वमेव वीरश्ये

(१)–गर्व तब तक रहेगा जब तक भगवान् नहीं मिले है उनके मिलने से तुम्हारा गर्व मिट जायेगा ।

शयिष्यस' तुम हो रणाङ्गण में वीर शय्या पर शयन करोगे भगवान् तो जीत कर भी निर्भय रहते हैं, रण के मैदान में भी शयन सुख से होगा, वहां शयन सुख पूर्वक न होगा यों जताने के लिये कहा हैं कि 'श्वभिवृत:' कुत्तों से घिरे हुए होंगे मरे हुए को कुत्ते घेर लेते है । जब कि युद्ध मात्र मांगा है तब इच्छा पूरक प्रभु इस प्रकार कैसे मारेंगे ? ऐसी शंका को मिटाने के लिये कहते हैं कि, यद्यपि तुम्हारी इच्छा केवल युद्ध करने की ही है, किन्तु देवताओं की इच्छा थी कि तुम मारे जावो, इस कारण से तुम्हें मारेगे, क्योंकि दुष्टों को शान्त करने के लिये भगवान् अनेक प्रकार के वराह आदि रूपों को धारण करते हैं, यों न करें तो अवतार धारण का कोई प्रयोजन हो नहीं रहे । भगवान् सब को आत्मा होकर मारने के लिये कहते है 'सदनुग्रहेछया' वह सत्पुरुषों पर अनुग्रह करने की इच्छा से हा रूप ग्रहण करते हैं, धर्म की रक्षा के वास्ते ही ऐसी प्रवृति है, दुष्टों का नाश तो इससे संबन्धित होने से अवश्य करना ही पड़ता हैं अत: यह आनुषङ्गिक कार्य हैं, इससे यह सूचित किया है कि तुम को फिर युद्ध की कामना न रहेगी, नहीं तो फिर कालान्तर में यदि ऐसी स्थिति बने तो उसका समाधान (शान्ति) कौन करे ? यह भाव है ।।३१।।

इति श्री मद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के १७ वें अध्याय की श्री मद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

उद्धव का पश्चाताप

हरि जु सौं अब मैं कहा कहौं ?
प्रभु अंतरजामी सव जानत, हौं सुनि सोचि रहौ ।
आय सु दियौ जाऊ बदरी वन, कहैं सों कियौ चहों ।
तन-मन-बुधि जड़ देह दयानिधि, क्यों करि लैं निबहौं ।
अपनी करनी विचारि गुसांई, काहे न सूल सहौं ।
मैं इहि ज्ञान ठगीं ब्रज बनिता, दियौ सो क्यों न लहौ ?
प्रगट पाप-संताप सूर अब, कापर हठै गहौ ?
और इहांउ विवेक अगिनी के, विरह विपाक रहौं ।।१।।

जय विजय की कथा

हरि गुन कथा अपार, पार नहि पाइयै ।
हरि सुमिरन सुख होइ, सु हरि-गुन गाइयै ॥
ब्रह्मपुत्र सनकादि, गए वैकुण्ठ एक दिन ।
द्वारपाल जय-विजय हुते, बरज्यौ तिनकौं तिन ॥
साप दियौ तब क्रोध ह्वै, असुर होहु संसार ।
हरि दरसन कौं जात क्यों, रोक्यौ बिना बिचार ?
हरि-तिनसौं कह्यौ आइ, भलो सिच्छ तुम दीनी ।
बरज्यौ आवत तुम्है, असुर बुधि इन यह कीनी ॥
तिन्है कह्यौ, संसार में, असुर होहु अब जाइ ।
तीजे जनम विरोध करि, मोकौं मिलि हौं आइ ॥
कास्यप की दिति नारि, गर्भ तोंकें दोउ आए ।
तिनकें तेज-प्रताप देवतनि बहु दुःख पाए ।
गर्भ माहि सत वर्ष रहि, प्रगट भए पुनि आइ ।
तिन दोउनि कौं देखि कै, सुर सब गए डराइ ॥
हिरन्याच्छ इक भयौ, हिरन कस्यप भयौ दूजौ ।
तिन के बस कौं इंद्र, वरुन, कोउ नहि पूजौ ॥
हिरन्यच्छ तब पृथ्वी कौं, लै राख्यौ पाताल ।
ब्रह्मा बिनती करि कह्यौ, दीन बंधु गोपाल ॥
तुम बिनु द्वितिया और कौन, जो असुर संहारै ।
तुम बिनु करुनासिंधु, और को पृथ्वी उधारै ? ॥
तब हरि धरि बाराह बपु, ल्यए पृथ्वी उठाइ ।
हिरन्याच्छ लै कर गदा, तुरतहि पहुँच्यौ जाई ॥
असुर क्रोध ह्वै कह्यौ, बहुत तुम असुर संहारे ।
अब लै हौं वह दाऊं, छाड़िहौं नहि बिन मोर ॥
यह कहि कै मारी गदा, हरि जू ताहि सम्हारि ।
गदा युद्ध तासौं कियौ, असुर न मानै हारि ॥
तब ब्रह्मा करि विनय कह्यौ, हरि याहि संहारौ ।
तुम तौ लीला करत, सुरनि मन परयौ खभारौ ॥
मारयौ ताहि प्रचारि हरि, सुर-मर भयौ हुलास ।
सूरदास के प्रभु बहुरि, गये वैकुण्ठ-निवास ॥

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

तृतीय स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

(बन्ध सृष्टि) मतान्तर प्रकरण

"अध्याय"—१८

हिरण्याक्ष के साथ बराह भगवान का युद्ध

कारिका-अष्टादशे स्थितिस्तस्य भगवत्सन्निधौ स्फुटा ।
निरूप्यते, तथा शापात्पारुष्य विजयस्ततः ॥१॥

कारिकार्थ—१८ वें अध्याय में उसकी स्थिति भगवान् के समीप स्पष्ट कहने में आती है, तथा शापार्थ अथवा शाप के कारण निन्दा वचन और अनन्तर विजय का निरूपण है ॥१॥

कारिका—स्थित्यध्यायोऽयमाख्यातो ब्रह्मणा तत् स्थिरीकृतम् ।
उत्पत्तावेव शापो हि मारणं ब्रह्मवाक्यतः ॥२॥

कारिकार्थ—इस अध्याय को स्थिति अध्याय माना गया है, जिसको ब्रह्मा ने पुष्ट किया है, कारण कि उत्पत्ति में ही शाप मिला है, मारना तो ब्रह्मा के वचन से होगा ॥२॥

कारिका—युद्धमात्रे हरीच्छा हि कायवड्मनसा तु सा ।
उभयोरुद्यमोक्त्यत्र युद्धं मानसमीरितम् ॥३॥

कारिकार्थ—हरि की इच्छा केवल युद्ध करने की थी अतः वह काया, वाणी और मन से हुआ जिसका कारण यह था कि दोनों का उद्यम युद्ध करने का था ॥३॥

कारिका—कायिकं चाऽग्रिमाध्याये मध्यमं मध्यमे मतम् ।
अतो विरोधवाक्यानामुभयेषां न दूषणम् ॥४॥

कारिकार्थ—जो युद्ध काया से करने का है उसका वर्णन आगामी अध्याय में किया जायेगा, मध्य में वाणी को युद्ध माना गया है, दोनों के विरोध वचन दूषण रूप नहीं है अतः यह वाणी रूप युद्ध की भी स्थिति में गणना है ॥४॥

कारिका—प्रसङ्गो दर्शनं वाक्यं त्रिभिभक्तानुरोधनम् ।
पुनराक्षेपवाक्यं च शरव्यकरणं तथा ॥५॥
वाक्योपक्रमणं वाक्यं त्रिभिर्मानस्तथोद्यमः ।
युद्धं षड्भिर्भगवत्त्वात् ब्रह्मप्रार्थनमन्ततः ॥६॥

कारिकार्थ—पहले श्लोक में प्रसंङ्ग दूसरे श्लोक में दर्शन ३-४-५ वे में वाक्य (वचन) ६-७-८ वें में भक्त की शान्ति फिर तिरस्कार समान वाक्य लक्ष्य बनाने तथा उत्तर देने का प्रारम्भ ९ वें श्लोक में पुन: १०-११-१२ वें में मद उत्पन्न कराना १३ वें में उद्यम भगवद्रूप होने से युद्ध भी १४ वें से १९ वें श्लोकों में कहो है अन्त में २० वें से २८ वें श्लोकों में ब्रह्मा की प्रार्थना का वर्णन है ॥५-६॥

कारिका—उभयोर्वचनं षड्भिर्युद्धं चैव तथाभयोः ।
स्थितिरेषा तस्य हरौ तत्पोषकमिहाऽपरम ॥७॥

कार्यकार्थ—दोनों के वचन छ श्लोकों से वर्णन एवं दोनों का युद्ध भी छ श्लोकों से वर्णन किया है यह इसको स्थिति हरि में है और अन्य उस स्थिति में पोषक है ॥७॥

आभास—प्रथमं युद्धार्थे तयोः प्रसङ्गमाह—

आभासार्थ पहले युद्ध का उनका प्रसङ्ग निम्न श्लोक में कहते हैं—

मैत्रेय उवाच श्लोक—तदेवमाकर्ण्य जलेशभाषितं महामनास्तद्विगणय्य दुर्मदः ।
हरेर्विदित्वा गतिमङ्ग ! नारदाद्रसातलं निर्विविशे त्वरान्वितः ॥१॥

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी ने कहा कि तब वरुण ने हिरण्याक्ष को कहा कि तू हरि के हाथ से मारा जायेगा वरुण के इन वचनों की उस मनस्वी महाभिमानी ने कुछ भी परवाह नहीं की वह तुरन्त नारद जी से हरि का पता लगाकर रसातल पहुंचा ॥१॥

सुबोधिनी—तदेवमिति । जलेशो वरुणः तदा एवं तद्वचनमाकर्ण्य महामना उत्साहयुक्तो जातः । यद्यपि मरणं श्रुतम्, तथापि तदविगणय्यैव महामना जात इति सम्बन्धः । तत्र हेतुः—दुर्मद इति । दुष्टो मदः स्वानिष्टं न बोधयतीति । भगवन्तं भक्त एव जानातीति नारदः पृष्टः । भगवत्कार्यकर्तृत्वात् नारदस्याऽपि समागमनम् । अतो नारदाद्धेतो, हरेर्गतिं विदित्वा तत्सद्भावदेशस्य श्रुतत्वात्, युद्धाभिनिविष्टस्त्वरान्वितो रसातलं निर्विविशे ॥१॥

व्याख्या—'जलेश' अर्थात् वरुण ने तब इस तरह कहा कि तू हरि के हाथ से मरेगा उसका वचन सुन उत्साहित हो गया यद्यपि उसने अपना मना तो भी उसकी परवाह न कर उसका सुहरना

युक्त हो गया क्योंकि उस को जो मद (अभिमान) था वह दुष्ट (तामस) मद था, तामस मद वाला इससे अपना अनिष्ट होगा यह नहीं समझ सकता है, भगवान् अब कहां विराजते हैं जिसको भक्त हो जानते हैं अतः नारद जी से भगवान् का पता लगाया नारदजी भगवान् के कार्य सिद्ध करने वाले होने से वह भी आ गये जिससे समागम हो गया नारद जी से हरि के निवास स्थल का ज्ञान प्राप्त कर युद्धासक्त वह चट (तुरन्त) रसातल में पहुँचा ॥१॥

आभास–ततो दर्शनमाह—

आभासार्थ –अनन्तर हिरण्याक्ष को भगवान् के दर्शन हुए यों निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक–**ददर्श तत्राऽभिजितं धराधरं प्रोन्नीयमानावनिमग्रदंष्ट्रया ।**
मुष्णन्तमक्ष्णा स्वरुचोऽरुणश्रिया जहास चाऽहो ! वनगोचरो मृगः ॥२॥

श्लोकार्थ—वहाँ उसने सर्वत्र जय प्राप्त किये हुए वराह भगवान् को अपनी दाढ़ों की नोक पर पृथ्वी को उठाकर ऊपर लाते हुए देखा लाल रंग वाले नेत्र से अपनी कान्ति को हरने वाले भगवान् के जब उसको दर्शन हुए तब वह हँसने लगा एवं उपहास करते हुए कहने लगा यह जंगली पशु यहां कैसे आया ॥२॥

सुबोधिनी– यथाऽन्यदर्शने तस्याऽवज्ञोत्पन्ना, न तथा भगवद्दर्शने इति ज्ञापयितुं भगवन्तं विशिनष्टि । तत्र रसातले **अभिजितम्, धरातलम् प्रोन्नीयमानावनिम्** , **मुष्णन्तमिति** चतुर्द्धा । अभितो जितं यस्य । आकारदर्शनेनैव तस्य सर्वतो जयो लक्ष्यते । धरां बिभर्तीति तथा । धरायां वा अधरं यस्य । तत्र दृश्यत इत्यतोऽपि भगवद्दर्शनेऽपि न स्वस्मिन् भगवति वा लोभ उत्पन्नः । दंष्ट्राया अग्रमग्रदंष्ट्रा पूर्वं निरूपिता, तया प्रोन्नीयमाना अवनिर्येन । अनेन शत्रुः कार्यासक्त इति सूचितम् । **स्वस्य** हिरण्याक्षस्य **रूचः**, **अरुणश्रिया अक्ष्णा मुष्णन्तम्** । दैत्यः सुवर्णवर्णः, कार्याभिनिविष्टस्य भगवतोऽप्यक्षि अरुणवर्णम् , रजोगुणप्राकट्यात् । अनेन भगवदग्रे स्वात्मानं भगवन्तं च न दृष्टवान् इत्युक्तम् । एवं ज्ञात्वाऽपि अग्रिमभगवल्लीलेच्छायाः प्राधान्यात् **जहास** । **ददर्श जहास च** । चकारादग्रिमवचनान्यपि संगृहीतानि तान्याह—**अहो वनगोचरो मृग इति** । हास्यरूपं चैतत् । **अहो** आश्चर्यम् , **मृगो**ऽरण्यवासी **अवनगोचरः**, वनरहितभूमौ तिष्ठतीति ।वने जले वा चरतीति तादृशो मृगोऽयमिति । भगवद्बुद्ध्या समागतम् , अयं तु वनगोचरो मृग इत्यर्थः ॥२॥

व्याख्या—जैसे दूसरों को देखने से उसका तिरस्कार उत्पन्न होता था वैसे भगवान् के दर्शन से तिरस्कार उत्पन्न नहीं हुआ यों बताने के लिये भगवान् की प्रशंसा करते हैं रसातल में सबसे सर्व प्रकार जिसने जय प्राप्त की है । धरा (भूमि) को धारण किया है, भूमि को ऊपर उठा रक्खा है और उसके तेज को हर रहे हैं, इस तरह भगवान् के चार गुण कहे है-

कारिका पराक्रमस्तथा कार्यमिति शूरत्वबोधनम् ।
शत्रोः पराजयश्चेति सहज तच्चतुष्टयम् । १॥

कारिकार्थ—पराक्रम कार्य, शूरवीरता दिखाना, शत्रु का पराजय, ये चार गुण तो भगवान् में स्वाभाविक (कुदरुती) हैं सर्वत्र जिनकी जीत हैं ऐसे प्रभु हैं जिनका स्वरूप दर्शन से ही जानने में आता है कि इन की चारों तरफ जय है, पृथ्वी को जिन्होने धारण किया है अथवा जिनका अधर भूमि में हैं ऐसे ये धराधर हैं इस कारण से जिनका अधर देखने में नहीं आता है जिससे भगवद्दर्शन होने पर भी अपने में तथा भगवान् में हिरण्याक्ष को लाभ न हुआ 'अग्रदष्ट्रा' अर्थात् दाढ़ की नोक को अग्रदंष्ट्रा कहा जाता है। पहले १३ वें अध्याय में वर्णन किया है, उस दाढ़ की नोक से ऊपर पकड़ रक्खी है पृथ्वी जिसने, ऐसे प्रभु के दर्शन हिरण्याक्ष को हुए इससे यह सूचित किया है कि हिरण्याक्ष का शत्रु अपने कार्य में आसक्त है, और हिरण्याक्ष के तेज को अपने लाल नेत्रों से हरण कर रहे थे दैत्य का रंग सुवर्ण के समान था और कार्यासक्त भगवान् के नेत्र भी अरुण (लाल) वर्ण थे, क्योंकि उस समय भगवान् ने रजोगुण प्रकट किया था, इससे यह जताया है कि भगवान् के आगे वह अपने को तथा भगवान् को देख नहीं सकता यों जानकर भी भगवान् को आगे लीला करने की इच्छा प्राधान्य (मुख्य) है, अतः भगवान् को देखने लगा एवं उपहास करने लगा, 'च' पद से आगे के वचनों का भी समावेश किया। अर्थात् उनको भी ग्रहण किया है उनको कहता है, 'अहो वनचरो मृगः' यो कहना हास्य रूप (मजाक) है अहो का अर्थ है आश्चर्य, अर्थात् अचम्भे जैसी बात है जो वन में फिरने वाला वह वन से बाहर की पृथ्वी पर फिर रहा है, इससे जाना जाता है कि यह मृग अन्य प्रकार का है जो वन में तथा जल में दोनों में फिरता रहता है मैं यहाँ आया कि भगवान् से मिलूँगा (परन्तु) यह तो वनचारी मृग निकल पड़ा (इस तरह दुष्ट मद वाले ने भगवान् की मजाक उड़ाई) ॥२॥

आभास—अस्तु यथा तथा रूपम्, युद्धं तु कर्तव्यमित्यभिप्रायेणाऽऽह—

आभासार्थ—कैसा भी रूप हो युद्ध तो करना ही है इस अभिप्राय से कहते हैं-

श्लोक—आहैनमेह्यज्ञ ! महीं मिमुञ्च नो रसौकसां विश्वसृजेयमर्पिता ।
न स्वस्ति यास्यस्यनया ममेक्षतः सुराधमाऽऽसादितसूकराकृते ! ॥३॥

श्लोकार्थ—हे मूर्ख ! यहां इस पृथ्वी को छोड़ दे यह पृथ्वी ब्रह्मा ने हम रसातल वासियों को अर्पण कर दी है हे सूकर रूपधारी सुराधम ! मेरे देखते हुए तू इसको लेकर सुख पूर्वक नहीं जा सकता है ॥३॥

सुबोधनी—एनं भगवन्तमेवमाह-हे भगवन्, एहि। कदाचिदात्मानं न जानातीति तथा संबोधनम्। युद्धार्थमाकारयामी। कार्यान्तरेऽहं व्यापृत इति चेत्तत्राऽऽह-महीं विमुञ्चेति। ननु प्रारब्ध

कर्म परिसमाप्य पश्चादन्यत्कर्तव्यमिति चेत्तत्राऽऽह-नो रसौकसां विश्वसृजेयमर्पितेति । इयं भूमिरस्मदीया, रसौकसामर्थे विश्वसृजा अर्पितत्वात् । अतोऽन्यस्य भूमिर्न्नेया । क्षत्रियधर्मेण चेन्नीयते, तदा युद्धं कृत्वा नेतव्येत्युभयथाऽपि एनां विमुञ्च, अस्मदीयैवेति । न चिन्ताऽप्येतस्याः कार्या, यतो नोऽस्माकमेषा । न हि स्वामिनि विद्यमाने अन्यस्य चिन्ता युक्तेति भावः । शरीरवन्न्यायतश्चेयं प्राप्तेति ज्ञापनार्थं ब्रह्मणा समर्पितत्वकीर्तनम् । तथाप्यत्यजन्तं प्रत्याह—न स्वस्ति यास्यसीति । मम ईक्षतः सतः, अनया सह स्वस्ति यथा भवति तथा न यास्यसीत्यर्थः । संबोधनद्वयम घक्षेपजनकम्, क्रोधोत्पादनार्थम् । महद्भिरपि देवैरस्मद्विरोधे कार्यं कर्तुं न शक्यते, येषां रूपमत्युत्तमम् । रूपेणैव हि महत्त्वममहत्त्वं च ज्ञायते । आसादिता स्वीकृता सूकरवदाकृतिर्येन । पूर्वस्य हेतुः ॥ ३ ॥

व्याख्या—'एनं' इसको अर्थात् वराह भगवान् को यों कहा कि, हे भगवान् ! आओ, कदाचित् भगवान् अपने को (हिरण्याक्ष को) न पहचानते हों इसलिए इस प्रकार सम्बोधन दिया है । आपको युद्ध के लिए बुलाता हूं यदि यों कहो कि अभी तो मैं दूसरे काम में लगा हूँ जिससे आ नहीं सकता तो इस पर कहते है कि 'मही विमुञ्च' जिस काम (पृथ्वी को उठा कर ले जाने) में लगे हो उस काम को (पृथ्वी को) छोड़ दो, यदि कहो कि आरम्भ किया हुआ कार्य पूर्ण कर फिर दूसरा करना चाहिये तो आपका प्रारम्भ किया हुआ कार्य अनुचित हैं, उसका त्याग करना ही उचित है क्योंकि, यह भूमि ब्रह्मा ने हम रसातल वासियों को अर्पण कर दी है अतः यह भूमि हम लोगों की है, इसलिए दूसरे की पृथ्वी नहीं ले जानी चाहिये । यदि कहो कि क्षत्रियों का यह धर्म है कि दूसरे की पृथ्वी को अपने अधिकार में कर लेनी, तो भी यों बिना युद्ध किये न लेजानी चाहिए इसलिए दोनों तरह से भी आपको यह छोड़ देनी चाहिए, यह हम लोगों की है, और इसकी रक्षा आदि की चिन्ता भी आपको नहीं करनी चाहिये, कारण कि वस्तु का स्वामी विद्यमान (मौजूद) होने पर दूसरे को चिन्ता करनी उचित नहीं, जैसे ब्रह्मा ने शरीर दिया है वैसे ये भूमि भी दी है अतः इसकी प्राप्ति शरीर की तरह न्याय संगत है, तो भी यदि आप इस (भूमि) को नहीं छोड़ेगे तो मेरे देखते हुए इसको ले जाना आपके लिए हितकारी नहीं है, ये दो सम्बोधन अपमान कारक इसलिए कहे हैं कि इस (वराह) को क्रोध उत्पन्न हो, जिसका आकार बड़ा सुन्दर है ऐसे देव भी मेरे विरोध करने पर कार्य नहीं कर सकते हैं, रूप से ही महत्ता व अमहत्ता का ज्ञान होता है, तुम तो सूकर जैसी आकृति वाले हो, यह पहले सम्बोधन का कारण है ॥३॥

आभास—देवप्रेरणया समागतमिति चेत्तत्राऽऽह—

आभासार्थ—यदि भगवान् कहें कि मैं देवों की प्रेरणा से आया हूँ तो इस पर यह श्लोक कहता है—

श्लोक—**त्वं नः सपत्नैरभवाय किं भृतो यो मायया हंस्यसुरान् परोक्षजित् ।**
त्वां योगमायाबलमल्पपौरुषं संस्थाप्य मूढ ! प्रमृजे सुहृच्छुचः ॥४॥

श्लोकार्थ—क्या तूँ माया से छिप छिपकर ही जीतता है और मारता है क्या हमारे शत्रु देवों ने हमारा नाश कराने के लिये तुझे पाला है ? तेरी शक्ति तो योगमाया है यों तो तूँ अल्प पौरुष वाला है आज तुझे ठिकाने लगा कर अर्थात् तुझे समाप्त कर अपने बान्धवों का शोक मिटाऊँगा ॥४॥

सुबोधिनी— त्वं व सपत्नैरिति । नः सपत्नैर्देवैस्त्वं किमभवाय भृत इत्यधिक्षेपप्रश्नः । कार्यं तु महद्भिरेव न भविष्यतीति कथं त्वयेति ते देवा असाध्यकार्ये नियोजकास्तवाऽहिता एवेत्यर्थः । नन्वह विष्णुः, स्वतन्त्रतया भवच्छत्रुः कथं देव प्रेरित इत्युच्यत इति चेत्तत्राऽऽह -**यो मायया हंसीति** । त्वं हि ज्ञातो विष्णुरेव सत्यम् । अभिज्ञानमाह—यस्त्वमसुरान् मायया कापट्येनैव हंसि । मायेव करणम्, **ये यथा मां प्रपद्यन्ते**' इति वाक्यात्, '**मायेत्यसुराः**' इति श्रुते; मोक्षाभावार्थं च । अनिष्टनिवृत्त्यर्थं वा माययैव हंसि कापट्ययुद्धं न वीरत्वबोधकम् । तदाह-**परोक्षजिदिति** । परोक्षे समागत्य जयं संपादयसीत्यतः प्रत्यक्षे युद्धं न कर्तव्यम् । भूमिं त्यक्त्वा गच्छत्युपदेशः । तथा न क्रियत इति चेत्तत्राऽऽह—**त्वां योगमायाबलमिति** । नव तु न सहजं बलम्, किन्तु योगमायया । सा त्वस्मदीयेऽस्मत्स्थाने सा न प्रभविष्यतीत्यल्पमेव पौरुषं स्वतो भविष्यतीत्यर्थः । अत एव सम्यक् स्थापयित्वा सुहृच्छुचः **प्रमृजे**; ये त्वाया मारिता, तेषामनृणो भविष्यामीत्यर्थः । अहं मारितशत्रूणां संबन्धीति मां न जानासीति तथा संबोधनम् ॥ ४ ॥

व्याख्या--हम लोगों के शत्रु देवों ने क्या तेरी पालना, तेरा) नाश कर ने के लिए की हैं ? यह प्रश्न अपमान-जनक है। यह कार्य तो बड़े २ देवों से भी होने वाला नहीं है वह तुझसे कैसे सिद्ध होगा ? अतः जो कार्य न बन सके। उस कार्य में तुम्हें। लगाने वाले देव तुम्हारे शत्रु ही हैं, यदि कहो कि मैं विष्णु स्वतन्त्र तुम्हारा शत्रु हूँ तुम देव प्रेरित कैसे कहते हो ? इस पर हिरण्याक्ष कहता है कि, यो मायया हंसीति' यह सत्य है कि तुम विष्णु ही हो, किन्तु तुम माया (कपट) से ही असुरों का नाश करते हो इसमे ही तुम्हारी पहचान हो जाती है, 'मायैव करणम्' माया ही साधन है, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस वाक्यानुसार एवं मायेत्यसुराः' इस श्रुति अनुसार और असुरों को मोक्ष प्राप्ति न हो तदर्थ यों करते हो। अथवा अनिष्ट (दुःख) की निवृत्ति के लिए माया से ही मारते हो, इस तरह कपट से युद्ध करने में वीरता नहीं हैं उसको कहता है कि परोक्षजित्' छुप कर जीतने वाले ही परोक्ष में आकर जीत को प्राप्त करते हो अतः प्रत्यक्ष में युद्ध नहीं करना चाहिये, तो पृथ्वी को छोड़ कर चले जावो, यों उपदेश दिया है यदि यों कहो कि यों नहीं कर सकूंगा तो इस पर कहना है कि 'त्वां योगमाया बलम्' तुमको अपना स्वाभाविक बल नहीं है किन्तु योगमाया का बल है, वह योगमाया तो हम असुरों कि है इसलिए हम लोगों के स्थान पर उसका बल नहीं चलेगा व प्रकट न करेगी, जिससे आपका पौरुष अल्प हो रहेगा। जिससे तुम्हारा पूर्णतः नाश कर जिनको

तुमने मारा है उन मित्रों का शोक मिटाउंगा। और उनके ऋण से उऋण होऊंगा छूटूंगा तुमने जिन असुरों को मारा है उनका मैं सम्बन्धी हूँ आप ऐसा जानते नहीं तोभी तुमको 'हे अज्ञ! (मूढ़:) सम्बोधन दिया है ॥४॥

अभास—ननु देवानाँ विद्यमानत्वात् कथं दैत्यानां शोकाभावस्तत्राऽऽह–

आभासार्थ देवों के होते दैत्यों का शोक का अभाव कैसे होगा। इस पर कहते हैं—

श्लोक—**त्वयि संस्थिते गदया शीर्णशीर्षण्यस्मद्भुजच्युतया ये च तुभ्यम्।**
बलिं हरन्त्यृषयो ये च देवा: **स्वयं सर्वे न भविष्यन्त्यमूला:** ॥५॥

श्लोकार्थ—जब मेरे हाथ से छूटी हुई गदा के प्रहार से तेरा सिर फूटेगा जिससे तेरा मरण होगा तब वे ऋषि और देवता जो तुझे बलि देते हैं वे सब न रहेगे जैसे मूल कट जाने पर वृक्ष नहीं रहते हैं ॥५॥

सुबोधिनि—त्वयि संस्थित **इति। अस्मद्भुजच्युतया गदया** शस्त्र भेद्येऽपि शरीरे प्रहारेण व्यथिते सम्यक् स्थिति:। **अस्मद्भुजच्युतयेति** महाबलसंबन्ध उक्त:। तत: किमत आह—**ये च तुभ्यं बलिं हरन्ति, ऋषयो देवाश्च**। **अन्येऽपि** स्वतन्त्रा येऽभिमानिन:, तेऽपि सर्वे भवन्मूलका एवेति **स्वयमेवाऽमारिता अपि न भविष्यन्ति,** उद्भवं न प्राप्स्यन्तीत्यर्थ:। तत्र हेतु:-**अमूला इति** ॥ ५ ॥

व्याख्या—हमारे हाथ से गिरी हुई गदा से जब शस्त्र से अभेद्य शरीर में व्यथा होगी तब उस व्यथा से तेरा नाश होगा, क्योंकि मेरे हाथ से गिरने के कारण उसमें मेरे बल का संस्कार होना जिस कारण से जो ऋषि और देव तथा जो अन्य स्वतन्त्र अभिमानी तुझे बलि देते हैं वे न रहेंगे बिना मारे स्वत: मर जायेंगे फिर उनका उद्भव (उत्पत्ति) न होगा क्योंकि उनकी जड़ तूं ही जो न होगा तो शाखापत्र कैसे रहेंगी ॥५॥

आभास—एवं दुष्टवचनान्यपि भक्तहितार्थमङ्गीकृतानीत्याह—

आभासार्थ दुष्ट वचनों को भी भगवान् ने भक्तों के हितार्थ अङ्गीकार किया जिसका वर्णन इस श्लोक मे मैत्रेयजी करते हैं-

मैत्रेय उवाच। श्लोक—**स तुद्यमानोऽरिदुरुक्तितोमरैर्दंष्ट्राग्रगां गामुपलभ्य भीताम्।**
तोदं मृषन्निरगादम्बुमध्याद्ग्राहाहत: सकरेणुर्यथेभ: ॥६॥

श्लोकार्थ—भगवान् हिरण्याक्ष के दुर्वचन रूपी बाणों से छेदे जाने के कारण दांन्त की नोक पर स्थित भूमि को डरा हुवा देख उस चोट को सहकर जल से उसी

तरह बाहर निकल आये जैसे ग्राह की चोट से हस्ती अपनी हथिनी सहित जल से बाहर आ जाता है ॥६॥

सुबोधिनी — स तुद्यमान इति । अरिर्हिरण्याक्षः, तस्य दुरुक्तय एव तोमरा भल्लविशेषाः, यैर्गजस्तुद्यते । तथा तुद्यमानोऽपि भीतां गामुदलस्य तोदं मृषन्न व अम्बुमध्यान्निरगात् । अयुक्तेऽपि तथा निःसरणे दृष्टान्तः-ग्राहेणाऽऽहतः करेणु सहितो यथेभ इति ।

अत्र भगवतो युद्धलोला प्रतिपाद्यत इति विरोधिनीश्चयुद्धमम्भवात्, गदाप्रहार इव विरोधिवचनान्यपि युक्तान्येव । यदि वचनान्यन्यथा व्याख्यायन्ते, तदाऽन्यथा क्रियाऽपि व्याख्येया । सा चेन्नटवद्व्याख्याता, तुल्यं वचनेष्वपि । तथापि भक्तानां श्रवणकटुत्वाद्वचनान्यन्यथा व्याख्यायन्ते न तु स भागवतार्थः । वस्तुतो हिरण्याक्षो भक्त भारती च । तथा सति तानी वाक्यानि स्तुतिपराण्येवेति पुनर्व्याख्यायते-अहो इति स्वभाग्यमभिनन्दति । वने गोभिरनिषिद्धिश्चर्यते ज्ञायत इत्यधिकारिविशेषेण वेदान्तसमधिगम्यो यः, सोऽस्मानिदानी मृगयतीत्याश्चर्यम् । अत एव भगव तं प्रत्याह—हे भगवन्, एहि, यस्मदुद्धारार्थमागच्छ । पृथिवी गमनं न मन्यत इति चेतदाह-अज्ञमहीं विमुञ्चेति । अज्ञा चाऽसौ महि च, साह्यस्मःदुखं न जानाति । भक्तो हि परदुःखाभिज्ञ;, अतः सा त्यक्तव्या । नो रसौकसामथ । रस एव ओकः स्थानं येषाम् । वयं रसिका भक्ताः अतोऽस्मदुद्धार प्रथमवतः, कुर्वित्यर्थ । तर्हि पृथिव्याः का गतिरिति चेत्तत्राऽऽह -विश्वसृजेयमर्पितेति । इयं न स्वभावतस्तव स्थाने समागता किन्तु ब्रह्मणा अर्पिता । अर्पितत्वात् पुनः प्रत्यर्पण कर्तव्यम्, तदा ब्रह्मैव तदुद्धारं करिष्यतीत्यर्थः वयं त्वनन्यगतिकाः इयं तु सगतिकेत्यपि विशेषः किञ्च, यद्यस्मदुद्धारमकृत्वाऽनया सह गमिष्यसि, तदा परमदयालोस्तव सुख न भविष्यतीत्याह— न स्वरित यास्यमीति । अनुद्धृतस्य मम ईक्षत एव सतोऽनया सह सुखं न यास्यसीत्यर्थः । न हि भक्तमनुद्धृत्य सदयः कश्चिद्भुयेया सुखमश्नुते । देवास्त्वदुद्धारं न मन्यत इति चेत्तत्राऽऽह— सुराधमेति । सुरा अधमा यस्मात् । ते हि निकृष्टाः, किं तेषां समत्येत्यर्थ । ननु श्रान्तोऽहं भूम्युद्धारेण, रूपान्तरेणोद्धरिष्यामीति चेत्तत्राऽऽह -असादितसूकराकृत इति संबोधनम् । न साहिता अवसादं प्रापिता सूकराकृतिर्येन । इदानीमप्येतद्रूपं नाऽवसन्नम्, अतो भूम्युद्धारमकृत्वा मामुद्धरेत्यर्थः । ननु देवैर्भूम्युद्धारार्थं प्रार्थितोऽहम्, ते हि भूमौ मामाराध्य मुक्ता भविष्यन्ति; अतो बहुप्रकारमिद्धेर्भूमिरेवोद्धर्तव्येति चेत्तत्राऽऽह-त्वं नः सपत्नैरिति । नः सपत्नैः शत्रुभिः सनकादिभिः, तत्सहितैर्देवैर्वा, किमभवाय मोक्षाय भृतो धृतः, भूमौ भगद्भजनेन मोक्षो भविष्यनीति । तत्तु न भविष्यति, भक्तद्रोहात् । यतोऽस्माकं ते सपत्नाः शत्रवः, न हि भक्तद्रोहे मुक्तिर्भवति । नन्वहमपि भवतां शत्रुरेवेति चेन्नेत्याह—यो मायया हसीति त्वं तु असुरान् कापट्येन मारयसे,लोकव्यामोहनार्थम् । वस्तुतस्तेभ्यः सायुज्यं प्रयच्छसि, यतस्ते असुराः; असून् प्राणान्, रान्ति शब्दायन्ते-शब्दयुक्तान् कुवन्ति-प्राणघोष श्रृण्वन्ति । योगिन इत्यर्थः । प्राणं स्तुवन्तीति वा । न ह्यसत्योपासका

सक्ता मृता भवन्ति, 'मृत्युमत्यमुच्यत' इति श्रुतेः। किञ्च, परोक्षजिद्भवान् । पराणि अक्षाणि इन्द्रियाणि येषाम्, तानेव जयतिति परोक्षजित् । इन्द्रियारामानेव मारयसीत्यर्थः; असुरान् वा । परोक्षजित् । असुरान् लक्षीकृत्य परोक्षं यथा भवति तथा जयतीति । लोकानां स्थानेऽसुरा जिता इति वदति, वस्तुतस्तु तदधीनो भवति, यथा बलिस्थाने । तर्हि समागतेन त्वया किं कर्तव्यमित्यपेक्षायामाह–त्वामिति । त्वां संस्थाप्य सुहृच्छुचो मृजे । तर्हि समा तेन किम् ? योगेन, शास्त्रेण वा सम्यक् स्थापन क्रियतामित्याशङ्क्याऽऽह– योगमायाबलमिति । योगमायाया अपि बलं यस्मात् "ज्ञानिनामपि चेतांसि" इति वाक्यात् योगादिभ्योऽपि योगमायैव बलिष्ठ; तस्या अपि बलं त्वत्तः; स कथं योगेन वशिक्रियत इत्यर्थः । ननु पुरुषरूपं हृदये चिन्त्यताम् 'एवं पुरा धारणया' इति वाक्यानुसारेण। तत्राऽऽह– अल्पपौरुषमिति । पुरुषसंबन्धि रूपं पौरुषम् , अल्पं पौरुषं यस्मात् । ब्रह्माण्डकोटिविग्रहो भवान् । अत एव त्वामेव संस्थाप्य सकुटुम्बः कृतार्थो भविष्यामि । ननु ज्ञानाभावात् तत्र कथं मोक्षः ? तत्राऽऽह -हे मूढप्रेति । मूढत्वपि प्रकर्षो यस्य, अतस्त्वं मूढानपि कृतार्थान् करोषिति न भक्तिमार्गे ज्ञानापेक्षेत्यर्थः । किञ्च, न केवलमहमेव सकुटुम्बो मुक्तो भविष्यामि, किन्तु सर्वे एव भक्ता एवं कृते परमविश्वासेन कृतार्था भविष्यन्तीत्याह - त्वयि संस्थित इति अस्मद्भक्तोऽत्वयि संस्थिते सति, भुजच्युतया गदया शीर्णे शीर्णाणि च सति, ये च तुभ्यमुपयो देवाश्च बलिं हरन्ति, चकारात् भक्तेभ्योऽपि, ते सर्वे अमूला न भविष्यन्ति, सर्वं एव समूला भविष्यन्तीत्यर्थः । भगवांश्चं हृदये स्थिरो भवति, तदा गदा सुषुम्णानाडो, गतिं ददातीति; भुजानां क्रियाशक्तीनां च्युतिर्यया; तया ब्रह्मरन्ध्रभेदे सति, प्राणादीनां तेन मार्गेण गमने, स्वस्य च भगवति योगे सर्वं एव सायुज्यं प्राप्ताः समूला एत भविष्यन्तीत्यर्थः । एवमन्यपराणां शब्दानामन्यपरता योजनीया । तुद्यमाना व्यथायुक्ता ये दैत्याः तत्सहितो भगवान् भक्तैः कृत्वा जातः । अरयो दुरूक्तितोमरा येषामिति । तेषां परभेदकान्यसद्वक्यानि कदापि न सन्ति, ते हि भक्ता नारदादयः । तैः कृत्वा हिरण्याक्षादिसहितो भगवान् जात इति तत्संबन्धेन स्वविस्मरणं भवतीति भूमेर्भयम् । दंष्ट्रायाश्च यमत्वात्, तदन्ते स्थिता अपि । भगवद्दृष्टयभावे पुनः स यमो ग्रसिष्यतीति दैत्यभाव एव तेषां तोदात्मकः । तं भगवान् वस्तुतो न सहते । तेषां तद्भावदूरीकरणार्थं यदि दृष्टिर्व्यपेयेत(?), तदा भूमेभयं भविष्यतीति तेषां तोदं सहन्नेवाऽम्बुमध्यान्निर्गतः, जने ते यद्यपि संस्कर्तव्याः । ननु किमिति तथा कृतवानित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह–ग्राहेणाहतः तं गृहीत्वैव यथा करेणुसहितो महागजः । गजस्तु कालाधीन एवेति ग्राहास्तत्र बाधका भवन्ति ते चेदबाधकाः, तदा करेणुस्वहितो मोदत इति दैत्यत्वं भगवतो न बाधकमिति सुखक्रियासाधकत्वात् सेवकस्त्रीसहित एव निर्गत इत्यर्थः ।।६।।

व्याख्या—'अरि' शत्रु हिरण्याक्ष है जिसके दुर्वचन अंकुश थे जिन अंकुशो से हस्ती पीड़ित किया जाता है इसी तरह ये दुर्वचन भी अंकुश के समान पीड़ा करने वाले थे उनसे पीड़ित होते

हुए भी पृथ्वी को भयभीत पाकर जल के मध्य से यों बाहर निकल आये, निकलना उचित नहीं था तो भी निकल आये जिसके लिये दृष्टान्त देते हैं कि ग्राह से पीड़ित हस्ती जैसे हस्तिनी सहित निकल आते है यहां भगवान् ने जो युद्ध लीला की वह कही जाती है. लड़ाई का होना शत्रुओं में ही सम्भव है अतः गदा के प्रहारों की तरह दुर्वचन कहने भी उपयुक्त ही हैं, यदि दुर्वचनों को अन्य प्रकार से भावार्थ समझाया जावे तो लडाई भी प्रकारान्तर से समझाई जायेगी यदि वह (युद्ध) नट की तरह का है यों समझाई जावे तो वचनो का अर्थ भी वैसा करना होगा तो भी इस प्रकार का व्याख्यान सुनना कटु जचेगा अतः वचनों की व्याख्या अन्य प्रकार की जाती है ऐसा व्याख्यान वास्तव में भागवत का अर्थ न होगा, वास्तविक विचार किया जावे तो हिरण्याक्ष भक्त है और सरस्वती (वाणी) भी भक्त है अतः हिरण्याक्ष के कहे हुए वचन भगवत्स्तुति पर ही है इस प्रकार की व्याख्या की जाती है–

(२) श्लोक में कहे हुए 'अहो' पद से हिरण्याक्ष अपने भाग्य का अभिनन्दन (प्रशंसा) करता है, और (उसने 'वनगोचर' पद से वराह का वास्तविक स्वरूप वर्णन किया जो तत्व उपनिषदों से जाना जा सकता है अधिकारियों को जो वेदान्त से जानने में आता है वह परतत्व हम लोगों को अब यहां ढूंढ रहा है यह आश्चर्य है–

(३) श्लोक में कहते हैं हे भगवन् यहां पधारिये पधारकर हमारा उद्धार कीजिये यदि कहो कि भूमि को (पर मेरा इसलिए आना पसन्द नहीं तो इस पर कहता है कि 'अज्ञमही विमुञ्च' यह पृथ्वी मूर्ख है इस को बात ध्यान में न लाइये क्योंकि मूर्ख होने से मेरे दुःख को नहीं जानती है जो भक्त होता है वह दूसरे के दुःख को जानता है। इसलिये इसको छोड़ दोजिये यदि कहो कि किस वास्ते छोड़ूं ? इस पर कहता है कि नो रसौकसा मर्थे हम रसिक भक्तों के हित करने के लिए इस आज्ञाभूमि को त्याग दो पहले हम रसिक भक्तों का कल्याण कीजिये यदि आप का उद्धार करे तो पृथ्वी की कैसी गति (स्थिति बनेगी। इस पर कहता है कि विश्वसृजेयमर्पितेति' यह भूमि स्वभाव से आपके इस स्थान पर नहीं आई है किन्तु ब्रह्माने अर्पण की है. अतः ब्रह्मा को लौटा दीजिये वह (ब्रह्मा) उसका उद्धार स्वतः कर देगा हमारा तो आप के सिवाय कोई आश्रय नहीं है इसका तो आश्रय ब्रह्मा है ही इसलिए यह विशेष है इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये किञ्च, यदि हमारा उद्धार किये बिना इसके साथ जाओगे तो परम दयालु आप को सुख प्राप्ति नहीं होगी यों 'न स्वस्ति यास्योस'पद से कहा है, मेरा उद्धार कर यदि आप यों ही मेरे देखते हुए इस (पृथ्वी स्त्री) के साथ जीओगे तो सुख न पाओगे. दयालु होते हुए भी भक्त का उद्धार न कर कोई भी स्त्री से सुख नहीं पाता हैमैं तो तुम्हारा उद्धार कर दूं परन्तु देव उद्धार को मानेगे नहीं, इस पर कहता है कि 'सुराधम देव तो आप से अधम है वे नीच है उनकी सम्पति की कौनसी आवश्यकता है यदि कहो कि भूमि का उद्धार करने से मैं थक गया हूं अतः दूसरा रूप लेकर तेरा उद्धार, करूंगा जिसके उत्तर में

कहता हैं कि 'प्रमादित सूकराकृत' जो ग्राकृति दुःख नहीं देती है ऐसी यह सूकराकृति आपने धारण की है, उसका उद्धार करते हुए भी आप थक नहीं गये हो अतः भूमि के उद्धार को छोड़ के पहले मेरा उद्धारकरो। यदि कहो कि देवों ने भूमि के उद्धार के लिए मेरी प्रार्थना की है कारण कि वे भूमि पर रह मेरी आराधना कर मुक्त होंगे अतः बहुतों का उपकार होने से पहले भूमि का उद्धार करना चाहिए।

४ श्लोक में इसका उत्तर देता है कि 'त्वं नः सपत्नैः' हमारे शत्रु सनकादि एवं उनके सहित देवों को क्या भूमि पर भजन करने से मोक्ष होगा इसके लिये आपको धारण किया है (खरीद कर रखा है) वह (मोक्ष) तो उनको नहीं मिलेगा, कारण कि भक्त का द्रोह होने पर कैसे होगा ? वे तो हमारे शत्रु है यदि कहोकि मैं भी आपका शत्रु हूं इसका उत्तर देते है कि आप हमारे वास्तविक शत्रु नहीं है क्योंकि आप लोको को मोह उत्पन्न कर रहे हैं हम लोगों को मारना खाली दिखावा है वास्तव में हमारा उद्धार करते है अर्थात् सायुज्य मुक्ति देते हैं कारण कि वे 'असुर' है जिसका अर्थ है अभूत-शान्ति प्राणों की ध्वनि सुनते है अतः योगी हैं अथवा प्राणों की स्तुति करते हैं असत्य प्राणों की उपासना करने वाले मरते नहीं मृत्यु मत्यमुच्यत्' इस श्रुति के अनुसार मृत्यु को जीत लेते हैं किञ्च आप 'परोक्षजित्' अर्थात् जिनके इन्द्रियां है उनको ही जीतते है तात्पर्य यह है कि जो विषयी हैं उनको ही मारते हैं वा असुरों को केवल लक्ष्यकर जय प्राप्त करते है लोक यों समझते हैं वां कहते हैं कि असुरों को भगवान् ने जीता किन्तु वास्तव में भगवान् तो उनके आधीन होते हैं जैसे बलि के द्वारपाल बन गये, तब तूं यहा किसलिये आया है ? और यहां क्या करता है ? जिस के उत्तर में कहता है कि आपको यहां स्थापित कर मित्रों के शोक को मिटाऊंगा। तो आने से क्या लाभ योग द्वारा वा शास्त्रीयकर्म द्वारा अच्छे प्रकार से स्थापना करो इसका ऊत्तर देता है कि 'योगमायाबल' योगमाया को भी शक्ति जिससे मिलती है वह आप हैं 'ज्ञानिनामपि चेतांसि' वाक्य के अनुसार आगे और ज्ञान से भी योगमाया शक्तिशाली है उसमें जो शक्ति है वह भी आप से आई है अर्थात् आप ने उसको ऐसी शक्ति दी है, ऐसे आप को योगादि से कैसे वश किया जा सकता है यदि मुझे यों वश करने में तुम्हे शङ्का है तो पुरुष रूप का हृदय में चिन्तन करो द्वितीय स्कन्ध के २ अध्याय के श्लोक 'एवं पुरा धारणया' ऐसी आज्ञा है, इस पर कहता हैं 'अल्प पौरुषं' वह पुरुष अल्प पौरुष वाला है आप तो करोड़ ब्रह्माण्ड जिसकी देह है ऐसे पौरुष वाले हैं, इस कारण से आपको ही यहां स्थापित कर कुटुम्ब सहित कृतार्थ होऊंगा तुझे ज्ञान है ही नहीं, फिर मुक्त कैसे होगा ? इस पर कहता है 'मूढप्र' मुढो में भी आपका प्रकर्ष है, जिसका कारण है कि आप मूढों का भी उद्धार करने वाले है अतः भक्ति मार्ग में ज्ञान की आवश्यकता नहीं-श्लोक ५ में केवल मैं ही कुटुम्ब के साथ मुक्त हो जाउंगा यों नहीं है किन्तु यों करने से सकल भक्तों को विश्वास उत्पन्न होगा जिससे वे भी कृतार्थ होवेंगे इसलिये कहते हैं 'त्वयि संस्थिस्ते' यद्यपि हम लोगों के लिये आपकी यहाँ सुन्दर स्थिति होगी, भुजा से गिरी हुई गदा द्वारा मस्तक फूटने पर भी और जो ऋषि तथा देव आप को बलि देते हैं एवं 'च' पद से भक्त भी

ये सब निर्मल नहीं होंगे किन्तु सब ही मूल सहित बने रहेंगे जब भगवान् हृदय में स्थित होते हैं अर्थात् विराजते ः तब 'गदा' सुषुम्णा नाड़ी बन जाती है, क्योंकि मुक्ति के लिए जो गति दे वह गदा कही जाती है सुषुम्णा नाडा मुक्ति के लिये गति देती है। कैसे देती है? क्रिया शक्तियों को अशक्तकर ब्रह्मरन्ध्र को भेद कर प्राणादि का उस मार्ग से जाने पर भगवान् से मिलाप होता है जिससे सब सायुज्य को प्राप्त होके समूल ही बने रहेंगे। यों तात्पर्य है। इस तरह अन्य शब्दों की भी इसी प्रकार योजना करनी चाहिये श्लोक ६ में भक्तों के कारण भगवान् दुःखी दैत्यों के साथी बन गये हैं दुष्ट उक्तियां ही जिनके शत्रु आदि हैं, अर्थात् उनके वचन कभी भी दूसरों को दुःखदायी नहीं होते हैं, उनके लिये ही भगवान् हिरण्याक्ष के साथी बन गये हैं, अतः भूमि को भय लगा है कि भगवान् मुझे भूल जायेंगे जिस दाढ़ पर स्थित हूं वह यमरूप हैं मैं उसकी नोक पर स्थित हूं, भगवान् की दृष्टि के कारण यम ग्रसता नहीं यदि भगवान् की दृष्टि न पड़ेगी तो यम मुझे ग्रस जायेगा यह दैत्य भाव ही पीड़ा कारक था, इसको भगवान् वास्तव में सहन नहीं करते हैं, उनके इस प्रकार का भाव मिटाने के लिए यदि भगवान् अपनी दृष्टि उन पर फैलावे तो पृथ्वी को भय होगा, इसलिये उनकी पीड़ा को सहन करते हुए ही जल से बाहर निकल आये, बाहर क्यों निकले? जल में ही उनको संस्कृत (शुद्ध) करना चाहिये था, इस शंका को दृष्टान्त द्वारा मिटाते है 'ग्राहेणाहतः' जैसे हस्तिनी के साथ महान् गजः गज से पीड़ित होने से बाहर निकल आता है वैसे यह भी बाहर निकल आये। गज, (हस्ती) तो काल के अधीन है इसलिये ग्राह उसका बाधक हो सकता है यदि वे बाधक न होते तो वहां ही हस्तिनी सहित प्रसन्न रह आनन्द करता रहता था भगवान् को तो दैत्य बाधक नहीं था किन्तु सुख से क्रिया सिद्ध हो इसलिये सेवक स्त्री सहित बाहर पधारे हैं॥६॥

आभास—एवमुभयसहितस्य भगवतश्चरित्रमुभयेषां हितरूपमाह द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—इस तरह दोनों के साथ रहे हुए भगवान् का चरित्र भी दोनों का हितकारी हुआ यों निम्न श्लोक में कहते हैं-

श्लोक—तं निःसरन्तं सलिलादनुद्रुतो हिरण्यकेशो द्विरदं यथा झषः।
करालदंष्ट्रोऽशनिनिःस्वनोऽब्रवीद्गताह्रियां किं त्वसतां विगर्हितम्॥७॥

श्लोकार्थ—जल से जब बाहर आने लगे तब ग्राह जैसे हस्ती के पीछे पड़ता है वैसे पीलेकेश तथा तीखी दाढ़ों वाला वह हिरण्याक्ष उनके पीछे पड़ा और वज्र सम कर्कश वचनों से कहने लगा कि, तुझे भाग जाने में लज्जा नहीं आती है यह सत्य हैं कि कौनसा काम है जिसके करने में असत् पुरुष पीछे रहता है॥७॥

सुबोधिनी तं निःसरन्तमिति । प्रथमं हिरण्याक्षस्य कृतार्थतामाह—तं भगवन्तं **सलिलान्निःसरन्तमनुद्रुतः** । यदैव भगवान् सलिलान्निर्गतः तदैव भगवत्सायुज्यार्थम्, सैन्धवखिल्यवत्, अनु पश्चात् द्रुतः, कठिनभावं त्यक्तवान् । दैत्यत्वं गतमित्यर्थः । यथाऽग्निसन्निधाने घृतं विलीनं भवति तथेति द्रुतपदं ज्ञापयति । प्रातीतिकार्थे तु सङ्गे धावन्नागत इत्यर्थः । ततः किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह—**हिरण्यकेश इति** । सूर्यमण्डलस्थिता मूर्तिर्भगवतो हिरण्यकेशरूपा भवति, अतस्तादृशं रूपं गृहितवानित्यर्थः । ननु भगवत्सन्निधिमात्रेण कथमस्य दिव्यरूपप्राप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—**द्विरदं गजेन्द्रमनु यथा क्षषो** हूहूगंन्धर्वो दिव्यरूपं प्राप्तवान् तथेत्यर्थः । प्रासङ्गिकं फलमेतज्जातमित्युक्तम, उत्तमं फलं वक्ष्यति सायुज्जात्मकम् । ननु तस्य मृत्युः किं जात इत्याशङ्क्याऽऽह—**करालदंष्ट्र इति** । करालेषु दंष्ट्रा यस्येति । करो भगवदीयोऽलं येषां भगवद्भक्ताः । तेष्वेव दंष्ट्रारूपो यमो गत इत्यर्थः । अथवा, करालेषु सुदर्शनादिष्वेवाऽस्यापि मृत्युः स्थितः। ननु बाधका ग्रहाः किं जातास्तत्राऽऽह-**अशनिनिःस्वन इति** । शनिरहितानामदुष्टानां ग्रहाणां नितरां स्वनो यत्र । सर्व एव शुभग्रहा एकीभूता इति ग्रहदोषो निवृत इत्यर्थः । अत एव भगवन्त प्रत्याहगतह्रियामिति । ह्रिशब्देन देहाद्यभिमानरूपाः सर्व एव धर्मा उक्ताः । तुशब्देन तेषां पूर्वधर्मराहित्यमुक्तम् । एवं मुक्तजीवानां निर्गुण्ये विचरतां किं विगर्हितमिति प्रश्नार्थः तत्रापि अः कृष्णः, तस्य सतां परमभक्तानाम् । यद्यपि विस्त्रैगुण्याः, तथापि भक्तविरोधिनः पदार्थाः कर्तव्या न वेति सन्देहात् प्रश्नः: प्रतियमानपक्षे तु शीघ्रं भगवन्तमनुद्रुतः । तस्य तथा सामर्थ्यसूचकम्-**हिरण्यकेश इति** । तस्य गतिप्रतिबन्धकोऽपि जात इति दृष्टान्तः । ननु युद्धार्थिनो युद्धादाने कथं क्रोधस्तत्राऽऽह **कराला दंष्ट्रा यस्येति** । स्वभावतः क्रोधयुक्त इत्यर्थः । अनेन मारयितुमेव प्रवृत्त इत्युक्तं भवति । तथापि स्वस्य वीर्यगर्वात् मारणमकुर्वैव, मम वचनमेव वज्रतुल्यमिति दुष्टेनैव वचनेन तथोक्तवानित्याह **अशनि निःस्वनोऽब्रवीदिति** । **'आहूतो न निवर्तेत' इति** शास्त्रात् युद्धार्थमाकारितस्य पलायनं शूराणां लज्जाजनकमपि भवति । अतो मुख्यधर्मलज्जापरित्यागे केवलं प्राणरक्षकाणां किं विगर्हितमित्युपहासः । असत्पदेन धर्मराहित्यमप्युक्तम् । अनेन स्वनिवृत्त्यर्थं युद्धायोग्यता निरूपिता । अत एव भगवान् स निवर्तिष्यतीति तदाक्षेपकारिणि वचनान्युक्तवान्, यथा न निवर्तेत ॥७॥

व्याख्या—पहले हिरण्याक्ष का कृतार्थपना बताते हैं जल से निकलते हुये भगवान् के पीछे इसलिये दौड़ने लगा कि भगवान् से मेरा सामुज्य ऐसे हो जैसे नमक के कण का जल में होता है । 'अनुद्रुत' पीछे दोड़ा इस का भाव है कि अपना कठिन भाव अर्थात् दैत्य भाव त्यागा, जैसे अग्नि के पास घृत पिगल जाता है वैसे इसने भी अपने पहले कठिन रूप को त्याग दिया है, जिसकी प्रत्यक्ष प्रतीति हो रही थी तदनुसार भगवान् के साथ दौड़ता हुवा आ रहा था । यों साथ में दौड़ते हुवे आने से क्या हुआ ? जिस पर कहते हैं 'हिरण्यकेशः' सूर्य मण्डल में स्थित भगवत्स्वरूप हिरण्यकेश

वाला होता है, इसका भी वैसा ही रूप हो गया अर्थात् 'हिरण्यकेश' हो गया भगवान् के साथ केवल सन्निधि से ऐसा दिव्य रूप कैसे हो गया ? जिसके उत्तर में कहते है कि जैसे हूं हूं गन्धर्वः गजेन्द्र के पीछे जाते हुए दिव्य रूप को प्राप्त हो गया। यह तो प्रासङ्गिक फल मिला यों कहा, उत्तम फल सायुज्य की प्राप्ति आगे कहेंगे ।

उसकी मृत्यु किस प्रकार हुई 'करालदंष्ट्र' करः, अलं येषां भगवान् का भी हस्त जिनके रक्षार्थ समर्थ है उन करो से ही दंष्ट्ररूप हो गया, अथवा सुदर्शनादि कठिन शस्त्रों में ही इसकी भी मृत्यु स्थित है बाधक ग्रह कहां गये ? इस पर कहते है कि 'प्रशमिनि' स्वतः इति बिना शक्ति के शेष शुभ ग्रहों से हो जहाँ ध्वनि आ रही है, अर्थात् सब शुभ ग्रह ही इक्कट्ठे हो पड़े हैं कोई अशुभ ग्रह नही हैं, इस प्रकार ग्रहों का दोष भी निवृत्त हो गया है। अत एव भगवान् को कहते हैं कि 'गर्तह्लियां ही पद से देह आदि अभिमान रूप सर्व ही धर्म कहे है, 'तु' पद से उनके पहले के धर्म नहीं रहे हैं यों सूचित किया है। इसो तरह निर्गुण में विचरण करने वाले मुक्त जीवों को निन्दा योग्य क्या हैं ? कुछ नहीं। उसमें असतां' अ:कृष्ण तस्य सतां परम भक्तानां अर्थात् कृष्ण भक्तों का अर्थ है, यद्यपि वे निर्गुण है तो भी भक्त विरोधी पदार्थ (कार्य) करने चाहिये वा नहीं ऐसे संशय पर यह प्रश्न किया हैं ? प्रतीयमान प्रत्यक्ष वा प्रसिद्ध अर्थ के अनुसार शीघ्र हो भगवान् के पीछे दौड़ा 'हिरण्य केश' हो जाने से उसमें यह सामर्थ्य है यह सूचित किया है, जो उसकी गति का प्रतिबन्धक भी हुआ, यों जताने के लिये दृष्टान्त कहा हैं जो युद्ध चाहता है उसको युद्ध न मिलने पर क्रोध कैसे वा क्यों ? इस पर कहते है 'कराल दंष्ट्रः कराल दाढ़वाला स्वभाव से क्रोधी होता है, इससे यों कहा है कि मारने के लिए ही प्रवृत हुआ है। तो भी अपनी सूरवीरता के गर्वसे न मार कर, मेरा वचन ही वज्र के समान है इसलिए दुष्ट वचन से उसी तरह कहने लगा 'अशनि निःस्वनोऽब्र-वीत्' अशनि के आवाज वाले ने यों कहा है 'आहुता न निवर्तेत' इस शास्त्र वचनानुसार युद्ध के लिये बुलाये जाने पर भाग जाना शूरवीरों को लज्जाजनक है। अतः जो अपना मुख्य धर्म (लज्जा) के त्याग कर केवल प्राणों की ही रक्षा करना चाहते हैं क्या निन्दा करने योग्य है यों कहकर उप-हास किया है (मजाक उड़ाई है) असत् पद से धर्म रहित होना भी कहा ? इससे अपनी निवृत्यर्थ भगवान् में युद्ध की अयोग्यता सिद्ध की हैं, किंतु भगवान् ने समझा कि युद्ध करने से रुक जायेगा किन्तु न रुके युद्ध करे इसलिये भगवान् श्लोक १२ में अपमान कारक वचन कहेंगे ॥७॥

आभास—एवमुक्तो भगवान् शीघ्रं भूमिस्थापनकार्यं कृतवानित्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार कहे हुए भगवान् ने शीघ्र पृथ्वी के स्थान का कार्य किया है जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक करते हैं—

श्लोक—स गामुदस्तात्सलिलस्य गोचरे विन्यस्य तस्यामदधात्स्वसत्त्वम् ।
अभिष्टुतो विश्वसृजा प्रसूनैरापूर्यमाणो विबुधैः पश्यतोऽरेः ॥८॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने पृथ्वी को जलके ऊपर धर, उसको स्थिर रहने के लिए अपनी आधार शक्ति दे गोचर स्थान में धरा शत्रु के (हिरण्याक्ष के) देखते हुए ब्रह्मा ने स्तुति की तथा देवों ने फूलों को वर्षा की ॥८॥

सुबोधिनी— स गामुदस्तादिति । स भगवान्, सलिलस्य उदस्तादुपरि । गोचरे निर्भयदेशे; तत्रैव हि गावश्चरन्तीति । वैकुण्ठे वा स्थित्वा यत्पश्यति तत्स्थान गोचरमित्युच्यते । ज्योतिर्मण्डलमध्ये वा, अत एव तत्राऽतिप्रकाशः। तादृशे स्थाने गां विन्यस्य, तत्स्थानरक्षकदेवेषु न्यासमिव स्थापयित्वा, तस्यां देवानां भगवदीयमिति ज्ञापनार्थं स्वसत्त्वमदधात् । अत एवाऽस्यां पृथिव्यां सर्वत्र भगवन्मूर्तयः, भगवद्गुणाः, भक्ताश्च तिष्ठन्ति । स्वसत्त्वं नाम शुद्धं सत्त्वगुणम्, तदेव हि धारकं सामर्थ्यं रूपं च । एवं कृते देवानां संतोषो जात इति तैःस्तोत्रं पुष्पवृष्टिश्च कृतेत्याह-अभिष्टुत इति । विश्वसृजा अभिष्टुतः, विबुधैः प्रसूनवर्षैश्चाऽभिवर्षितः, उभयमुभयेषां वा पूर्वं हिरण्याक्षस्य युद्धाकरणे अवज्ञा जाता, तां निराकर्तुमाह—पश्यतोऽरेरिति । उत्कर्षो ह्यरिदृष्टः परममुत्कर्षं संपादयतीति च । स्तुतिपक्षे किमिति देवैरमितः स्तुतः, पुष्पवृष्टिश्च कृतेत्याकाङ्क्षायामाह—अरे पश्यत इति नैतत्स्तोत्रादिकं काम्यम्, नित्याच्चाऽतिरिक्तम्; अतो नैमित्तिकमिति ज्ञापयितुं निमित्तद्वयं निर्दिशति । भूमौ समागतायां सर्वत्र यागादिधर्मा भविष्यन्ति, ते सर्वे द्रष्टव्याः, तथाऽनुग्रहार्थं स्तोत्रकरणम् । पश्यतो हेतोः, । स्वस्यैव रूपं पश्यद्भविष्यतीति स्तुत्या प्रसन्नस्तथा करिष्यति । प्रसूनवृष्टिश्चाऽरेर्हेतोः, देवानां शत्रुभयं महत्, तद्व्यावृत्त्यर्थं च । अस्मत्समृद्धिर्भवन्निमित्तमिति ज्ञापयतुं तथा करणम् ॥ ८ ॥

व्याख्या - भगवान् ने पृथ्वी को निर्भय प्रदेश में जहां गाऐं चरती है वहां जल के ऊपर धर दिया अथवा गोचर स्थान वह है जिसको भगवान् वैकुण्ठ में बैठे हुए देख सकते है, अथवा ज्योति मण्डल (तारा मण्डल) के मध्य में धर दी, इसलिये वहां विशेष प्रकाश होता है ऐसे स्थान पर पृथ्वी को धर कर यों जताया है कि स्थान रक्षक देवों में स्थापना की तरह स्थापित कर उस पृथ्वी में अपनी धारण शक्ति रूपबल स्थापित किया जिससे वह स्थिर रहे, देवों में जो सत्व (बल) है वह भी भगवान् का है इसी कारण से पृथ्वी पर प्रायः सर्वत्र भगवत्स्वरूप विराजते हैं जिससे भगवत् गुणगान भी होता है तथा भगवद्भक्त भी रहते हैं. अपना बल का तात्पर्य हैं शुद्ध सतोगुण वह गुण ही धारण करने वाला तथा सामर्थ्य रूप हैं। यों करने पर देवो को संतोष हुआ, इसलिये उन्होने स्तोत्र और पुष्प वृष्टि की यों कहते हैं ब्रह्मा ने स्तुति की देवों ने पुष्प बरसाये, अथवा दोनों ने (ब्रह्मा तथा देवों ने) स्तुति भी की एवं पुष्पों को वर्षा भी की हिरण्याक्ष से युद्ध न कर उसका

तिरस्कार किया जिसके निराकरण के लिये कहते हैं, 'पश्यतोऽरेरिति' यदि शत्रु के देखते हुए उत्कर्ष (बड़ाई—प्रशंसा—इज्जत) मिले तो वह उत्कर्ष परम उत्कर्ष का सम्पादन करता है, क्या देवों ने चारों तरफ स्तुति एवं पुष्प वृष्टि की ? जिसके उत्तर में ही कहा कि शत्रु के देखते हुए, शत्रु के सामने यों होना सर्वत्र होने के समान है । यह स्तुति व पुष्प वर्षा, सकाम (फल की इच्छा से) नहीं है और नित्य कर्म भी नहीं हैं अतः यह किसी निमित्त से हुआ है, के दो निमित्त हैं कौन से दो हैं ? वे बताते हैं (१) पृथ्वी की यहां स्थिति होने से सर्वत्र यज्ञ आदि कर्म होगें । वे सब देखे जाऐंगे, ऐसी कृपा भगवान् ने की हैं इसलिये स्तुति (स्तोत्र की है । भगवान् यज्ञ आदि अपने स्वरूप देवों को देखेगे अतः इस स्तुति से प्रसन्न हो वैसे करेंगे । शत्रु के लिए पुष्प वृष्टि की गई हैं क्योंकि देवों को शत्रु का भय ज्यादा हैं और उसको मिटाने के लिए पुष्पों को वृष्टि कर यह सूचित किया है कि हम देवों की समृद्धि आपके लिए ही है यों जताने के लिए इस प्रकार की क्रिया की है ।।८।।

आभास—भगवानेवं भूमिं कृतार्थां कृत्वा भक्तहिरयाण्क्षप्रश्ने उत्तरं दातुमुपक्रमं कृतवानित्याह—

आभासार्थ भगवान इस प्रकार भूमि को कृतार्थ कर भक्त हिरण्याक्ष के प्रश्न का उत्तर देने का इस श्लोक से प्रारम्भ करतेहै —

श्लोक—परानुषक्तं तपनीयोपकल्पं महागदं काञ्चनचित्रदंशम् ।
मर्माण्यभीक्ष्णं प्रतुदन्तं दुरुक्तैः प्रचण्डमन्युः प्रहसंस्तं बभाषे ।।९।।

श्लोकार्थ—परब्रह्म में आसक्त, तपयोग्य साधन उत्तम वाले औषधवाले अलौकिक विचित्र देशवाले, मर्मस्थलों को पीड़ा करने वाले उसको, दुष्ट वचनों के कारण कुपित भगवान् विशेष हंसते हुए कहने लगे ।।९।।

सुबोधिनी--ननु भगवान् किमर्थमुत्तरं प्रयच्छतीत्याशङ्क्याह--**परानुषक्तमिति** । परस्मिन्ब्रह्मण्यनुषक्तम् । यो ही सन्मार्गं गन्तुमिच्छति, स उपदेष्टव्य इत्यर्थः । ननु तथापि भगवदुक्तं न ग्रहीष्यतीत्याशङ्क्यां वारयति—**तपनीयोपकल्पमिति**। अत्यन्त तापयोग्य उपकल्पो यस्य । तस्य देहेन्द्रियसामग्रीसर्वाऽपि परमतपसा सिद्धा, अप्रतपा एतन्नाऽश्नुते । किञ्च **महागदमिति** । महानगदोऽस्य । सर्वरोगनिवर्तिका महती भक्तिस्तस्य वर्तत इति स एव तस्य महानगदः । तथापि कालादिजनितबुद्धिदोषसम्भवात् कथमेकान्ततो वाक्यग्रहणमित्याशङ्क्याऽऽह **काञ्चनचित्रदंशमिति** । काञ्चनाऽलौकिकीं भक्तिं प्रति चित्रो दशो यस्य । भगवता हि तथा चिन्हं कृयमस्ति, येन परमा भक्तिरुत्पत्स्यते । मुनीनां शापलक्षणो दंशो विचित्रो भवति; देहस्थितमसमचीनं दूरीकरोति, स्वतन्त्रभक्तिं च स्थापयति । लोके हि सर्पादिना दष्टो विपरीतो भवति । अत एव मर्माणि स्वस्य

पार्षच्छिद्राण्यभीक्ष्य प्रकर्षेण तुदन्तम्; परममिन्द्रियनिग्रहं कुर्वन्तम् । अत. सर्वसाधनयुक्तत्वादयमुपदेष्टव्यः । ननु **ईश्वराज्ज्ञानमन्विच्छेद** इति वचनात् महादेव एव तमुपदेक्ष्यति किं स्वोपदेशेनेत्याशङ्क्याह-**दुरुक्तैः प्रचण्डमन्युरिति** । यद्यपि महादेवो गुरुर्भवति तथापि दुरुक्तैः प्रचण्डो भवति अवाच्यानि बहूनि सन्तीति । प्रकृष्टा वा चण्डिका यस्य । तत्र गते सा व्यामोहयेत्, लोकाश्चाऽन्यथा वदेयुः । प्रचण्डो मन्युर्यस्येति । **मन्युः** शिवः । सर्वथा गुणातीतस्य भक्तिरसास्वादनं न भविष्यतीति प्रकर्षेण हनन् । व्यामोहनमपि फलपर्यवसायीति प्रकर्षः । तं पूर्वप्रश्नकारिणं **बभाषे** । उत्तरदानेन सन्देहं दूरीकृतवानित्यर्थः ।

कथापक्षे तु भगवान् भूमिं स्थापयित्वा तद्वधं करिष्यन् वचनैः क्रुद्धं करोतित्याह-**परानुषक्तमिति** परा पृष्ठतोऽनुषक्तम्, यदि देवानां पुरस्कारं दृष्ट्वा गच्छेद्गच्छेदेव, न गच्छतीति मार्गणीयः । ननु सर्वात्मा भगवान् कथं नोपेक्षते ? तत्राऽऽह- **तपनीयोपकल्पमिति** । तपनीय सुवर्णमयमुपकल्पमद्गदादिकं यस्य । अनेन तस्य चाऽहंकारो निरूपितः । तस्य वा उपकल्पं प्राप्तदैत्यादिसामग्री सम्यक् तपनीया, अतो मार्गणीय इत्यर्थः । युद्धयोगोऽपि भवतीत्याह—**महागदमिति** । महती गदा यस्य । काञ्चन सुवर्णमय चित्रं दंशं यस्य । स्वरक्षायां कवचम्, परमारणार्थं गदा । परमोत्सहनार्थं चाऽभीक्ष्णं मर्माणि प्रकर्षेण तुदन्तम् । भक्तानुरोधेन यद्भगवानलौकिकं करोति, तन्मर्मेत्युच्यते । लौकिकभक्तवाक्यव्यावृत्त्यर्थम्-**दुरुक्तैरिति** । एक एवाऽर्थः सुशब्दैरनिष्टशब्दैश्चोच्यत इष्टद्विष्टभेदेन; यथा जेता, यथा घातुक इति । अतो निर्दुष्टपूर्णगुणा अपि भगवतो दुरुक्तैरुच्यमाना मर्मरूपतामापन्नाः, अत एव तत्स्पर्शे तुदन्ति भगवदपकर्षं श्रुत्वा अन्तः स्थितो महादेवस्तद्वधार्थं प्रचण्डो जात इति **प्रचण्डमन्युरित्युक्तम्** । प्रहसितं युद्धसमारम्भोत्साहसूचकम् । **तामिति** पूर्वोक्तदुष्टवाक्यम् । तमालक्ष्य बभाषे ॥६॥

व्याख्या -यदि कोई शङ्का करे कि भगवान् उसको उत्तर क्यों देता है ? इस पर कहते है कि (वह परानुषक्त' परब्रह्म में आसक्त हैं । इससे समझा जाता है कि यह सत्पुरूषों के मार्ग पर चलना चाहता हैं जो ऐसा हो वह उपदेश (उत्तर) देने योग्य है । ब्रह्म आसक्त होते हुए भी शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि (वह) मानेगा, क्योंकि, उसकी देह इन्द्रिय आदि सकल पदार्थ परम तप से सिद्ध (शुद्ध) हो गये हैं, जिसने तप नही किया हैं वह उपदेश का फल भोग नहीं सकता है फिर यह महान् औषध वाला है महान् औषध वह औषध सर्व रोगों को मिटाने वाली है, इस कारण उसके सर्व प्रकार के रोग (दोष) मिट गये हैं, यों होते हुए भी कालादि से उत्पन्न दोषों के कारण भगवान् के वचन संपूर्ण रीति से कैसे मानेगा ? इस शङ्का को दूर करने के लिये लिये कहते हैं कि काञ्चन चित्र दंशम्' अलौकिक भक्ति पर विचित्र दंश वाला हैं जिससे देह में जो दोष हैं वे उसके मिट गये हैं इसलिए भगवान् ने इसको ऐसा चिन्ह किया है जिससे उत्तम भक्ति उत्पन्न होगी, मुनियों का श्राप भी विचित्र चिन्ह है जो देह के दोषों को दूर कर स्वतन्त्र भक्ति स्थापित करता है, लोक में सर्व दंशित (साँप से डसा हुआ) पुरुष दुःखी होता हैं, इसलिए अपने

मर्म स्थलो को अर्थात् अपने पाप के छिद्रों को बार २ पीड़ा देना था सारांश यह कि इन्द्रिय निग्रह करता था। अतः सकल साधन वाला होने से यह उपदेश देने योग्य, 'ईश्वरा जजज्ञा मिच्छेत्' ईश्वर (महादेव) से ज्ञान प्राप्ति की इच्छा करे इस वाक्यानुमार महादेव उसको उपदेश देंगे अपने उपदेश देने से क्या लाभ ? इस शंका पर कहते हैं, महादेव गुरु है तो भी दुष्ट वचनों के कारण वे क्रोध में आ जाते है क्योंकि इसे जो नही कहने चाहिए ऐसे दुर्वचन कहे हैं, महादेव की चंडका शक्ति बलवान है, वहां जाने पर वह (चण्डिका) मोह उत्पन्न करा देवे और उनके विपरीत कहने लगे कि यह देव है, प्रचण्ड 'मन्यु:' महादेव सर्वथा गुणातीत करें भक्तिरस का आस्वादन प्राप्त न होगा, इसलिए अच्छे प्रकार से हँसते हुए उस पहले प्रश्नकर्ता (हिरण्याक्ष) का उत्तर देके सन्देह दूर किया। कथा पक्ष में इस प्रकार अर्थ समझना चाहिये।

भगवान् भूमिको स्थापन कर उसका वध करने के लिए वचनों से उसको कुपित करते हैं। देवी ने भगवान् का इतना बड़ा सत्कार किया इसको लौट जाना चाहिये था किन्तु नहीं गया इतना ही नहीं परन्तु पीछे पीछे लगा हुआ तेजी से आ रहा है। अतः मारने योग्य हैं।

जब भगवान् सबकी आत्मा है तो इसके कृत्य उपेक्षा क्यों नहीं करते हैं ? इस पर कहते हैं कि इसमें अभी अहंकार है जिससे सोने के बाजुबन्द धारण कर वह अपना उत्कर्ष दिखा रहा है, अथवा इसके पास जो दैत्यादि सामग्री है उसको अच्छे प्रकार से तपाना चाहिये, अतः मारना चाहिए इसके सिवाय यह युद्ध के लिए तैयार है क्योंकि बड़ी गदा हाथ में ले ली है अपनी रक्षा के लिए सोने का बना हुआ विचित्र कवच धारण किया है, दूसरों को मारने के लिए इसमें बड़ी गदा धारण की हैं; शत्रु को लड़ने के लिए प्रोत्साहित यह प्रतिक्षण मर्मों को विशेष पीड़ित कर रहा है। भक्तों के प्रसन्नार्थ भगवान् जो कुछ अलौकिक करते हैं उसको "मर्म' कहा जाता हैं लौकिक भक्तों के ये वचन नहीं, यों जताने के लिए 'दुरुक्तै:' पद दिया है, मित्र और शत्रु के भेद के कारण उन वचनों का एक ही अर्थ कहा जाता है, जैसा जीतने वाला वैसा मारने वाला अत भगवान् निर्दोष पूर्ण गुण भी दुष्ट वचनों से कहने पर मर्म को स्पर्श करने पर दुःख दाता होते हैं, उन दुर्वचनों द्वारा भगवान् की निन्दा सुनकर भगवान् के भीतर स्थित महादेव उसको मारने के लिए प्रचण्ड हो गये, इसलिए 'प्रचन्डमन्यु कहा है. भगवान् जोर-जोर से हंसे हंसना युद्ध प्रारम्भ करने के लिये उत्साह पैदा करने वाला है ? 'तं' पद से यह सूचित किया है कि जिसने दुवर्चन कहे हैं उसको लक्ष्य कर भगवान् ने उत्तर दिया ॥६॥

आभास—शत्रुभावं पुरस्कृत्य यथा तेनाऽवध्यान्युक्तानि, तथा भगवानप्याह त्रिभिः

आभासार्थ—शत्रुपन को सामने रख कर जैसे उसने अनुचित वचन कहे वैसे भगवान भी निम्न तीन श्लोकों से कहते हैं-

श्री भगवानुवाच । श्लोक—सत्यं वयं भो वनगोचरा मृगा युष्मद्विधान्मृगये ग्रामसिंहान् ।
न मृत्युपाशैः प्रतिमुक्तस्य वीरा विकत्थनं तव गृह्णन्त्यभद्र ! ॥१०॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् कहने लगे कि, तुम्हारा कहना सत्य है कि हम वन में रहने वाले पशु हैं अतः तुझ जैसे ग्राम सिंहों अर्थात् कुत्तों को ढूंढते रहते हैं । हे नीच वीर पुरुष, तेरे समान मृत्यु पाश में बंधे हुए जीव की गर्वपूर्ण वचनों पर ध्यान ही नहीं देते हैं ॥१०॥

सुबोधिनी—सत्यमिति भो इति सामान्यतः संबोधनम्, भगवद्विरोधिनो नाम न ग्राह्यमिति ज्ञापनार्थम् । वयं वन एव गोचरा दृश्याः, न तु गृहे । सत्यमेवैतत् । वने जले वा तव गोचरा जाता इत्यपि सत्यम् । मृग इति यदुक्तम्, तदपि सत्यमेव । मृगयन्तीति मृगाः । अस्मासु सर्व एव यौगिकोऽर्थः सिध्यति, यतो वयं सर्वकर्तारः सर्वशब्दवाच्याश्च । प्रकृते यदुक्तं मृगा वध्या इति, तत्राऽप्यस्माकं योगोऽस्तीत्याह—मृगा इति । मृगयन्तीति मृगाः । पारधावपि ये हन्यन्ते, ते ग्रामसिंहान् मृगयन्तीति । श्वानो हि तन्मारकाः, न हि तद्व्यतिरेके पारधिर्भवति, 'श्वा मृगग्रहणे शुचिः' इति वाक्यसिद्धत्वात् । परमत्र कश्चन विशेषोऽस्तीति सिद्धमर्थमनुवदति—युष्मद्विधानिति यादृशा वयं मृगाः, तादृशा एव ग्रामसिंहा भवन्तीति । यदि मृगत्वेन स्तूयते, तदाऽस्माभिरपि सिंहत्वेन स्तूयत इति तथा वचनम् । अथ यदि निन्दार्थमुच्यते, तद्बाधितार्थत्वात् विपरीतार्थत्वाऽच्चाप्रमाणमिति न गृह्णीम इत्याह—न मृत्युपाशैरपि । देवदैत्ययोः साधारणविरोधप्रतिपादनार्थं बहुवचनम् । उत्तरार्द्धे तु निन्दनं तेनैव कृतमित्येकवचनम् । सर्वे च निन्दता इति देवपक्षे तु बहुवचनमेवा । यदि कोऽपि त्वद्वचनमङ्गीकुर्यात्, तदाऽस्माभिरप्यङ्गीक्रियते । अनङ्गीकारे हेतुः—मृत्युपाशैः प्रतिमुक्तस्येति । यथा सन्निपाती वल्गति तदा मृत्युपाशैः प्रतिमुक्तो बद्धः । एकेनाऽपि पाशेन बद्धो न मुच्यते, किं पुनर्बहुभिः । तस्य तस्मिन् दिवसे कालकर्मस्वभावा भगवांश्च, सर्व एव मारकत्वेनोपस्थिता इति पाशबाहुल्यम् । प्रतिकूलतया मुक्तः प्रतिमुक्त इति । किञ्च, वीरा हि वाक्यं न गृह्णन्ति, किन्तु कृतिमेव । तत्राऽपि विकत्थनं न गृह्णन्ति । युद्धभूमौ सिद्धं जयादिकमन्यत्र कीर्त्यते तत्रैव विकत्थनं कृतिविरुद्धं को वा गृह्णीयात् ? तत्रापि तव, एकाकिनोऽसहायस्य । माहात्म्यं च चोरवदुपद्रवकर्तृत्वादित्याह-हे अभद्रेति ! अभद्रं पापम् । पापकर्ताप्रसिद्धोऽपि अपकीर्तिहेतुरेव ॥१०॥

व्याख्या—भो ! यह सामान्य रूप से संबोधन है, ऐसा तुच्छ संबोधन इसीलिये दिया है कि भगवान् के शत्रु का नाम नहीं लेना चाहिये, हम वन में ही देखने में आते है न कि गृहों में यों तुम्हारा कहना सत्य है, इसलिये वन और जल में तुझे दीख रहा हुँ यह भी सत्य है 'मृग' शब्द जो कहा वह भी सत्य है 'मृगयन्ति इति मृगाः जो ढूंढते फिरते हैं उनको मृग कहा जाता है, हममें

सब प्रकार के यौगिक अर्थ सिद्ध होते है क्योंकि हम सर्व कर्ता होने से सर्व शब्दों के वाक्य है, चालू प्रसंग में जो कहा मृग मारने योग्य है, उसमें भी हमारी संमति है, 'मृग' शब्द का भावार्थ है ढूंढते रहना, जिसको शिकार में भी मारा जाता है, वे ग्राम सिंहो (कुत्तों) को ढूंढते फिरते है कारण कि वे ही उनको मारने वाले है, उनके सिवाय मृगया (शिकार) नहीं हो सकता है । 'श्वा मृग ग्रहणे शुचि' शिकार करने के समय मृग को पकड़ने में कुत्तों को ले जाने में आपत्ति है नहीं कारण कि उस समय वे (कुत्ते) पवित्र हैं, अतः उनका स्पर्श बाधक नहीं किन्तु यहाँ कुछ विशेषता है इसीलिये सिद्ध अर्थ को पुनः कहते हैं" युष्मद्विधान् जैसे हम मृग है वैसे ग्रामसिंह होते हैं अतः जो तुम हमारी 'मृग' शब्द से स्तुति करते हो तो हम भी सिंह के ढंग से तेरी स्तुति करते है, इसलिए वैसा वचन कहा है, यदि निन्दा के लिए तूने 'मृग' कहा है तो वह असत्य अर्थ वाला तथा विपरीत अर्थ वाला होने से अप्रमाणिक है अतः हम उसको नहीं मानते है जेमृत्युपाशैरिति बहुवचन (मृगाः देवोंके लिए ग्राम सिंहान्" (दैत्यों के लिए बहुवचन दिए है) देने का आशय यह है कि देवों और दैत्यों का विरोध साधारण है । उत्तरार्ध में निन्दा उसने की है अतः उसके (हिरण्याक्ष) के लिए एक वचन हे अभद्रा ! दिया है, सबकी निन्दा हुई है अतः देवों के लिये बहु वचन दिया है, यदि कोई भी तेरा वचन स्वीकार करे तो हम भी अंगीकार कर लेगें । अंगीकार न करने में कारण है मृत्यु के बन्धनों से बांधा जाना, वह कैसे छूट सकता है जैसे सन्निपात का रोगी मृत्यु का अतिथि होने से बकता रहता है वैसे तू भी बकता रहता है, जो एक पाश में फंस जाता है वह ही नहीं छूटता है बहुत पाशों में फंसा हुआ कैसे छूटेगा ? इनके कोष से बहुत पाश जिनको स्पष्ट बताते हैं कि उस दिन काल कर्म और स्वभाव भगवान् भी इसके मारक बने हुए हैं यों पाश बहुलता है, बैरी पन से मुक्त को प्रतिमुक्त कहा है, किञ्च शूरवीर होते है, वे शब्दों को ध्यान में नहीं लाते हैं किन्तु कार्य पर ध्यान देते हैं उसमें भी झूठी बड़ाई का तो गिनते ही नहीं लड़ाई के मैदान में हुई जीत आदि की अन्यत्र स्वयं प्रशंसा होती है । वहां कृति के विरूद्ध झूठी बड़ाई को कौन माने ? उसमें भी तेरी जो तूं असहाय एवं एकाकी है तेरी झूठी बड़ाई चोर की तरह उपद्रवकारी है इसलिए हे अभद्र ! सम्बोधन दिया है । पापी प्रसिद्ध होने पर अपकीर्ति का कारण ही है ।।१०।।

आभास—यद्यप्यधर्मकर्तृत्वेन वयं निर्दिष्टा 'मही विमुञ्च' इति, तत्राप्युत्तरमुच्यते—

आभासार्थ—'पृथ्वी को छोड़ दो' इससे हमको अधर्म कर्ता कहा, जिसका उत्तर इस श्लोक में देते हैं।—

श्लोक—एते वयं न्यासहरा रसौकसां गतह्रियो गदया द्राविताास्ते ।
तिष्ठामहेऽथापि कथंचिदाजौ स्थेयं क्व यामो बलिनोत्पाद्य वैरम् ।।११।।

श्लोकार्थ—रसातल वासियों की धरोहर चुरा के एवं लज्जा का त्याग कर एवं तुम्हारी गदा के भय से भागे हुए हैं, सामर्थ्य हीन हम तुझ जैसे महान् योद्धा के सामने

कैसे ठहर सकेंगे फिर भी कैसे ही ठहर गए है क्योंकि तुझ जैसे वीर से वैर बांधने के अनन्तर कहां जा सकते हैं ? अत: यहां स्थित रहने योग्य है ।।११।।

सुबोधिनी—**एते वयमिति** । ये भवत्संबन्धिनो न्यासहरा: ते वयमेते । स्वरूपप्रदर्शनेन चौरत्वं निराकृत्य प्रभुत्व स्थापितम्. न तु चौरत्वस्यैवानुवाद: । अनेन यज्ञोऽहमित्यप्युक्तम् । न वा यथोचितं कर्तव्यमिति निवेदनमथ: । वक्रोक्तावपि सत्यत्वान्न्यासहरणस्यैते वयमिति निर्देशो दूषणाङ्गीकारपर: स्यात्, अनुवादत्वाभावात् । यदप्युक्तं गतह्रियामिति, तत्राऽऽह-**गतह्रिय इति** युद्धमकृत्वा ये पलायन्ते विकत्थन्तेच, ते गतह्रिय: । एतदपि सत्यमेव, न हि ह्रीमान् सेवकेन युध्यते । गता प्राप्ता ह्रीर्येनेति वा, '**त्रयो वै गतश्रिय:**' इत्यत्र तथा निर्णयात् । अन्तर्बाधहेतावपि स्वकीय एव बाधहेतुपदार्थपरित्यागो गतह्रीत्वम् । बहिस्तथात्वमाह-**गदया द्रावितास्त इति** । अयुध्यमानस्य ततोऽपसरणं पलायनमेव । मृगा हि लकुटं दृष्ट्वा पलायन्त इत्युचितमेव द्रावणम्, लज्जाभावश्च । तर्ह्यनृत एव किमिति, पलायनं कथं न क्रियते ? इत्याशङ्क्याऽऽह-**तिष्ठामहेऽथापीति** । अथापि, स्वापकर्षे विद्यमानेऽपि, उत्कर्षो भविष्यतीति बुध्या आजौसंग्रामे कथञ्चित्तिष्ठामहे। **कथञ्चिदिति** कियत्कालम् । स जानाति भगवांस्तु संग्रामे बहिर्मुखानां पुरतो न तिष्ठति, तथापि भक्तानां ग्लानिव्यावृत्त्यर्थं कथञ्चित्तिष्ठाम इत्यर्थ:। किञ्च, **बलिना वैरमुत्पाद्य क्व याम: ?** गन्तव्यदेशाभावादपि स्थीयत इत्यर्थ: । बलिष्ठो हि पलायने अन्विष्याऽपि मारयेत्, अतो निग्रहस्य सिद्धत्वात् युद्धमेव क्रियत इति कथञ्चित् स्थीयत इति वक्रोति: । न्यासहरणेन आज्ञाऽकरणेन च वैरोत्पादनम् ।।११।

व्याख्या—जो आपकी धरोहर ले गए (चुरा कर ले गये) हैं वे हम हैं । अपने स्वरूप के दर्शन कराने से अपने चोरपन का निराकरण कर प्रभुत्व स्थापन किया है । न कि चोरपन का ही अनुवाद है । इससे यह भी दिखा दिया है कि मैं यज्ञ पुरुष हूं अथवा जैसे जचे वैसे (भले) कीजिए यह निवेदन का अर्थ (तात्पर्य) नहीं है वक्रोक्ति में भी धरोहरण के कार्य के सत्यपन से ये वे हम हैं, यों जो निर्देश किया है, वह दूषण की अंगिकृति के लिए कहा हैं क्योंकि वह अनुवाद नहीं हैं । 'गतह्रिय' जो विशेषण दिया है जिसका आशय स्पष्ट कर कहते हैं कि, जो युद्ध न कर भाग जाते हैं और बकदास करते रहे वे निर्लज्ज हैं. यह भी सत्य है कि जो लज्जावाला है व सेबक के साथ कैसे लड़ेगा ? अथवा जिसने लज्जा प्राप्त की है । ये तीनों ही 'गतह्रिय:' कहे जाते है । इस प्रकार यहाँ वैसा ही निर्णय किया हुआ है । भीतर बाध के हेतु होते हुए भी अपने ही बाध के हेतु वाले पदार्थ का त्याग निर्लज्जपन है, बाहर कैसे ? वह बताते हैं 'गदयाद्राविताते' गदा से जिनको भगा दिया हैं । अर्थात् गदा को देखकर जो भाग गए हैं, अर्थात् लड़ाई न कर वहां से भागजाना दूर चला जाना मृग ही लकड़ी को देखकर भाग जाते हैं इसलिये दूर चला उचित ही और लज्जा काअभाव कहा वह उचित ही है तो तुम फिर हमारे वचनों का अनुवाद क्यों कर रहे हो ? भाग क्यों नहीं जाते हैं, ऐसी

शंका की जावे तो इस पर कहते हैं 'तिष्ठामहेऽथपि' अपनी निन्दा आदि होते हुए भी हम लड़ाई के लिए ठहरे हुए हैं क्योंकि हमारा फिर उत्कर्ष होगा (जीत होगी) ऐसी आशा है वह जीत कब वा कितने समय में होगी वह जानता है कि भगवान् तो युद्ध में बहिर्मुखों के सामने खड़े भी रहना योग्य नहीं समझते हैं तो भी भक्तों की ग्लानि दूर करने के लिए कैसे ही कर खड़े रहे है यों तात्पर्य है और विशेष यह है कि बलवान से बैर पैदा कर कहां जावे ? जाने के लिए कोई स्थान नहीं हैं, इसलिए भी ठहर गए हैं क्योंकि जो बलवान है वह जीतकर भी मरेगा। अतः निग्रह (पराजय) सिद्ध सिद्ध ही है जिस कारण से युद्ध ही किया जाता है इसलिए वह जैसे वैसे ठहरे हैं तुम्हारी धरोहर ले जाने से तथा आज्ञा न मानने से बैर पैदा किया है ॥११॥

आभास—एवमुक्ते तद्बुद्धौ दीनभावः समायास्यति, ततो युद्धमकृत्वैव गमिष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—यों कहने पर उसकी बुद्धि में दीन भाव पैदा होगा, जिससे युद्ध न करके ही चला जाएगा, यों शंका कर उसका उत्तर निम्न श्लोक में कहते है—

श्लोक—**त्वं पद्रथानां किल यूथपाधिपो घटस्व नोऽस्वस्तय आश्वनूहः ।**
संस्थाप्य चाऽस्मान्प्रमृजाऽश्रु स्वकानां यः स्वां प्रतिज्ञां नाऽतिपिपर्त्यसभ्यः ॥१२॥

श्लोकार्थ—तू पैदल वीरों का तथा रथियों का जो सरदार है उनका भी स्वामी है अतः अन्य विचारों का त्याग कर मेरा, जैसे अनिष्ट हो वैसे शीघ्र ही युद्ध कर मुझे मारकर अपने बान्धवों के शोकाश्रुओं को पौंछ, देरी मत कर, जो अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं करता है वह असभ्य होने से सभा में बैठने योग्य नहीं ॥१२॥

सुबोधिनि—**त्वं पद्रथानामिति**। पदातीनां रथानां च ये यूथपाः, तेषामपि भवान् किलाऽधिपः। पादरूपा रथा येषामिति वा; अनेन यथासुखं रथबले सामर्थ्यवन्त इत्युक्तम्; तेषाँ यूथपाः सेनापतयः। अतस्त्वया एकाकिना युद्धं न कर्तव्यम्, किन्तु सर्वैः सभृत्यानन्तव्यमिति स्वोत्कर्षः सूचितः। नोऽस्मान् **घटस्व**। वयमपि बहवः, महता हि महद्भिः सह युद्धं कर्तव्यमिति। तदपि युद्धं न कौतुकरूपमिति, किन्तु **अस्वस्तये** अकल्याणाय, एकतरमारणस्याऽऽवश्यकत्वात्। अथवा, न इति सबध्यते, तदा हि स प्रोत्साहितो भवति। विपरीतवाक्ये वञ्चनोक्तिः। उभयथाऽप्यस्माकं क्षतिरेव, तुच्छजयात्स्वैकमारणाच्च। अत एव भगवता न इत्युक्तम्। अस्तु यथा कथञ्चित्। **अनूहः** सन् आशु घटस्व। कस्मिन्नप्यंशे विचारो न कर्तव्यः। ऊहो विचारः। विघ्नभावयुक्तो वा अनूहः, अप्रत्यूह इत्यर्थः। ततः किं स्यादत आह वक्रोक्त्या—**संस्थाप्य चाऽस्मान्**, चकारात् देवानपि **स्वकानामश्रु प्रमृज**। संस्थापनमात्रेणैव अश्रूणि निवृत्तानीति, कथञ्चित्क्लेशः स्थास्यतीति, बहूनां

संबन्धि एकमश्रित्युक्तम् । युद्धकरणपक्षे बहूनामुपकारः, स्वस्य परमल्पमारणेन मनसि हीनता । युद्धे गुणान्तरमप्यस्तीत्याह—यः स्वां प्रतिज्ञामिति । यस्तु स्वस्य प्रतिज्ञामाधिक्येन न पिपर्ति न पूरयति, सोऽसभ्यः । अतोऽस्मिन्पक्षे प्रतिज्ञापूरणात् सभ्यत्वस्य सिद्धत्वात्, बहूनामुपकाराच्च युद्धं सर्वथा कर्तव्यमित्यर्थः ।।१२।।

व्याख्या—पैदल वीर एवं रथियों के जो सरदार हैं उनके भी आप स्वामी हैं अथवा पाद ही जिनके रथ है उनके पालकों का अधिपति है इससे यों कहा है सुख पूर्वक रथ चलाने में शक्तिमान् है अतः तुम अकेले युद्ध नहीं करना उन सबको साथ में ले अपना इसे कहने से भगवान् ने अपना उत्कर्ष प्रकट किया है हमारे साथ युद्ध कर हम भी बहुत है । महान् को महानों के साथ ही युद्ध करना चाहिए, वह लड़ाई हास्य विनोद (मजाक) की तरह नहीं, किन्तु अकल्याण के लिए करनी चाहिए क्योंकि दोनों में से एक एक का मारना आवश्यक होने से अथवा 'न' पद का सम्बन्ध 'अस्वस्तये' पद से हैं अर्थात् हमारे अकल्याण के लिए लड़ाई कीजिए यों कहने से हिरण्याक्ष में लड़ाई के लिए उत्साह जाग्रत होगा : विपरीत वचन होने पर यह छल वचन बन जायगा दोनों तरह हम लोगों की ही हानि है क्योंकि तुच्छ के मारने से वा सेवक के मारने से हमारी क्षति (अपयश) होगी । इस कारण से भगवान् ने 'न' पद कहा है, अस्तु कैसे भी हो बिना विचार किये शीघ्र युद्ध प्रारम्भ कर दे किसी प्रकार विघ्न न होगा यों समझ कर युद्ध प्रारम्भ कर दे यों लड़ाई प्रारम्भ करने से क्या होगा ? इस वक्रोक्ति से कहते हैं कि हमको मार कर और देवों को भी मार कर अपने सम्बन्धियों के शोकाश्रुओं को पोंछ तथा युद्ध करने से बहुतों के ऊपर उपकार भी होगा । यद्यपि मारने से ही आंसू मिट जायेंगे । यदि वैसे भी नाम मात्र रह भी जाय इसलिये बहुतों के सम्बन्धी एक आँसू कहा, अतः युद्ध आवश्यक हैं । तथा थोड़ो को मारने से अपने मन में हीनता उत्पन्न होगी, इसके अलावा लड़ाई करने में दूसरा गुण भी है'यः स्वा प्रतिज्ञा' जो मानव अपनी की हुई प्रतिज्ञा का पूर्ण पालन नहीं करता है वह असभ्य हैं, अर्थात् सभा में बैठने के योग्य नहीं हैं अतः लड़ाई करने से प्रतिज्ञा पूर्ण होगी जिससे सभ्यत्व सिद्ध होगा और बहुतों का उपकार होगा, इसलिए युद्ध सर्वथा करना चाहिए यों तात्पर्य है ।।१२।।

आभास—एवमन्योन्यं वाक्ययुद्धं निरूपितम्, ततः कायिकं युद्धं जातमित्याह—तत्र प्रथमं हिरण्याक्षयुद्धं श्लोकद्वयेनाऽऽह । युद्धे हि क्रोधो मुख्य सामग्री सा प्रथममुच्यते—

आभासार्थ—यों परस्पर वाणी के युद्ध का वर्णन किया इसके अनन्तर 'सोधिक्षिप्त श्लोक से लेकर निम्न ६ श्लोकों से कायिक (शरीर की)लड़ाई का वर्णन करेंगे ।

कारिका—सोऽधिक्षिप्त इति षड्भिः । द्वाभ्यां युद्धं तु दैत्यस्य आरम्भो युद्धमेव च ।
प्रतिकारश्च युद्धं च द्वयं भगवतः पुनः । मिश्रयुद्ध ततः स्थूलमुपसंहार एव च ।।१।।

कारिकार्थ—१३ वें और १४ वें दो श्लोकों से दैत्य के किए हुए युद्ध का प्रारम्भ कहा है, अनन्तर, फिर भगवान् ने प्रतिकार (उपाय) तथा युद्ध १५ वें तथा १६ वें श्लोकों में किया जिसका वर्णन है बाद में मिश्र युद्ध (परस्पर साथ में लड़ाई) एवं उप-सहार (समाप्ति) १७ १८ दो श्लोकों में कहा है ।।१।।

इस वर्णन में पहले दो श्लोकों से हिरण्याक्ष के युद्ध का वर्णन किया है, युद्ध में मुख्य सामग्री 'क्रोध' है, जिसका पहले वर्णन करते हैं।

मैत्रेय उवाच श्लोक—सोऽधिक्षिप्तो भगवता प्रलब्धश्च रुषा भृशम् ।
आजहारोल्बणं क्रोधं क्रीड्यमानोऽहिराडिव ।।१३।।

श्लोकार्थ—मैत्रेय जी ने कहा हे विदुर ! जब भगवान् ने कोप से उस दैत्य का तिरस्कार किया तथा उसकी हँसी करी मजाक उड़ाई तब खेलाए हुए सर्पराज की तरह हिरण्याक्ष ने उग्र क्रोध को धारण कर तिलमिला उठा ।।१३।।

सुबोधिनी सोऽधिक्षिप्त इति । भगवता अधिक्षिप्त इति क्रोधे हेतुः स तु भक्ते वा, अल्पे वा, न भवतीति स इत्युक्तम् । स दैत्यो महाबलश्च । तदा भगवता स्वभाव आविर्भावित इति भगवतेत्युक्तम् । अधिक्षेपो 'ग्रामसिंहान्' इति प्रलब्धो वक्रोक्त्या वञ्चितः 'एते वयम्' इत्यादिभिः । चकारात् युद्धार्थमाकारितश्च । तत्रापि रोषेण प्रलब्धः, न तु हितोपदेशेन । अतो दोषत्रयस्य जातत्वात् तस्य त्रिदोषरूपो महान् क्रोधो जात इत्याह—आजहारेति । क्वचित् स्थापितमिवाऽऽनीतवानित्यर्थः । उल्बणम् । अनिष्टपर्यवसायी । महान्क्रोधयुक्तः साधने अनर्थपर्यवसायी भविष्यतीति किंवक्तव्यमित्यत्र दृष्टान्तमाह—क्रीड्यमान इति । यथा अहिराट् सर्पश्रेष्ठः, कालियोऽन्यो वा ।। १३ ।।

व्याख्या--भगवान् ने दैत्य का जो तिरस्कार किया वह उसके क्रोध का कारण हुआ । वह (क्रोध) भक्त वा निर्बल हो तो न होवे किन्तु वह दैत्य महाबली था जिससे तिरस्कार सहन नहीं कर सका 'भगवता' शब्द कहने का आशय है कि भगवान् ने अपना भाव प्रकट किया है अर्थात् तिरस्कार के ऐसे वचन कहे हैं जिससे उसको क्रोध उत्पन्न हो वह लड़ाई करे, लड़ाई हो यही भगवान् का अभिप्राय था । तिरस्कार 'ग्राम सिंहान' (कुत्तों के) शब्द से किया है और 'मजाक' वक्रोक्ति कह कर की है 'एते वयम्' वे ये हम हैं आदि, 'च' पद से युद्ध के लिए बुलाया है वह भी रोषेण प्रलब्ध' क्रोध से वञ्चना की है न कि हितकर उपदेश से, अतः तीन दोषों के होने से उसको त्रिदोषरूप महान् क्रोध उत्पन्न हुआ यों 'आजहार' पद से कहा है, जैसे वस्तु कहीं धरी हो वहां से लाई जाती है वैसे ही क्रोध कहीं रखा था वहां ले आया यह आशय है 'उल्बणं' पद से उसकी

उग्रता बताई है वह क्रोध में अन्त में अनिष्ट ही करेगा सहज क्रोधी जब उसको कार्य में लाएगा तब उसका फल दुःख ही होगा, इसमें क्या कहना है ? इस पर दृष्टान्त दे इस की उग्रता सिद्ध करते हैं; जैसे सर्पों का राजा कालिय वा दूसरा खिलाने पर भी अन्त में दुःखदाई ही होता है ।।१३।।

आभास—स यथा स्वपौरुष प्रकटयति, तथा प्रकटितवानित्याह–

आभासार्थ—जैसे वह सर्प खेलते हुए भी अपना पौरुष प्रकट करता है वैसे इसने भी किया, जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं–

श्लोक—सृजन्नमर्षितः श्वासं मन्युप्रचलितेन्द्रियः ।
आसाद्य तरसा दैत्यो गदयाऽभ्यहनद्धरिम् ।।१४।।

श्लोकार्थ—अपमान आदि को सहन न करते हुए उस दैत्य की इन्द्रियां क्रोध से तिलमिलाने लगी जिससे श्वासों को प्रचण्ड करता हुआ शीघ्र ही निकट आकर हरि के ऊपर गदा से प्रहार किया ।।१४।।

सुबोधिनी-सृजन्निति । अन्यमर्षितः श्वासं सृजन् गदयाऽभ्यहनदिति संबन्धः । अन्तःस्थित-क्रोधेन श्वास उत्पन्नः, बहिःस्थितेन तु क्रोधेन मन्यु-शब्दवाच्येन प्रकर्षेण चलितानीन्द्रियाणि यस्य तादृशो जातः । एवं तस्य क्रोधव्याप्तिरुक्ता । अत एव शीघ्रमासाद्य भगवन्निकटे समागत्य । भगवता सह युद्धमयुक्तमित्याशङ्क्य तस्य जाति निर्दिशति—दैत्य इति । महांस्तु पश्चादेव मारयति, न प्रथममिति, भगवदुत्कर्षकथनार्थं तस्य प्रथमं मारणमाह—गदयाऽभ्यहनदिति । सिंहो वा दुःखनिवारको वा, मारितः स्वस्यैवाऽनिष्टहेतुरिति सूचयितुं हरिमित्युक्तम् । एवं मारणान्तं तस्य युद्धं निरूपितम् ।। १४ ।।

व्याख्या—बहुत क्रोध वाले श्वासों को बाहर जोर से निकालते हुए उस दैत्य ने हरि पर गदा से कठोर (जबर्दस्त) प्रहार किया भीतर स्थित क्रोध के कारण श्वास उत्पन्न हुआ बाहर स्थित क्रोध जो 'मन्यु' शब्द से कहा गया है उससे इन्द्रियों में खलबली मच गई, इसी तरह दैत्य में भीतर बाहर अर्थात् श्वास तथा इन्द्रियों में क्रोध फैल गया, इस कारण शीघ्र ही भगवान् के पास भगवान् के साथ लड़ना उचित नहीं ऐसी शका होने से उसकी जाति का (दैत्य) शब्द से बताया हैं, बड़े तो पीछे प्रहार करते हैं कि पहले इससे भगवान् का उत्कर्ष बताने के लिए उसने (दैत्य ने) पहले प्रहार किया यों बताते हैं 'गद्याभ्यहनत् गदा से कठोर (जबर्दस्त) प्रहार किया, हरि का अर्थ होता है सिंह और (दुःख) मिटाने वाला जिसको मारने से (जिससे लड़ाई करने से) अपना ही अनिष्ट (हानि) होता है, यों गदा प्रहार तक युद्ध कहा ।।१४।।

आभास–भगवत्कर्तृकं युद्धं श्लोकद्वयेनाऽऽह–

आभासार्थ––भगवान् की की हुई लड़ाई निम्न दो श्लोकों से कहते हैं–

श्लोक––भगवांस्तु गदावेगं विसृष्टं रिपुणोरसि ।
अवञ्चयत्तिरश्चीनो योगारूढ इवाऽन्तकम् ।।१५।।

श्लोकार्थ––भगवान् ने अपनी छाती पर चलाई हुई शत्रु की गदा के प्रहार को थोड़ा सा टेढे होकर वैसे बचा लिया, जैसे योगी मृत्यु से अपने को बचा लेता है ।।१५।।

सुबोधिनी– **भगवांस्त्विति** । तुशब्दः, तद्वत् क्रोधं न कृतवान्, किन्तु शान्त एव तत्प्रतीकारं कृतवानित्याह । भगवतः प्रतीकारे सामर्थ्यं स्वशब्देनोक्तम् । **गदावेगमिति** । गदा ह्यप्रत्याख्येयवेगा, निकटे हि हन्यते इति । तत्राप्युरसि विशेषेण सृष्टम्; तत्रापि रिपुणा । अवञ्चने हेतुत्रयं निरूपितम् । तथापि वञ्चनं कृतवानित्याह– **अवञ्चयदिति** । कथमवञ्चयदित्याशङ्क्य प्रकारमाह- **तिरश्चीन इति** । अतिवेगेन भगवान् तिर्यक् जातः । ननु निकटे जायमानः प्रहारः कथं तिर्यग्भावमात्रेणाऽपगच्छेत् ? तत्राऽऽह– **योगारूढइवेति** । योगो हि प्राणवशीकरणे हेतुः, अन्तको हि प्राणहारकः; स हि योगेन प्राणं लीनं करोति, तदा मृत्युः प्राणमन्वेषयन्नपि न प्राप्नोति । एवं भगवान् शत्रोः समक्षं स्वरूपं कृतवान् । तावतैव तिरोहित इति प्रहारस्थाने लीनत्वात् वञ्चनं जातमित्यर्थः ।। १५ ।।

व्याख्या––'तु' पद का भावार्थ है कि भगवान् ने दैत्य की तरह क्रोध न कर शान्त होके इसका प्रतिकार (उपाय) किया भगवान् प्रतिकार करने में समर्थ हैं यों 'स्व' शब्द से प्रकट किया है, 'गदा वेग' गदा का वेग किसी प्रकार चुकाया नहीं जाता है, गदा से पास से ही प्रहार किया जा सकता है, वह भी जब अच्छी तरह उर (हृदय) के ऊपर फैंकी गई हो, वह फैंकना भी शत्रु ने किया हो, नहीं चुकाए जाने के तीन कारण होते हैं, वे तीन थे तो भी भगवान् ने प्रहार को चुका (छुड़ा) दिया किस तरह प्रहार को चुकाया ? जिस पर कहते हैं कि पूरे वेग से भगवान् टेढे हो गए । निकट में हुआ प्रहार मात्र टेढे होने से कैसे नहीं लगेगा ? इसका उत्तर देते हैं कि 'योगारुढ इव' योगी की तरह योग ही प्राणों को वश करने में कारण है । काल प्राणों को हरण करता है, योगी योग से प्राणों को छिपा लेता है जिससे काल प्राणों को ढूंढते हुए भी पा नहीं सकता है । भगवान् ने भी इसी तरह का (योगी की तरह का) स्वरूप शत्रु के सामने प्रकट किया तावता ही छुप गए इस कारण से प्रहार स्थान में लीन होने जाने से दैत्य ठगा गया अर्थात् उसका (दैत्य का) प्रहार व्यर्थ गया ।।१५।।

आभास- एवं पूर्वकृतप्रतीकारं कृत्वा तूष्णीं स्थितेऽपि, पुनर्मारणार्थं प्रवृत्तः गश्चा-द्भगवता ताडित इत्याह-

आभासार्थ—इस तरह दैत्य ने जो पहले किया था उसका प्रतिकार भगवान् शान्त हो खड़े रहे तब वह दैत्य फिर जब मारने के लिए प्रवृत्त होने लगा तब भगवान् ने उस पर प्रहार किया जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक—पुनर्गदां स्वामादाय भ्रामयन्तमभीक्ष्णशः।
अभ्यधावद्धरिः क्रुद्धः संरम्भाद्दष्टदच्छदः ॥१६॥

श्लोकार्थ—फिर वह अपनी गदा लेकर क्रोध से होटों को चबाता हुआ उसे (गदा को) जब खूब फिराने लगा, तब श्री हरि को भी क्रोध उत्पन्न हुआ, जिससे वे बड़े वेग से उस (दैत्य) पर झपटे ॥१६॥

सुबोधिनी—पुनर्गदामिति। स्वां मौर्वीमभीक्ष्णशो भ्रामयन्तमिति। दृढप्रतीकारार्थं परिभ्रमणस्य पूर्वकालता च निरूपिता। हरिर्वराहो मारयितुमभ्यधावत्, धावनं कृत्वा निकटे गत इत्यर्थः। तस्य पूर्वप्रयासवैयर्थ्यादत्यन्तं क्रोधसंरम्भेण दष्टो दच्छदो दन्तानां छादनरूपमोष्ठं येन। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इत्ये तदर्थमेवं कृतवानिति भावः॥ १६॥

व्याख्या—अपनी मूर्वाघास से मजबूत बांधी हुई तथा दृढ बैर के साधन गदा को निरन्तर घुमाते, तब वराह भगवान् उसको मारने के लिए दौड़े दौड़ते हुए निकट गए, गदा फिराने से यह प्रकट किया कि मैंने ही युद्ध का प्रारम्भ किया है, एवं उसका पहला प्रयास व्यर्थ जाने से विशेष क्रोध उत्पन्न हुआ जिससे होटों को दांतों से चबाके वह प्रकट किया, भगवान् भी 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस उक्ति के अनुसार यों कोप करने लगे ॥१६॥

आभास—तत किं कृतवानित्याकाङ्क्षायामाह—

आभासार्थ—अनन्तर क्या किया? इस आकांक्षा में यह श्लोक कहते हैं—

श्लोक—ततश्च गदयाऽरातिं दक्षिणस्यां भ्रुवि प्रभुः।
आजघ्ने स तु तां सौम्य! गदया कोविदोऽहनत् ॥१७॥

श्लोकार्थ—अनन्तर प्रभु ने शत्रु के दक्षिण भ्रू पर गदा से प्रहार किया, हे सौम्य! उस प्रवीण ने उस गदा के ऊपर गदा से प्रहार किया ॥१७॥

सुबोधिनी - ततश्चेति । गदया कौमोदक्या । **दक्षिणस्यां भ्रुवि** । आसुरी (?) मृत्युस्तस्य नश्यत्विति पुरुषत्वात् दक्षिणस्यां भ्रुवि ताडितः । ननु कथं सूक्ष्मे स्थाने ताडयितुं शक्यत इत्याशङ्क्याऽऽह–**प्रभुरिति** । **तां** कौमोदकी गदाम् । हे **सौम्य**, स्वगदया मौर्व्यां, गदायुद्धे **कोविदः** पण्डितोऽहनत् ॥ १७ ॥

व्याख्या—कौमाद की गदा से दक्षिण भ्रू पर इस भ्रू पर चोट लगाने का कारण यह था कि उसकी (दैत्य की) आसुरी मृत्यु नष्ट हो जावे प्रभु में पौरुष था इसलिए दक्षिण भ्रू पर चोट लगा सके, सूक्ष्म स्थान पर कैसे चोट करने में समर्थ हुए ? इस शंका को मिटाने के लिए 'प्रभु' पद अर्थात् सर्व समर्थ नाम दिया हैं 'तां' का तात्पर्य है कौमोद की गदा को, हे सौम्य ! वह (दैत्य) जो गदा युद्ध में प्रवीण है उसने अपनी धास से बाँधी हुई गदा पर कठोर (जबर्दस्त) प्रहार किया ॥१७॥

आभास—एवमन्योन्ययुद्धमुक्त्वा उपसंहरति–

आभासार्थ—इस श्लोक में परस्पर युद्ध कह कर उपसंहार करते हैं।

श्लोक—**एवं गदाभ्यां गुर्वीभ्यां हर्यक्षो हरिरेव च ।**
जिगीषया सुसंरब्धावन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥१८॥

श्लोकार्थ—इस तरह हर्यक्ष और हरि दोनों, अपनी जय प्राप्त करने की इच्छा से बहुत क्रोधावेष में आकर बड़ी बड़ी गदाओं से परस्पर प्रहार करने लगे ॥१८॥

सुबोधिनी—एवं गदाभ्यामिति । बहुकाल युद्धोपयोगाय **गुर्वीभ्यामिति** । **हर्यक्षो** हिरण्याक्षः । हरिरेवाऽक्षणि यस्य वर्तत इति समानत्वाय हर्यक्षपदप्रयोगः । हरिर्भगवान् । उभयत्र हरिपदप्रयोगोऽध्यःय । जयार्थमेव यत्नो न वधार्थमिति **जिगीषयेत्युक्तम्** । सुष्ठु संरब्धावित्युभयोर्युद्धहेतुरुक्तः अन्योन्यमभितो जघ्नतुः ॥ १८ ॥

व्याख्या—'गुर्वीभ्यां' पद से बड़ो बड़ी गदाओं के लेने का कारण कहा है छोटी लेंगे तो स्वल्प समय चलेगी और बड़ी होगो तो विशेष काल युद्ध में उनका उपयोग किया जा सकेगा, अतः दोनों ने बड़ी बड़ी गदाएं ली, हिरण्याक्ष नाम न कह कर 'हर्यक्ष' कहा जिसका आशय यह है कि हरि ही जिसके नेत्र में विराजमान हैं ऐसा हिरण्याक्ष और भगवान् भी हरि दोनों हरि के समान थे इसलिए दोनों ने युद्ध अपनी जीत हो इसलिए प्रारम्भ किया न कि मारने के लिए किया। इसलिए 'जिगीषया' पद दिया है 'सुंसरब्धों' पद से यह भाव (युद्ध का हेतु) प्रकट किया है इस कारण से ही परस्पर प्रहार करने लगे ॥१८॥

आभास-एवं प्रगवतो युद्धलीलामुक्त्वा तां वर्णयति—

आभासार्थ—इस तरह भगवान् की युद्ध लीला कह कर इसका वर्णन इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक-तयोः स्पृधोस्तिग्मगदाहताङ्गयोः क्षतास्रवद्घ्राणविवृद्धमन्य्वोः ।
विचित्रमार्गांश्चरतोर्जिगोषया व्यभादिलायामिव शुष्मिणोर्मृधः ॥१६॥

श्लोकार्थ—दोनों में परस्पर जीतने की होड़ बढ़ रही थी, कारण कि दोनों के ही अंग गदाओं की चोटों से घायल हुए थे, घायल अंगों से जो रुधिर बह रहा था उसकी गन्ध से दोनों का क्रोध बढ़ रहा था अतः दोनों ही पृथक् पृथक् पैंतरे बदल रहे थे, जैसे गौ के लिए सांड लड़ते हैं वैसे ये भी जीत की इच्छा से आपस में भयङ्कर युद्ध लड़ रहे थे ॥१६॥

सुबोधिनी—तयोः स्पृधोरिति । अन्योन्यस्पर्द्धिनोः । तिग्मगदाभ्यामाहते अङ्गे ययोः । दुःखानुभावेन युद्धान्निवृत्तिमाशङ्क्य क्रोधाधिक्यं सहेतुकमाह— **क्षतास्रवद्घ्राणविवृद्धमन्य्वोः** । गदाप्रहारेण यत् क्षतम्, तस्मात् स्रवत् यद्रुधिरम्, तस्य घ्राणनमास्वादनम्, तेन विवृद्धो मन्युर्ययोः । गदाया **विचित्रमार्गांश्चर तोरिति** युद्धलीलायां रसाभिनिवेश उक्तः । अत्रापि जिगीषैव हेतुः, स्वरूपतोऽभिप्रायतश्च जिगीषेति । ननु वैरिणोः कथं जयमात्रं हेतुरित्याशङ्क्याऽऽह | **इलायामिव शुष्मिणोरिति** । इला भूमिः । एकत्राऽधिकरण सप्तमी, इतरत्र निमित्तसप्तमी । यथा पृथिव्यां काममत्तौ वृषभावतिपुष्टावन्योन्यजिगीषया युद्धं कुरुतः, वासितार्थे वा तयोर्मृधो यथा । **व्यभात्** युद्धं शोभते स्म ॥ १६ ॥

व्याख्या—परस्पर स्पर्धा करने वाले दोनों के अंग तेज गदाओं की चोटों से घायल हो जाने से उत्पन्न दुःख के अनुभव से युद्ध बन्द किया होगा ? ऐसी शंका पर कहते हैं युद्ध बन्द नहीं किया क्योंकि गदा से हुए घावों से जो रूधिर बहा उसकी गन्ध से क्रोध बढ़ने लगा क्रोध बढ़ जाने से वे दोनों युद्ध के विचित्र मार्गो पर फिरने लगे अर्थात् क्रोध से वीरत्व उत्पन्न हुआ जिसका रस पान करते हुए युद्ध में विशेष प्रवृत्त हुए अतः स्वरूप तथा अभिप्राय दोनों से जय के लिए दोनों पृथक् पृथक् पैंतरे बदलने लगे। शत्रुओं का केवल जय मात्र ही कारण कैसे होगा ? इस शंका को दृष्टान्त से निवारण करते हैं 'इलायामिवशुष्मिणोः' इला का अर्थ 'भूवि' है वह सप्तमी विभक्ति दो प्रकार की है एक अधिकरण और एक निमित्त में है-जैसे पृथ्वी पर तमाम बलवान् एवं काम मत्त दो सांड गौ को अपनी अपनी बनाने के लिए परस्पर लड़ते हैं वैसे ये दोनों भी लड़ते लड़ते शोभा पाने लगे ॥१६॥

आभास-एवं लीलया युद्धे क्रियमाणे भगवता तस्य मृत्युर्न भविष्यतीत्याशङ्क्य, ब्रह्मा स्वयमागत्य तद्वधार्थं प्रार्थयति द्वाभ्याम्—

आभासार्थ- इस तरह लीला से युद्ध करते हुए भगवान् (कदाचित्) दैत्य का बध न करेंगे। ब्रह्मा यों संशय कर स्वयं आके उसको मारने के लिए इन दो श्लोकों में भगवान् को प्रार्थना करते हैं-

श्लोक—**दैत्यस्य यज्ञावयवस्य मायया गृहीतवाराहतनोर्महात्मन.।**
कौरव्य ! मह्यां द्विषतोर्विमर्दनं दिदृक्षुरागादृषिभिर्वृतः स्वराट् ॥२०॥

श्लोकार्थ-हे कुरु वंशज ! (विदुरजी) जब इस तरह, दैत्य हिरण्याक्ष तथा जिस यज्ञ मूर्ति भगवान् ने वराह स्वरूप धारण किया है वे परस्पर पृथ्वी के लिये जब युद्ध करने लगे तब ब्रह्मा जी ऋषियों को साथ लेकर देखने के लिए आये ॥२०॥

सुबोधिनी— दैत्यस्येति आगमनप्रार्थनाभेदेनोभयोः समानबलत्वं निरूपयितुं स्वरूपं वर्णयति। तत्र दैत्यत्वमेव युद्धादावुपयोगीति तदेवोक्तम्। यज्ञा अवयवा यस्य, अनेन क्रियाशक्तिस्तत्र पूर्णेत्युक्तम्। ननु यो यज्ञावयवः, स कथमेवंरूप इति दूषणं दूरीकुर्वन्नेव सामर्थ्यविशेषमाह-**माययागृहीतवाराहतनोरिति**। **महात्मन इति** तादृशस्य युद्धकरणे हेतुर्न ज्ञायत इति सूचितम्। **कौरव्येति** संबोधनंमहतां चरित्रे विश्वासार्थम्। जलयुद्धपक्षे तु तेन न दृश्यत इति तद्व्यावृत्त्यर्थम्, **मह्यां पृथिव्यां द्विषतो** विशेषेण मर्दनं **दिदृक्षुः** स्वयमभ्यगात्। ननु ब्रह्मणो हिरण्याक्षवधे किं प्रयोजनं सिध्येदित्यत आह-**स्वराडिति**। स हि सर्वस्यापि सर्गस्य राजा, इन्द्रादयस्तदंशाः साक्षित्वाय ऋषीणामागमनम् ॥२०॥

व्याख्या—आगमन तथा प्रार्थना के भेद से दोनों का बल समान है यों निरूपण करने के लिए दोनों के स्वरूप का वर्णन करते हैं, युद्ध में दैत्यपन ही उपयोगी है, इसलिए वही कहा और यज्ञ जिनके अवयव हैं ऐसे भगवान् हैं इससे यह सूचित किया है कि इनमें (भगवान् में) क्रिया शक्ति पूर्ण।विद्यमान है। जो इस प्रकार के सामर्थ्य वाला यज्ञात्मक स्वरूप है वह कैसे ऐसे (शकराकृति) है इस दूषण को दूर करने के लिए अपने विशेष सामर्थ्य को प्रकट किया है जिसको कहते हैं 'मययागृहीतवाराहत नो रिति महात्मनः अपनी सर्व सा थ्र्य रूप इच्छा शक्ति से ही यह स्वरूप धारण किया हैं ऐसे सम्पूर्ण क्रिया शक्तिमान् महात्मा को यु करने के लिए कोई कारण नहीं हैं, यों सूचित किया है। हे कौरव्य ! इस संम्बोधन से यह बताया है कि आपका महान् पुरुषों के चरित्र में विश्वास है। जल के युद्ध के समय में ब्रह्मा देख नहीं सकते अतः उस युद्ध को ध्यान में न लाके पृथ्वी पर दोनों शत्रुओं का भयंकर युद्ध देखने के लिए ब्रह्मा जो स्वयं पधारे, हिरण्याक्ष के बध से ब्रह्मा का कौनसा प्रायोजन सिद्ध होने वाला है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि ब्रह्मा जी 'स्वराट' सकल सृष्टि के अधिपति हैं, इन्द्र आदि इनके अंश है, अतः ये ऋषि साक्षी बनने के लिए आये है ॥२०॥

आभास-तयोर्युद्धं दृष्ट्वा, लीलां कुर्वाणावेताविति मत्वा, वधार्थं प्रार्थयत इत्याह-

आभासार्थ - ब्रह्मा ने दोनों के युद्ध का रूप देखकर मान लिया कि ये युद्ध के नाम से खेल कर रहे हैं, इस युद्ध से हिरण्याक्ष का वध न होगा अतः उसके वधार्थ इस श्लोक में भगवान् को प्रार्थना करते हैं-

श्लोक—आसन्नशौण्डीरमपास्तसाध्वसं कृतप्रतीकारमहार्यविक्रमम् ।
विलोक्य दैत्यं भगवान्सहस्रणीर्जगाद नारायणमादिसूकरम् ॥२१॥

श्लोकार्थ-ब्रह्मा ने देखा कि यह दैत्य बड़ा साहस वाला शूर होने से सर्व प्रकार निर्भय हैं प्रतिकार करने में भी समथ है, इसका पराक्रम मिलाया नहीं जा सकता है, तब हजार हज र योद्धों के ले जाने में समर्थ भगवान् ब्रह्मा आदि सूकर नारायण को निम्न प्रकार कहने लगे ॥२१॥

सुबोधिनी—आसन्नशौण्डीरमिति । भगवत उत्कर्षो युक्त तस्या इति तदेव वर्णयति । आसन्नं स्वीकृतं शौण्डीरं येन । शौण्डीरं साहसोत्सोत्साहः। भगवतः सकाशादपास्तं साध्वसंयस्य । कृतः प्रतीकारो येन । न केनाऽपि हार्यो हर्तुं योग्यो विक्रमो यस्य । एतादृशं दैत्यं विलोक्याऽयमजेय इति ज्ञात्वा स्वपितरं भगवन्तम्, सर्वावताराणां प्रथमावताररूपम्; भगवांश्चेन्मारयितुमिच्छेत्तदैवाऽस्य मरणं भवेत्, न तूदासीनतयेति मत्वा, आदिसूकरमाहेति संबन्धः । तादृशज्ञानमस्तीत्यत्र हेतुः-भगवानिति । तन्वेवमुच्यमाने स चेद्ब्रह्माणमेव मारयेत्, तदा का गतिः स्यादित्याशङ्कयाऽऽह-सहस्रणीरिति । सहस्रं नयतीति । ब्रह्मा हि स्वसदृशान् सहस्र योधान्नयति, अतो नाऽस्य भयमित्यर्थः ॥२१॥

व्याख्या--भगवान् का उत्कर्ष तो उचित है, उसका (दैत्य का) अनुचित है जिसका वर्णन करते हैं । स्वीकार किये हुए साहस वाला, भगवान् ने जिसका गर्व उतार दिया है जिसने प्रतिकार भी किया है तथा वह ऐसे पराक्रम वाला है जिस पराक्रम को कोई हरण नहीं कर सकता है ऐसे दैत्य को देखकर यह अजेय है अर्थात् इसको कोई जीत नहीं सकता यों जान कर अपने पिता भगवान् को, जो सर्व अवतारों में प्रथम अवतार है वह भगवान् यदि उदासीनता त्याग इसको मारना चाहें तो मार सकते हैं अन्यथा नहीं यों विचार कर आदिसूकर (भगवान्) को कहने लगे (ब्रह्मा) को इस प्रकार के ज्ञान होने का कारण यह है कि आप (ब्रह्मा) भगवान् हैं, ब्रह्मा के इस प्रकार के कहने पर यदि दैत्य मुझे (ब्रह्मा को) ही मार डाले, ऐसा भय ब्रह्मा को क्यों न हुआ ? इस पर कहते हैं कि आप (ब्रह्मा) 'सहस्रणी' ब्रह्मा जी अपने समान् सहस्र योद्धों को ले जा सकते हैं अतः इनको भय नहीं ॥२१॥

आभास-ब्रह्मा मारणार्थं तस्य दूषणान्येयाऽऽह एष इति द्वाभ्याम्-

आभासार्थ—दैत्य का वध भगवान् करे इसलिए ब्रह्माजी उसके दूषण दो श्लोकों से कहते है-

ब्रह्मोवाच । श्लोक—एष ते देव ! देवानामङ्घ्रिमूलमुपेयुषाम् ।
विप्राणां सौरभेयीणां भूतानामप्यनागसाम् ॥२२॥

श्लोकार्थ-ब्रह्मा जी ने कहा-हे देव ! यह दैत्य, आपके चरणों की शरण में रहने वाले देव, ब्राह्मण, गौ और अन्य निर्दोष प्राणियों को भी (२३ श्लोक से सम्बन्ध है) ॥२२॥

सुबोधिनि—'भक्तद्रोहे **वध: स्मृत:**' इति भगवद्धृदयात् अयं भक्तद्रोहमेव कृतवानित्याह-एष हिरण्याक्षः । हे देवेति संबोधनमेव पक्षपातबोधनार्थम् । देवद्रोहात् वधो न दोषायेति ज्ञापयितुं **देवानामित्युक्तम्** । **अङ्घ्रिमूलमुपेयुषमिति** मुख्यो हेतुः । **विप्राणां सौरभेयीणामिति** । ब्राह्मणानां गवां यज्ञोपयोगित्वात् तद्विरोधेन यज्ञवराहेणाऽवश्यं मारणीय इति प्रकृतावतारोपयोगित्वेनोक्तम् । सामान्यतो विष्णो रक्षाकर्तृत्वात् तत्वेन रक्षार्थं **भूतानामप्यनागसामित्युक्तम्** । निरपराधीनि भूतानि सर्वथा रक्षकेन रक्षणीयानीति । चतुर्भिर्हेतुभिरयं मारणीय इति हेतवो निरूपिता: ॥२२॥

व्याख्या—'भक्तद्रोहे वधःस्मृतः' भक्त द्रोह करने पर द्रोही का वध होना चाहिए यह भगवान् का हृदय होने से इसने भक्त द्रोह ही किया है इसलिए हिरण्याक्ष के लिये 'एष' पद दिया है । भगवान् को 'हे देव' ! सम्बोधन से सूचित किया है कि आप सदैव देवों के पक्षपाती हैं वह देव द्रोही है अत: उसका वध दोष नहीं है । यों जताने के लिये 'देवानां' पद दिया है वे चरणों की शरण लेने वाले हैं, यह दूसरा मुख्य हेतु है । 'विप्राणां सौरभेयीणां' ब्राह्मण और गौ दोनो यज्ञोपयोगी हैं, उनका यह विरोधी है इसलिए यज्ञवाराह भगवान् को चाहिये कि इसको अवश्य मार डाले । प्रकृत अवतार (वाराहावतार) इस कार्य के लिवे प्रकटे हैं अत: इसमें ही उपयोग किया जाना चाहिये, साधारण रीति से भी विष्णु का कार्य रक्षा है वह रक्षा तत्वों द्वारा करते हैं उन निर्दोष तत्वों का भी विरोधी है एवं उनको भी दूषित किए है अत: वह इन चार कारणों से मारना ही चाहिए यों हैतु निरूपण किये ॥२२॥

आभास-तस्याऽपि दोषचतुष्टयमाह-

आभासार्थ- इस निम्न श्लोक में उसके भी चार दोष बताते है-

श्लोक—आगस्कृद्भयकृद्दुष्कृदस्मद्राद्धवरोऽसुरः ।
अन्वेषन्नप्रतिरथो लोकानटति कण्टकः ।।२३।।

श्लोकार्थ—इस तरह निर्दोषों को दूषित करने वाले एवं प्राणियों को भयभीत करने वाले, दुष्कर्म करने वाले इसने मुझसे वर प्राप्त कर यह अप्रतिम योद्धा बना है, जिससे इसके समान योद्धा देखने में नहीं आता है, अतः यह कण्टक कांटा अपने तुल्य (कोई मुकाबला करने वाला) मिले इसकी खोज में सर्वत्र घूम रहा है ।।२३।।

सुबोधिनी—आगस्कृदिति । प्रथमतो निरपराधिनं सापराधं बोधयति, मिथ्यैवाऽपराधं संपादयतीत्यर्थः । ततो भयं जनयति निर्भर्त्सनादिभिः । ततो दुष्टं मारणम्, सर्वस्वहरणादिकं वा करोति । अन्येषामपि दोषाणामुत्पत्त्यर्थं तस्य बलमाह- अस्मद्राद्धवर इति । अस्मत्तो राद्धः सिद्धो वरो यस्येति । देववरं प्राप्य कथं दुष्टो जात इत्याशङ्क्याऽऽह असुर इति । सर्पाणां पयः पानवत् । चतुर्थं दोषमाह-अयं कण्टक इति । गतिमेव नाशयति । अल्पोऽपि परमदुःखद इत्यर्थः । अप्रतिरथश्चाऽयम्, न विद्यते लोके प्रतिरथो युद्धे समानो यस्य । अत एव प्रतिरथमन्वेषयन् लोकानटति । अतो दृप्तो दुरात्मा हन्तव्य इत्यर्थः ।।२३।।

व्याख्या—पहले ही निरपराधी को अपराधी बताता है, अर्थात् मिथ्या दोषारोपण करता है फिर धमकी आदि से भय पैदा करता है अनन्तर प्राणियों को मारना अन्यों का धनादि सर्वस्व हरण कर लेना इसके सिवाय दूसरे भी दोष इसमें उत्पन्न होने लगे, कारण कि मुझसे वर प्राप्त कर बलिष्ठ बन गया है। देवता से वर प्राप्त कर फिर दुष्ट कैसे हुआ ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यह 'असुरः' असुर है जैसे सर्पों को दूध पिलाया जावे तो उसका विष ही बढ़ता है वैसे ही यह असुर होने से देव का वर प्राप्त करके भी आसुरी स्वभाव के कारण दुष्ट ही बना हुवा है क्योंकि कण्टक है कण्टक (काँटा) गति को रोक देता है अर्थात् कांटे चुभ जाने पर आदमी चल नहीं सकता है वह कांटा भले छोटा ही हो तो भी दुःखदाई होता है, यह तो इस समय अद्वितीय बलवान् है जिससे वह सर्वत्र ढूंढता फिरता है कि मुझ से लड़ने योग्य कोई वीर मिले तो मैं उससे युद्ध करूं अतः ऐसे अहंकारी दुष्ट को तो मार डालना ही उचित है, कहने का यह तात्पर्य है ।।२३।।

आभास—अस्योपेक्षा न कर्तव्येत्याह—

आभासार्थ—इस (दैत्य) की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ।

श्लोक—मैनं मायाविनं दृप्तं निरङ्कुशमसत्तमम् ।
आक्रीड बालवद्देव ! यदाशीविषमुत्थितम् ।।२४।।

श्लोकार्थ—हे देव ! इस मायावी, अहङ्कारी, उच्छृङ्खल अत्यन्त दुष्ट को बालक की तरह खेल न कराओ क्योंकि यह जगा हुआ सांप है ।।२४।।

सुबोधिनि मेनमिति । एनं माक्रीड, मा क्रीडयेत्यर्थः । एनं वा लक्षीकृत्य क्रीडां मा कुर्वित्यर्थः । तत्र हेतवश्चत्वारः । **मायाविन-मिति** । अयं च मायावी, अस्य बलं न ज्ञायते: अतो यदैव क्षीणबलो भविष्यति तदैव पलायनं करिष्यतीति इदानीमेव हन्तव्यः । किञ्च,**दृप्तो** ऽयमनिमित्तः, उपेक्षायां जगदेव मारयिष्यतीति । किञ्च, **निरङ्कुशमिति** । त्वद्व्यतिरिक्तोऽन्योऽस्य न नियामकोऽस्ति, अतोऽस्य नान्यः प्रतीकारः। स्वयमेव कालान्तरे बाल्यं त्यक्ष्यतीति न मन्तव्यम् यतोऽयमसत्तमः । अत एव **बालवद्देव** ! **माक्रीड** । बालो ह्युदर्कं न विचारयति । किञ्च, अयं त्वय्यप्यपकारं करिष्यतीत्याह-**यदाशीविष-मुत्थितमिति** । उत्थितः सर्पः । चेष्टया यदा शयानः सर्प उत्थापितश्चेद्धन्तव्य एव, अन्यथा ऽपकारं कुर्यात् ।।२४।।

व्याख्या—इसको खिलाओ मत, इसको लक्ष्य बना कर खेल नहीं करो । नहीं खिलाने के चार कारण है १ यह मायावी (बाजीगर) है जिससे इसके बल का असर नहीं पड़ता है, इसलिये जब इसका बल कम हो जायगा तब भाग जायगा इस कारण भाग जाने से पहिले ही इसको मार डालना चाहिये, और २ यह अहङ्कारी है, यदि इसकी उपेक्षा की जायगी अर्थात् इसको न मारकर छोड़ दिया जायगा । तो यह जगत् का नाश कर डालेगा और ३ उच्छृङ्खल है जिससे आपके सिवाय कोई दूसरा इसका नियामक नहीं है अतः इसलिये इसे मारने के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है आप यों न समझिये कि यह स्वयं थोड़े समय के बाद बचपन छोड़ देगा क्योंकि यह महान् दुष्ट है इसलिए हे देव । इसके साथ बालक की तरह खेल न कीजिये किन्तु सत्य युद्ध कीजिये यह यदि बालक है तो भी आप जानते ही हैं कि बालक परिणाम का विचार नहीं करता है इसलिए यह आपकी हानि ही करेगा । यों 'आशी विषमुत्थित" पद से सिद्ध करते हैं अर्थात् [जैसे सोये नाग को चेष्टा (क्रीड़ाआदि) से यदि जगाया जाता है तो वह जगा हुआ सांप काटे बिना शान्त नहीं होता है वैसे यह भी हानि ही करेगा । अतः इस जगाये हुए सांप को अभी ही मार देना चाहिये नहीं तो अपकार करेगा ।।२४।।

आभास—किञ्च, स्वभावत एवाऽयं बलिष्ठः, सन्ध्याकाले अत्यन्तं बलिष्ठो भविष्यति; अतो यावदस्य वृद्धिकालो नाऽऽयाति, तावदेव हन्तव्य इत्याह—

आभासार्थ—यह स्वभाव से ही बलिष्ट है फिर सन्ध्याकाल आने पर विशेष बलवान् होगा, अतः इसको विशेष बलिष्ट होने से पहले ही मार देना चाहिये यों इस श्लोक में कहते हैं-

श्लोक—**न यावदेष वर्धेत स्वां वेलां प्राप्य दारुणः ।**

स्वां देवमायामास्थाय तावज्जह्यघमच्युत ! ।। २५ ।।

श्लोकार्थ हे अच्युत ! जब तक यह दारुण दैत्य, अपनी बलवृद्धि करने वाले सन्ध्य समय को पाकर बलिष्ट हो उससे पूर्व ही आप अपनी योग माया का उपयोग कर इस पापी को मार डालिये ॥ २५ ॥

सुबोधिनि—न यावदिति । वृद्धो दोषमाह-दारुण इति । स्ववेला सन्ध्या; तदा हि ते दैत्या उत्पन्नाः, एतयोरपि तदैव जन्म । कथं तर्हि मारणीयः ? इत्यत आह-स्वां देवमायामिति । देवमाया ह्यसुरबाधिका, 'रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत !' इति वाक्यात् । वधे दोषो भविष्यतीति न मन्तव्यम्, यतोऽयमघरूपः । एतद्युद्धे स्वस्मिन् सन्देहो न कर्तव्य इत्याह-अच्युतेति ॥२५॥

व्याख्या—बढ़ने पर दोष बताते है'दारुणः'बढ़ेगा तो अब से विशेष भयङ्कर होगा 'स्ववेला' अपना समय अर्थात् सन्ध्याकाल, सन्ध्या समय दैत्यों की उत्पत्ति का समय है ये दो भी सन्ध्या समय में उत्पन्न हुए है, तो इसको कैसे मारे ? इस पर कहते हैं कि 'स्वांदेव माया' अपनी देव माया का उपयोग कर मारें कारण कि देव माया असुरों का पराभव करने वाली है जैसे कि भगवद्गीता में कहा है कि 'रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत' हे भारत ! रजो गुण तथा तमोगुण का पराभव कर सतोगुण प्रवृत होता है, मारने पर दोष लगेगा यों भी न समझना क्योंकि यह दैत्य पाप रूप है । इस युद्ध में अपने में सन्देह न करना चाहिये कारण कि आप अच्युत हैं, जिससे आपकीच्युति (पराजय) न होगी ॥२५॥

आभास-सन्ध्या स्वतोऽपि नाशिकेत्याह—

आभासार्थ-संध्या स्वतः नाश करने वाली है-

श्लोक—एषा घोरतमा सन्ध्या लोकच्छम्बट्करी प्रभो ! ।
उपसर्पति सर्वात्मन् ! सुराणां जयमावह ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ—हे प्रभो ! लोकों का नाश करने वाली सन्ध्या की भयङ्करवेला निकट आ रही है, हे सर्वात्मन् ! उसेक पहुंच जाने से पहले ही इस दैत्य को मारकर देवों को जय दिलाओ ॥ २६ ॥

सुबोधिनो--एषा घोरतमेति । एषा देवानां सन्ध्या । ज्योतिश्चक्रस्य स्थितत्वात्, मध्ये च पृथिव्याः स्थापितत्वात् । ब्रह्मादीनां देवतात्वात् देवमानेनेत्यध्यवसीयते । अथवा, ब्रह्मणो वा एतद्दिनम्, 'लोकच्छम्बटकरी' इति वचनात्, तस्य संवत्सरान्तदिन एव कल्पप्रलयात् प्रथमपक्षे सन्ध्यायां लोकनाशकत्वं स्वाभाविकमिति तथोच्यते ज्योतिश्चक्रपरावृत्त्या मानुषमेव वा मानम् । अधिष्ठातारो देवता वा भगवत्सेवार्थमागतस्य कालस्य परम्परयैव आविर्भवन्तीति सन्ध्या सैवोच्यते;

तथैवाऽभिजिदपि। एवं चतुर्ष्वपि पक्षेषु समाधातुं शक्येष्वप्ययमेव ज्यायान्। 'छम्बट' शब्दो वैदिको नाशवाचको रिक्तपर्यायः, 'तेनैकाष्टकान् छम्बट्कुर्वन्ति' इति श्रुतेः। अत एव सन्ध्याऽपि लोकनाशिका, दैत्योऽपि। उभयोर्मिलने महाननर्थो भविष्यतीति ततः पूर्वमेव दैत्यो मारणीय इत्यर्थः। तथा सामर्थ्यं सूचयति–**प्रभुरिति**। सर्वेष्वेवाऽवतारेषु सत्त्वांशव्यवथानात् ज्ञानतिरोभावमिव मन्यते, ततो बोधनम्। प्रहरत्रयं जातमस्ति, अतो निकट एव सन्ध्या भविष्यतीत्युपसर्पतीत्युच्यते। सर्वरक्षा तवाऽऽवश्यकीति तथा संबोधयति-**सर्वात्मन्निति**। एकमारणेन बहूनां रक्षाजननात् सर्वात्मकत्वेऽपि मारणं न विरुद्धम्। तथापि सर्वथा न मारणीयः, रक्षामात्रमेव कर्तव्यमिति चेत्तत्राऽऽह–**सुराणां जयमावहेति**। सत्त्वकाले सुराणां जयः कर्तव्यः ॥२६॥

व्याख्या--यह देवों की संन्ध्या आ रही है, क्योंकि ज्योतिश्चक्र स्थिर है मध्य में पृथ्वी रखी हुई हैं। ब्रह्मादि देव होने से देवों के मान से सन्ध्या समय कहा है यों निश्चय पूर्वक समझाते हैं अथवा यह ब्रह्मा का दिन है, 'लोकच्छम्बट करी' इस वाक्यानुसार उसके (ब्रह्मा के) संवत्सर का अंतिम दिन कल्प प्रलय का है प्रथम पक्ष में सन्ध्या में लोक नाशकत्व स्वाभाविक है, इसलिए वैसे कहा जाता हैं, अथवा ज्योतिश्चक्र के फिरने के कारण यह सन्ध्या मानवमानानुसार कही है अथवा अधिष्ठात्री देवताओं भगवान् को सेवा के लिये आने वाले काल को परम्परा से हो आविर्भूत होती है। इसलिए उसको ही सन्ध्या कहा जाता है। इसी तरह हो अभिजित नक्षत्र भी इस प्रकार चारों पक्षों से समाधान हो सकने पर भी यह ही (काल के देवता) आविर्भूत होती है। पक्ष उत्तम है।

'च्छम्बद' शब्द वैदिक है जिसका अर्थ नाश है रिक्त (खाली) पद का पर्यायवाची है जिसका अर्थ भी वैसा ही है, तेनैकाष्टका न छम्बद कुर्वन्ति इस श्रुत्यनुसार सन्ध्या भी नाश करने वाली है और दैत्य भी दोनों के मिलने पर महान् अनर्थ होगा इसलिए उससे (मिलाप होने से) पूर्व ही दैत्य को मार डालना चाहिये, कहने का यही भावार्थ है, वैसी आप में सामर्थ्य है, यह सूचित करने के लिये (प्रभू) नाम दिया है। सकल अवतारों में सत्व तिरोहित सा हो जाता है, अतः वराह में भी हुआ होगा यों ब्रह्मा समझाता है इसलिये भगवान् को जानते हैं कि तीन प्रहर हो चुके हैं अब सन्ध्या होने वाली हैं अतः 'उपसर्पति' पद दिया है जिसका आशय है सन्ध्या समीप आ पहुँची है आपको सब को रक्षा करनी आवश्यक है क्योंकि आप 'सर्वात्मन्' सर्व की आत्मा हैं एक के मारने से बहुतों की रक्षा हो तो सर्वात्मा होते हुए भी मारना अनुचित नहीं है, यदि आप कहो कि सर्वथा मार डालना अच्छा नहीं रक्षा मात्र ही करनी चाहिये, इस पर कहते हैं कि सुराणांजय मावह' सतोगुण का समय है इसमें देवताओं के जीत की दुन्दुभी बजा देना श्रेष्ठ है ॥२६॥

आभास—नन्वहमेव मारयिष्यामि, किमिति बोध्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—मैं ही इसको मारूंगा यों क्यों कहते हो ? इस शङ्का पर कहते हैं-

श्लोक—अधुनैषोऽभिजिन्नाम योगो मौहूर्तिको ह्यगात् ।
शिवाय नस्त्वं सुहृदामाशु निस्तर दुस्तरम् ।। २७ ।।

श्लोकार्थ—यह अभिजित् नक्षत्र जो मुहूर्त्त मात्र हो रहता है वह अभी ही गया है, अतः आप हम मित्रों के शीघ्र कल्याण कारी बनो और दुस्तर सङ्कट से बचाओ ।। २७ ।।

सुबोधिनि—अधुनैष इति । तदधिष्ठात्री देवता प्रत्यक्षेत्येष इत्युक्तम् । अभिजिन्नक्षत्रं मध्याह्ने राशिद्वारा मिलतीति तुथोच्यते । तुलासंक्रमणस्य दिनाष्टके गते, तस्मिन्नेव दिवसे उत्तराषाढ़ाचतुर्थपादे, मध्यन्दिने सति मुहूर्तमात्रमभिजिद्योगो भवति । ते देवास्तस्मिन्नक्षत्रेऽभ्यजयन्' इत्युपाख्याने अभिजिन्नक्षत्रे देवानां दैत्यजय उक्तः । स तु निकट एव गतः; तदैव मारणीयो भवेदित्यनपचय्यजयत्वात् । अथवा, 'पापपराजितमिवतु' इति श्रुतेः, अभिजिन्नक्षत्रं नाऽत्यन्तमुत्कृष्टम्, पापेन पराजितत्वात् । तस्मात्सोऽपि गतः सन्ध्या च नाऽऽगता, अतो मारणीय इत्यर्थः । सुहृदां देवानां नः शिवाय । एवं दुष्टं दुस्तरं मृत्युरूपमाशु निस्तर, नितरां तर ।। २७ ।।

व्याख्या—'एष' पद देकर यह सूचित किया है कि अभिजित् नक्षत्र की अधिष्ठाता देवता यह प्रत्यक्ष दीख रही हैं, अभिजित् नक्षत्र दोपहर को राशि द्वारा मिलता है, इसलिए वैसे ही कहा हैं तुला संक्राति के आठ दिन व्यतोत होने पर उसी दिन उत्तराषाढ़ा के चतुर्थ पाद में जब मध्यान होता है तब मुहूर्त मात्र 'अभिजित्' नक्षत्र का योग होता हैं 'ते देवास्तास्मिनक्षत्रेऽभ्यजन' इस उपाख्यान में अभिजिन्नक्षत्र में देवताओं ने दैत्यों पर जय प्राप्त की है वह समय तो अब ही गया है, जो अजेय हैं उसका पराजय तो उसी समय करना उचित था, अथवा जिनका पाप से पराजय होता हो उनके उपर जय श्रुत्यानुसार अभिजित नक्षत्र में श्रेष्ठ नहीं क्योंकि असुरों का पाप से पराजय हुआ है । ऐसा अभिजित् योग भी गया अब तक सन्ध्या भी नहीं हुई हैं, अतः देरी न कर हम आपके सुहृदों के कल्याण के लिये शीघ्र मारना चाहिये । इस तरह इस दुष्ट, दुःसाध्य मृत्युरूप दैत्य को जल्दी ही पार करो अर्थात् हम मित्रों को सर्वथा बचाओ ।।२७।।

आभास—नन्वस्य जीवनादृष्टे विद्यमाने कथं म्रियत इत्याशङ्क्याह—

आभासार्थ—यदि इसके भाग्य में अब जीना लिखा होगा तो मरेगा कैसे ? इसका उत्तर इस निम्न श्लोक में देते हैं । —

श्लोक—दिष्ट्या त्वां विहितं मृत्युमयमासादितः स्वयम् ।
विक्रम्यैनं मृधे हत्वा लोकानाधेहि शर्मणि ।। २८ ।।

श्लोकार्थ—हे नाथ। इसकी मृत्यु आपके हाथ से होने वाली है इसलिए इस खुद ने अपने मृत्युरूप आपके पास अपने को पहुंचाया है यह खुशी है । अब आप युद्ध में बल पूर्वक इसको मारकर लोकों को सुखी कीजिये ।। २८ ।।

सुबोधिनी—दिष्ट्येति । यदयमेतस्मिन्नवसरे त्वां प्राप्तः, तेन ज्ञायते नाऽस्त्यस्य जीवनादृष्टमिति । अस्य मृत्युस्त्वमेव, अतोऽयं स्वयमेव त्वां मृत्युं दिष्ट्या आसादितः प्राप्तवान् । यथा मृत्युः रोगादिना पराक्रमेण तं हन्ति, एवमेनमपि विक्रम्यैव संग्रामे हत्वा, परमसुखे सर्वामेव लोकान् स्थापयेति प्रार्थना । युद्धे मारणान्न दोषोऽपि ।। २८ ।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
तृतीयस्कन्धे अष्टादशाध्यायविवरणम् ।

व्याख्या—इस अवसर पर यह आपके पास आया है, इससे समझा जाता है अब इसके भाग्य में जीना नहीं लिखा है, इसका काल (मृत्यु) आप ही हैं इसलिए यह स्वयं ही मृत्यु रूप आपके पास आ गया है जैसे मृत्यु रोग आदि पराक्रम से उसको मारता है इसी तरह इसको भी पराक्रम द्वारा संग्राम (युद्ध) में मार कर सकल लोकों को सुखी करो, यह प्रार्थना है, युद्ध में मारने से कोई भी दोष नहीं लगता है ।। २९ ।।

इति श्री मद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के १८ वें अध्याय
की श्री मद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी
(संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

'श्री हरि'

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

तृतीय स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी** (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

(बन्ध सृष्टि) मतान्तर प्रकरण

"अध्याय"—१९

हिरण्याक्ष वध

कारिका—एवं स्थितिर्हरौ तस्य पूर्वाध्याये निरूपिता ।
प्रलयो ब्रह्मणो वाक्यात् भगवत्कृत ईर्यते ॥१॥
एकोनविंशे भगवान् क्रीडन्निव महासुरम् ।
सुराणां महदर्थाय हतवानिति वर्ण्यते ॥२॥

कारिकार्थ—इस तरह गत अध्याय में हिरण्याक्ष की हरि में स्थिति कही । ब्रह्मा के कहने से भगवान् ने उसका नाश किया जिसका वर्णन इस अध्याय में करते हैं ॥१॥

कारिकार्थ—१९ वें अध्याय में देवताओं का महत्व बढाने के लिए, भगवान् ने मानों खेल करते हुए उसको (हिरण्याक्ष को) मार डाला ॥२॥

आभास—एवं ब्रह्मणा स्तोत्रे क्रियमाणेऽपि भक्तत्वान्मारयिष्यति न वेति सन्देहे सत्याह—

आभासार्थ—इस तरह ब्रह्मा के प्रार्थना करने पर भी हिरण्याक्ष भक्त है जिसको मारेंगे या नहीं ऐसी शंका होने से मैत्रेयजी कहते हैं ।

मैत्रेय उवाच । श्लोक—अवधार्य विरञ्चस्य निर्व्यलीकामृतं वचः ।
प्रहस्य प्रमगम्भीरं तदपाङ्गेन सोऽग्रहीत् ॥१॥

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी कहने लगे कि, ब्रह्माजी के ये निष्कपट अमृतमय वचन सुनकर भगवान् ने प्रेम के कारण गम्भीर मुस्कराहट एवं वैसा ही कटाक्ष कर उनकी प्रार्थना स्वीकार की ॥१॥

सुबोधिनी—अवधार्येति । भगवांस्तद्वाक्यं विचारितवान्: किमयं देवभावात् द्वेषेण वदति, आहोस्विदेवमेवेति । तन्निश्चित्य तथैव करिष्यामीत्यङ्गीकृतवान् । विरञ्चशब्देनाऽपि तस्याऽसत्यवाक्यत्वं निराकृतम् । रविशब्दो विपरीत: ; विरं रविं चिनोतीति विरञ्चः, सूर्यादिनिर्माताऽयम्, नान्धकारनिर्मातेति । अतो निर्व्यलीकम् । अमृतं हितकारि मिष्टं च । एवंगुणयुक्तं वचः सत्यमित्यवधार्य, ब्राह्मणं भीतं मत्वा प्रहस्य सान्निध्ये ज्ञानोत्पत्त्यभावाय वा, प्रेम्णा गम्भीरं तद्वचः कटाक्षेणैवाऽग्रहीत् । प्रेमगर्भेणेति पाठे- दृष्टि: प्रेमसहिता, अधिकं च प्रेमोत्पादयिष्यतीति तेषां निर्भयत्वं बोधयति । स इति भगवान् । भूम्युद्धारं कृत्वा नाऽन्तर्हित:, तस्मिन् रूपे च नाऽन्त: प्रवेशित इति ॥१॥

व्याख्या—भगवान् ब्रह्मा के कहे हुए वचनों पर विचार करने लगे, कि ब्रह्मा ने यह प्रार्थना देव होने के कारण दैत्यों से द्वेष है, अत: की है अथवा यों ही लोक कल्याणार्थ की है मन में कहा वह निश्चय कर फिर वैसे ही करूँगा जैसे निश्चय होगा यों विचार कर ब्रह्मा का कहना स्वीकार किया । 'विरञ्च' शब्द से यह सूचित किया है कि उसका कहना झूठ नहीं होगा । 'विरञ्च' पद की व्युतपति करते हैं कि 'रवि' पद को विपरीत अर्थात् उलटा करने से विर का भावार्थ रवि (सूर्य) होता है उसकी 'चिनोति' बनाता है अर्थात् सूर्यादि से बनाने वाले ये है अन्धकार को नहीं बनाते हैं, इस कारण सत्यवक्ता है तथा अमृतसम हितकारी मिष्टवचन कहने वाले हैं । इसी प्रकार ब्रह्मा के वचन गुण युक्त तथा सत्य है यह निश्चय कर ब्रह्मा डरा हुआ समझ मुसकराए अथवा सानिध्य होने से ज्ञान का उदय नहीं हुआ इसलिए मुसकराये । प्रेम के कारण उन वचनों का कटाक्ष द्वारा स्वीकार किया यदि "प्रेमगर्भेण" पाठ होवे तो इसका आशय यह समझना चाहिए कि प्रेम सहित दृष्टि विशेष प्रेम उत्पन्न करेगी, इससे उनका निर्भयपन जनाते हैं 'स' पद से भगवान् कहे हैं । भूमि का उद्धार कर अन्तर्हित न हुए, और उस रुप में ही भीतर प्रविष्ट नहीं हुए यों जनाते हैं ॥१॥

आभास—एवं वधपूर्वभावं भगवदिच्छामुक्त्वा, हननात्पूर्वं सर्वात्मत्वात्तस्य कामनां पूरयति । तस्य हि युद्धं कर्तव्यमिति महती कामना, जयश्च भवत्विति अत: प्रथमं तदुभयं सम्पादयति । तत्र प्रथमं युद्धे तस्य जयं संपादितवानित्याह-तत: सपत्नमिति पञ्चभि: । दैत्यजयोऽग्रे वक्तव्य इति प्रथमं भगवत्कर्तृकं युद्धमाह—

आभासार्थ— इस तरह वध होने से पहले की (हिरण्याक्ष की) स्थिति तथा भगवान् की (हिरण्याक्ष को मारने की) इच्छा कहकर भगवान् सर्व की आत्मारूप होने के कारण उसकी (हिरण्याक्ष की) कामना को पूर्ण करते हैं उसकी सबसे बड़ी कामना तो यह थी कि युद्ध कर जय प्राप्त करूँ अतः उसकी ये तीनों कामनायें पहले पूर्ण करते हैं उसमें पहले युद्ध में उसकी जीत कराते हैं जिसका वर्णन 'ततःसपत्न' श्लोक से पांच श्लोकों में करते हैं, दैत्य को जय आगे कहेंगे पहले भगवान् ने जो युद्ध किया वह कहते हैं।

कारिका—युद्धं तस्य प्रतीकारो दैत्यधर्मश्च साधकः।
सर्वलोकप्रसिद्धिश्च भक्तानामाशिषस्तथा ॥१॥

कारिकार्थ—युद्ध उसका उपाय और जय को सिद्ध करने वाला दैत्य धर्म सकल लोक में उसके जय की प्रसिद्धि वैसे ही भक्तों का आशिर्वाद ॥१॥

कारिका—सर्वेषामेव हृदये जयस्तस्य समागतः।
इति दर्शयितुं देवास्तदाहुरिति रूप्यते ॥२॥

कारिकार्थ—सर्व के हृदय में यह विचार हुआ कि दैत्य की जय हुई यों दिखाने के लिये देवों को ऐसे वचन कहने लगे ॥२॥

श्लोक—ततः सपत्नं मुखतश्चरन्तमकुतोभयम्।
जघानोत्पत्य गदया हन्वावसुरमक्षजः ॥२॥

श्लोकार्थ—उसके बाद उन्होंने झपट कर अपने सामने निर्भय हो विचरने वाले शत्रु की ठुड्डी पर गदा मारी ॥२॥

सुबोधिनी—ततो ब्रह्मवाक्यानन्तरम्, सपत्नं शत्रुम्, जघानेति संबन्धः। प्रपत्यर्थम्–मुखतश्चरन्तमिति। मुखत इति संमुखे, मुख्यत्वेन वा। मुखादेव चरति। अन्तस्तु मारणेच्छायामुत्पन्नायां तस्याऽपि हृदये मरणं समागतमिति मुखत एव युद्धे चरणमुक्तम्। एवं ज्ञात्वाऽपि निर्भयः, पलायनाभावायोक्तम्। उत्पत्योत्प्लुत्य, उपरि पतित्वा वा। अक्षजो भगवान्, ब्रह्मणो नासापुटाज्जत इति। गदया हन्वाबताडयत्। हनुर्मुखावोऽस्ति।२।

व्याख्या—ब्रह्मा के कहने के अनन्तर शत्रु को मारा यों वाक्यों का (पदों का) सम्बन्ध अन्वय हैं। दैत्य मुख के आगे सामने निर्भय होके फिरता रहता था, क्योंकि सामने एवं निकट फिरने से गदा का प्रहार पहुँच सकेगा, दैत्य के अन्तःकरण में यह इच्छा उत्पन्न हुई थी कि भगवान् को मारूं इस विचार का परिणाम यह हुआ कि उसके हृदय में मृत्यु (काल) आकर पहुँच गया इसलिये सामने मुख करके ही फिरने लगा मन में काल आ गया हैं यों जानकर भी निडर होकर

घूमता था अर्थात् युद्ध से भाग जाने का विचार नहीं था ऐसी स्थिति में ब्रह्मा की नासापुर इन्द्रिय से उत्पन्न भगवान् बाराह ने झपट कर शत्रु की गेडो पर गदा मारी मुख के नीचे के भाग को ठोडी कहते हैं ॥२॥

आभास—ततः प्रतीकारमाह—

आभासार्थ—निम्न श्लोक में असुर ने जो उपाय किया वह कहते हैं—

श्लोक—**सा हता तेन गदया रहिता भगवत्करात् ।**
विघूर्णिताऽपतद्रेजे तदद्भुतमिवाऽभवत् ॥३॥

श्लोकार्थ—वह भगगान् की गदा हिरण्याक्ष की गदा से टकराने के कारण भगवान् के हाथ से छूट गई और चक्कर लगाती हुई भूमि पर गिरकर सुशोभित होने लगी यह घटना बहुत अद्भुत सी दीखने में आई ॥३॥

सुबोधिनी—सा हता तेनेति । दैत्यः स उपरि पतन्तीं गदां कौमोदकीं स्वगदयाऽभ्यहन्, तदा सा कौमोदको तेन हता भगवत्कराद्विगलिता, आकाशे भ्रमणं प्राप्य, विघूर्णिता अपतत्-भूमौ पतिता, न तु भिन्ना; किन्तु भूमिं प्राप्य रेजे । भगवतो हस्तात्कौमोदकीपातोऽत्यद्भुत इत्याह—तदद्भुतमिति अद्भुतादप्याश्चर्यमिवेत्यनेनोक्तम् । भगवद्धस्तादेव पात आश्चर्यम्, ततोऽपि कौमोदक्याः; सा ह्यासन्यरूपा, दैत्यास्तत एव विहता भवन्ति; स हि अपहतपाप्मा । अतोऽत्राश्चर्यादप्याश्चर्यम् । भगवता चेत कामना पूर्यते, तदा मर्यादामुल्लङ्घ्याऽपि पूर्यत इति तथा जातम् ॥३॥

व्याख्या—उस दैत्य ने अपने ऊपर कौमोद की गदा को गिरती हुई देखकर उस पर अपनी गदा से प्रहार किया जिससे वह भगवान् के हाथ से छूटकर आकाश में घूमती हुई चक्कर काटकर पृथ्वी पर गिर गई फूटो नहीं किन्तु भूमि पर चमकने लगो भगवान् के हस्त कौमोदी का छूट जाना एक अद्भुत दृश्य था उसका वर्णन करते हैं कि 'तद्द्भुतं' इस वाक्य से अद्भुत भी आश्चर्य जैसा था प्रथम तो भगवान् के हाथ से गदा का छूटना ही आश्चर्य था उससे भी कौमोद की गदा जो आसन्य रूप है उसका छूटना महान् अद्भुत कार्य था दैत्य उस आसन्य रूप (गदा) से मारे जाते हैं वे (प्रभु) पापियों का नाश करने वाले है अतः यह घटना आश्चर्य से आश्चर्य रूप हुई इसका यह भावार्थ है कि भगवान् जब किसो की भी कामना पूर्ण करना चाहते हैं तब मर्यादा का भो उलङ्घन कर कामना की पूर्ति करते हैं यहां यह हुआ है ॥३॥

आभास—भगवतकृतमैवेतदिति ज्ञापयितुं तस्य धर्मबुद्धिरुच्यते, अन्यथा दुष्टो निष्कारणं लोकेषु आगस्कृत्, भयकृत्, दुष्कृत्, कथं तदा तूष्णीं भवेत् ? नाप्याह भगवत्सामर्थ्यादिति; अतो धर्मो निरूप्यते—

आभासार्थ—यह कार्य भगवान् का ही किया हुआ है यों जताने के लिये उसकी (हिरण्याक्ष की) धर्म बुद्धि को कहते हैं यदि यों न होवे तो लोकों में दोष देने वाला भय उत्पन्न करने वाला, दुष्कर्म करने वाला दुष्ट दैत्य तब शान्ति धारण कैसे करे, भगवान् के सामर्थ्य से भी इस अवसर पर शान्त नहीं हुआ अतः शान्ति का कारण उसकी धर्म बुद्धि थी यों इस श्लोक में बताते हैं।

श्लोक--स तदा लब्धतीर्थोऽपि न बबाधे निरायुधम्।
मानयन् समृधे धर्मं विष्वक्सेनं प्रकोपयन् ॥४॥

श्लोकार्थ—उस समय निशस्त्र शत्रु पर वार करने का (शस्त्र चलाने का) अच्छा अवसर पाकर भी उस हिरण्याक्ष ने शत्रु पर प्रहार नहीं किया, क्योंकि हिरण्याक्ष धर्म बुद्धि था, जिससे निःशस्त्रा शत्रु पर प्रहार करना अधर्म है यों जानकर प्रहार नहीं किया, केवल भगवान् को कुपित करने के लिए यों किया (प्रहार नहीं किया)॥४॥

सुबोधिनी—स तदेति। तदा कौमोदकीपातानन्तरम्, लब्धतीर्थोऽपि-भगवानशस्त्र इदानी जेतु शक्यत इति लोकदृष्टचा जयावसरे विद्यमानेऽपि—**निरायुधं** भगवन्तं **न बबाधे**। ननु जयाकाङ्क्षी कथं न बबाधे? तत्राऽऽह-**मानयन्स मृधे धर्ममिति**। संग्रामे निरायुधः शत्रुर्न मारणीय इति धर्मः, त धर्मं परिपालयन् न मारितवानित्यर्थः। इमं धर्मं भगवत्कृतजयार्थं प्रतिपाद्य; तस्य धर्मस्य सहजत्वाभावाय तस्याऽभीष्टमन्यदित्याशङ्कयाऽऽह **विष्वक्सेनं प्रकोपयन्निति**। विष्वक् परितः सेना यस्य। अनेन तस्य भ्रान्तत्वं सूचितम्। तूष्णीभावोऽपि जयप्रतिपापकः, भावं चोद्गिरति 'जितं मया' इति। एवं दैतस्या जयबुद्धिर्निरूपिता ॥४॥

व्याख्या--कौमोद की गदा का भगवान् के हाथ से छूट जाने पर जब भगवान् निःशस्त्र हो गये तब शीघ्र जीते जा सकते थे यों लोक दृष्टि से जीत का अवसर पाकर भी अशस्त्र भगवान् पर हिरण्याक्ष ने प्रहार नहीं किया जब दैत्य को अपनी जय करने की इच्छा थी तो भी भगवान् पर वार क्यों नहीं किया (प्रहार क्यों नहीं किया ?) इस पर कहा है कि 'मानयन् समृधेधर्मं' युद्ध में बिना शस्त्र वाले शत्रु को नहीं मारना चाहिये यह धर्म है उस धर्म का परिपालन करने के लिये प्रहार नहीं किया (मारा नहीं) इस धर्म से ही भगवान् की जय हुई यों प्रतिपादन कर वह धर्म सहज धर्म तो नहीं है उसका यों करने का अभीष्ट और था यों शंका कर कहते हैं 'विष्वक सेन प्रकोपयन' जिसके चारों तरफ सेना उपस्थित है ऐसे भगवान् हैं इससे उसका भ्रान्तपना (मूर्खता) सूचित किया है शांत रहना भी जय का सूचक प्रतिपादन करने वाला है अर्थात् मैंने जय पाई यह प्रकट करता है यों दैत्य की बुद्धि ऐसी हो गई कि मेरी जय हुई यह निरूपण किया ॥४॥

आभास—लोकानां जयबुद्धिमाह—

आभासार्थ—इस श्लोक में कहते हैं कि मनुष्यों ने समझा कि दैत्य की जय हो गई।

श्लोक—**गदायामपविद्धायां हाहाकारे विनिर्गते।**
मानयामास तद्धर्मं सुनाभं चाऽस्मरद्विभुः ॥५॥

श्लोकार्थ-गदा गिरी लोकों के मुख से हा हा कार निकला तब भगवान् ने भी दैत्य के धर्म पालन की प्रशंसा की बाद में सर्व समर्थ प्रभु ने सुदर्शन को स्मरण किया ॥५॥

सुबोधिनी—**गदायामिति**। **अपविद्धायां** ताडनेन पतितायां सत्याम्, लोके च **सर्वत्र हाहाकारे विनिर्गते** सति। गदापातहेतुको हाहाकारः। भगवानपि लोकानुसारी तस्य जयमङ्गीकृतवानित्याह—**मानयामास तद्धर्ममिति**। तस्याऽऽयुधरहितवधाभावलक्षणं धर्मं मानयामास, अन्यथा भगवदनङ्गीकृतो धर्मः फलदायी न भवेत्। ततः किं कृतवानित्याह—**सुनाभं चाऽस्मरदिति**। सुनाभं सुदर्शनम्, चकरात् स्वस्य भावं च। ननु स्मरणमात्रेण कथं स्वभावस्य, भगवत्त्वस्य, सुदर्शनस्य चाऽऽगमनमित्याशङ्क्य बोधयति—**विभुरिति**। स हि सर्वसमर्थः ॥५॥

व्याख्या—दैत्य की गदा के प्रहार से कौमोदकी के गिर जाने से सर्वत्र लोक में हा हा कार की ध्वनि हुई यह हा हा कार भगवान् के हाथ से कौमोदकी छूट जाने के कारण हुआ भगवान् ने भी लोकानुसार उसकी जय अंगीकार की इसको कहते हैं, मानयामासतद्धर्मं कि दैत्य ने मुझे शस्त्र रहित देखकर भी मुझ पर जो प्रहार नहीं किया यह धर्म पालन करने से हिरण्याक्ष धर्मात्मा है इसलिए इसकी जीत मानते हैं उसमें मेरी भी सम्मति है।

यदि भगवान् इसको (धर्म को) स्वीकार न करे तो वह धर्म फलदायी नहीं होवे इसके अनन्तर भगवान् ने क्या किया? उसको कहते हैं कि 'सुनाभंचास्मरन् सुदर्शन चक्र का स्मरण किया 'च' पद से यह सूचित किया है कि भगवान् ने अपने भाव को भी याद किया केवल स्मरण करने से स्व (अपना) भाव, भगवत्व सुदर्शन कैसे आ गये? इस पर कहते हैं कि 'विभुः' वह सर्व समर्थ हैं अतः स्मरण मात्र से सब कुछ मँगवा सकते हैं ॥५॥

आभास—तदा भगवद्भक्तानामपि तस्य जयो हृदये समागत इति पुनर्भगवन्तं सायुधं दृष्ट्वोज्जीविता अविलम्बेन तद्वधार्थं प्रार्थयन्ति—

आभासार्थ—उस समय भगवद्भक्तों के हृदय में भी यह विचार आ गया कि दैत्य की जय हो गई फिर जब भगवान् को शस्त्रधारी देखा तब उनके शरीर में मानों प्राण आ गये जीवित होके भगवान् को प्रार्थना करने लगे कि शीघ्र इस दुष्ट को नाश कीजिये यों इस श्लोक में कहते हैं--

श्लोक–तं व्यग्रचक्रं दितिपुत्राधमेन स्वपार्षदमुख्येन विषज्जमानम् ।
चित्रा वाचोऽतद्विदां खेचराणां तत्र स्माऽऽसन्स्वस्ति तेऽमुं जहीति ॥६॥

श्लोकार्थ–जिनके हाथ में शीघ्र आकर चक्र घूमने लगा उस (भगवान्) को अपने मुख्य पार्षद दिति के अधम पुत्र हिरण्याक्ष के साथ खेलते देख उनके प्रभाव को न जानने वाले देवता पृथक प्रकार के शब्द कहने लगे । हे प्रभो ! आपकी जय हो आप अब इसको विशेष न खिलायें, शीघ्र ही मार डालिये ॥६॥

सुबोधिनी—तं व्यग्रचक्रामिति । तं पूर्वोक्तप्रकारेण क्रीडाकारिणम् । सुदर्शनमपि भगवल्लीलां न हृदयेन मानयति, न वा गदायाः पातम्; अतो दैत्यवधार्थं व्यग्रं चक्रं यस्य । ननु भगवान् सृष्टय प्रवृत्तः कथं तं मारयति ? दैत्या अप्युत्पादनीया इत्याशङ्कयाऽऽह–दितिपुत्राधमेनेति । दितेः पुत्राणां मध्ये अधमेन । न ह्यधमे सृष्टिरुत्तमा भवति । अधमत्वं च दैत्यमर्यादाभावात् । अतो बध्य इति सुदर्शनादिस्मरणम् । ननु हीनेन तेन सह युद्धं किमर्थं करोति ? सुदर्शनेन वध एव परं कर्तुमुचित इत्याशङ्कयाऽऽह–स्वपार्षदमुख्येनेति । स हि पार्षदानां मध्ये मुख्यः, अतः स्वसेवकमुख्येन सह क्रीडा उचितेत्यर्थः । युद्धार्थं तेन सह विशेषेण सज्जमानमासङ्ग्युक्तम् । अत एव देवानामेतन्मर्माऽजानतां केवलमाकाशे स्थित्वा पश्यताम्, तत्र तस्मिन्नवसरे विचित्रा वाचो जाताः । कश्चिदाह मारयिष्यति; कश्चिन्नेति; कश्चिन्नेति; कश्चित् शक्यः; कश्चिदशक्य इत्येवं चित्रा वाचः । स्मेति प्रसिद्धे । आशीर्वादमाहुर्मग्राः सन्तः–ते स्वस्त्यस्तु अमुं च जहीति । कुशल शत्रुजयश्च द्वयं प्रार्थयन्ति । चित्रा वागेव वैयग्र्य हेतुः, वैयग्र्याच्च तथा वचनम् । इदं तु वचनं न चित्रमिति । इतिशब्दस्य प्रकारवाचित्वेऽपि वाक्यत्रयनिरूपणं कर्तव्यं स्यात् ॥६॥

व्याख्या--आगे की तरह क्रीड़ा करने वाले उनको (भगवान् को) देवों ने देखा सुदर्शन (चक्र) भी उन भगवान् की क्रीड़ा को मन से अच्छा नहीं मानता था और न गदा का गिर जाना ही शुभ समझता था । इस कारण से सुदर्शन प्रभु के हाथ में घूम रहा था, जब भगवान् सृष्टि के करने के लिये प्रवृत हुए हैं तब उसको कैसे मारेंगे । क्यों कि सृष्टि में दैत्य भी पैदा करने है, इस शंका निवारण के लिये 'दितिपुत्राधमेन' कहा है कि दिति के पुत्रों में नीच है । अधम (नीच) से उत्तम सृष्टि उत्पन्न नहीं होगी । नीच इसलिये है कि दैत्यों की मर्यादा का इसमें अभाव है । इस कारण यह मारने के योग्य है यों निश्चय कर सुदर्शन का स्मरण किया तो सुदर्शन आकर भगवान् के हाथ में घूमने लगा । भगवान् उत्तम होकर इस अधम दैत्य से कैसे लड़ते हैं ? सुदर्शन द्वारा ही इसका वध कराना उचित था इस प्रकार की शंका निवारण के लिये कहते हैं कि 'स्वपार्षद मुख्येन' दैत्यों में अधम होते हुए भी अपना मुख्य पार्षद है अपने मुख्य सेवक से क्रीड़ा करना उचित है युद्ध

के लिये इस अपने सेवक के साथ संबन्धित हुए थे। इस कारण ही देवता इस क्रीड़ा के मर्म को न जानने से आकाश में ही स्थित ही देखने वाले थे जिससे विचित्र वाणियाँ कहते। किसी ने कहा मारेंगे कोई कहने लगा नहीं मारेगें कोई कहता था मार नहीं सकेंगे कोई कहने लगे कि मारने में भगवान् को कोई श्रम व रुकावट नहीं इत्यादि 'स्म' पद प्रसिद्धि के अर्थ में हैं अर्थात् यह प्रसिद्ध है। वे देव दुष्ट असुर की जय के कारण दुःखी थे जिससे आशीर्वाद देने लगे कि आपकी जय हो, इसको नाश करो। हरि का व देव लोकों का भक्तों का कल्याण तथा शत्रु से जय हो दोनों के लिए प्रार्थना करते हैं दुःखी होने के कारण देवताओं की विचित्र वाणियां थी। दुःख से वैसे वचन थे, यह वचन तो विचित्र नहीं 'इति' शब्द प्रकार वाची होते हुए भी त्रण वाक्य का निरूपण कर्तव्य होना चाहिये ॥६॥

आभास–एवं सर्वजनीनं तस्य जयं निरूप्य युद्धं निरूपयति–स तं निशम्येत्यष्टाद–
शभिः, सर्ववाक्प्रतिपाद्या हि भगवतो लीलेति।

आभासार्थ – इस तरह उसकी प्रसिद्धि जय का निरूपण कर 'सत निशम्य' श्लोक से १८ श्लोकों में युद्ध का वर्णन करते हैं। भगवान् की लीला सर्व प्रकार की वाणी प्रतिपादन करने के योग्य है।

कारिका—दशभिः सत्ययुद्धं तु मायायुद्धं तथाऽष्टभिः।
द्विविधेनाऽपि युद्धेन क्रीडति स्मेति वर्ण्यते ॥१॥

कारिकार्थ—दश श्लोकों (७ से १६ तक) से सत्य युद्ध का वर्णन किया है वैसे ही (१७ से २४ तक) आठ श्लोकों में माया से किया हुआ युद्ध कहा है ॥१॥

कारिका– दैत्यस्य युद्धसंरम्भः पश्चाद्युद्धं सवाचिकम्।
प्रतीकारोक्तिभिश्चैवं क्रोधाद्युद्धं पुनस्तथा ॥२॥

कारिकार्थ—दैत्य ने युद्ध का उद्योग किया यह ७ वें श्लोक में कहा है, पश्चात् ८ वें श्लोक में) वाणी से युद्ध हुआ अनन्तर उसका उपाय और ऐसे वचन (६ वें श्लोक में) कहे हैं। फिर १० वें श्लोक में क्रोध से किए हुए युद्ध का वर्णन है, और ११ वें श्लोक में उसका उपाय कहा है ॥२॥

कारिक—ततः पौरुषनाशोऽभूत् भगवल्लीलया रिपोः।
एवं षड्भिर्गदायुद्धं द्वाभ्यां शूलेन चैव हि ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—बाद में १२ वें श्लोक में भगवान् की लीला से शत्रु का पौरुष नाश हुआ। इस तरह ६ श्लोकों में महा युद्ध का और २ श्लोकों (१३ वें १४ वें) में शूल युद्ध कहेंगे ॥३॥

कारिक--मुष्टिभिश्च तथा द्वाभ्यां स्वदेवास्त्रास्तथा स्वतः ।
युद्धं निरूपितं तस्य माया सामान्यवर्णनम् ॥४॥

कारिकार्थ - १५ वें १६ वें इन दोनों श्लोकों से मुष्टियों के युद्ध को कहेंगे, तथा दैत्यों की देव माया है उस अस्त्र से युद्ध का वर्णन करेंगे इसलिये १७ वें श्लोक में माया का सामान्य वर्णन है ॥४॥

कारिका--चतुर्भिस्तद्विशेषाश्च तस्याऽप्युक्ता प्रतिक्रिया ।
मायायुद्ध ततः षड्भि स्वयं तूत्तरहेतुकम् ॥५॥

कारिकार्थ--पश्चात् १८ वें से २१ वें तक चार श्लोकों से उनके भेद कहे है, एवं उनके उपाय भी २२ वें में कहे हैं इससे माया का युद्ध ६ श्लोकों में कहा, २३ वें २४ वें श्लोक तो मृत्यु के कारणरूप कहे हैं ॥५॥

कारिका--दुर्निमित्तदृशियुद्धं मारणार्थमिहोच्यते ।
एकेन मारणं चैव मरणं च ततो महत् ॥६॥

कारिकार्थ—जिनमें से २३ वें श्लोक में मृत्यु के दुष्ट चिन्ह कहे हैं २४ वें श्लोक में मारने के लियें युद्ध कहा है फिर २५ वे श्लोक में मारने का और २६ वें श्लोक में उत्तम मृत्यु का होना कहा हैं ॥६॥

कारिका—मृतस्य वर्णनं चैव त्रिभिरित्येष संग्रहः ।
स्तोत्रं भगवतो यानमुपसंहार एव च ॥७॥

कारिकार्थ—२७ वें से २९ वें तक तीन श्लोकों में हिरण्याक्ष के मरने का वर्णन किया है यह सर्व का तत्व इकट्ठा कहा है फिर ३० वें श्लोक में स्तुति, बाद में ३१ वें में भगवान् का पधारना कहा है ३२ वें श्लोक में उपसंहार भी किया है ॥७॥

कारिका—माहत्म्यं द्विविधं तस्य श्रवणस्य निरूपितम् ।
गुणोपसंहृतिश्चैव दृष्टान्तार्थमिहोच्यते ॥८॥

कारिकार्थ--इस चरित्र के श्रवण का महात्म्य दो प्रकार (प्रत्यक्ष और सिद्ध)से ३३ वें तथा ३४ वें श्लोकों में और ३५ वें तथा ३६ वें श्लोकों में इस विषय के दृष्टान्त के लिए गुणों का समुच्चय (सदाचार पराक्रम आदि) कहा है ॥८॥

कारिका--जात जनिष्यमाणं च फलमत्र निरूप्यते ।
द्वाभ्यां द्वाभ्यां ततः षड्भिः श्रवणस्य फलं ततम् ॥९॥

कारिकार्थ—३७ वें और ३८ वें श्लोक में यहां हुआ और जो होने वाला फल है सो कहा है। अनन्तर दो दो श्लोकों से इस तरह ६ श्लोकों से श्रवण के फल का विस्तार हुआ है ॥९॥

आभास—प्रथमं स्वायुधगदया युद्धमाह द्वाभ्यामुद्योगयुद्धभेदेन--

आभासार्थ--पहले युद्ध के उद्योग और भेद से निम्न दो श्लोकों में अपने आयुध गदा से जिस तरह युद्ध किया वह कहते हैं-

श्लोक—स तं निशम्याऽऽत्तरथाङ्गमग्रतो व्यवस्थितं पद्मपलाशलोचनम् ।
विलोक्य चाऽमर्षपरिप्लुतेन्द्रियो रुषा स्वदन्तच्छदमादशच्छ्वसन् ॥७॥

श्लोकार्थ—हिरण्याक्ष ने देखा कि कमल दल लोचन हरि तो मेरे सामने चक्र लेकर खड़े है ये तो मुझे मारना चाहते हैं इस विचार के आते ही उसकी सकल इन्द्रियां क्रोध से तिलमिला उठी, जिससे वह लंबी साँसें लेता हुआ अपने दांतों से होठ चबाने लगा ॥७॥

सुबोधिनी—स तं **निशम्येति** । जयानन्तरं हि प्राणिन उत्साहो भवति । अकस्माद्भगवतः साधनान्तरप्राप्तौ भगवदुत्कर्षं दृष्ट्वा क्रुद्धो जात इत्याह-**स** दैत्यः, **अग्रतोऽग्रे, तं** भगवन्तम्, **आत्तरथाङ्गं निशम्य** श्रुत्वा । क्रोधात् दृष्टमपि श्रुतमिव मन्यते । **निशाम्येति** पाठः स्पष्टः । **पद्मपलाशलोचनमिति** चक्रायुधः कमलनयनस्तस्याऽन्तकाले ध्येय इति वर्णितम् । शत्रोर्जये जातेऽप्यक्षोभर्दृष्टि वा । तादृशं दृष्ट्वा भगवतोऽक्षोभलक्षणमुत्कर्षमसहमानोऽमर्षपरिप्लुतेन्द्रियो जातः । अमर्षेण क्रोधेन परिप्लुततानि मग्नानि इन्द्रियाणि यस्य । पुनरुद्गतेन क्रोधेन स्वदन्तच्छदमधरमादशत् दष्टवान् । पुनरन्तः प्रवृद्धेन क्रोधेन श्वसन्नपि जातः । एवं युद्धार्थं क्रोधत्रयं कारणं निरूपितम् । एव युद्धार्थं तस्य क्रोधो वर्णितः ॥ ७ ॥

व्याख्या—जय प्राप्ति के अनन्तर प्राणी को उत्साह होता है, हिरण्याक्ष भी अपनी जय समझकर उत्साहित हो गया था विशेष उत्साह ही इसलिऐ हुआ था कि भगवान् को निःशस्त्र समझने लगा । किन्तु अचानक भगवान् के हाथ में युद्ध का साधन दूसरा शस्त्र (चक्र) घूमता हुआ देख के व सुनकर उनका उत्कर्ष जान वह दैत्य कुपित हो गया यद्यपि भगवान् के हाथ में चक्र देखा था फिर भी क्रोध के कारण देखे हुये को भी सुना समझा जाता है । निशाम्य पाठ हो तो स्पष्ट अर्थ हो 'पद्मपलाशलोचना चक्रा युधः' शब्द देने का भावार्थ है कि भगवान् की इच्छा थी कि अन्त काल के समय यह मेरे इस स्वरूप का ध्यान करे, इसलिए यह स्वरूप दिखाया अथवा इसलिए कि इस असुर को मालूम होवे कि शत्रु की जीत होने पर भी भगवान् के नेत्रों में क्षोभ उत्पन्न नहीं हुआ है, भगवान् से इस तरह का बिना क्षोभ वाला स्वरूप देख प्रभु का उत्कर्ष न सह सकने के कारण दैत्य के समस्त अंग क्रोध से पूर्ण हो गये इस तरह फिर क्रोध उत्पन्न होने से अपने दांतो

से होठ को चबाने लगा। भीतर बढ़े हुए क्रोध से लम्बी सांस लेने लगा, इस तरह युद्ध के लिए तीन तरह से उत्पन्न क्रोध ही कारण हैं यों निरूपण किया है।

कारिका—उत्कर्षदृष्टौ मात्सर्यात् चक्रदृष्टे स्तु घातकः।
स्वाभिमानश्चमहान् रोषो बिलम्बं न सहेत्तथा ॥१॥

कारिकार्थ—भगवान् का उत्कर्ष देखने से मत्सरता हुई जिससे क्रोध हुआ चक्र देखने से ज्ञान हुआ कि यह मारने वाला है इससे भी क्रोध हुआ किन्तु जय के कारण जो अभिमान हुआ था वह उत्कर्ष और चक्र देखने से कम हो जाने लगा जिससे विशेष क्रोध उत्पन्न हुआ अतः युद्ध में बिलम्ब न सह सका ॥१॥

इस तरह युद्ध के लिए क्रोध का वर्णन किया ॥७॥

आभास—युद्धमाह—

आभासार्थ—इस श्लोक में युद्ध का वर्णन करते हैं—

श्लोक—करालदंष्ट्रश्चक्षुर्भ्यां व्याचक्षाणो दहन्निव।
अभिप्लुत्य स्वगदया हतोऽसीत्याहनद्धरिम् ॥८॥

श्लोकार्थ—उस समय तीखी दाढ़ों वाला वह दैत्य भगवान् के सामने यों घूर कर देखने लगा मानो उनको भस्म करता है फिर उछल कर कहने लगा कि अब ही तूं मरा यों कहते हुए उसने हरि पर गदा से प्रहार किया ॥८॥

सुबोधिनी-करालदंष्ट्र इति। कराला दंष्ट्रा यस्य इत्यस्य। यमस्तद्दंष्ट्रायामागत इति स्वाधिदैविकसामग्रीसहित उक्तः। चक्षुर्भ्यां व्याचक्षाण इति पूर्णा दृष्टिस्तत्रैव निरूपिता, तेनाऽन्यत्र दृष्टिर्व्यावर्त्यत इति विचारान्तरेणाऽपि युद्धाभावशङ्का व्यावर्तिता। सतीं दृष्टिं व्यावर्तयितुमाह-दहन्निवेति। स्वाविद्याम्, जगद्वा। रूपवद्दुष्णस्पर्शोऽपि चक्षुषो जात इति दहन्नित्युक्तम्। तथाप्यग्निराश्रय दग्ध्वैव परं दहतीतीवेत्युक्तम्। एवं क्रूरदृष्ट्या दृष्ट्वा स्वगदया सहितः, आभिमुख्येन गत्वा, अहतोऽसीत्यहनत्। अयं हि यज्ञः यथा 'स्वधिते मैनं हिंसीः' इति 'नवाउवेतन्म्रियसे' विपरीतमिव वदन् अहनत्। ननु विपरीतवादे को हेतुः? तत्राऽऽह हरिमिति। स हि सर्वदुःखहर्ता कथं वा हतो भवेत्। अथवा, अयुद्ध्यमानं कथं मारयसीत्याशङ्क्याऽऽह-आहतोऽसीत्यहनत्। पूर्वमासमन्तात् हतवानसीत्यर्थः। मुखेनाऽपि मारणं कृत्वा मारयतीति केचित्। स्तुत्यर्थत्वे-हतोऽसि प्राप्तोऽसीत्यगमदित्यर्थः ॥८॥

व्याख्या--वह भयंकर दाढ़ों वाला था। उसको दाढों पर यम आकर स्थित हुआ इससे यह सूचित किया कि दैत्य युद्ध के लिए अपनी आधिदैविक सामग्री भी लाया था। 'चक्षुर्भ्यां व्याचक्षाण' पद से बताया है कि अपनी सम्पूर्ण दृष्टि भगवान् में ही लगा दी थी। यों कहने से यह भी सूचित किया है कि उसने दूसरी तरफ से दृष्टि हटा ली थी इसलिए अन्य विचार से भी यह युद्ध न करेंगे ऐसी शका मिटा दी थी दैत्य की दृष्टि शुद्ध नहीं थी इसको बताने के लिए 'दहन्निव' मानो दृष्टि से ही जला रहा है, इव कहने से यों सूचित किया कि अपनी अविद्या को वा संसार को जला रहा है, रूप की तरह उष्ण स्पर्श नेत्र को भी हुआ इसलिए 'दहन' यों कहा अथवा अग्नि अपने आश्रय (आश्रित पदार्थ) को जला कर फिर दूसरे का जलाती है इसलिए इव कहा है। इसी तरह क्रूर दृष्टि से देखकर गदा ले सामने जाकर 'अहतोऽसीत्यहनत्' नहीं मरा यों कहकर हरि पर गदा का प्रहार किया यह हरि यज्ञ रूप हैं, अतः जैसे 'स्वधिते मैनं हिंसीः इति 'न वा उ वैतन्म्रियसे' मिव वेदेन् अहनत्' जैसे वेद में कहा है हे कुल्हाड़ी इसको मत मार यह सचमुच मरता नहीं यों विरुद्ध कहकर प्रहार किया विरुद्ध रीति से क्यों कहा ? इस शंका निवारण के लिए कहा कि 'हरिः' यह हरि है। अर्थात् जो स्वयं सर्व के दुःखों का हरण करते हैं वे कैसे मारे जायेंगे ? अथवा जो युद्ध तो करते नहीं हैं उनको कैसे मारता है ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि 'आहतोऽसीत्य हनत्' पहले आप सर्व प्रकार से प्रहार किये हुऐ हैं कितने ही कहते हैं कि मुख से मारकर फिर मारता है (प्रहार करता है) स्तुति के लिए यदि अर्थ किया जाय तो हतोऽसिप्राप्तो ऽसीत्यगमदित्यर्थः आप मुझे प्राप्त हुवे हो यों कहकर भगवान् के पास गया। ऐसा तात्पर्य है ॥८॥

आभास--एवं तस्य युद्धमुक्त्वा तस्य प्रतीकारमाह--

आभासार्थ--इस तरह उसके युद्ध का वर्णन कर निम्न श्लोक में इसका प्रतिकार (उपाय) कहते हैं जिससे युद्ध निष्फल हो अर्थात् दैत्य की जय न हो--

श्लोक--पदा सव्येन तां साधो ! भगवान् यज्ञसूकरः।
लीलया मिषतः शत्रोः प्राहरद्वातरंहसम् ॥९॥

श्लोकार्थ--हे साधु ! यज्ञ स्वरूप वराह भगवान् ने शत्रु के देखते देखते ही लीला से अपने बांये पैर से उसकी (शत्रु-हिरण्याक्ष की) वायु के वेग के समान वेगवाली गदा पृथ्वी पर गिरा दी।

सुबोधिनी—पदा सव्येनेति । पश्चात्तनो वामपादः सव्यपादुच्यते । तां गदां भगवान् लीलया प्राहरत्, पादघातेन तां भूमौ पातितवानित्यर्थः । साधो ! इति संबोधनं विश्वासार्थम् । साधूनां रक्षार्थं वा तथा कृतवानिति सूचितम् । भगवानिति अवज्ञया प्रहारेण तथा करणे सामर्थ्यम् । यज्ञ सूकर इति तदर्थमेवाऽवतार इत्यवश्यं प्रतिक्रियाकरणम् । लीलयेति पुनः क्रोधोत्पादनार्थम् । मिषत इति तस्यास्तथात्वाय । वातरं हसमिति गदाया उत्कृष्टत्वं प्रतिक्रियाभावाय ॥९॥

व्याख्या—पीछे का वामपाद जो बाँया पैर कहा जाता है, लीला करते (खेलते-खेलते) उस पैर के प्रहार से भगवान् ने उसकी गदा को पृथ्वी पर गिरा दिया । साधो ! विदुरजी को यह संबोधन विश्वास के लिए दिया है अथवा साधुवों की रक्षा के लिए यों किया इसकी सूचना दी 'भगवान्' शब्द से यह सिद्ध किया है कि अपमान पूर्वक गदा को गिरा दो, ये प्रभु हैं उनमें सामर्थ्य विद्यमान है 'यज्ञसूकर': पद से यह बताया है कि इसके लिए ही मैंने अवतार लिया है इसलिए अवश्य उपाय कर बदला लेना चाहिये 'लीलया' पद से खेलते हुए तथा दैत्य के देखते हुये गदा गिराई जिसका कारण इसको कुपित करना था वायुवत् वेग वाली कहने से गदा की उत्कृष्टता दिखाकर यह सूचित किया कि निष्फल होने वाली नही थी ॥९॥

आभास—एवं प्रतीकारं कुर्वन्नेव क्रोधं जनयित्वा वाचाऽपि क्रोधं जनयति—

आभासार्थ—इस प्रकार प्रतीकार करते हुए क्रोध पैदाकर वाणी से भी क्रोध उत्पन्न किया यों निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**आह चाऽऽयुधमादत्स्व घटस्व त्वं जिगीषसि ।**
इत्युक्तः स तया भूयस्ताडयन्ननदद्भृशम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—फिर भगवान् ने उसको कहा कि तू जीतना चाहता है तो शस्त्र ले ले, और अब भी युद्ध कर भगवान् के यों कहने पर उस दैत्य ने शस्त्र ले फिर प्रहार करता हुआ जोर से गर्जना करने लगा ॥१०॥

सुबोधिनी—आह चेति । उक्तवानपि-आयुधं गृहाण; तदनु घटस्व युद्धं कुरु, युद्धार्थं वा सज्जो भव; यतस्त्वं जिगीषसि । वचनत्रयं तस्याऽभिमानभङ्गार्थम् । निरभिमानस्य कार्यं पतितस्य ग्रहणम्, निर्लज्जस्य कार्यं पुनर्युद्धकरणम्, आन्तस्य कार्यमेतादृशोऽप्यहं जेष्यामीति । एवमुक्तेऽपि क्रोधवशात् व्यङ्ग्यमज्ञात्वा, स एव दैत्यः तयैव गदया, भूयस्ताडयन् भृशमनदत् । इदं तस्य द्वितीयं युद्धं मध्यमभावेन ॥१०॥

व्याख्या—भगवान् ने भी कहा कि 'शस्त्र ले' उसके बाद युद्ध कर अथवा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ क्योंकि तू जीतना चाहता है भगवान् ने ये तीनों ही वचन उसके अभिमान को तोड़ने के लिए कहे, क्योंकि गिरे हुये शस्त्र को वह लेता है जिसको अपने स्वरूप का अभिमान नहीं होता है हार (पराजय) के बाद युद्ध करना निर्लज्जों का कार्य है और जो पराजित (हारा हुआ) कहे कि मैं जितूंगा वह मूर्ख है। भगवान् के इन व्यङ्ग वचनों का तात्पर्य क्रोध के कारण न समझने से वह दैत्य भी उस ही गदा से फिर प्रहार करता हुआ जोर से गर्जना करने लगा, यह उसका दूसरा युद्ध मध्यम भाव से हुआ ।।१०।।

आभास—अस्यांऽपि प्रतीकारमाह—

आभासार्थ—इसका भी उपाय निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**स तामापततीं वीक्ष्य भगवान् समवस्थितः ।**
जग्राह लीलया प्राप्तां गरुत्मानिव पन्नगीम् ।।११।।

श्लोकार्थ—गदा को अपनी ओर आते देख भगवान् सावधान हो वहीं से उस आती हुई गदा को बिना श्रम के खेल की तरह यों पकड़ लिया जैसे गरुड़ आती हुई सांपिन को पकड़ लेता है ।।११।।

सुबोधिनि—स तामापततीमिति । पूर्वं तस्य विचारः 'दैवगत्या भूमौ पतिता गदा, न तु बुद्धिपूर्वकं तेन तथा कृतमिति' अतो मारणम् । एतज्ज्ञात्वा द्वितोयवारं भगवान् प्रकारान्तरं कृतवान् इत्याह—**स तामापततीं वीक्ष्येति । गदामुपरि** पतन्तीं वीक्ष्य तिरोभावादिकमकृत्वा यथापूर्वमेव सम्यगवस्थितः । ततः प्राप्तां स्वोपरि समागतां तां गदां लीलया जग्राह । उभयोरभिप्रायं समर्थयस्तथाकरणमुपपादयति दृष्टान्तेन—**गरुत्मानिव पन्नगीमिति ।** पन्नगी हि 'गरुडो मया भक्षणीयः, अस्मत्पतिपुत्रादि हन्ति' इति शीघ्रमायाति; गरुडस्तु भक्ष्यं मया प्राप्तम्' इति मोदकवत्तां गृह्णाति । एवं वेगेन समागतां मारणार्थमागतां क्रीडार्थं गृहीतवानित्यर्थः ।।११।।

व्याख्या—दैत्य ने यों समझ लिया कि यह गदा पृथ्वी पर दैव गति से गिर गई है भगवान् ने इसको अपनी चतुराई से नहीं गिराया है यों निश्चय कर उसने फिर प्रहार किया यह जानकर भगवान् ने उसको निष्फल बनाने के लिए दूसरा उपाय किया जिसे बताते हैं, गदा को अपने ऊपर आती हुई देख आप तिरोहित आदि चेष्ठा न कर जैसे खड़े थे वैसे ही सावधान हो गये अनन्तर ऊपर पड़ने वाली गदा को बिना परिश्रम पकड़ लिया दोनों का अभिप्राय प्रकट करते हुये कहते हैं जैसे गरुड़ आती हुई सर्पिन को पकड़ लेता है सर्पिन तो गरुड़ के बच्चों को खाने के लिए शीघ्र शीघ्र आती

थी गरुड ने समझा कि मुझे भोजन मिल गया इसलिए गरुड़ उसको मोदक (लड्डु) की तरह पकड़ लेता है ऐसे वेग से मारने के लिए आती हुई क्रीड़ा के लिए पकड़ा वैसे ही भगवान् को भी यह यों मिला जैसे गरुड़ को सर्पिन ॥११॥

आभास—एवं प्रतीकारमुक्त्वा तेन तस्य मध्यमभावोऽपि गत इत्याह—

आभासार्थ—इस तरह प्रतिकार (उपाय) कहा जिससे इसका मध्यमभाव भी गया अर्थात् युद्ध का मध्यम प्रकार भी समाप्त हुआ यों इस श्लोक में कहते हैं-

श्लोक—**स्वपौरुषे प्रतिहते हतमानो महासुरः ।**
नैच्छद्गदां दीयमानां हरिणा विगतप्रभः ॥१२॥

श्लोकार्थ—अपना उद्यम व्यर्थ हुआ देख वह महान् असुर गर्व रहित और कांति हीन हो गया था, अतः भगवान ने गदा दी तो भी नहीं ली ॥१२॥

सुबोधिनि—स्वपौरुष इति। पुरुषो हि स्वतन्त्रः, तस्य परप्रतिबन्धरहितं यत्सामर्थ्यम्, तत्पौरुषं यदा पुनः पुरुषान्तरसामर्थ्येनोपहन्यते तदोपहृतं भवति। अन्तस्तस्य नाशे बहिश्च कार्यं न भवति । पौरुषं तु पूर्वमेव नष्टमिदानीं ज्ञातमित्यर्थः। बलवता वा प्रतिबद्धम् । स्वशब्देनाऽत्र गदाकृतं तद्द्वारा स्वगतम्। अस्य क्षत्रियत्वात् शस्त्रद्वारैवाऽभिमानो मुख्यः, अतस्तस्मिन् प्रतिहते हतमानोऽपि जातः । तदाऽभिमानाभावात् पराश्रयं कृतवान् । असुरस्तु क्रूरः, शरीरबलमपि तस्य सहजं भवति; अयं तु महासुरः, असुरदेवालब्धवरः; अतोऽस्य पौरुषद्वयमवशिष्यत इत्युक्तं भवति । अत एव पुनर्दीयमानामपि गदां नैच्छत्। यदि गृह्णीयात्, कियत्कालं युद्धमपि कुर्यात् । भगवत्तेजसा संबद्धत्वात् देवतान्तरसामर्थ्याविर्भावादग्रहणम्। एवं ज्ञात्वैव भगवताऽपि दीयते; देवतान्तरसम्बन्धो माऽस्त्विति वा। दाने हेतुः- हरिणेति। तदा भगवतो दया तस्मिन् जाता। पूर्वं वैष्णवं तेजस्तस्मिन् स्थितमिति प्रभा स्थिता, गदाद्वारा च समागता; पुनश्चेद्गृह्णीयात् पुनः प्रतिसंक्रामेत्। तदभावात् विशेषेण गता प्रभा यस्य तादृशो जात इत्यर्थः ॥१२॥

व्याख्या—पुरुष अपने पौरुष के कारण स्वतन्त्र है वह पौरुष दूसरे के प्रतिबन्ध बिना स्वतन्त्र होता है, वह पौरुष जब फिर अन्य पुरुष के बल से रुक (दब) जाता है तब नष्ट हो जाता है जिससे बाहर अपना तेज नहीं दिखा सकता है, अर्थात् अपना कार्य नहीं कर सकता है, इसका पौरुष तो पहले ही नष्ट हो चुका था अब ज्ञात हुआ है, अथवा बलवान् ने उसके पौरुष को दबा दिया। 'स्व' शब्द से यहां गदा ने किया फिर गदा द्वारा हिरण्याक्ष में आया वह क्षत्रिय है इसलिए यह शस्त्र द्वारा ही इसमें अभिमान का आगमन होता है वह ही इसमें मुख्य है अतः शस्त्र निष्फल हो जाने

पर इसका गर्व भी नष्ट हो गया गर्व न रहने पर इसने अन्य का आश्रय लिया असुर तो क्रूर होता हीं है उसमें शरीर बल भी स्वाभाविक रहता है फिर यह तो महान् असुर है तथा असुरों के देव से वर भी लिया हुआ है इसलिए इसमें द्विविध पौरुष शेष रहे थे, इस कारण भगवान् ने गदा देनी चाही तो भी नहीं ली यदि लेता तो कुछ समय लड़ भी सकता, ऐसी दशा में गदा क्यों न ली, इस पर कहा है कि वह गदा भगवान् के सम्बन्ध वाली थी, अन्य देव का सामर्थ्य मुझको है यों भासने लगा। अतः गदा नहीं ली यों समझकर ही भगवान् ने गदा देनी चाही थी, अथवा गदा लेवे तो इसको दूसरे देव का सम्बन्ध न होवे, विशेष रूप में तो गदा देने का मुख्य कारण है 'हरि नाम है 'हरि' सर्व दुःखहर्ता होने से इस पर भी गदा देके दया करना चाहते हैं। पहले इसमें वैष्णव तेज स्थित था, इसलिये कान्ति भी थी, वह गदा द्वारा भगवान् में चली गई यदि वह गदा फिर लेवे तो पुनः कान्तिमान बन जावें, न लेने से इसको सम्पूर्ण कान्ति नष्ट ही रही अर्थात् तेज रहित हो गया ॥१२॥

आभास—तदा देवान्तरवरप्राप्तं शूलं गृहीतवानित्याह—

आभासार्थ—तब अर्थात् सर्व था बल रहित हो जाने पर अन्य देव के वादान से प्राप्त किए हुए त्रिशूल को ग्रहण किया, यों इस श्लोक में कहते हैं–

श्लोक—जग्राह त्रिशिखं शूलं ज्वलज्ज्वलनलोलुपम् ।
यज्ञाय धृतरूपाय विप्रायाऽभिचरन्यथा ॥१३॥

श्लोकार्थ—जैसे विप्र के नाशार्थ मंत्र का प्रयोग किया जाता है, वैसे देहधारी यज्ञ पुरुष के नष्ट करने के लिये जलती हुई आग की तरह जला के भस्म करने वाला तीन शिखा वाला शूल इसने ग्रहण किया ॥१३॥

सुबोधिनी—जग्राहेति । शूलं सूच्यग्रम् । भेद-कमग्रत्रयमुक्तम् । त्रिशिखं त्रिशुलमिति **यावत्** । शिखापदप्रयोगोऽग्निवद्दाहकमपि तदिति **सूचयि**-तुम्, अन्यथा देवताप्राप्तं न स्यात् । ज्वलन् यो ज्वलनः, तद्वल्लोलुपम् । अनेन सुदर्शनवदस्यापि लज्जेव जाता, न चेत् प्रतीकारार्थं स्वयमेव **प्रव**-र्तितुमिच्छति । देवताप्रेरणयेति सूचितम् । तामसी शक्तिर्वा कृत्यारूपाऽत्र प्रवर्तत इति तथा-त्वम् । देवता ह्युपजीव्यव्यतिरेकेणाऽन्यत्र शक्ता । सर्वासामेव देवतानां यज्ञ उपजीव्यः, तत्रापि साक्षात्प्रकटः; तद्विरोधे स्वात्मैव न सिद्ध्येत् । तमेव मारयितुम्, तेनैव, यो यतते स भ्रान्तः । उपजीव्यत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति-**विप्रायाऽभिचरन् यथेति** । अभिचारो हि मन्त्रसाध्यः, स च ब्राह्मणाधीनः; तेनैव मन्त्रेण तस्यैव ब्राह्मणस्याऽपराधकरणं न युज्यत इत्यर्थः ॥१३॥

व्याख्या –'शूल' उसको कहा जाता है जिसकी नोक (अग्रभाग) सूची (सूई) के समान तीक्ष्ण होती है फिर वह तीन नोक वाला था वे तीन नोक भी तीक्ष्ण बींधने वाली थी इसलिये शूल को 'त्रिशूल' कहा है न केवल बींधने वाला था किन्तु अग्नि के समान जलाने वाला भी था। यों सूचित करने के लिये 'शिखा' शब्द दिया है। यदि वैसा न होता तो देवता से प्राप्य न होता, जलती हुई आग की तरह वह भी जलाने (नाश करने) वाला था, इससे यह सूचना दी है कि सुदर्शन की तरह इसको भी लज्जासी हुई यदि ऐसा न हो तो स्वयं ही उपाय करने के लिये प्रवृत्त हो जाता, वह (प्रवृत्त) न हुआ इससे समझा जाता है स्वयं प्रवृत्त होने से उसने संकोच किया, किन्तु जब देवता की प्रेरणा होने लगी तब प्रवृत्त हुआ इससे यों सूचित होता है। अथवा इसके भीतर कृत्या रूपा तामसी शक्ति मौजूद थी इसलिये यह अग्नि के समान जलाने वाला था किन्तु देवता की शक्ति अन्य पर चलती है न कि अपने उपकारक पर चलती है। सर्व देवताओं का उपकार यज्ञ पुरुष ही है उसमें भी फिर साक्षात् प्रकट स्वरूप धारी उससे विरोध करने में आवे तो अपनी आत्मा हीन रहे। उपकारक को मारने के लिये उसी देवता से जो प्रयत्न करता है वह मूर्ख है। उपकारकत्व दृष्टान्त से स्पष्ट करते है 'विप्राया अभिचरनय था' विप्र (ब्राह्मण) को मारने के लिये जैसे मन्त्रो से अभिमित्रादि प्रयोग किया जावे भगवान् उपकारक है यह दृष्टान्त से सिद्ध करते हैं, विप्रों को मारने के लिए जो अभिचार किया जाता है वह मन्त्रों से करने में आता है वे मन्त्र ब्राह्मणों के आधिन हैं जो मन्त्र ब्राह्मणाधीन है उनसे ही ब्राह्मणों पर अभिचार करना अनुचित है वैसे देवताएँ यज्ञ पुरुष के आधीन हैं उसके द्वारा उस (यज्ञ) का नाश कराना अनुचित है। अर्थात् हो भी नहीं सकता है ॥१३॥

आभास—ततः किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह—

आभासार्थ—उसके अनन्तर क्या हुआ ? इसकी आकांक्षा होने पर श्लोक कहते हैं–

श्लोक—तदोजसा दैत्यमहाभटार्पितं चकासदन्तः ख उदीर्णदीधिति ।
चक्रेण चिच्छेद निशातनेमिना हरिर्यथा तार्क्ष्यपतत्रमुज्झितम् ॥१४॥

श्लोकार्थ—महान् बलवान् उस (हिरण्याक्ष दैत्य) का ओज पूर्वक छोड़ा हुआ वह तेजस्वी त्रिशूल जब आकाश में बहुत तेजी से चमकने लगा। तब भगवान् ने उसको तीखी धार वाले अपने चक्र से ऐसे काट डाला जैसे इन्द्र ने गरुड जी के छोड़े हुये पंख को काट डाला ॥१४॥

सुबोधिनी—तदोजसेति। ओजोऽत्र देवता-प्राप्तं तेजो मनसि स्थितम्। देवताप्राधान्यख्यापनाय दैत्यस्य भटत्वम्; देवतायाः प्रेरणसामर्थ्याय महाभटत्वम्; भगवति विरोधख्यापनाय दैत्यत्वम् **अर्पितमिति।** समर्पितम्, अन्यथा देरतान्तरभजनदोषः स्यादिति परमार्थः। खे आकाशे **चकासत्** प्रकाशयुक्तम्। अन्तरुदीर्णा दीधितिर्यस्य। रुद्रा ह्यन्तरिक्षदेवाः, तत्रैव च तेषां शोभा। अन्तर्दीधितिवर्णनं तस्या देवताया उत्साहज्ञापनार्थम्, स्वस्थाने तस्य बलं बहु भवतीति। **स्थानान्तरे** तस्य वलक्षये हानिर्युक्तेति शङ्काव्यावृत्त्यर्थं **तत्रैव चक्रेण विच्छेद।** ननूभयोः सजातीयत्वात् कथमन्येनाऽन्यस्यच्छेदनम्? तत्राऽऽह-**निशातनेमिनेति।** निशाता तीक्ष्णा नेमिर्यस्य। ननु कल्पान्तरे सुदर्शनस्य महादेवांशत्वात् कथं तेन शूलप्रतिघात इत्याशङ्क्याऽऽह-**हरिरिति।** सर्वदुःखहरणार्थं भगवानेव तथा कृतवानित्यर्थः। भगवतोऽपि देवतातिक्रमोऽयुक्त इति चेत्तत्राऽऽह-**हरिर्यथेति।** यथा इन्द्रः। **तार्क्ष्यस्य** गरुडस्य पतत्रं पक्षं तेनैवोज्झितं यथा छिनत्ति, तद्वत्। वज्रमप्यप्रतिहतम्, गरुडाप्यवध्यः; तथाप्युभयरक्षार्थं तेनैकं पतत्रं त्यक्तम्; तथा भगवताऽपि महादेवेन तत् शूलं त्यक्तं सुदर्शनसत्यत्वाय। अतो न कोऽपि विरोधः देवता तत् शूलं परित्यज्य अन्यत्र गतेत्यर्थः। एवं देवबलमपि निराकृतम् ॥१४॥

व्याख्या—यहाँ देवता से प्राप्त मन में स्थित तेज को 'ओज' अर्थात् बल कहा है, देवता की मुख्यता प्रसिद्ध करने के लिए दैत्य को भट (योद्धा) कहा है, फिर महान् योद्धा इसलिये कहा है कि इसमें ऐसी सामर्थ्य है जो देवता इसको प्रेरणा करे दैत्य इसलिए कहा गया है कि भगवान् से यह विरोध करने वाला है इसका ज्ञान हो 'अर्पितम्' पद से बताया है कि समर्पण किया है यदि समर्पण न किया होता तो अन्य देव का भजन रूप दोष प्राप्त हो जाता यों तात्विक अर्थ है वह आकाश में चमक रहा था, जिससे उसके भीतर तेज बढ गया था बढे हुये तेज वाला होने से शोभने लगा। आकाश में रूद्रो, जो अन्तरिक्ष देवों से उनकी वहां ही शोभा है भीतर तेज का बढना कहने से उस देवता के उत्साह को जताया है। अपने स्थान पर उसका बल बहुत होता हैं। अन्य स्थान पर उसका बल क्षीण होना उचित ही हैं इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते है कि तत्रैव चक्रेण चिच्छेद, वहां (अन्तरिक्ष में ही) चक्र से काट डाला, दोनों एक समान जाति वाले होने से परस्पर कैसे काट सके ? इस पर कहते हैं कि 'निशातनेमिना' चक्र की धार तीक्षण होने से काट सके फिर शंका करते हैं कि अन्य कल्प में सुदर्शन महादेव का अंश रूप था उसने (महादेव ने) अपने ही त्रिशूल को कैसे काटा ? जिसका उत्तर देते हैं कि 'हरि' सर्व के दुःखो को नष्ट करने के लिए हरि ने यों किया, यदि कहो कि भगवान् का भी देवता का अतिक्रम करना उचित नहीं था इस पर कहते हैं कि जैसे इन्द्र ने गरुड़ के स्वयं गिराये पांख को तोड़ डाला (गिराया) उसी तरह हरि ने भी किया, वज्र भी निष्फल होने वाला नहीं और गरुड़ भी मरने वाला नहीं इसलिए दोनों की रक्षा के लिए उसने (गरुड़ ने) एक पंख का त्याग कर दिया, उसी तरह भगवान् महादेव ने भी सुदर्शन के सत्यत्व की रक्षार्थ शूल त्याग दिया

इस कारण कोई विरोध नहीं है। शूल में विद्यमान देवता अन्यत्र चला गया इस तरह देवबल का भी निराकरण किया।।१४।।

आभास–ततः स्वसामर्थ्यं प्रकटितवानित्याह—

आभासार्थ—अनन्तर हिरण्याक्ष ने अपना बल प्रकट किया यों इस श्लोक में कहते हैं–

श्लोक—वृक्णे स्वशूले बहुधाऽरिणा हरेः प्रत्येत्य विस्तीर्णमुरो विभूतिमत् ।
प्रवृद्धरोषः स कठोरमुष्टिना नदन् प्रहृत्याऽन्तरधीयताऽसुरः ।।१५।।

श्लोकार्थ—सुदर्शन के द्वारा अपने त्रिशूल के बहुत से टुकड़े हुए देखकर क्रोध पूर्ण हो गया जिससे भगवान् के पास आकर उनके लक्ष्मी के चिन्ह वाले विशाल वक्ष स्थल पर बहुत जोर से कसकर घूँसा मारा और फिर जोर से गर्जना कर अन्तर्हित हो गया (छिप गया) ।।१५।।

सुबोधिनी—**वृक्णे स्वशूल इति**। देवताया गतत्वात् स्वस्यैव शूलं वृक्णम्। अरिणा चक्रेण तस्य सामर्थ्यं पूर्वं मुक्तम्। हरेरिति संबन्धिसामर्थ्यात् नोपजीव्यविरोधः। लक्ष्मीलोभादेवमहमुपेक्षित इति ज्ञापयन्निव विभूतिमत् इत्युक्तम्। भगवद्वक्षो मुष्टिना प्रहृत्याऽन्तरधीयतेति संबंधः। प्रतिकूलतया आगमनं मोक्षाभावं सूचयति, अन्यथा '**मामुपेत्य तु कौन्तेय**' इति वाक्यात् भगवत्समीपे गतस्य कृतार्थतैव स्यात्। उरो मर्मस्थानम्। **विस्तीर्णमिति** सर्वमुष्टिसंबन्धार्थं; विशेषेण स्थितिर्वा संवरणाशक्यम्। ननु शस्त्रे हते किमनेन भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह–**प्रवृद्धरोष इति**। प्रकर्षेण वृद्धो यो रोषः, तेन विचारो न जात इति ननु क्रोधेऽपि कथं विचारस्य न प्रवृत्तिः? तत्राऽऽह–**स इति**। पूर्वोक्तः। अतो विवेकाद्यभावात् न विचारोत्पत्तिः। मुष्टेः साधनत्वायाऽऽह–**कठोरेति**। अनेन तस्य महत्त्वं सूचितम्। **नदन्निति** स्वात्मानं ज्ञापयन्ननवधानव्यावृत्त्यर्थम्। सर्वस्मिन्नपि बले क्षीणे असुरत्वात् प्रहृत्याऽन्तरधीयत। अस्य प्रतीकारे किमवशिष्यत इति तिरोधानम् ।।१५।।

व्याख्या—देवता तिरोहित हो जाने से त्रिशूल हिरण्याक्ष का ही रहा अतः शत्रु ने अर्थात् सुदर्शन चक्र ने उसके (शूल के) टुकड़े टुकड़े कर दिये। उसकी (सुदर्शन की) सामर्थ्य पहले कही गई है। '**हरेः**' पद से यह सूचित किया है कि भगवान् के सम्बन्धि होने से जो सामर्थ्य उसमें आई जिससे उपजीव्य (उपकारक) का विरोध नहीं हुवा है। विभूतिमत् पद से जताया है कि लक्ष्मी के लोभ के कारण ही मेरी उपेक्षा की है, इसलिए ही लक्ष्मी का निवास स्थान हरि के विशाल वक्षः स्थल पर कसकर घूंसा मारते ही छिप गया, यों सम्बन्ध है, विरोधी होकर पास आया इससे

मोक्ष का अभाव सूचित किया है यदि विरोधी होके न आता तो 'मामुपेत्य तु कौन्तेय' इस वचनानुसार भगवान् के पास जाने वाला तो समर्थ ही होता है 'उर' पद से मर्मस्थान कहा है, 'विस्तीर्ण' शब्द से दिखाया है कि उसका समग्र घूंसे का प्रहार वक्ष: स्थल पर बराबर हुआ, अथवा विशाल होने के कारण घूंसे के प्रहार से उसको बचा न सके जब शस्त्र शल ही टूट गया काम न कर सका तो घूंसा क्या कर सकेगा ? इसके उत्तर में कहा है कि 'प्रवृद्ध रोषः दैत्य को बहुत क्रोध आ जाने से विचार न कर सके, क्रोध के बढ़ जाने से विवेक नष्ट हो गया जिससे विचार करने की प्रवृत्ति भी न हुई। घूंसे को साधन इसलिये समझ लिया कि वह कठोर था इससे (कठोर होने से) (घूंसे वा असुर के) महत्व की सूचना की है, 'गर्जता हुआ' इससे अपना परिचय कराया कि मैं सावधान हूं किन्तु समस्त बल के नष्ट हो जाने पर प्रतिकार उपाय) करने में अपने को असमर्थ समझ 'प्रहार' कर छिप गया क्यों कि असुर था ॥१५॥

आभास—अप्रतीकारे सति प्रत्याहारेण किं कृतमित्याशङ्कायामाह—

आभासार्थ—छिप जाने से उसका (प्रहार का) उपाय नहीं हुआ तो प्रहार से क्या हुआ इसको जानने की इच्छा हो तो वह निम्न श्लोक में बताते हैं—

श्लोक—तेनेत्थमाहतः क्षत्तर्भगवानादिसूकरः ।
नाऽकम्पत मनाक् क्वापि स्रजा हत इव द्विपः ॥१६॥

श्लोकार्थ—हे संयमी विदुरजी ! जिस प्रकार हाथी पर फूलों की माला की चोट का कोई असर नहीं होता है उसी प्रकार हिरण्याक्ष के घूँसा मारने से भगवान् आदि वराह को स्वल्प भी कम्प नहीं हुआ इससे टस से मस नहीं हुये ॥१६॥

सुबोधिनी—तेनेत्थमाहत इति । क्षत्तरिति संबोधनं विवेकित्वज्ञापनार्थम् । यथा पुत्रेण ताड्यते, यथा वा स्त्रिया स्रजा । भगवानिति अकिञ्चित्कारे हेतुः । अवतारररूपेऽपि विचार्यमाणे न मुष्टिप्रहारेण किञ्चिन्नश्यति । तत्राप्यादिसूकरोऽतिकठिनः । मनागपि नाऽकम्पत । पश्वादिदेहेषु मक्षिकोपवेशेन कम्पो भवति । प्रहारस्याऽधर्मं कार्यं कम्पः; तत्राप्येकदेशे; तत्राऽपि श्वासेन देहचलनवन्मनाक्; तदपि न : साधनस्य साध्याजननं कथं संगच्छत इत्याशङ्कयाऽऽह [illegible] हत इव द्विपः । न हि स्रजा हतो हस्ती कम्पते । न प्रहारमात्रं दुःखजनकम्, किन्त्वल्पस्य महत्; तथा चेत् प्रकृतेऽपि तुल्यमित्यर्थः ॥१६॥

व्याख्या—विदुर जी विवेकी हैं यों जताने के लिये 'क्षत:' सम्बोधन दिया है । जैसे पुत्रपिता को ताड़ना करे अथवा स्त्री पति के ऊपर पुष्प माला से प्रहार करे उसी प्रकार का यह घूंसे का

अकिंचित् कर प्रहार था क्योंकि आप भगवान् (ऐश्वर्यादि षड्गुण सम्पन्न) हैं, यदि अब भगवान् अवतार दशा मे हैं ऐसा विचार करने पर भी घूँसे के प्रहार से कुछ हानि नहीं उसमें (अवतारों में) भी आदि सूकरावतार स्वयं अति कठोर हैं अतः स्वल्प भी कम्पायमान न हुए, पशु आदि देहों पर मक्षिओं के बंठने से कम्प होता है प्रहार का अधम कार्य कम्पन वह भी शरीर के अल्प भाग में होता है, उसमें भी स्वास चलने की तरह जैसे देह में कुछ कम्प सा होता है वैसे थोड़ा उतना भी भगवान् वराह को घूँसे के प्रहार से न हुआ कारण होने पर कार्य का न होना कैसे संभव है? इस पर कहते हैं कि 'स्रजा हत इव द्विपः' पुष्प माला के प्रहार से हस्ती नहीं कांपता है, वह सकल प्रहार दुःख को पैदा नहीं करता है, महान् प्रहार अल्प को दुःख दे सकता है। किन्तु अल्प प्रहार बड़े को दुःख नहीं दे सकता चालु प्रसंग में भी यों समझना चाहिये ।१६।।

आभास--एवं तस्य सहजं युद्धमुक्त्वा मायिकमाह--

आभासार्थ—इस प्रकार सहज युद्ध कह कर इस श्लोक में मायिक युद्ध कहते हैं-

श्लोक—**अथोरुधाऽसृजन्मायां योगमायेश्वरे हरौ ।**
यां विलोक्य प्रजास्त्रस्ता मेनिरेऽस्योपसंयमम् ।।१७।।

श्लोकार्थ—अनन्तर उस मायावी दैत्य ने मायापति श्री हरि पर अनेक प्रकार से माया का प्रयोग किया जिनको देखकर प्रजाएँ डर गई समझने लगी कि अब संसार का नाश होने वाला है ।।१७।।

सुबोधिनी—**अथोरुधेति** । प्रकारान्तरेण नानाप्रकारां दैत्यानामुपास्यभूतां **मायामसृजत्** । मायेत्यसुराः, तद्धेतान् भूत्वाऽवति' इति श्रुतेः । भगवन्मोहनार्थं मायानिर्माणम्ः, परं भ्रान्तः । अन्यत्रैवैतत् कर्तव्यम्, न तु योगमायाया ईश्वरे । सर्वा माया योगमायाया अंशाः, तस्या अपि भगवानीश्वरो नियन्ता तत्रापि सर्वदुःखहर्ता । अन्याश्च मायाः प्राणिनां दुःखदाः; अतो विचार्यापि, लीलामपि, मायां परदुःखदां हन्ति । तत्र स्वस्य सर्वस्वभूतां चिन्मायां भगवन्निकटे योजयेत्, तदा तां मारयन् स्वस्य सर्वस्वमेव नाशयेदिति तस्य दुर्बुद्धित्वप्रतिपादनार्थं सप्तम्यन्तं पदद्वयम् । तर्हि किमिति प्रयुक्तवानित्याशङ्क्य, लोके माया जये परमसाधनमिति । तस्याः । स्वरूपं गुणाश्च वक्तव्या; तत्र गुणानाह—यां विलोक्येति । यां मायां विलोक्य, सर्वा एव प्रजाः, स्ववधशङ्कया प्रथमतो भीताः, पश्चान्महतीं दृष्ट्वा अस्योपसंयममेव मेनिरे । जगतः प्रलय एव जात इति ज्ञातव्यः ।।१७।।

व्याख्या—अन्य प्रकार से दैत्यों का उपास्य (उपासना करने योग्य) अनेक प्रकार की माया को रचा जैसा कि श्रुति ने कहा है 'मायेत्यसुरा' तद्वैतान् भूत्वा ऽवति इतिश्रुतेः माया ये असुर हैं, वे पैदा होकर इसकी रक्षा करते हैं, इस श्रुति के अनुसार भगवान् को मोहित करने के लिये इसने (हिरण्याक्ष ने) माया को रचा क्योंकि यह मूर्ख था माया की रचना अन्य को मोहित करने के लिये करनी जिस पर अपना प्रभाव प्रकट कर सके। योग माया के ईश्वर के लिये मायाकी रचना व्यर्थ एवं मूर्खता है सर्व माया योग माया का अंश है उस योग माया के भगवान् ईश्वर अर्थात् नियामक है, उस पर भी सर्व के दुःखों को हरने वाले हैं, दूसरी मायाएँ (योगमाया के सिवाय) प्राणियों को दुःख देने वाली है अतः विचार पूर्वक दूसरों को दुःख देने वाली तथा छिपी हुई माया को भी भगवान् नाश करते हैं ऐसे संयोग में यदि अपनी सर्व स्वरूप चिन्माया (जीव की माया) को भगवान् के ऊपर प्रयोग करना चाहे तो क्या उसको मारकर अपना सर्वस्व ही नाश करना चाहे यों उसकी दुर्बुद्धि प्रतिपादन के लिये दो पद सप्तमी विभक्ति के दिये हैं जब यों है तो माया का प्रयोग क्यों किया ? इस शङ्का को मिटाने के लिये कहते हैं कि, लोक में जय पाने के लिये माया उत्तम साधन है उसका स्वरूप तथा उसके गुण कहने चाहिये उन में से पहले गुणों को कहते हैं 'यां बिलोक्य इति' जिस माया को देखकर सकल प्रजा अपना नाश होगा इस शङ्का से पहले डर गई फिर उस (माया) को बढी हुई देख जगत् का नाश हुआ मानने लगी अर्थात् जगत् का प्रलय ही हुआ यों समझने लगी ॥१७॥

आभास—मायायाः स्वरूपमाह—

आभासार्थ—इस श्लोक में तामसी माया का स्वरूप कहते हैं—

श्लोक—प्रववुर्वायवश्चण्डास्तमः पांसवमैरयन् ।
दिग्भ्यो निपेतुर्ग्रावाणः क्षेपणैः प्रहिता इव ॥१८॥

श्लोकार्थ—बड़ी प्रचण्ड आंधी चलने लगी, जिसके कारण धूल से सब ओर अन्धकार छा गया, चारों तरफ से पत्थरों की वर्षा होने लगी वह भी यों जान पड़ती थी कि मानों किसी यंत्र से फेंके जा रहे हैं ॥१८॥

सुबोधिनी—प्रववुरिति । चण्डा वायवोऽसह्याः, प्रकर्षेण ववुः—वान्ति स्म । किञ्च पांसवं तम ऐरयन् प्रकटितवन्तः । तथा पांसुवृष्टिर्जाता, यथा महानन्धकारो भवति । तृतीयं रूपमाह—दिग्भ्यो निपेतु र्ग्रावाण इति । सर्वतः पाषाणा अपतन् । ते पाषाणाश्च न करकावत् पतन्ति, किन्तु क्षेपणेन—दुर्गादिस्थ यन्त्रेणौषधबलेन—यथा पतन्ति । क्षेपणैः प्रहिताः प्राणिनो घातयन्ति, तद्वदित्यर्थः । एषा माया तामसी त्रिविधा ॥१८॥

व्याख्या—जो सहन न हो सके ऐसी भीषण वायु चलने लगी चारों तरफ मायाओं ने धूल से अंधकार फैलादो, तब धूल की वर्षा होने लगी जिससे गाढ़ अन्धेरा हो गया। तीसरा रूप कहते हैं। दिशाओं से पत्थर गिरने लगे, वे पत्थर वर्षा में जैसे बरफ के गड़े गिरते हैं वैसे नहीं गिरने लगेंगे किन्तु जैसे दुर्ग (किले) में रखे हुए यन्त्र से वा गुनेन्न से अथवा औषत्र के (बारूद के) बल से गिराये जाते हैं जिनके पड़ने से प्राणी मर जाते हैं। उसी तरह गिरते थे, यह माया तामसी तीन तरह की थी ॥१८॥

आभास—राजसीमाह—

आभासार्थ—इस श्लोक में राजसी माया के स्वरूप का वर्णन करते हैं-

श्लोक—**द्यौर्नष्टभगणाऽभ्रौघैः सविद्युत्स्तनयित्नुभिः ।**
वर्षद्भिः पूयकेशासृग्विण्मूत्रास्थीनि चाऽसकृत् ॥१९॥

श्लोकार्थ—बिजली की चमक तथा कड़क के साथ बादलों के समूहों से, आकाश में ग्रहगण छिप गये, और उनसे लगातार पीव केश रुधिर विष्ठा मूत्र तथा हड्डियों की वर्षा होने लगी ॥१९॥

सुबोधीनो--द्यौर्नष्टभगणेति । स्वर्गो मेघैः कृत्वा नष्टज्योतिश्चक्रो भवति । अभ्रौघैरिति मेघानामवान्तरजातिभेदा उक्ताः। विद्युतस्तडितः। स्तनयित्नवो गर्जितानि, ताभ्यां सहितैः सात्त्विकैः राजसतामसयोर्द्धर्मयोरत्र सहभावः प्राणिगर्भवधार्थः। मेघानां कार्यमाह-वर्षद्भिरिति । षट् मलानि वर्षन्ति पूयादीन् (?) । पूयकेशासृजः एकप्रकाराः, भयानका बीभत्साः; विण्मूत्रास्थीनि केवलबीभत्सानि । चकारादन्यान्यपि भयानकानि असकृद्वारं वारमिति सहजत्वज्ञापकम् ॥१९॥

व्याख्या--स्वर्ग (आकाश) में बादलों से ग्रहगण छिपे हुए हैं यों जाना जाता है। अभ्रोर्थः पद से मेघों की दुसरी जातियां भी कही हैं वे सात्विक मेघ, बिजली और गर्जना दोनों से युक्त थे, राजस बिजली और तामस गर्जना दोनों का मिलाप प्राणियों के गर्भ का वध करने के वास्ते कहा है। मेघों का कार्य कहते हैं, पीव आदि छ प्रकार के मल बरसाने लगे, उनमें तीन मल पीव, केश और रुधिर एक प्रकार के थे जो भयानक एवं घृणा उत्पन्न करने वाले थे और विष्ठा मूत्र एवं हड्डियाँ केवल घृणा जनक थे, 'च' पद से सूचित किया है कि अन्य भी भयानक पदार्थ बरसाते थे, 'असकृत्' बार-बार बरसाते थे यों कहकर बताया है कि मेघों का यह सहज धर्म हैं ॥१९॥

आभास—सात्त्विकीमाह—

आभासार्थ--निम्न श्लोक में सात्विक माया का वर्णन करते हैं—

श्लोक—गिरयः प्रत्यदृश्यन्त नानायुधमुचोऽनघ ! ।
दिग्वाससो यातुधान्यः शूलिन्यो मुक्तमूर्धजाः ॥२०॥

श्लोकार्थ- हे निष्पाप ! अनेक प्रकार के शस्त्र और अस्त्र फेंकते हुए पर्वत देखने में आये, हाथ में त्रिशूल और खुले हुए बालों वाली नग्न राक्षसियां दीख रही थी ।२०।

सुबोधिनी—गिरय इति । नानायुधमुचः खड्गादीन्यनेकान्यायुधानि मुञ्चन्तीति, साक्षान्मारकत्वं साधनतोऽपीति । **अनघेति** संबोधनं विश्वासार्थं भयाभावार्थं च । सात्त्विकमायाया आधिदैविकान्याह-**दिग्वासस इति । यातुधान्यो** राक्षस्यः, स्वभावतो भयानकाः; दिगम्बराः स्वरूपतोऽमङ्गलाः; **शूलिन्यो** गृहीतशूलाः साधनतो घातुकाः; **मुक्तमूर्द्धजा** मुक्तकेशाः, रूपतो भयानकाः ॥२०॥

व्याख्या—पर्वत तलवार आदि अनेक प्रकार के आयुध (हथियार) फेंक रहे थे स्वयं मारते थे और साधन से भी मारते थे । हे अनध ! यह विशेषण विदूर को देकर सूचित किया है कि आप विश्वासु तथा निर्भय हो, सात्विक माया के आधिदैविक स्वरूप बताते हैं-राक्षसियाँ स्वभाव से भयानक, नग्न होने के कारण स्वरूप से अमङ्गल सूचक त्रिशूल धारण करने से अपने साधन से घातकपन प्रकट कर रही है केश खुले किये थे जिससे रूप से भी भयानकता प्रकट कर रही थी ॥२०॥

आभास—लौकिकप्रकारेणाऽपि मायाया युद्धोपयोगिस्वरूपमाह-

आभासार्थ—इस श्लोक में लौकिक प्रकार से भी माया का युद्ध उपयोगी स्वरूप कहते हैं-

श्लोक—बहुभिर्यक्षरक्षोभिः पत्त्यश्वरथकुञ्जरैः ।
आततायिभिरुत्सृष्टा हिंस्रा वाचोऽतिवैशसाः ॥२१॥

श्लोकार्थ— पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथियों पर चढे हुए यक्ष और राक्षस आदि हिंसक और घातकी वाणी कह रहे थे ॥२१॥

सुबोधिनी--बहुभिर्यक्षरक्षोभिरिति । यक्षराक्षसभेदोऽग्रे वक्तव्यः । **बहुभिरिति** तेषामवान्तरजातयो गृहीताः । दैत्यत्वे एते योधाः । स्वभावतश्चतुर्विधां सेनामाह--**पत्त्यश्वरथकुञ्जरैरिति** । पदातयः, अश्ववाराः, रथाः, गजाश्च सेनाङ्गाः । एवं रूपेणैव मारकत्वमुक्त्वा वचनेनापि तथात्वमाह-**आततायिभिरिति** । शस्त्रपाणिभिः सर्वैरेवोर्ध्वं सृष्टा वाचो जाताः, मारय ताडयेत्याद्याः । तासां विशेषणद्वयमाह-**हिंस्राः** स्वरूपतो हिंसाजनकाः, यथा खट्फट्जहीत्याद्याः । **अतिवैशसाश्च** प्राणिघातमन्त्ररूपाः, यैर्नृपशवो मार्यन्ते ॥२१॥

व्याख्या—यक्ष और राक्षसों में जो भेद होता है वह आगे स्पष्ठ किया जायेगा। बहुभिष्टः पद से इनकी अन्य जातियों की सूचना दी है, दैत्यपन से ये योद्धा हैं ही स्वभाव से चार प्रकार की सेना होती है वह बताते है पैदल, घुड़सवार, रथी, हाथी पर चढ़े हुए ये सेना के अङ्ग हैं, इसी तरह रूप से ही उनका घातकपन कहकर, वाक्यों से भी वैसे ही हैं सबों के हाथों में शस्त्र थे और वाणी से जोर से, हिंसक शब्द मारो मारो-काटो काटो कहते जाते थे वे शब्द स्वरूप से हिंसा करने वाले थे। जैसा कि खट फट जल्हो (नाश करो) आदि शब्द और प्राणियों का घात करने के समय बोले जाने वाले मन्त्र रूप शब्द जिनसे मनुष्य तथा पशु मारे जाते हैं ॥२१॥

आभास—एवं चतुर्विधं मायारूपमुक्त्वा तस्याः प्रतिकारमाह—

आभासार्थ—इस तरह माया के चार प्रकार के रूप कह कर इस श्लोक में उसका उपाय कहते हैं—

श्लोक—प्रादुष्कृतानां मायानामासुरीणां विनाशनम्।
सुदर्शनास्त्रं भगवान्प्रायुङ्क्तदयितं त्रिपात्॥२२॥

श्लोकार्थ—आसुरी मायाओं का नाश करने के लिए उनका नाशक अपने प्रिय सुदर्शनास्त्र को यज्ञ रूप भगवान् ने तैयार कर उन पर छोड़ा ॥२२॥

सुबोधिनि—प्रादुष्कृतानामिति। यास्तु मायाः, तेन विसृष्टा अपि भगवद्भयात् न प्रादुर्भूताः; ता न मारिताः। यास्तु प्रादुर्भूताः, तत्र स्वकीया अपि सजातीयप्रतिबन्धार्थं प्रादुर्भूताः; तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—**आसुरीणामिति**। विशेषेण नाशनं यस्मात्, पुनस्तासामन्यत्राऽप्यनुत्पत्तेः सुदर्शनास्त्रमिति शस्त्ररूपे सुदर्शने मन्त्रात्मकं सुदर्शनास्त्रं योजयित्वा, पश्चात् सुदर्शनं प्रक्षिप्तवानित्यर्थः। ननु सा देवता सात्त्विकीति न तां मारयेदित्याशङ्क्याऽऽह—**दयितमिति**। तदत्यन्तं प्रियम्, प्रियस्य हितं करिष्ययेवेत्यर्थः। **त्रिपाद्यज्ञः**, सवनत्रयात्मकत्वात्। मायाविनाश एक यज्ञोत्पत्तेस्तस्य तदावश्यकत्वमित्यर्थः। यज्ञस्य परकृतिसाध्यत्वव्यावृत्त्यर्थमाह—**भगवानिति** ॥२२॥

व्याख्या—यद्यपि उसने मायाओं का प्रयोग किया किन्तु भगवद्भय से कितनी ही प्रकट नहीं हुई उनका तो नाश नहीं किया, जो प्रकट हुई और अपनी सजातियों के प्रतिबन्ध के लिए ही प्रकटी थी उनका भी नाश नहीं किया, शेष जो आसुरी थी जो ही विशेष नाश कर रही थी जिनका अन्यत्र उपयोग न होने से वहां ही उत्पत्ति हुई थो, उनके लिए शस्त्र रूप सुदर्शन में मन्त्र रूप सुदर्शन स्थापित कर फिर उन (आसुरियों पर फेंका। वह देवता सात्विकी होने से उनको कैसे मारेगा? अर्थात् नहीं मारेगा इस शङ्का का निवारण करने के लिए कहते हैं कि, (दयितं) वह भगवान् का अत्यन्त प्यारा है जिसके लिए प्यारे भगवान् का हित जिसमें हो वह कार्य

अवश्य करेगा ही। 'त्रिपात्-यज्ञ:, सवनत्रयात्मकत्वात्' यज्ञ तीन सवन रूप हैं, अर्थात् यज्ञ पुरुष के लिए जो सवन (सोमरस) निकाला जाता है वह प्रातः मध्यान्ह और सायं तीन समय में निकालने से इसको (यज्ञ को) सवनत्रय रूप कहने में आता है, यज्ञ की उत्पत्ति तब होती है जब माया का विशेष रीति से अर्थात् पूर्ण नाश हो इसलिए इसका (माया का) नाश आवश्यक था, यज्ञ की सिद्धि दुसरे से हो नहीं सकती, इसलिए भगवान् पद दिया है अर्थात् भगवान् ने ही यह कार्य अपने लिये किया जो अन्य से होने का नहीं था ॥२२॥

आभास—एवं मायायुद्धमप्युक्त्वा, तस्य कामनां पूरयित्वा, मारणार्थमिच्छां कृतवान्; तदा तस्य मृत्युसूचकं दुर्निमित्तं जातमित्याह—

आभासार्थ—इस तरह माया द्वारा किये हुये युद्ध का और उसकी कामना पूर्ण का वर्णन किया, अनन्तर भगवान् ने उसको मारने की इच्छा को तब उसके मृत्यु सूचक दुष्ट चिन्ह व कारण होने लगे जिनका वर्णन निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—तदा दितेः समभवत्सहसा हृदि वेपथुः।
स्मरन्त्या भर्तुरादेशं स्तनाच्चाऽसृक् प्रसुस्रुवे ॥२३॥

श्लोकार्थ—उस समय पति के भविष्य वाणी का स्मरण हो आने से दिति के हृदय में सहसा कम्प होने लगा और उसके स्तनों से लोहू बहने लगा ॥२३॥

सुबोधिनि—तदा दितेरिति। स्वस्थाने स्थिताया दितेस्तस्मिन् काले हृदये कम्पो जातः। भयं कारणे प्रथमं प्रविष्टं कार्ये चेत् समायाति, तदा नियतं भवतीति तथा वचनम्। वेपथुः। आराद्विप्रियदानं पूर्वमुक्तम्। पुत्रमरणमेव भविष्यतीति च ज्ञातवती, तदाह-**स्मरन्त्या भर्तुरादेशमिति।** 'तदा विश्वेश्वरः क्रुद्धः' इति कश्यपवाक्यं स्मृत्वा, अकस्माद्धृदये कम्पे जाते, पुत्रनाशमेव निश्चितवतीत्यर्थः। किञ्च, निमित्तान्तरमपि जातमित्याह-**स्तनाच्चाऽसृक् प्रसुस्रुव इति।** इदं पुत्रनाशसूचकमेव, स्तन्यं दुग्ध तस्य पोषकम्, रुधिरं नाशकमिति। चकारात् हृदयं तथैव वदतीत्युक्तम् ॥२३॥

व्याख्या—अपने स्थान पर बैठी हुई दिति के हृदय में उस समय कँप हुआ, जब भय पहले कारण में प्रवेश कर, फिर कार्य में आता है तब वह स्थिर होता है, इसलिए वैसे कहा है। 'वेपथुः' कांपना सर्व प्रकार से अप्रिय करने वाला है यों प्रथम कहा है। इस कँम्प से समझ गई कि अब पुत्र की मृत्यु होने वाली है, उसको कहते हैं 'स्मरन्त्या भर्तुरा-देशमिति' पति का वाक्य स्मरण हो आया, 'तदा विश्वेश्वरःक्रुद्ध' विश्व के ईश्वर कुपित हुए हैं ये पति के वचन स्मरण आते ही हृदय में अचानक कँम्प होने लगा, जिससे पुत्र का अब नाश होगा यों निश्चित समज गई,

और दुष्ट निमित्त भी होने लगे जैसे कि स्तनों से रक्त बहने लगा, यह खून बहना पुत्र नाश का सूचक है, स्तनों से तो दूध बहता है जो पुत्र पोषक है वह न बहकर जो खून बहता है वह उसका नाशक है यह निश्चय 'च' पद से कहते हैं कि हृदय भी यह ही सूचना देता है ॥२३॥

आभास—एवं निमित्ते जाते विनष्टायामपि मायायाम्, सर्वस्मिन्नेव पौरुषे प्रतिहते, यदि नाऽऽगच्छेत्; तदा भगवानक्लिष्टकर्मा न मारयेदिति सूचनार्थं तस्य पुनरतिक्रममाह—

आभासार्थ—इस तरह मृत्यु सूचक निमित्त (अपशकुन) होने लगे माया भी नाश हुई सर्व प्रकार का पौरुष भी नाश हुआ ऐसी दशा हो जाने पर अक्लिष्ट कर्मा भगवान् उसको कैसे मारे ? अतः उसने भगवान् पर फिर अतिक्रमण किया जिससे भगवान् को मारने का अवसर मिला, यह इस श्लोक में कहते है—

श्लोक—विनष्टासु स्वमायासु भूयश्चाऽऽव्रज्य केशवम् ।
रुषोपगूहमानोऽमुं ददृशेऽवस्थितं बहिः ॥२४॥

श्लोकार्थ—अपनी मायाओं का नाश हो जाने पर, फिर भगवान् के पास आकर उनको क्रोध से दबाकर भुजाओं में ले लिया किन्तु देखा तो वे बाहर ही खड़े थे ।२४।

सुबोधिनी—विनष्टास्विति । सर्वा एव माया विनष्टाः, स्वांशे यावत्यः पातिता इति ज्ञापयति-स्वेति । पूर्वं मुष्टिमारणे यथा समागतः, भूयश्चाऽपि तथैव समागत्य रोषेण भगवदुपगूहनं कृतवान्, घृत्वा स्थानान्तरे नेस्यामिति । तदा सूक्ष्मो भगवान् जातः, तस्य हस्तान्मध्ये विनिर्मुक्तो बहिरेवाऽवस्थितः । तदा तं निकटे स्थितं भगवन्तं दृष्टवानित्याह-ददृशेऽवस्थितमिति ॥२४॥

व्याख्या—अपने भाग में जितनी मायाएँ आई वे सकल ही नाश हो गई यों 'स्व' पद से सूचित किया है, पहले घूंसा मारने के समय जैसे आया था, फिर भी वैसे ही आकर क्रोध से भगवान् को भुजाओं में इसलिए पकड़ा कि इसको दूसरे स्थान पर ले जाऊँगा, तब भगवान् सूक्ष्म बन उसकी भुजाओं से निकल गए और देखा तो बाहर निकट ही खड़े हैं ।२४।

श्लोक—तं मुष्टिभिर्विनिघ्नन्तं वज्रसारैरधोक्षजः ।
करेण कर्णमूलेऽहन्यथा त्वाष्ट्रं मरुत्पतिः ॥२५॥

श्लोकार्थ—वह भगवान् को वज्र के समान कठोर मुक्कों से मारने लगा, तब जैसे इन्द्र ने वृत्रासुर को मारा था उसी तरह भगवान् ने उसकी (दैत्य की) कनपटी पर हाथ से एक प्रहार किया ॥२५॥

सुबोधिनी—तं मुष्टिभिरिति । एवमव्यमारयन्तं भगवन्त पुनर्मुष्टिभिरताडयत्, यथा बालको मातरं पितरं वा । विशेषेण निनघ्नतमिति तथा मारणे हेतुः । हेत्वन्तरमाह–**वज्रसारै** रति । वज्रपातादपि कठिनैः । उद्वेगान्मारणं व्यावतयति–**अधोक्षज इति** । इन्द्रियजन्यं ज्ञानं कर्म वा न भगवन्तं स्पृशतीति बहिर्मुखत्वान्मारणमिति भावः । मारणप्रकारमाह-**करेण कर्णमूलेऽहन्निति**। अग्रिमपादः करः । सुदर्शनेन हनने मुक्तिः स्यादिति क्रियाशक्त्या हनने पुनर्भवश्च सूचितः । एतद्वधे प्रयोजनमाह–**यथा त्वाष्ट्रं मरुत्पतिरिति** । वृत्रो हि तेजोऽस्त्रयुधसम्पदो गिलितवान्, तद्वधे पुनः प्राप्ताः; अन्यथा अतिप्रवृद्धो लोकानेवाऽऽवृणुयात् । अतो लोकरक्षार्थम्, देवहितार्थम्, स्वस्य सेवकसिद्धर्थं च हतवानित्यर्थः ॥२५॥

व्याख्या– यों होने पर भी भगवान् ने मारा नहीं तब दैत्य ने फिर मुक्कों से भगवान् पर ऐसे प्रहार किया जैसे बालक माता व पिता को प्रहार करता है जोर से प्रहार मारने के कारण हुआ, फिर दूसरा कारण 'वज्रसारैः' विशेषण से कहा है कि वे मुक्के वज्र के पात से भी कठिन थे, भगवान् को इसके प्रहारों पर दुःख हुआ इसलिए भगवान् ने इसको मारा यों नहीं हैं, यह भगवान् का 'अधोक्षज' नाम से सूचित किया इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न कर्म का ज्ञान भगवान् तक पहुँचते नहीं इसलिए हाथ से मुक्कों का प्रहार भगवान् तक पहुँचा हो नहीं जिससे भगवान् को दुःख हुआ हो तो क्यों मारा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि बहिर्मुख (अज्ञानी) था इसलिए मारा, मारने का प्रकार कहते हैं, 'करेण, कर्ण मूले अहऽहन्य' अगले पाद से कान के मूल में प्रहार किया जिससे मरा, यदि सुदर्शन से मारते तो मुक्ति होती इसलिए क्रिया शक्ति से मारा, जिससे सूचित किया कि इसका दूसरा जन्म भी होगा, इसके मारने का अन्य प्रयोजन बताते हैं 'यथात्वाष्ट्रं मरुत्पतिः' जैसे इन्द्र ने वृत्र को मारा वृत्र तेज अस्त्र और आयुध निगल गया था उसके मारने के अनन्तर वे सर्व प्राप्त हुए नहीं मारा जाता तो विशेष बढ़ने से लोकों को अपने भीतर समा लेता अतः लोक रक्षार्थ, देवताओं के कल्याण के लिए अपना यह सेवक है इसको सिद्धि के लिए मारा यह आशय है ॥२५॥

आभास–तस्य हिरण्याक्षस्य हननानन्तरं जातं स्वरूपमनुवर्णयति–

आभासार्थ--मरने के बाद हिरण्याक्ष का स्वरूप इस श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक–स आहतो विश्वसृजा ह्यवज्ञया परिभ्रमद्गात्र उदस्तलोचनः ।
विकीर्णबाह्वङ्घ्रिशिरोरुहोऽपतद्यथा नगेन्द्रो लुलितो नभस्वता ॥२६॥

श्लोकार्थ–विश्व की रचना करने वाले प्रभु ने यद्यपि बहुत उपेक्षा पूर्वक मामूली प्रहार किया था तो भी उस मामूली प्रहार से उसका (हिरण्याक्ष का) शरीर चारों तरफ घूमने लगा, और नेत्र ऊंचे चढ़ आये अर्थात् बाहर निकल आये. तथा

हाथ पैर एवं केश बिखर गये अर्थात् छिन्न भिन्न हो गये, और वह दैत्य प्रचंड वायु से उखड़े हुए महान् वृक्ष के समान पृथ्वी पर गिर पड़ा ।।२६।।

सुबोधिनी—स आहत इति । विश्वसृजा अवज्ञयाऽऽहतोऽपतदिति सम्बन्धः । आ ईषत् । ननु भगवतस्तस्य वधे क उपकार इत्याशङ्क्याऽऽह-**विश्वसृजेति** सृष्ट्यर्थं तस्य वध इत्यर्थः । स हि रजोगुणाभिमानी रजः प्रतिबध्य तिष्ठति । ईषद्धननं च तन्मात्रनिराकरणाय, न तु रजसः । इममेवार्थं हिशब्द उपपादयति, तदमारणे रजसः कार्याक्षमत्वात् । यद्यपि रज एव ततः पृथक्कर्तुं शक्यते, न मारणमपेक्षितम्; तथापि प्रयत्नस्य तुल्यत्वात् हननमेव कृतम् । तदाह-**अवज्ञयेति** । मरणं भगवत उद्देश्यं न भवतीत्यर्थः । परिभ्रमद्गात्रं यस्य, करेण ताडितो भ्रमतीति । उदस्ते लोचने यस्य; ऊर्द्ध्वं निर्गते लोचने । स हि केवलराजसोऽपि बीजवशात् सत्त्वसहितोऽपि भवति । सत्त्वेन चोत्तरत्रोपकारः, प्रकृते च नाशः अन्यथा रजः प्रतीबन्धः स्यात् । अत एव प्रथमं रजसो विक्षेपममाह-**परिभ्रमद्गात्र इति** । लोचने तु सत्त्वं बीजजीवभेदादुभयविधमिति **लोचने** इति द्विवचनम् । परिभ्रमणेन बहुधा रजसः प्रवृत्तेर्ब्रह्मादीनां विक्षेपणम् । वर्णानामस्मिन् कल्पे नानाप्रकारेणोत्पत्त्यर्थं । बाहवोऽङ्घ्रयः शिरोरुहाश्च विकीर्णा येन । विकीर्णेति । क्रियाशक्तिर्गतिर्जन्म विकीर्णं तस्य चेति विफलतया तस्य सर्वे संस्कारा निवारिताः । अन्तरिक्ष एव प्राणा गता इति तस्याऽग्रे राक्षसत्वं भक्तत्वं च । भूमौ तु प्राणा न गता इत्याह-**व्यसुरपतदिति** । तथात्वे ज्ञापकं दृष्टान्तेनाऽऽह-**यथा नगेन्द्र इति** । वृक्षश्रेष्ठो यथा नभस्वता वायुनोन्मूलितः पततीत्यर्थः ।।२६।।

व्याख्या – विश्व के उत्पादक ने अवज्ञा के कारण होने पर भी उपेक्षा पूर्वक मामूली प्रहार किया जिससे वह गिर गया यों अन्वय (वाक्य का सम्बन्ध) है 'हत'के पूर्व दिया हुआ 'आ' का तात्पर्य ईषत् अर्थात् मामूली है, भगवान् ने उसका वध कर कौनसा उपकार किया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'विश्वसृजा' शब्द से सूचित किया कि सृष्टि की रचना के लिए ऐसा न करते तो वह दैत्य रजोगुणाभिमानी होने से रजोगुण को रोक रखता जिससे सृष्टि होने में सङ्कट होता इसलिए मामूली प्रहार कर उसका (दैत्य का) केवल नाश किया, रजोगुण का नहीं, इस अर्थ को 'हि' शब्द से प्रतिपादन किया है, यदि दैत्य को न मारा जाता तो रजोगुण अपना कार्य (सृष्टि की उत्पत्ति) नहीं कर सकता था यद्यपि रज को ही उससे पृथक् किया जा सकता फिर मारने को आवश्यकता न रहती यों सत्य है किन्तु तो भी प्रयत्न उतना ही करना पड़ता था इसलिए मारना ही उचित समझा क्योंकि इसने अवज्ञा (अपमान) की थी जिसका दण्ड देना आवश्यक था यह मारा जाय, भगवान् का ऐसा उद्देश्य (लक्ष्य) नहीं था केवल दण्ड देना ही लक्ष्य था ।

मरने के अनन्तर उसका शरीर चारों तरफ भ्रमण करने लगा, कारण कि हाथ से जिसका प्रहार किया जाता है वह घूमता फिरता रहता है जिसके नेत्र बाहर निकल आए थे

क्योंकि वह केवल राजस होते हुए भी बीज के कारण, सत्वगुण वाला भी था इसलिए अन्त में इसके ऊपर कृपा करेंगे इस समय नाश किया है, नहीं तो रजवृद्धि में रुकावट होती, इस कारण से पहले ही रजोगुण के निकालने की सूचनार्थं मात्र घूम रहा था, नेत्रों में तो बीज तथा जीव दोनों को सत्व होने से दो लोचन कहे है, देह चारों तरफ फिरने से सूचित किया है कि रजोगुण की अनेक प्रकार से अब प्रवृत्ति होगी इसलिए ही हाथ पैर तथा केश बिखर गऐ थे, इससे यह समझाया है इसकी क्रिया शक्ति, जन्म और गति तीनों ही छिन्न भिन्न हो जाने से संस्कार रुक गये। अन्तरिक्ष में ही प्राण गये इससे बताया है कि आगे यह भक्त और राक्षस होगा। पृथ्वी पर इसके प्राण नहीं निकले पृथ्वी पर गिरने से पहले ही प्राण निकल गये इसलिए कहा है कि 'व्यसुवतत्' प्राण रहित देह गिरा, जैसे महान् श्रेष्ठ वृक्ष वायु से उखड़ जाने से गिर पड़ता है वैसे-यह भी प्राण रूप मूल के निकल जाने से पृथ्वी पर गिर गया ।।२६।।

आभास – मृतं वर्णयति–

आभासार्थ– मरे हुये का इस श्लोक में वर्णन करते है —

श्लोक–क्षितौ शयानं तमकुण्ठवर्चसं करालदंष्ट्रं परिदष्टदच्छदम् ।
अजादयो वीक्ष्य शशंसुरागता अहो ! इमां को नु लभेत सस्थितिम् ।२७।

श्लोकार्थ–वहाँ आए हुये ब्रह्मा आदि देव पृथ्वी पर सोये हुये हिरण्याक्ष को वैसे ही तेज वाला कराल दाढ़ों वाला दांतों से होठ चबाता देख, उसकी प्रशंसा करने लगे कि इसकी इस प्रकार की अलभ्य मृत्यु होना आश्चर्य का विषय है ।।२७।।

सुबोधिनि—क्षितौ शयानमिति। मृत्युग्रस्तो हि विवर्णो भवति, अयं तु भगवत उपसंहृत इति न कुण्ठं वर्चो यस्य। करालादंष्ट्रा यस्येति मरणसमये यमस्य करालत्वादग्रे राक्षसत्वम्; अधरस्य लोभस्य स्नेहेन विद्धत्वान्मानुषत्वं च; परितो विद्धत्वान्मरणान्तं लोभः। अस्य मरण सर्ववादिसम्मतत्वेन समीचीनमिति ज्ञापयितुं ब्रह्मादीनां स्तोत्रम्। फलस्य कर्मवीरुद्धत्वात् हिरण्याक्षेण तादृशी गतिः प्राप्तेत्याश्चर्यम्। **सस्थिति** मृत्युम्। विरुद्धकर्ता नैवं प्राप्नोतीति को नु लभतेत्यश्चर्योक्तिः। फलविरुद्धा तस्य कृतिश्च ह्यणेव निरूपिता ।।२७।।

व्याख्या—मरा हुआ निस्तेज होता है इसको तो भगवान् ने, मारा था इस कारण से इसका तेज कम नहीं हुआ था, मरने के अनन्तर भी दाढ़े कराल ही थी जिससे सूचित किया है कि मरने के अनन्तर राक्षस जन्म मिलेगा और लोभ रूप हो दाँत से चबाता था, इससे जताता है कि मनुष्य जन्म नहीं मिलेगा। होठ चारों तरफ चबाने के कारण मरण पर्यन्त लोभ रहा, इसका मरना सर्ववादियों को सम्मत था इसलिए उत्तम मरण था यों जताने के लिए ब्रह्मादि ने मरने की प्रशंसा

की है, हिरण्याक्ष को जो फल मिला है वह उसके कर्मो के विरुद्ध है । यह आश्चर्य है 'संस्थिति' अर्थात् मृत्यु भगवान् के विरुद्ध कार्य करे उसकी ऐसी उतम गति होनी नहीं किन्तु इस की हुई यह आश्चर्य है । इसके कर्म, फल के विरुद्ध है यों ब्रह्माजी ने ही निरूपण किया है ।।२७।।

आभास—न चैतत्फलं तादृशमेवेति शङ्कनीयम्, किन्तु परमोत्कृष्टयोगस्यैतत्फलमित्याह—

आभासार्थ—यह फल कर्मके समान ही है यों न समझना, किन्तु फल परम उत्कृष्ट (उत्तम) है, कर्म तो निकृष्ट थे यों इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—यं योगिनो योगसमाधिना रहो ध्यायन्ति लिङ्गादसतो मुमुक्षया ।
तस्यैष दैत्यऋषभः पदा हतो मुखं प्रपश्यंस्तनुमुत्ससर्ज ह ! ।।२८।।

श्लोकार्थ—प्राकृत लिङ्ग देह से छूटने के लिए जिन परपुरुष का योगीजन एकान्त में समाधि योग द्वारा ध्यान करते हैं उनके ही चरण प्रहार से इस दैत्य श्रेष्ठ ने अपना शरीर त्यागा एवं अन्त समय में उनके मुखारिबन्द के ही दर्शन कर रहा था ।।२८।।

सुबोधिनी—**यं योगिन** इति । यं भगवन्तम्, **योगिनो** जितयोगाः, योगेनैव समाधिं प्राप्य एकान्ते तत्र ध्यायन्ति । **असतः** प्राकृतात्, **लिङ्गात्** समुदायात्, **मुमुक्षया** । अस्य वराहस्य मानस्यपि मूर्तिर्मार्गान्तरस्थैरपि चिन्तिता समाधौ मोक्षमुत्पादयति, तत्र साक्षाद्भगवान्; तस्या अपि गतिदायी, भक्तानामाश्रयभूतः पादः । अयं च स्वधर्मनिष्ठ इत्याह—**दैत्यऋषभ** इति । किञ्च, मरणकाले ज्ञानं पूर्णम्, यतो **मुखं पश्यन् तनुमुत्ससर्ज** । तां सन्ततिमेव त्यक्तवानित्यर्थः । ब्रह्मा देवान् प्रति तस्य फलमाहाऽऽश्चर्यमिति ।।२८।।

व्याख्या—सूक्ष्म इन्द्रियों के समूह के रूप प्राकृत लिङ्ग देह से छूटने के लिए सिद्ध-योग योगी, समाधि के द्वारा एकान्त में जिन परब्रह्म का ध्यान करना (दर्शन करना) चाहते हैं, इस वराह की मानसी मूर्ति को अन्य मार्ग में स्थित भी समाधि में चिन्तन कर (लिङ्ग देहसे) मोक्ष प्राप्त करते है, वहां साक्षात् (प्रत्यक्ष) भगवान् फिर उसमें भी विशेषता यह कि उनके भक्तों के आश्रय रूप सबको मोक्ष देने वाले चरण और यह दैत्योत्तम अपने धर्म में निष्ठा वाला, तथा मरण समय में पूर्ण ज्ञानवान, क्योंकि भगवान् के मुखारविन्द के दर्शन करते हुये शरीर का त्याग किया उस दैत्य परम्परा को छोड़ दिया, ब्रह्मा देवताओं को उसका फल कहते हैं कि यों होना आश्चर्य है ।।२८।।

आभास—एवमपि मरणे जन्मान्तरसंबन्धे सति च विस्मयेन विस्मितान् प्रत्याह–

आभासार्थ–मरणानन्तर भी अन्य जन्मो के सम्बन्ध रहे यह विस्मय जैसा है अतः विस्मित देवों को ब्रह्मा इस श्लोक में निम्न प्रकार से समझाते हैं–

श्लोक-**एतौ तौं पार्षदावस्य शापाद्यातावसद्गतिम् ।**
पुनः कतिपयैः स्थानं प्रपत्स्येते ह जन्मभि. ।।२६।।

श्लोकार्थ–ये दोनो इन भगवान् के वे पार्षद हैं, जो शाप के कारण असत् गति की प्राप्त हुये हैं फिर कितने जन्मों के अनन्तर अपने-अपने स्थान को प्राप्त करेंगे ।।२६।।

सुबोधिनि—एताविति । तौ पूर्वोक्तो । **अस्यैव पार्षदाविति** एवं फल नाऽऽश्चर्यम् । एवंभावे हेतुमाह–**शापा द्यातावसद्गतिमिति** । तर्हि कदा निस्तार इत्याकाङ्क्षायामाह-**पुनः कतिपयैरिति** । अनेन सहजन्मनां त्रैविध्यम् । सम्भावनया बहुवचनम्, कर्मणां दुर्ज्ञेयत्वात् । २६।।

व्याख्या--वे पहले कहे हुए इनके ही पार्षद हैं, इसलिए इस प्रकार की फल प्राप्ति में आश्चर्य नहीं है, ऐसा स्वभाव (असुर भाव) होने के कारण शाप से इस असत् गति को प्राप्त हुऐ हैं, तब इनका छुटकारा कब होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि, (पुनः कतिपयै) फिर कितने हो जन्मों के बाद अपने स्थान को प्राप्त करेंगे, इस जन्म के साथ तीन प्रकार के जन्म लेने के बाद छुटकारा होगा, कर्मो की गति विचित्र है अतः इस कल्पना से वहुवचन दिया ।।२६।।

आभास–एवं तं स्तुत्वा भगवतोऽनवगाह्यमाहात्म्यमवगत्य तं नमति—

आभासार्थ–इस प्रकार उसकी (असुर की) प्रशंसा कर भगवान् का माहात्म्य अज्ञेय है तथा अनन्त जानकर उनको इस श्लोक में देवता प्रणाम करते है--

देवा ऊचुः श्लोक- -**नमो नमस्तेऽखिलयज्ञतन्तवे स्थितौ गृहीतामलसत्त्वमूर्तये ।**
दिष्टाया हतोऽयं जगतामरुन्तुदस्त्वत्पादभक्त्या वयमीश ! निर्वृताः।३०।

श्लोकार्थ—सकल यज्ञों के विस्तार करने वाले पालन करने के लिए शुद्ध सत्त्वमय आनन्द विग्रह धारण करने वाले आपको नमस्कार है नमस्कार है । प्रसन्नता है कि जग के मर्म स्थानों को चोट पहुँचाने वाला यह दुष्ट दैत्य मारा गया । हे ईश ! अब आपके चरण कमलों की भक्ति से हम भी सुख शान्ति से समय व्यतीत कर सकेंगे ।।३०।।

सुबोधिनी--नमो नम इति । आदरे वीप्सा । एकं भगवत: कार्यं बहूनि फलानि साधयतीति भगवतो बहु कार्यं निरूपयन्ति । तत्र प्रथमं सृष्टयर्थं यज्ञाविर्भावो निरूप्यते, अन्यथा कदाचित्केचन यज्ञाः केषांचिदाविर्भूता भवन्ति अत्र तु सर्वं एवाऽऽविर्भावित: । तदाहु:--**अखिलयज्ञतन्तव इति** । अखिला ये **यज्ञतन्तवो** यज्ञसंस्था:, तद्रूपो भवान् किञ्च, रक्षा भगवतो धर्मः साक्षाद्विशेषाकारेण; तदप्यनेन रूपेण सिद्धमित्याह--**स्थित्यर्थं** गृहीता अमला सत्वमूर्तिर्येन । **अमलं** गुणान्तरामंबद्धम् । धर्मग्लानिरपि निर्वर्तितेत्याह--**दिष्ट्या हतोऽयमिति** । परमभाग्येनाऽयं हत: । धर्मो हि भाग्यम्, धर्मस्य पोषकम् । एतद्वधे धर्मरक्षायां बीजमाह- **जगतामरुन्तुद इति । अरुर्मर्म** । देवभक्तिरक्षाऽप्यनेन-**सिद्धेत्याहुस्त्वत्पादभक्त्येति** ।**वयं** देवा: । ईशेति संबोधनं सर्वत्र सामर्थ्यबोधकम्, एकस्यैव सामर्थ्यस्य तथात्वबोधकं वा । **निवृता:** सुखिता:, हिरण्यकशि-पोरौद्धत्याभावत्, उपस्थितदु: खनाशाद्वा ।।३०।।

व्याख्या—आदर दिखाने के लिए दो दफा प्रणाम किया गया है, भगवान् का एक कार्य अनेक फलों को सिद्ध करता है ये भगवान के वे बहुत कार्य कहते हैं, उनमे से प्रथम सृष्टि के लिए यज्ञ का आविर्भाव कहते हैं अन्य प्रसंग में कब कितनेक यज्ञ का किनके लिए प्रकट होते हैं यहाँ तो अर्थात् इस बराह स्वरूप में तो सकल यज्ञ प्रकट हैं वह कहते है, 'अखिलाये यज्ञ तन्तवो' सम्पूर्ण यज्ञों के जो प्रकार है वे सब आपमें हैं अर्थात् समस्त यज्ञों के रूप आप हैं, और विशेष रक्षा करना भगवान् का धर्म है वह भी साक्षात् विशेष आकार से, वह भी इस रूप से सिद्ध हुआ है, इसलिए कहते हैं, 'स्थित्यर्थं गृहीता अमला सत्व मूर्तिर्येन' पालन करने के लिए ही, अमल (रजतम गुण रहित) शुद्ध सत्व गुणमयी मूर्ति जिसने धारण की है, इससे धर्म की ग्लानि (हानि) भी निवृत्त हुई है, इसलिए कहते हैं कि दिष्टया हतोऽयम्' प्रसन्नता है कि यह (दैत्य) मारा गया, इसका मारना परम भाग्य का सूचक है धर्म ही भाग्य है वह ही उसका पोषक है यह दैत्य जगत् के धर्म स्थानों को पीड़ा करने वाला था इसके मरने से धर्म का रक्षण हुआ है जगत् सुखी होगा क्योंकि धर्म की प्रवृत्ति होगी इससे देवों की भक्ति की भी रक्षा हुई। इसलिए ये कहते हैं, 'त्वत्पाद भक्तया' आपके चरणों की भक्ति से अब हम सुखी हुऐ हैं, हे ईश ! इस सम्बोधन से बताया है आपको सामर्थ्य सर्वत्र है, आपकी एक ही सामर्थ्य सब कुछ कर सकती है, हम सुखी हुवे हैं क्योंकि अब हिरण्यकशिपु की उद्धताई न रही है एवं जो मौजूद दुःख था वह भी नाश हो गया है ।।३०।।

आभास-एवं भगवानवतारं कृत्वा तदुपसंहारं चकारेत्याह—

आभासार्थ—इस तरह भगवान् ने अवतार धारण कर उस दुष्ट का उपसंहार किया यों निम्न श्लोक में कहते है-

मैत्रेय उवाच-श्लोक-एवं हिरण्याक्षमसह्यविक्रमं स सादयित्वा हरिरादिसूकरः।
जगाम लोकं स्वमखण्डितोत्सवं समीडितः पुष्करविष्टरादिभिः ॥३१॥

श्लोकार्थ-मैत्रेय जी ने कहा हे विदुरजी ! इस प्रकार असह्यपराक्रम वाले हिरण्याक्ष का वध कर ब्रह्मादि देवों से स्तुत भगवान् आदि-वराह जहाँ कदापि उत्सव बन्ध नहीं होते हैं वहाँ जैसे अपने आनन्दमय धामको पधार गये ।३१॥

सुबोधिनी-एवमिति असह्यविक्रमं हिरण्याक्षं सम्यक् सादयित्वा स्वंलोकं जगामेति संबन्धः। असह्यविक्रम इति तद्गतो दोषो मारणे हेतुः। आदिसूकर इति शीघ्रं तिरोभावे हेतुः। आदिपदं चाऽलौकिकपरम्, तेन तस्य दोषाभावः। स्वमित्यावश्यकम्। यद्यप्यत्रापि स्थितिः कीर्तिजनकिका भवति, तथाप्यखण्डितोत्सवो लोको वैकुण्ठाख्यः। उत्सवा हर्षहेतवो न कदाचिदपि खण्डिता भवन्तीत्यवतारकार्यंसमाप्तिं सूचयति। पुष्करविष्टरादिभिः कमलासनब्रह्मादिभिः सम्यक् स्तुतः ॥३१॥

व्याख्या—असह्यविक्रम हिरण्याक्ष का पूर्व रीति से नाश कर अपने लोक को पधारे, यों अन्वय है, उसके मारने का हेतु 'असह्यविक्रम' दोष है 'हरि' पद से यह सूचित किया है कि ऐसे के वध में मेरा धर्म हेतु है, आप शीघ्र तिरोहित इसलिए हुए कि आप आदि-वराह हैं, वराह को आदि कहने से उसकी आलौकिकता प्रतिपादन की है, इससे वे निर्दोष हैं यों सूचित किया है अपने लोक में कहने से बताया है कि वहां आपकी आवश्यकता थी यद्यपि यदि वहां विराजते, तो वह विराजना यशः कर होता, तो भी जिसमें प्रति क्षण उत्सव ही उत्सव होते रहते है वह लोक तो वैकुण्ठ नाम वाला ही है उत्सव ही हर्ष के कारण है कभी भो बन्द नहीं होते हैं, यों कहकर अवतार कार्य की समाप्ति को सूचित करते हैं ब्रह्मादि देव भगवान् के, पधारने के समय उनकी स्तुति कर रहे थे ॥३१॥

आभास—एवं वराहचरित्रमुक्त्वा तस्य चरित्रान्तरमप्येवं भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—इस तरह वराह का चरित्र कह कर उनका दूसरा चरित्र भी यों ही होगा ऐसी शंका होने पर निम्न श्लोक कहते है-

श्लोक--**मया यथानूक्तमवादि ते हरेः कृतावतारस्य सुमित्र ! चेष्टितम्।
यथा हिरण्याक्ष उदारविक्रमो महामृधे क्रीडनवन्निराकृतः ।३२॥**

श्लोकार्थ-हे सुमित्र ! उदार पराक्रम वाले हिरण्याक्ष का चरित्र जैसा मैंने गुरु परम्परा से सुना कि वह युद्ध में खिलोने की तरह भगवान् से मारा गया तथा उस अवतार धारण करने वाले हरि का भी चरित्र जाना वैसा आपको कहा ॥३२॥

सुबोधिनी—मयेति । अस्तु वा, मा वा; यावत् **यथानुक्रम्**, गुरुपरम्परया प्राप्तं, अस्मद्गुरुणा यथोक्तम्, तथा ते तुभ्यमवादि । आवश्यककरणे हेतुः-हरेरिति । **कृतावतारस्येति** गुरूणामपि ज्ञाने हेतुः सुमित्रेति सबोधनं गुह्यकथनार्थम् । सुष्ठु मित्रमिति यथाऽहं तथेति नाऽत्र गोप्यमिति, सम्यक्कथने हेतुः । परम्परायामन्धत्व वारयति-**यथा हिरण्याक्ष इति** । उदारो विक्रमो यस्य । सर्वेषां गायकानां सर्वेष्वेव वीरेषु कीर्तिः, तेभ्यः स्वसामर्थ्यात् सर्वं प्रयच्छतीति । **महामृधे** लौकिकसंग्रामे हिरण्याक्षकृते सति, **क्रीडनवत्** काष्ठपुत्रिकावत्, **निराकृतः** । यथा भगवता कृतम्, तथाऽस्मद्गुरूभिरुक्तम्; तथैव मयोक्तमित्यर्थः ॥३२॥

व्याख्या—अन्य चरित्र जैसा कैसा भी गुरु परम्परा से प्राप्त किया हमारे गुरु ने वैसा कहा, वैसा आपको कह सुनाया, इसके वध की आवश्यकता में कारण 'हरेः' पद दिया है, 'कृतावतारस्या' पद से गुरुओं के ज्ञान में यह हेतु दिया है । 'सुमित्रः' सम्बोधन से सूचित किया है कि आपको, जो गुह्यचरित्र है वह भी बता दिया है, केवल मित्र न कहकर 'सुमित्र' (सुष्ठमित्र कहा जिसका भावार्थ यह है कि जैसे हम हैं वैसे ही आप है कुछ भेद भाव नहीं है अतः यहां कुछ भी छिपाना नहीं हैं । परम्परा अन्ध नहीं है जिसको 'यथा हिरण्याक्ष इति' से कहते हैं । उदार पराक्रम वाला हिरण्याक्ष था सकल ही वीरों में सर्व गायकों की गाई हुई जिसकी कीर्ति प्रसिद्ध है ऐसा हिरण्याक्ष था ऐसे हिरण्याक्ष ने संग्राम किया, लौकिक संग्राम में जैसे कठ पुतली खिलोने को नाश किया जाता है वैसे भगवान् ने इसका (हिरण्याक्ष का) नाश किया यों हमारे गुरुओं ने कहा था वैसे ही मैंने भी कह दिया यों सारांश है ॥३२॥

आभास—अस्य चरित्रस्य त्रिविधं फलमाह, एतद्दृष्टमन्यद्दृष्टमदृष्टं च षड्भिः । द्वाभ्यां द्वाभ्यामेकैकम् । तत्र प्रथमं तस्यां कथायां श्रुतायां विदुरदृष्टमाह द्वयेन इतीति कथनोपपादनाभ्याम्—

आभासार्थ—इस चरित्र के तीन प्रकार के फल छ श्लोको में कहते हैं दो दो श्लोकों से प्रत्येक फल का वर्णन किया है (१) प्रत्यक्ष देखा हुआ (२) दूसरे से देखा हुआ (३) जो किसी ने नहीं देखा, इसमें पहले उस कथा के सुनने से विदुर से अनुभव किया हुआ दो श्लोको से कहते हैं पहले में कहना, दूसरे में उसका प्रतिपादन करना ।

सूत उवाच—श्लोक—**इति कौषारवाख्यातामाश्रुत्य भगवत्कथाम् ।**

क्षत्ताऽऽनन्दं परं लेभे महाभागवतो द्विजाः ! ॥३३॥

श्लोकार्थ—सूत जो कहने लगे कि हे द्विजों ! इस तरह मैत्रेयजो की कही हुई कथा सुनकर महा भगवदीय विदुरजी ने परम आनन्द को प्राप्त किया ॥३३॥

सुबोधिनी--तत्र प्रथमं कथायां श्रुतायां तस्य किं जातमित्याकाङ्क्षयामाह-इत्यमुना प्रकारेण कुषारोः पुत्रः कौषारवो मैत्रेयः। पितृनाम्ना तन्निर्देशः कथने विश्वासार्थः। भगवत्कथामिति कथाया अपि षड्गुणा निरूपिताः। क्षत्तेति विचक्षणः, मोहकलीलां परित्यज्य मुख्यलीलाग्रहणार्थमुक्तः। परमानन्दं कथायामेव विद्यमानं श्रोतृविशेषादभिव्यक्तं लेभे। तथात्वे हेतुः-**भागवत इति**। शौनकादिनां तथात्वाभावात् बाधितार्थत्वमाशङ्क्य निराकरोति-हे **द्विजा इति**। वेदोक्तकर्मादिभारवत्त्वात् तदस्फूर्तिरिति भावः ॥३३॥

व्याख्या- इसमें पहले कथा सुनने पर उनको क्या हुआ ? इस आकांक्षा में कहते हैं—कुषारु का पुत्र कौषारवः अर्थात् मैत्रेयजी, इनके पिता के नाम से निर्देश करने का आशय है कि विदुरजी को विश्वास हो. भगवान् की कथा में भी भगवान् जैसे छः गुण हैं, "क्षत्ता" विदुरजी) संयमी होने से चतुर, अतः मोहक लीला का परित्याग कर मुख्य लीला इनने ग्रहण की है। विदुरजी खास श्रोता होने से उनने कथा में हो विद्यमान परमानन्द प्रकट देखा, यों प्रकट देखने का कारण यह है कि विदुरजो 'भगवदीय' हैं, शौनक आदि के भगवदीय न होने से यों कहना बाधित (विरुद्ध) अर्थ वाला होगा। ऐसी शंका हो इसलिए कहते हैं हे द्विजों ! सम्बोधन से कहते हैं कि यह शंका असत्य है, क्योंकि शौनक आदि कर्म जड़ होने से उनको कथा में विद्यमान परमानन्द स्फुरित नहीं हुआ है ॥३३॥

आभास-अत एव तदुपपादयति—

आभासार्थ—इस कारण से ही उसका प्रतिपादन इस श्लोक में करते है।

श्लोक—अन्येषांपुण्यश्लोकानामुद्दामयशसां सताम्।
उपश्रुत्य भवेन्मोदः श्रीवत्साङ्कस्य किं पुनः ? ॥३४॥

श्लोकार्थ-पवित्र कीर्ति वाले और असीम यश वाले अन्य सत्पुरुषों का चरित्र सुनने से आनन्द होता है। तब श्री वत्स के चिन्ह वाले प्रभु की अद्भुत लीलाओं के सुनने से आनन्द हो तो क्या आश्चर्य है ॥३४॥

सुबोधिनि--**अन्येषामिति**। पुण्या श्लोका कीर्तिर्येषां नलादीनाम्। कीर्तियशसोः पूर्वं वैलक्षण्यमुक्तम् सदाचारपराक्रमकृतम्, वैदिकलौकिकभेदेन भिन्नम्। उभयवत्त्वे सत्त्वम्। प्रमोदे वा अयं हेतुः। कृपालुत्वादयः सद्धर्मा अन्तःकरणोत्कर्षहेतवः। बहुधाऽऽवर्तितं सत्कर्म, सानुभावं सत्, पुण्यकीर्तित्वमापद्यते। उद्दामं यशो येषाम्, अव्याहतपराक्रमजन्यमित्यर्थः। तेषां कथामुपश्रुत्य, **मोदः** श्रवणसुखं **भवेत्**। श्रीवत्साङ्कपदेन सदाचारः सर्वे गुणाश्च निरूपिताः, लक्ष्मीस्थानत्वात्। तदप्यङ्कं चिह्नमिव। एतादृशान्यपि चिह्नानि बहूनीति कैमुतिकन्यायो युक्तः ॥३४॥

व्याख्या--असीम जिनकी कीर्ति है वैसे नल आदि नृपति हैं कीर्ति और यश की विलक्षणता पहले कही हुई है जैसे कि कीर्ति सदाचार से होती है और यश पराक्रम से होता है सदाचार वैदिक कर्म है और पराक्रम लौकिक है अतः दोनों मित्र हैं, मनुष्य में दोनों होते हैं तब पुरुष सत्पुरुष बन सकता है, अथवा प्रसन्नता होने में तीन कारण हैं १- पवित्र कीर्ति २- असीम यश ३- सत्तमता ये जिसमें हैं उसके चरित्र श्रवण से आनन्द आता है।

कृपालुपन आदि श्रेष्ठ धर्म अन्तःकरण के उत्कर्षके कारण हैं, ये धर्म पुनः पुनः करने से प्रभावोत्पादक होते हैं जिससे पुण्य कीर्ति प्राप्त होती है, जिस पराक्रम का कोई प्रत्याघात नहीं कर सकता है वैसे पराक्रम से असीम यश होता है, वैसे सदाचारी और यशस्वियों की कथा सुनकर श्रवण (कानों) को आनन्द प्राप्त होता है भगवान् लक्ष्मी के निवास स्थान हैं, अतः श्री वत्साङ्क पद से सदाचार एवं सर्व गुण निरूपण किये हैं वह निवास स्थान भी चिन्ह की तरह है। ऐसे चिन्ह बहुत ही हैं यह कैमुतिक न्याय ने भी कहा है ।।३४।।

आभास–तस्य चरित्रान्तरं संवादार्थं तथाविधमाह यो गजेन्द्रमिति द्वाभ्यां स्वरूपफलभेदेन । तत्र स्वरूपमाह--

आभासार्थ—संवाद के लिए उसका ऐसा दूसरा चरित्र भी कहते हैं 'यो गजेन्द्र' इन निम्न दो श्लोकों से स्वरूप तथा फल के भेद से कहते हैं उनमें से पहले स्वरूप का वर्णन करते हैं—

श्लोक--यो गजेन्द्रं झषग्रस्तं ध्यायन्तं चरणाम्बुजम् ।
क्रोशन्तीनां करेणूनां कृच्छ्रतोऽमोचयद् द्रुतम् ।।३५।।

श्लोकार्थ--जिस समय ग्राह के पकड़ने पर गजेन्द्र प्रभु के चरणों का ध्यान करने लगा उस समय उसकी हथनियाँ जोर से चिंघारने लगी वह सुनते ही जिन्होने शीघ्र आके संकट से उसको छुड़ाया ।।३५।।

सुबोधिनी— यो गजेन्द्रमिति । यो हरिः, **झषग्रस्तं** नक्रधृतम्, धरणेन निमग्नं वा, **कृच्छ्रतोऽमोचयत्** । मोचने हेतुः--ध्यायन्तमिति । **चरणाम्बुजमिति** प्रेमभक्तिमार्गेण ध्यानं निरूपितम् । **क्रोशन्तीनां करेणूनामिति** दीनता निरूपिता । कृच्छ्रतस्तस्मात् सङ्कटात् । शीघ्रममोचयत् । दृष्टद्वारा भगवानेव फलप्रद इत्युक्तम् । तथा सति दृष्टं परित्यज्य कोऽन्यमदृष्टं भजिष्यतीति वक्ष्यति भजनीयसाधकं दयासाधकं चेतच्चरित्रमिति तदेव प्रकृतोपयोगित्वादानन्दजनकत्वेनोच्यते । **झषोऽत्र** नक्रो जलचरविशेषः, सर्वे एव नक्रा झषा इत्युच्यन्ते । तेन शरीरेणैवोद्धारे करेणुकृता दया हेतुः; सर्वथोद्धारे ध्यानमिति विशेष । अनेन साधनाभावोऽप्युक्तः । गजश्रेष्ठो हि महामत्तो भवति, झषग्रस्त सर्व-

साधनरहितो भवति जातिस्वरूपप्रतिबन्धानां दुष्टत्वात् भगवत्प्रसादो दुर्लभ इति गजेन्द्र-निरूपणम् । अवस्थास्वरूपसंबन्धाना दुष्टत्वात् लौकिकत्वाच्च एकेनैव ध्यानेन तत्संबन्धिनामपि सुख कृतवानिति करेणूनां कीर्तनम् ॥३५॥

व्याख्या—जिस हरि ने ग्राह से पकड़े हुये अथवा पकड़ने से जो पानी में डूब रहा था उसे संकट से छुड़ाया, क्यों छुड़ाया ? क्योकि वह आपदा से छूटने के लिए आपका ही ध्यान कर रहा था, वह ध्यान भी प्रेम पूर्वक कर रहा था, इसलिए चरणाम्बुजं' पद द्वारा कहा है कि यह ध्यान प्रेमा भक्ति मार्गानुसार घर रहा था। उसकी स्त्रियाँ हथनियाँ जोर से चिंघारने से दीनता प्रकट कर रही थीं जिस दीनता के कारण से गजेन्द्र को संकट से शीघ्र आकर छुड़ाया प्रत्यक्ष देखने में आवे इस प्रकार भगवान् ही फल देते हैं प्रत्यक्ष का त्याग कर परोक्ष का कौन आश्रय करेगा ?

यह चरित्र सिद्ध करता है कि भगवान् भजन करने योग्य हैं दया भी उनको ही प्राप्त करनी चाहिये यों सिखाने वाला है । अतः चालु प्रकरण में उपयोगी होने से यह चरित्र आनन्द जनक कहा जाता है' 'झष' पद जलचर विशेष ग्राह के लिए दिया है, सकल ग्राह 'झष' हैं, इसमें शरीर सहित ही उद्धार करने की दया हथनियों की दीनता के कारण हुई है, सर्वथा उद्धार करने में हेतु गजेन्द्र का ध्यान है। यों कहने से यह भी सिद्ध किया है कि यह सकुटुम्ब निःसाधन था, यों तो उत्तमगज महान् मद वाला होता है किन्तु यह ग्रस्त गात होने से सर्वथा निःसाधन बन गया था, गजेन्द्र पद से यह सूचित किया है कि इसकी जाति, स्थिति, स्वरूप आदि दुष्ट होने से यह भगवत्कृपा के योग्य नहीं था क्योंकि ऐसों के ऊपर भगवदनुग्रह नहीं होता है किन्तु गजेन्द्र ने निःसाधन हो भगवान् का प्रेमा भक्ति अनुसार ध्यान रूप आश्रय करने से कृपा सम्पादन की जिससे अपने सम्बन्धियों को भी आनन्दित किया अतः 'करेणूनां कीर्त्तनम्' कहा हैं हथनियों ने चिंघारते दीनता प्रकट की ॥३५॥

आभास--एवमनेकार्थप्रतिपादकं चरित्रमुक्त्वा येनांशेनाऽत्र दृष्टान्तत्वम्, तद्रूपं कीर्तयन् भजनं फलरूपं समर्थयति--

आभासार्थ--इस तरह अनेक प्रयोजनों को सिद्ध करने वाला चरित्र कहकर जिस अंशसे यहाँ दृष्टान्त है, उसका स्वरूप कहते हुए बताते हैं कि भजन फल रूप है यह इस श्लोक में सिद्ध करते हैं —

श्लोक—तं सुखाराध्यमृजुभिरनन्यशरणैर्नृभिः ।

कृतज्ञः को न सेवेत ? दुराराध्यमसाधुभिः ॥३६॥

श्लोकार्थ--अपनी शरण में आये हुए सरल स्वभाव वाले भक्तों से जो सुख पूर्वक प्रसन्न हो जाते हैं किन्तु दुष्टों से कष्टपूर्वक आराधना किये जा सकते हैं अतः उन पर शीघ्र कृपा नहीं करते हैं ऐसे प्रभु के किये हुए उपकारों को जानने वाला ऐसा कौन कृतज्ञ है जो उनका सेवन न करेगा ।।३६।।

सुबोधिनी--तमिति । वैषयिकसुखादप्यधिकसुखसाधकानि यत्र साधनानि फलचाऽलौकिकं महत् स **सुखाराध्यः**, सुखेनैवाऽऽराधयितुं शक्यः । तत्राऽतिप्रसङ्गनिवारणाय विशेषणमाह–**ऋजुभिरिभि** । अवक्रैः कायवाङ्मनोभिः; न वक्रं गृह्णन्ति, न वक्रमाचरन्तीति । अयमपि तेषां स्वाभाविको धर्मः, न त्वागन्तुकः साधनभूतः । एतादृशा मार्गान्तरेऽपि भवन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह–**अनन्यशरणै**रिति । न विद्यते अन्यत् शरणं येषाम् । अनेन शरणागतौ ब्रह्मास्त्रन्याय उक्तः । अशरणाश्च न तिष्ठन्तीत्यर्थात् भगवच्छरणाः । **नृभिः** साधारणैर्मनुष्यैः । अभिमानाभावाय प्रकृतोपयोगिविवेकाय चोक्तम् । **कृतज्ञ** इति । जनकत्वादन्तर्यामित्वात्, पालकत्वात्, पूर्वभजने विशेषोपकारकरणाद्वा यो भगवत्कृतं जानाति, स को वा न सेवेत ? अकृतज्ञस्तु न सेवते । तत्र भगवद्गुणा एव हेतव इत्याह–**दुराराध्यमिति** । अन्यथा पाक्षिकभजनीयः स्यात् । न हि ते न भजन्तीति, किन्तु भगवानेव **दुराराध्यो** दुःखेनाऽप्याराधयितुमशक्यः । **असाधवः** शिश्नोदरपराः ।।३६।।

व्याख्या--सुख पूर्वक उसका ही भजन हो सकता है, जिसके भजन के साधन, विषय सम्बन्धी सुख को देने वाले हैं और फल, अलौकिक तथा महान् हैं । इस विषय में अति प्रसङ्ग न बने इसलिए "ऋजुभिः" विशेषण दिया है जिसका भावार्थ है कि काया वाक् और वाणी से भी कपट न करनेवाले अर्थात् उनका स्वाभाविक धर्म था सर्व विषयों से सत्य एवं सरलता, आगन्तुक साधन भूत धर्म नहीं था । यदि कहो कि वैसे तो अन्य मार्गों में भी होते हैं इस पर कहते हैं कि,"अनन्य शरणैः" इनको, भगवान् के सिवाय दूसरा आश्रय नहीं था । इससे शरणागति में ब्रह्मास्त्र न्याय कहा है अर्थात् कारण में पूर्ण विश्वास था अर्थात् न दूसरे का आश्रय लेते थे और न बिना आश्रय रहते थे, केवल भगवान् के ही दृढ़ाश्रयी थे । 'नृभिः' पद से यह सूचित किया है कि इनमें अभिमान नहीं था जो प्रकृत विषय में उपयोगी विवेक है । 'कृतज्ञ' पद से भगवान् जनक हैं, अन्तर्यामी हैं पालक हैं, पूर्वकृत भजन के कारण विशेष उपकार किये हैं यों जो भगवान् को जानता है वह कौन ऐसा है जो भगवान् का भजन नहीं करना चाहता होगा ? चाहता ही होगा, केवल कृतघ्न ही भगवान् का भजन नहीं करता है ।

इस विषय में भगवान् के गुण ही कारण हैं, इसलिए 'दुराराध्य' कहा है, नहीं तो पाक्षिक भजन हो जावे, यों भी नही है ये भी नहीं कि वे भजना नहीं चाहने से भजते नहीं किन्तु वे स्वयं दुराराध्य हैं, उनको दुःख से भी आराधना होना कठिन है, वे असाधु हैं अर्थात् विषयासक्त तथा उदरम्भर हैं ।।३६।।

आभास--एवं भजनसमर्थनमुक्त्वा अलौकिकं फलमाह यो वै हिरण्याक्षवधमिति द्वाभ्याम्, पापनिवर्तकं फल जनकं च । तत्र प्रथमं पापनिवर्त्तकत्वमाह--

आभासार्थ—इस प्रकार भजन का समर्थन कर अब अलौकिक फल दो श्लोकों 'यो वै-हिरण्याक्ष वधं' और 'एतन्महापुण्यमल' से कहते हैं, पहले पाप निवर्त्तक और दूसरे में फल जनक, इनमें से पहले में पाप निवर्त्तक कहते है--

श्लोक--**यो वै हिरण्याक्षवधं महाद्भुतं विक्रीडितं कारणसूकरात्मनः ।**
शृणोति गायत्यनुमोदतेऽञ्जसा विमुच्यते ब्रह्मवधादपि द्विजाः ! ॥३७॥

श्लोकार्थ--हे द्विजों ! यज्ञ के लिए वा सृष्टि के लिए वराहावतार धारण करने वाले की उत्तम क्रीड़ा महान् अद्भुत रूप है ऐसी हिरण्याक्ष वध की भगवल्लीला जो मनुष्य यर्थात् रीति से पूर्णतया श्रवण करता है गान करता है उसका अनुमोदन करता है वह ब्राह्मण वध जैसे पाप से भी छूट जाता है ॥३७॥

सुबोधिनी--**हिरण्याक्षवधमिति** । अन्यथा हिरण्याक्षस्य ब्राह्मणत्वाद्वधः श्रोतव्यो न स्यात् । **महाद्भुतमिति** मतान्तरसिद्धम्, वधस्य हितरूपत्वाद्वा । महानद्भुतो भवतीति महत्वं श्रोतृणामप्युपकारसाधकत्वात् । तथापि श्रोतव्यतायां हेतुमाह-**विक्रीडितमिति** । विशेषेण क्रीडितं यत्र भगवतो युद्धलीला हि तत्र स्पष्टा, भगवत्सम्बन्धेन शोधितत्वात् तथात्वम् । **कारणसूकरात्मन** इति यज्ञार्थं सृष्टयर्थं च तथाकरणं युक्तमित्युक्तम् । '**कर्तुः** शास्तुरनुज्ञातुः' इति न्यायेन त्रयाणां फलमाह-**शृणोति गायत्यनुमोदते इति** । श्रवणं मुख्यम्, गानं शास्त्ररूपम् । सुखस्य तत्र दृष्टकारणत्वात् तस्याऽप्रायश्चित्तत्वमाशङ्कयाऽऽह **गायतीति** । अनुमोदनं तादृशम्, यदुभयनिर्वाहकम् । क्रियमाणस्तोत्ररूपमिति केचित् । **अञ्जसेति** । सर्वत्र सर्वभावेन श्रवणम्; अर्थतः, तात्पर्यतः, शब्दतश्च । कीर्तनेऽपि एतत्त्रयम् हेत्वभावश्च । अनुमोदनमपि हेत्वभावात् । तदा वधमात्रदोषाद्विमुच्यते । प्रधानपरं न भविष्यतीत्याह—**ब्रह्मवधादपीति** । **द्विजा** इति ज्ञानार्थमुक्तम् । ज्ञाने सत्यन्यस्याऽपि भवतीति ज्ञातव्यम् । यज्ञसंबन्धात् द्विजस्यैव भवतीति वा ।३७।

व्याख्या—हिरण्याक्ष ब्राह्मण था इसलिए उसके वध की कथा सुनना नहीं चाहिये, किन्तु यह चरित्र महान् अद्भुत होने से एवं यह वध हितरूप जगत्-मतान्तर सिद्ध होने से तथा यज्ञ का कल्याण कारक होने से) महान् अद्भुत है यों महत्व वाला होने से श्रोताओं का भी उपकार करने वाला है अतः श्रवण करना चाहिये । ऐसा न होता तो श्रवण योग्य न होता फिर विशेष रूप से

श्रोताग्रता में हेतु कहते हैं, 'विक्रिडित' जिस वध चरित्र में भगवान् ने विशेष प्रकार से खेल खेले हैं, यहां प्रभु की युद्ध लीला प्रकट है। युद्ध लीला का भगवान् से सम्बन्ध होने से पवित्र चरित्र है विशेष में 'कारण सुकरात्मनः' पद से सूचित किया है भगवान् के सूकराकृति धारण करने का कारण यज्ञ रक्षा के लिए तथा सृष्टि की उत्पत्ति के लिए इसके वध करने का कारण ही था। अन्यथा इस आकृति की आवश्यकता ही नहीं थी। इसलिए यों करना उचित था 'कर्तुः-शास्तुरनुज्ञातृ' इस न्याय से श्रवण-कर्ता, का शिक्षक का और अनुमोदन करने वाले का, तीनों का फल कहते हैं, श्रवण करने वाले, गान करने वाले × कीर्तन द्वारा अन्य को सिखाने वाले) और अनुमोदक, इनमें श्रवण मुख्य है, गान शास्त्र (शिक्षा) रूप है, इसमें सुख प्रत्यक्ष कारण है वह प्रायश्चित रूप नहीं है ऐसी शङ्का पर कहते हैं कि (गायति) गाता है अनुमोदन वैसा ही है अतः वह (श्रवण और गान) दोनों का पोषक है, कितनेक इसको स्तोत्र (स्तुति रूप) कहते हैं। यथार्थ (पूर्ण) रीति से सर्वत्र सर्वभाव से श्रवण अर्थात् अर्थ से, तात्पर्य से और शब्द से सुनना, कीर्तन में भी ये तीन ही होने चाहिये, किन्तु उनमें स्वार्थ नहीं होना चाहिये, इस प्रकार जब श्रवणादि करे वध के पापों से छूट जाता है। पापों में मुख्य पाप ब्राह्मण वध से भी छूट जाता है, हे द्विजों! यह सम्बोधन शौनकादिकों को ज्ञान हो इस- लिए दिया है, जब इनको ज्ञान होगा अथवा यह ज्ञान यज्ञ सम्बन्धी होने से ब्राह्मणों को ही ज्ञान होता है ॥३७॥

आभास—फलजनकत्वमाह—

आभासार्थ—यह चरित्र फल देने वाला भी है यह इस श्लोक में निरूपण करते हैं—

श्लोक--एतन्महापुण्यमलंपवित्रं धन्यं यशस्यं पदमायुराशिषाम् ।
प्राणेन्द्रियाणां युधि धैर्यवर्धनं नारायणोऽन्ते गतिरङ्ग! शृण्वताम् ।३८।

श्लोकार्थ--यह चरित्र अत्यन्त पुण्य फल देने वाला, परम पवित्र, धन तथा यश को प्राप्ति कराने वाला आयु बढाने वाला एवं सर्व प्रकार की कामनाओं की पूर्ति करने वाला और युद्ध में प्राण एवं इन्द्रियों की शक्ति बढ़ाने वाला धैर्य देने वाला हैं तथा अन्त में इस चरित्र श्रवण का फल भगवदाश्रय की प्राप्ति होती है ॥३८॥

सुबोधिनी—एतदिति । चतुर्विधपुरुषार्थसाधकमेतत् । तत्र धर्मो द्विविधः, स्वर्गादिफलसाधको देहादिसंस्कारसाधकश्च । तदुभयरूपमाह—महापुण्यमलंपवित्रमिति । अव्यभिचारिश्रेयःसाधनं महापुण्यम्, सर्वथाऽन्तः करणपवित्रहेतुरलंपवित्रम् । अर्थो द्विविधः, धनरूपो यशोरूपश्च 'यशःश्रियामेव' इत्यत्र वक्ष्यते । तदुभयमाह-धन्यं यशस्यमिति । कामस्त्रिविधः, जीवनभोगशत्रुजयात्मकः 'शरीरारोग्यमैश्वर्यमरिपक्षक्षयः आयुषामाशिषां च पदम्, प्राणेन्द्रियाणां युधि धैर्यवर्द्धनमिति । आशिषः पुत्रादयो विषयः, तेषामिदमेव पदम्, अस्योपाख्यानस्य सृष्टिहेतुत्वात् । प्राणो बलसाधनम्, इन्द्रियाणि करणानि । पूर्वत्र वा संबन्धः, भक्ष्यभोगात्मको विषय इति । युद्धे धैर्यवर्द्धनं यस्मादिति । धैर्यादेव जयः, धैर्यस्य बलेन्द्रियसहकारित्वात् तत्संबन्धित्वेन निरूपितम् । क्षेमशूरव्यावृत्त्यर्थम्—युधीति । मोक्षसाधकत्वमाह नारायण इति । अस्मच्छास्त्रे नारायणप्राप्तिरेव मोक्ष इत्येकविध एवोक्तः । तत्र भगवच्छास्त्रे नारायणप्राप्तिस्त्रि-

× एक प्रकार का यह प्रायश्चित रूप कहा जा सकता है।

विधा—ब्रह्माण्डविग्रहे नारायणे सायुज्यम्, अक्षरे, पुरुषोत्तमे वा । तत्त्रयमपि नारायणशब्द एवं वदतीति नारायणपदप्रयोगः । 'नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुधाः 'नराणां समूहो नारम्' इति, 'आपो नारा इति प्रोक्ता' इति च । प्रथमार्थे पुरुषोत्तमः द्वितीयेऽक्षरम्, तृतीये ब्रह्म-पिता । अस्य श्रवणास्त्रिविधो भवतीति नारायणपम् । अङ्गेति संबोधनमप्रतारणाय स्नेहबोधकम् । गतिर्भवतीत्यर्थः । गतिशब्दः पर्यवसानफलवाचकः । शृण्वतामिति प्रधानस्यैवेतत्फलमुक्तम् ॥३८॥

व्याख्या—यह चरित्र, चारों प्रकार के पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) को सिद्ध करने वाला है, इनमें धर्म दो प्रकार का है । (१) स्वर्गादि फल देने वाला (२) देहादिकी शुद्धि कराने वाला, इन दोनों प्रकारों को 'महापुण्य' 'अन्त पवित्र' पदों से सूचित किया है कि कल्याण करने वाला तथा अन्तः करण को शुद्ध करने वाला है 'अर्थ भी दो प्रकार का है' धन रूप और यश रूप, यहाँ 'यश' और 'श्री' दोनों को कहेंगे उन दोनों को धन्य यशस्यं पदों से कहा है 'काम पुरुषार्थ तीन प्रकार का है' शरीरारोग्य मैं श्वर्यमरिपक्षक्षयः' इस वचन के अनुसार काम जीवन रूप भोगरूप और शत्रु पर विजय रूप होने से तीन प्रकार का कहा है, वे तीन ये हैं 'आयुषामाशिषां च पदम्, प्राणेन्द्रियांणां युधि धैर्य वर्द्धनम्' पुत्रादि कों का हो यह स्थान है वे उपकारक होते हैं, यह उपाख्यान सृष्टि का हेतु है, प्राण बल का साधक है इन्द्रियाँ करण (कार्य करने वाली) है अथवा भक्ष्य और भोगात्मक पदार्थों के विषय का परस्पर सम्बन्ध है । इस सम्बन्ध से युद्ध में धैर्य बढ़ता है, धैर्य से जय की प्राप्ति होती है, बल धैर्य तथा इन्द्रियों का सहकारी होने से ही उनसे युद्ध में जय होती है अतः इसको उसका सहायक कहा है, कुशल और शूरत्व की व्यावृति के लिये 'युधि' पद दिया है । यह चरित्र मोक्ष प्राप्त कराने वाला है इसलिए 'नारायण' पद है । अपने शास्त्र में नारायण की प्राप्ति हो मोक्ष हैं इसलिए एक प्रकार का मोक्ष कहा है वहाँ भगवच्छास्त्र में नारायण की प्राप्ति तीन तरह की कही है (१) ब्रह्माण्ड विग्रह रूपनारायण में (२) सायुज्य को अथवा अक्षर वा (३) पुरुषोतम स्वरूप में सायुज्य होना ये तीन ही नारायण पद में कहीं गई है इसलिए नारायण पद का प्रयोग किया गया है ।

'नराज्जातानि तत्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः' अर्थात् नर स्वरूप से उत्पन्न तत्त्वों को 'नार' कहते हैं, 'नराणां समूहो नारः' नरों का समुह नार हैं एवं जल को भी नार कहते हैं, पहले अर्थ में नारायण का लक्ष्य पुरुषोत्तम है दूसरे में अक्षर लक्ष्य है, और तीसरे में ब्रह्मा का पिता इसके श्रवण से तीन प्रकार का मोक्ष होता है । अतः नारायण पद दिया है, हे अङ्ग ! यह सम्बोधन देकर सूचित किया है इस कहने में किसी प्रकार का कपट नहीं है एवं स्नेह का बोध कराने वाला है, 'गति' होती है, गति शब्द अन्तिम फल का वाचक है, 'शृण्वताम्' पद से बताया है कि यह प्रधान (श्रवण) का ही फल कहा है ॥३८॥

इति श्री मद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के १६ वें अध्याय की श्री मद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्रीहरिः ॥

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजन वल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पति चरणकमलेभ्यो: नमः ॥

श्री मद्भागवत महापुराण

तृतीय स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी (संस्कृत टीका)

हिन्दी अनुवाद सहित

मुक्त सृष्टि-तत्व मुक्ति प्रकरण

अध्याय २०

ब्रह्माजी की रची हुई अनेक प्रकार की सृष्टि का वर्णन

कारिका--भगवत्कृतसर्गस्तु सोपोद्घातो निरूपितः ।
चतुर्दशभिरध्यायैरुच्यते ह्यथ परः ॥१॥

कारिकार्थ—[१]उन्नीस अध्यायों से भगवत्कृतसर्ग का उपोद्घात सहित निरूपण किया, अब चौदह अध्यायों से भगवदर्थ किये हुए सर्ग का वर्णन करने में आता है ॥१॥

कारिका--गुणवैषम्यभावेन सर्गाः पूर्वं निरूपिताः ।
गुणवैषम्यभावोऽत्र द्विविधो वर्ण्यते स्फुटः ॥२॥

---

१. बीसवें अध्याय का विवरण करते हुए अन्य प्रकरण का प्रारम्भ होने के कारण पहले सङ्गति कहने के लिए प्रथम प्रकरण के अर्थ के अनुवाद पूर्वक उसका अर्थ 'भगवत्कृत' कारिका से समझाते हैं, 'सर्ग' दो प्रकार का है एक दूसरों के लिए किया हुवा दूसरा जो अपने लिए किया हो, पहले उन्नीस अध्यायों से जो कहा वह परार्थ था अब जो १४ अध्यायों में कहते हैं वह अपने लिए किया है अतः अवसर की सङ्गति बनी हुई है. 'उपोद्घात सहित' का भावार्थ बताते हैं कि उपोद्घात प्रकरण मध्य में स्थित है एवं उसका कर्ता ब्रह्म रूप है अतः इस प्रकरण का भी हेतु है, इसलिए उसके साथ हेतु और हेतुमद्भाव भी है यदि वह हेतु है तो करण (साधन) भूत गुण वैषम्य का भी मध्यम प्रकरण में वर्णन हैं उसको हेतुता क्यों नहीं ? इस शङ्का निवृत्ति के लिए दूसरी 'गुण वैषम्य भावेन' कारिका कही हैं । "प्रकाश"

कारिकार्थ – गुणों के विषमता भाव से पहले सर्ग कहे हैं, यहाँ गुणों की विषमता दो प्रकार की है, जो स्पष्ट[१] कही गई है ।।२।।

कारिका—आधिदैविकभावोऽत्र नाऽस्तीति द्वैधवर्णनम् ।
आधिभौतिकमेकेन चतुर्भिश्च तथा परम् ।।३।।

कारिकार्थ—यहां आधिदैविक[२] भाव न होने से शेष दो प्रकार कहे हैं एक इस अध्याय से आधिभौतिक और चार अध्यायों से अन्य कहे हैं ।।३।।

कारिका—भूतमात्रेन्द्रियधियां हरौ ज्ञानोपयोगिनम् ।
गुणाः स्वभावतः केऽत्र पुष्टिमार्गोपयोगिनः ।।४।।
निरूप्यन्ते हरेरुक्ताः प्रत्येकं त्रिविधा यथा ।
आधिदैविकमाध्यात्ममाधिभौतिकमेव च ।।५।।
चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च तथैकेनोच्यते क्रमात् ।

कारिकार्थ—इस कारिका में हरि के प्राकट्य के लिए जो ज्ञान, उसके उपयोग में आवे ऐसे महाभूत, तन्मात्रा, इन्द्रियाँ और बुद्धि का जन्म कहा है यहां स्वभाव से पुष्टिमार्ग में उपयोगी गुण कौनसे हैं, वे जैसे हरि के[३] कहे हुए वैसे निरूपण किये जाते हैं कि वे प्रत्येक तीन प्रकार के हैं ।।४½।।
चार चार और एक अध्याय से आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक क्रमशः कहे हैं ।। ५½ ।।

१—उन्नीसवें तथा छब्बीसवें अध्यायों में क्षोभ पद (गुणों में खलबलाहट) साफ कहा है, और जिससे यहां फिर निरूपण किया जाता है इस कारण से वहां गुणों के वैषम्य में हेतुता का प्रयोजकपन नहीं है, किन्तु पूर्व कहे हुए सर्गों के प्रति ही हेतुता हैं, इस तरह उत्पत्ति सहित सङ्गति का निरूपण कर विषमता को द्विविधता में हेतु बताने के लिए आधिदैविक तीसरी कारिका कहते हैं ।

२—इस प्रकरण में जो सर्ग कहा हैं, उसमें 'एते देवाः कला विष्णोः' इस उक्ति के अनुसार यहां तत्वों में देवत्व न कहने के कारण भेद का प्रकार दिखाया हैं जिससे पूर्वानुवाद इसमें नहीं हो सकने से यहां आधिदैविक गुणों का वैषम्य नहीं है अतः यहां पहले २० वें अर्थात् एक अध्याय में भौतिक विषमता दिखाई हैं, वैसे चार अध्यायों से हरि के लिए किए हुए सर्ग का वर्णन हैं ।

३—भगवान् के प्रादुर्भाव के योग्य हो इसलिए ज्ञानोपयोगी भूतमात्रेन्द्रियों का गुण संस्कार रूप जन्म कहा जाता हैं, और वैसे पाँच अध्यायों का यह एक पहला अवान्तर प्रकरण हैं, इस प्रकरण में जो पुष्टिमार्गोपयोगी गुण कहे वे कौनसे हैं ? जिसके उत्तर में कहते हैं जो भगवान् कपिल ने कहे हैं वे जैसे आधिदैविक भेद से प्रत्येक तीन प्रकार के हैं, इसलिए क्रम से पहले चार अध्यायों से आधिदैविक, और फिर चार अध्यायों से आध्यात्मिक एवं फिर एक अध्याय से आधि-भौतिक कहे हैं, यों उनको त्रिविधता कही जाती है, वैसे यह ६ अध्यायों का दूसरा अवान्तर प्रकरण है-यह आशय है । आधिदैविक आदि को 'भक्ति साङ्ख्यात्म' 'द्वितीय के' कारिका से स्पष्ट करते है ।
"प्रकाश"

कारिका—भक्तिसाङ्ख्यात्मविज्ञानयोगैश्चत्वार आद्यके ॥६॥
आध्यात्मिकः काल एव माहात्म्यकरणे तथा।
तदधीनं जगत्सर्वमित्ययथाऽस्तु द्वितीयके ॥७॥

कारिकार्थ—पहले, अर्थात्, आधिदैविक में भक्ति, सांख्य, आत्मा का विज्ञान और योग ये चार अध्यायों में कहे हैं[१], इसी तरह दूसरे अर्थात् आध्यात्मिक में काल, माहात्म्य और करण कहे इनके अधीन समग्र जगत् होने से पृथक् प्रकार का है ॥६-७॥

कारिका—मुक्त एवहरेरर्थे भूतत्वेनोपयुज्यते
अतो मुक्ति स्त्रियाश्चैव पूर्वेषु द्विविधेष्वपि ॥८॥

कारिकार्थ—हरि के लिये वे महाभूत उपयोगी होते हैं[२], जो मुक्त हैं, अतः पहले दोनों प्रकार वालों में स्त्री की भी मुक्ति कही है ॥८॥

कारिका—धर्मादयोऽपि द्विविधास्तत्रोच्यन्ते क्रमादिमे।
सर्गे तेषामनुत्पत्तौ मार्गस्तेषां न वै भवेत् ॥९॥

कारिकार्थ—उन अध्यायों में धर्म आदि पुरुषार्थ भी क्रमशः दो प्रकार से कहे हैं[३] यदि सर्ग में उनकी उत्पत्ति न होवे तो उनका मार्ग नहीं बने ॥९॥

१—आधिदैविक में जो भक्ति आदि गुण कहे हैं वे क्रम से भूतादि के संस्कार करने वाले हैं; इसी तरह आध्यात्मिक में कालादि चार वैसे हैं, आध्यात्मिक अर्थात् संवत्सरात्मक काल 'माहात्म्य-' करणे यह द्विवचन है, करण पद से मुक्तों का संग बताया है जिससे बताया है कि, समग्र जगत् उसके अधीन है, यह बुद्धि, बुद्धि का संस्कार रूप हे, दूसरे आध्यात्मिक प्रकार में, कालादि से संस्कृत भूतादि क्रम से सर्ग रूप है।

२—तीसरे में एक ही अध्याय क्यों कहा है ? इस अपेक्षा पर 'मुक्त एव' कारिका कही है, आधिदैविक, आध्यात्मिक भेद से दोनों प्रकारों में हरि के लिए संस्कृत करने पर शेष एक मुक्त हुआ, मुक्त देह ही भूतपन से भौतिक कक्षा में निविष्ट होने से उपयोग में आती है, अतो हेतोः इस कारण से स्त्री की भी मुक्ति होती है, एवं आकाङ्क्षा न रहने से आधिभौतिक के लिए एक ही अध्याय कहा है इस प्रकार एक प्रकार से विभाग कर दूसरे प्रयोजन के लिए 'धर्मादय' कारिका से विभागान्तर कहते हैं।

३—दो प्रकार के धर्मादि सर्ग में मार्ग प्रचार के लिए कहने से ही आठ अध्याय हैं, दो प्रकार क्यों इस अपेक्षा पर 'यादृशा' कारिका कही है। 'प्रकाश'

कारिका--यादृशा भगवन्मार्गे जीवचिन्तनचिन्तिताः ।
एकविंशतिभिस्तेऽत्र निरूप्यन्ते क्रमात् स्फुटाः ॥१०॥

कारिकार्थ--भगवन्मार्ग में जिस प्रकार धर्म आदि पुरुषार्थ जीव चिन्तित विचारे हुए हैं वे यहाँ इक्कीसवें अध्याय से क्रम से स्फुट निरूपण किये हैं ॥१०॥

कारिका—भगवच्चिन्तिता ये वै पञ्चविंशतिभिस्तु ते ।
अन्यत्सर्वं कालकृतं चत्वारस्तेऽपि वर्णिताः ॥११॥

कारिकार्थ--[1]भगवान् के विचारे हुए धर्म आदि पुरुषार्थ वे तो वास्तव में २५ वें अध्याय से प्रारम्भ कर वर्णन किये हैं, अन्य सर्व काल का किया हुवा है उन चारों का भी वर्णन किया है ॥११॥

कारिका--त्रिविधा अपि तेऽप्युक्ता मुख्यो मोक्षस्तथाऽन्तिमः ।
मूलम्, सर्गस्त्रयाणां तु मुख्यो मोक्षः फलं तथा ॥१२॥

कारिकार्थ-वे भी तीन प्रकार के कहे हैं, अन्तिम ३३ वें अध्याय में मोक्ष मुख्य कहा है प्रारम्भ के अर्थात् उत्पत्ति रूप २० वें अध्याय में तीनों का (धर्म, अर्थ काम का सर्ग कहा है। वैसे उनका मुख्य फल मोक्ष कहा है ॥१२॥

कारिका—चतुर्दशभिरध्यायैरतः सर्गो निरूपितः ।
तद्विंशतितमेऽध्याये सङ्कीर्णः सर्ग उच्यते ॥१३॥
षड्विधो हरिकार्यार्थमत्रोक्ताः सकला हरौ ।

कारिकार्थ—इस कारण से यह सर्ग चौदह अध्यायों में कहा है इनमें २० वें अध्यायों में छ प्रकार का सर्ग स्पष्ट नहीं[2] कहा है, हरि के कार्य के लिए यहां कहा हुवा सर्ग हरि में ऐक्यरूप से रहे हुए है ॥१३½॥

१—भगवान् के विचारे हुए धर्मों के सिवाय अन्य जो काल कृत हैं वें भी २९ वें अध्याय से प्रारम्भ कर चार अध्यायों में वर्णन किये है।

२—इस तरह प्रकरण और अध्यायों का विभाग कह कर प्रस्तुत विषय का भावार्थ बताते है संकीर्ण विलक्षणता होते हुए भी स्वरूप समान होने से पृथक् समझ में नहीं आता है, सर्ग विषमता पूर्वक सर्ग 'हराविति' तादात्म्य से साक्षात् भगवान् में स्थित है, अतः इसकी विलक्षणता समझनी कठिन होने से वैसे कहा हैं जब यहाँ दूसरा सर्ग कहते हैं तो सर्ग शुक को कहना चाहिये। विदुरजी के प्रश्नादि क्यों ? इस पर 'सर्गमेकविधं' कारिका कही है।

कारिका—सर्गमेकविधं ज्ञात्वा विसर्गे प्रश्न ईदृशः ॥१४॥
तथापि शास्त्रमेवाऽत्र वक्तव्यमिति निश्चयः।
अभिप्रेतं न तस्याऽपि तथं वेत्यन्यथोच्यते ॥१५॥

कारिकार्थ—यह सर्ग एक प्रकार का जानकर विसर्गार्थं ऐसा प्रश्न किया ? तो भी इस विषय में शास्त्र ही कहना चाहिये उसको भी यह अभिप्रेत नहीं इसलिए ही अन्य प्रकार से कहा है ॥१४-१५॥

कारिका—प्रश्नद्वयं तु कुरुते शौनकः प्रकृतौ महान्।
विसर्गंषयं त्वाद्यं भक्तानां तु तथा परम् ॥१६½॥
एकेन पञ्चभिश्चैव मूलारम्भो हि भेदकः।

कारिकार्थ—प्रकृति (स्वभाव) से महान् शौनक जी प्रकृति विषयक दो प्रश्न करते हैं; प्रथम श्लोक से विसर्ग सम्बन्धी प्रश्न किया वैसे ही पाँच श्लोकों से भक्त सम्बन्धी प्रश्न किए कारण कि मूल से किया हुवा प्रारम्भ सूतजी का अधिकार पृथक्[1] जनाता है ॥१६॥

कारिका—परीक्षिच्छुकयोरत्र विरामो नैव दृश्यते ॥१७॥
सूत एव ततो वक्ता तुल्यार्थत्वान्न दूषणम्।

कारिकार्थ—परीक्षित् व शुकदेवजी ने कथा का विराम किया ऐसा प्रकार यहां दिखता नहीं है अतः सूतजी ही कथा कह रहे हैं, समान अर्थ वाली कथा है अतः दूषण नहीं है ॥१७॥

आभास—तत्र शौनकः, सर्गः सविशेषः श्रुत इति, विसर्ग पृच्छति—

आभासार्थ—सर्ग असाधारण गुणों सहित (सर्ग को उत्पन्न करने वाली क्रियाओं सहित) सुना इसलिए अब विसर्ग को पूछते हैं—

शौनक उवाच। श्लोक—महीं प्रतिष्ठामध्यस्य सौते ! स्वायम्भुवो मनुः।
कान्यन्वतिष्ठद् द्वाराणि मार्गायाऽवरजन्मनाम् ॥१॥

ईदृशः भगवान् के कार्योपयोगी विषय का प्रश्न किया है वैसे जो कहने का है उस सर्ग के अनुकूल होने से वह कहा जाता है। प्रश्न की अनुकूलता होने पर भी विसर्ग विषयक प्रश्न होने से मैत्रेयजी को इतना ही कहना चाहिये था न कि सर्ग ही उनने फिर सर्ग क्यों कहा? इस पर कहते हैं कि तो भी अर्थात् प्रश्न न होने पर भी 'शास्त्र ही कहना चाहिये, इसलिए सर्ग का प्रसङ्ग होने से उन ने सर्ग कहा है। वह प्रासङ्गिक है ? इसमें क्या प्रमाण है ? इस पर कहते हैं कि 'अभिप्रेत' अपि शब्द से आशय है कि विदुरजी को भी अभिप्रेत नहीं था। अतः उपेक्षा से जैसे वैसे कुछ कहना ही प्रासङ्गिकत्व का गमक (बताने वाला) है, भले यों हो तो भी शौनकजी एवं सूतजी की उक्ति कहने का क्या प्रयोजन था ? इस पर प्रश्नद्वय 'भेदक........' कारिका कही है। 'प्रकाश'

शौनक जी अति सात्विक थे इसलिए उसका उपन्यास (प्रस्तावना) किया है तब 'एवमुग्रश्रवाः' कहने का क्या प्रयोजन ? इस पर कहा है कि 'मूलारम्भोहिभेदकः' मूल से किया हुवा प्रारम्भ ही सूत जी के अधिकार को पृथक् करने वाला है। इसलिए ही वह वाक्य है। शेष स्पष्ट है।

'प्रकाश'

श्लोकार्थ—शौनकजी कहते हैं कि हे सूतपुत्र ! भूमि रूप स्थान को प्राप्त कर स्वायम्भू मनु ने, पीछे उत्पन्न होने वालों के लिए मार्ग के कौन कौन से द्वार किये ? ॥१॥

सुबोधिनी—मही प्रतिष्ठामिति। पूर्वानुवादपूर्वकं हि प्रष्टव्यम् । हिरण्यक्षा वध उपोद्घात इति न स पूर्वोक्तत्वेन गृह्यते । भूमिश्च मनोरर्थे समाहृतेति मनोरेव चरित्रं पृच्छति। प्रकर्षेण स्थिता प्रतिष्ठा; सर्वेषां वा जीवानामियमेव प्रतिष्ठेति, देहस्य तन्मूलकत्वात् । तदर्थमेवोद्धृतेति स एव तामधिष्ठाय स्थितः । प्रतिष्ठां प्राप्तः सर्वं करोतीति कृतिप्रश्नवसरः। शुकादिभिरिदं नोक्तमिति त्वया वक्तव्यमिति ज्ञापनार्थं **सौत** इति संबोधनम्; हे सूतपुत्र। कथाकथनं तस्य कुलपरम्परागतो धर्मः । मनोः सृष्टचावश्यकत्वाय स्वायम्भुवेतिपदम् । मनुरिति धर्मप्रवर्तकत्वात् नाऽन्यथाकरणम् । ब्रह्मणा तु द्वारद्वयमेव कृतम्, मनः शरीरं च। यद्यन्येऽपि शरीरान्मनसश्च जातास्तथैव जनकाः स्युः, तदा जगतस्त्रैविध्यं न स्यादिति विशेषप्रश्नः- **कान्यन्वतिष्ठद् द्वाराणीति** । **अवरजन्मनां** मनोः सकाशादर्वाचीनजन्मयुक्तानाम् ॥१॥

व्याख्या—पहले कहे हुए का अनुवाद करके ही पूछना चाहिये, यद्यपि हिरण्याक्ष वध पहले कहा है किन्तु वह उपोद्घात होने से पूर्व में कही हुई कथा के रूप में नहीं ग्रहण किया जा सकता है। भगवान् सूकर रूप से मनु के लिए ही पृथ्वी लाये थे। इसलिए मनु का ही चरित्र पूछते हैं; प्रतिष्ठा पद का आशय है कि उत्तम रीति से जिसकी स्थिति की हुई हो, अथवा सकल जोवों के रहने का स्थान यह पृथ्वी ही है क्योंकि यह पृथ्वी देह का मूल स्थान होने से उत्पादन कर्त्ता है अतः इस का उद्धार मनु के लिए हो किया है इसलिए वह मनु) ही उसको अपना स्थान कर रहने लगे, जिस पुरुष को रहने का स्थान प्राप्त हो जाता है वह पुरुष ही सर्व कार्य कर सकता है इसलिए उसके कार्य सम्बन्धी प्रश्न का यह अवसर समझ प्रश्न किया है।

सौते ! यह संबोधन देकर बताया है कि शुक आदि ने यह प्रसङ्ग नहीं कहा है अतः आपको ही कहना चाहिये, कारण कि यह आपका परम्परा प्राप्त धर्म है, अब मनु से सृष्टि होना आवश्यक होने से मनु को 'स्वायंभुव' कहा है। मनु यह नाम देकर यह सिद्ध किया है कि आप धर्म प्रवर्त्तक होने से उससे विपरीत अर्थात् धर्म विरुद्ध कुछ नहीं करेंगे ब्रह्मा ने तो मन और शरीर ये दो ही द्वार सृष्टि के किये जो दूसरे भी शरीर और मन से उत्पन्न होते तो 'जगत्' त्रिविध (तीन प्रकार का) न होता इसलिए यह विशेष प्रश्न है कि 'कान्यन्वतिष्ठत् द्वाराणि' मनु से जो अब सृष्टि होने वाली है उसके लिए 'कौनसे द्वार' मनु ने किये ? ॥१॥

आभास—एवं मनोर्धर्मात्मनः कार्यं पृष्ट्वा, स्वापेक्षया विदुरं भक्तं ज्ञात्वा, तत्पृष्टमेव त्वया वक्तव्यमित्यभिप्रायेण तेन सर्वथा पृष्टं भविष्यतद्यर्थे प्रमाणमाह त्रिभिः—

आभासार्थ—इस प्रकार धर्मात्मा मनु का कार्य पूछने से अपनी अपेक्षा विदुरजी को विशेष भक्त जानकर उनने जो पूछा हो वही उनको कहना चाहिये क्योंकि उनने (विदुरजी ने) सर्वथा उचित ही पूछा होगा इसके लिए निम्न तीन श्लोकों से प्रमाण कहते हैं—

श्लोक—**क्षत्ता महाभागवतः कृष्णस्यैकान्तिकः सुहृत् ।**
यस्तत्याजाऽग्रजं कृष्णे सापत्यमघवानिति ॥२॥

श्लोकार्थ—विदुरजी संयमी तथा बड़े ही भगवदीय एवं भगवान् कृष्ण के अनन्य सुहृद् थे, इसलिए श्री कृष्ण के अपराधी अपने भाई का पुत्रों सहित त्याग किया ॥२॥

कारिका—**क्षत्ता महाभागवत इति ।**
सोपपत्तिकभक्तत्वं तस्य मूलं निरूप्यते ।
उत्कृष्टप्रश्नकर्तृत्वं सोपपत्तिकमाह हि ॥१॥

कारिकार्थ—यह विदुरजी भगवद् भक्त हैं वह उपपत्ति[1] सहित कहा जाता है, कारण कि ये जो भी प्रश्न करते हैं वह एक उत्कृष्ट है और दूसरे वह उत्पत्ति (युक्ति या संगति) सहित होता है ॥१॥

सुबोधिनी—प्रथमं विदुरस्य भागवतत्वं निरूपयति । यस्त्वसिधाराव्रतं करोति स महाभागवतो भवति । विदुरस्य भागवतत्व मुख्यमेतद्बीजम्; तदाह--**क्षत्ता महाभागवत इति** । क्षत्ता ह्यसिधाराव्रतकर्त्ता, पुराणान्तरे राजसूये युधिष्ठिरं प्रति भगवता तद्व्रतमुपदिष्टम्-- "**स्वयं पुष्टश्च तरुणः सकामः सन्निधौ स्त्रियाः । नित्यं स्थितोऽपि मनसा विकारं यो न गच्छति । स्त्रियः सर्वाङ्गसंहृद्याः सर्वाभरणभूषिताः । अप्राप्तकामास्तं प्राप्य साभिलाषा अपि स्वयम् । स्वकीयासु तथाऽन्यासु स्वभार्यास्वपि कुत्रचित् । पञ्चाग्निमध्यवर्त्तिष्ठेदसिधाराव्रतं तु तत् ।**' क्षत्ता तथा भवतीति तस्य महाभागवतत्वम् । दृष्टप्रकारेणाऽपि महाभागवतत्वमाह--**कृष्णस्यैकान्तिक इति** । एकान्ते हित ऐकान्तिकः स्वामिकार्यप्रसङ्गानां **तथात्वेऽपि यातो दृढः । यः केवलं हरेरर्थे सर्वथा यत्नवान् स्वतः । प्रसङ्गादपि न स्वार्थे महाभागवतस्तु सः ।** सुष्ठु हृदयं यस्य; अन्येऽपि दोषास्तत्र न सन्तीति । सांसर्गिकोऽपि दोषो नाऽस्तीत्याह--**यस्तत्यजेति** । अग्रे जातः पितृसमो भवति । '**भ्रातृणामेकजातानाम्**' इति न्यायेन तत्पुत्रः स्वपुत्र एवेति पूर्वपरापेक्षापरित्यागेन भगवद्वैमुख्यमात्रं ज्ञात्वा धृतराष्ट्रं दुर्योधनादिसहितं त्यक्तवानित्यर्थः । वस्तुतः कृष्णे अघवानपि न भवति, तथापि भगवदङ्गीकृतपाण्डवविरोधादघवान् । **इतिशब्दः** प्रकारवाची, सम्भावनावाची वा ॥२॥

---

(१) 'तस्य मूलं' स्वयं को जो प्रश्न करने का है उस प्रश्न का यह मूल है, उसमें 'गमक' (कारण) कहते हैं जो उत्कृष्ट है उसका प्रश्न भी उत्कृष्ट (उत्तम) है क्योंकि दोनों से विदुर उत्तम है (१) संयमी होने से (२) भगवद्विरोधी भ्राता का त्याग करने से क्षतृपन आदि । 'प्रकाश'

व्याख्या--पहले विदुरजी का भगवदीयत्व निरूपण करते हैं वह परम भगवदीय होता है जो असिधारा व्रत धारण करता हैं विदुरजी भगवदीय है, जिनमें मुख्य यह (असिधारा व्रत) ही बीज है वह बताते है 'क्षत्ता महाभागवत.' क्षत्ता अर्थात् असिधारावत पालन करने वाला अन्य पुराण में राजसूय यज्ञ के प्रसङ्ग में भगवान् ने युधिष्ठिर को इस व्रत का इस प्रकार उपदेश दिया है कि-पुरुष स्वयं पुष्ट तथा जवान हो और कामनावाली स्त्रियों के समीप सदा रहता हो तो भी जिसके मन में विकार मात्र उत्पन्न न होवे, स्त्रियां भी सर्व अङ्गों से आनन्द देने वाली एवं सर्व आभूषणों से भूषित और जो नवीन हैं अर्थात् जिन्होने अभी तक काम-रस नहीं लिया हैं ऐसी स्त्रियां मिले तथा वे स्त्रियां उसको चाहती हो वे स्त्रियाँ अपनी हो अथवा अन्य हो तो भी जो पुरुष पञ्चाग्नि के मध्य में रहते हुए उसका स्पर्श जैसे न किया जाता है वैसे स्त्रियाँ का मन से स्पर्श न किया करे ऐसे ब्रह्मचर्य को असिधाराव्रत कहते हैं, 'क्षत्ता' वैसा होता है अतः वह महान् भगवदीय है क्योंकि 'कष्णस्यैकान्तिकः सुहृत्' श्री कृष्ण का अनन्य सुहृद् वह हं जो सर्व प्रकार से अपने को कष्ट देकर भी मित्र का हित करे।

स्वामी के कार्य अपने से विरुद्ध हों ऐसे प्रसङ्गों पर भी यों करने में दृढ़ होके रहना, जैसे स्वामी का हित हो उसमें प्रसन्न हो, जो स्वतः (बिना हरि के कहे) के आप ही केवल हरि के हितार्थ सर्वथा प्रयत्न करता है प्रसङ्ग स्वार्थ का हो तो भी स्वार्थ का त्याग कर हरि के लिए ही कार्य करता है वह महान् भागवत (भगवदीय) है।

सुहृत् उसको कहा जाता हैं जिसका हृदय शुद्ध हो हरि के लिए कार्य करना इस गुण के सिवाय अन्य कोई दोष भी जिसमें नहीं हो, संसर्ग का भी दोष जिसमें नहीं है इसलिए कहा है 'यस्त-त्याजाग्रज बड़ा भाई धृतराष्ट्र पिता के समान है तो भी भगवान् से केवल विमुख देख दुर्योधनादि पुत्रों सहित धृतराष्ट्र का त्याग किया, सगे भाई के पुत्र अपने पुत्र के समान होते हैं तो भी उनका त्याग कर दिया, वस्तुतः धृतराष्ट्र आदि कृष्ण के दोषी शत्रु या अपराधी नहीं थे किन्तु भगवान् के अङ्गीकार किये हुए पाण्डवों के विरोधी होने के कारण कृष्ण के द्रोही थे 'इति' शब्द प्रकार वा सम्भावना बताने वाला है ॥२॥

आभास—एवं सोपपत्तिकं भागवतत्वमुपपाद्य तथात्वं तस्योचितमेवेत्याह-

आभासार्थ—इस तरह विदुरजी का भगवदीयत्व उपपत्ति सहित सिद्ध कर उनका वैसा होना उचित ही है यों निम्न श्लोक में कहते हैं-

श्लोक—द्वैपायनादनवरो महित्वे तस्य देहजः।
सर्वात्मना श्रितः कृष्णं तत्परांश्चाऽप्यनुव्रतः ॥३॥

श्लोकार्थ--विदुरजी द्वैपायन व्यास की देह से उत्पन्न होने से, महिमा में उनसे कम नहीं थे सर्व प्रकार से श्री कृष्ण के आश्रित थे और उनके भक्तों के सेवक थे ॥३॥

सुबोधिनी—**द्वैपायनादिति** । भगवदंश एव महाभागवतो भवतीति भगवदंशत्वनिरूपणार्थम् वेदव्यासात् **महित्वे अनवरः**, अवरो न भवति. न्यूनो न भवतीत्यर्थः । महोऽस्यास्तीति मही, महिनो भावो महित्वम् । तादृशे धर्मे विचार्यमाणे यथा महित्वं वेदव्यासे, तथैव विदुरे । उत्सवोऽत्र भगवत्स्मरणादिकम् । मह-'**उद्धव उत्सवः**' इति कोशादकारान्तो महशब्दः । यथा ज्ञानम्, भगवत्स्मरणम्, भगवद्धर्मप्रवर्तकत्वं वा वेदव्यासेः, तथेति । तत्र हेतुमाह-**तस्य देहेज इति** । वेदव्यासस्याऽयं बीजजः पुत्रोऽप्यन्तरङ्गः, अतोयुक्तमेव तस्य तथात्वमिति । इदं तु ततोऽप्यधिकम्-**सर्वात्मना श्रितः कृष्णमिति** । वेदव्यासस्याऽधिकारित्वात् न सर्वात्मनाऽऽश्रितत्वम् । सर्वात्मभावेन ऐहिकपारलौकिकदैहिकात्मीयादीनां कार्यफलार्थे भगवन्तमेवाऽऽश्रयतीति तथा ।-सर्वरूपत्वं भगवतो वक्तुं नामविशेषमाह । भक्तिमार्गे रसिकश्चाऽयमित्यधिकारिज्ञानिभक्ताद्विशेषमाह-**तत्परांश्चाऽप्यनुव्रत इति** । भगवत्परान् भक्ताननुव्रतः सेवमानः । एवं सर्वप्रकारेण तस्य भागवतत्वं युक्तम् ॥३॥

व्याख्या—भगवान् का अंश ही महान् भगवद्भक्त होता है विदुरजी भगवदंश थे यह निरूपण करने के लिए कहा है कि वेद व्यासजी से उत्सव करने में कम नहीं थे । 'महः' उत्सव करने वाला 'मही' ऐसी उत्सव करने की स्थिति को 'महित्व' कहा जाता है, इस धर्म का विचार करने से मालूम होता है कि जैसा महित्व वेद व्यासजी में है वैसा ही विदुरजी में है । उत्सव का आशय यहां भगवत्स्मरणादि हैं । 'मह, उद्धव उत्सवः' शब्द का शास्त्रानुसार 'मह' शब्द अकारान्त है जैसा ज्ञान, भगवत्स्मरण, और भगवान् के धर्मो की प्रवृत्ति कराना वेद व्यासजी में था वैसा ही विदुरजी में था क्योंकि उनके (वेद व्यासजी के) देह से उत्पन्न हुए थे अर्थात् वेद व्यासजी के बीज से उत्पन्न उनके व्यासजी के) अन्तरङ्ग हार्दिक प्रिय पुत्र थे इस कारण से उन (विदुरजी) का वैसा होना उचित ही है, किन्तु उनसे अधिक भी थे कारण कि 'सर्वात्मनाश्रितःकृष्णं' कृष्ण का सर्वात्म भाव से इनने आश्रय किया था व्यासजी ने अधिकारी होने से सर्वात्म भाव से श्री कृष्ण का आश्रय नहीं किया है । सर्वात्मभाव का आशय है कि एहिक, पारलौकिक दैहिक एवं आत्मीय आदि के कार्य के फल प्राप्ति के लिए भगवान् का ही आश्रय करना इसको सर्वात्म भाव कहा जाता है ।

भगवान् का सर्व रूपत्व[1] समझाने के लिए भगवान् का विशेष 'कृष्ण' नाम कहा है विदुर जी भक्ति मार्ग में ही रस लेने वाले हैं इसलिए ज्ञानी भक्त से अधिक अधिकारी है। वह बताते हैं कि तत्परांश्चाप्यनुव्रतः भगवान् के परायण जो भक्त है उनकी भी सेवा करने वाले हैं इस तरह सर्व प्रकार से उनका भगवदीयत्व उचित ही है ॥३॥

आभास—एवं विदुरं भक्तत्वेन स्तुत्वा तस्य प्रश्नस्योत्तमत्वमाह—

आभासार्थ—यों विदुर की भक्तपन से स्तुति कर उसके प्रश्न की उत्तमता निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—किमन्वपृच्छन्मैत्रेयं विरजास्तीर्थसेवया।
उपगम्य कुशावर्त्त आसीनं तत्त्ववित्तमम् ॥४॥

श्लोकार्थ—तीर्थ सेवन से जो रजोगुण रहित होने से पूर्व से ही जिनका अन्तः करण शुद्ध हो गया है वैसे विदुरजी ने कुशावर्त में बैठे हुए परमतत्वज्ञानी मैत्रेयजी के पास जाकर क्या पूछा ? ॥४॥

सुबोधिनी—किमन्वपृच्छदिति पृष्टे कथनं रोषाभावं च प्रतिपादयितुमाह-मैत्रेयमिति। स हि मित्रायाः सुतः। नन्वत्यन्तभगवद्भक्तोऽपि गुणवशात्, कालवशाद्वा; लौकिकम्, प्राकृतं वा पृच्छेत्। तद्व्यावृत्यर्थमाह-विरजास्तीर्थसेवयेति यः साधनेन निष्पापः, रजोगुणरहितो वा जातः, स नाऽन्यत् पृच्छति। रजस एव निराकृतत्वात् दूरे तमः। तत्रापि महता कष्टेन, विषमे देशे गत्वा, सत्सङ्गे सति कथमन्यत्पृच्छेदित्याह-उपगम्य कुशावर्त इति। गङ्गाद्वारस्थानान्तर्गतदेशविशेषः कुशावर्तः, तस्मिन् आसिनमिति। तत्रापि तत्वविदां मध्ये श्रेष्ठम् न हि तादृशे देशे तादृशोऽन्यत्पृच्छति। अलौकिकं गूढं स एव जानातीति तत्ववित्तममित्युक्तम् ॥४॥

व्याख्या—मैत्रेय नाम देने का स्वारस्य प्रकट करते हैं कि मित्रा के पुत्र हैं अतः पूछने पर उत्तर देंगे तथा क्रोध भी नहीं करेंगे किन्तु यदि अत्यन्त भगवद्भक्त भी गुणों के वश होने से अथवा काल के वश हो जाने पर लौकिक वा प्राकृत पूछें ? उस शंका की व्यावृत्ति के लिए कहते हैं कि जो तीर्थों के सेवन से निष्पाप (शुद्धान्तःकरण वाला) तथा रजोगुण रहित हो गया है वह भगवत्सम्बन्धी प्रश्न के सिवाय अन्य कुछ नही पूछता है, जब रजोगुण ही मिट गया तो 'तम' कहां रहेगा ? ऐसी दशा में महान् कष्ट से विषम देश में जाकर वहां सत्संग मिलने पर लौकिक

---

(१) भजन करने योग्य सर्वरूपत्व कहां है- इस श्लोक में सर्वरूपत्व तथा सर्वात्मना पदों से भक्तिमार्गीय शरणमार्गीय सर्वात्म भाव का विवेचन किया है— 'प्रकाश'

आदि कैसे पूछेंगे ? इसलिये कहा है कि 'उपगम्य कुशावर्ते' गङ्गाद्वार स्थान के अन्तर्गत देश विशेष कुशावर्त है, उसमें बैठे हुवे वह भी तत्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ ऐसे देश में (समयमें) वैसा शुद्ध भक्त अन्य विषय नहीं पूछ सकता है अलौकिक और गूढ़ जानने से वह (मैत्रेयजी) तत्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ कहे गये हैं ॥४॥

आभास—किं प्रश्नमात्रं वक्तव्यम्, आहोस्विदुत्तरम्, उभयं वा ? तथा सति तत्त्वेनाऽग्रहे भगवत्कथारसाभि निवेशो न स्यादित्याशङ्क्य निरूपणं भगवत्कथार्थमित्याह—

आभासार्थ—क्या ? केवल प्रश्न ही वक्तव्य है कि उत्तर भी अथवा दोनों यों कहने पर संवादपन[1] से कहने का आग्रह हो तो उससे भगवत् कथा के रस में अभिनिवेश (आसक्ति) न होगा ? यह शंका कर कहते हैं कि भगवत् कथा के लिए ही निरूपण करता है यों निम्नश्लोक में कहते हैं—

श्लोक—तयोः संवदतोः सूत ! प्रवृत्ता ह्यमलाः कथाः ।
आपो गाङ्गा इवाऽघघ्नीर्हरेः पादाम्बुजाश्रयाः ॥५॥

श्लोकार्थ—हे सूत ! विदुरजी और मैत्रेयजी के संवाद करते हुए के बीच में गंगा जल जैसी पवित्र हरि के चरणों के आश्रय वाली, पापों को नाश करने वाली निर्मल हरि कथाएँ होने लगी ॥५॥

सुबोधिनी—**तयोरिति** । तयोर्विदुरमैत्रेययोः **संवदतोः** सतोर्मध्ये **कथाः प्रवृत्ताः** स्वत एव भवन्ति सूतेति संबोधनं तादृशकथाज्ञानार्थम्, तस्य सैव वृत्तिरिति । यथा वीराणां युद्धे रुधिरप्रवाहाः, ते समलाःएता **स्त्वमला** इति। अमलत्वं कीदृशमित्य पेक्षायां दृष्टान्तेन स्पष्टयति-**आपो गाङ्गा इवेति** । आपः स्वभावत एव मेध्याः, तत्राप्युत्कर्षो गङ्गायाः; साक्षाद्भगवद्रूपा इत्यर्थः, अघघ्निरिति पाप नाशिकाः, अपराध निवर्तिका वा स्वयं निर्मला एवाऽन्यमपि तथा कुर्वन्ति, ब्रह्मदण्डदग्धा अपि गङ्गया पाविता इति । तथात्वे उभयोरेकं हेतुमाह-**हरे पादाम्बुजाश्रया इति** । चरणाम्बुजाश्रया उभयाः ॥५॥

व्याख्या—विदुरजी और मैत्रेयजी के संवाद होने के मध्य में हरि कथाएँ स्वतः ही होने लगी, सूत! यह सम्बोधन सूचित करता है कि उसको(सूत को) वैसी कथा का ज्ञान है क्योंकि उसकी यह ही (कथा करनी ही) वृत्ति है। शूरवीरों के युद्ध में मलसहित रक्त (खून) बहता है । यहाँ तो कथा का प्रवाह निर्मल बह रहा था वह निर्मल भी कैसा था ? उसको दृष्टान्त देकर

१—तत्वेन-सत्संवादत्वेन उसके संवादपन से 'प्रकाश'

स्पष्ट समझाते हैं, 'अपोगांगाइव' जल स्वभाव से पवित्र है उसमें भी गंगाजल की उत्तमता है, कारण कि गंगा साक्षात् भगवत् रूप हैं अतः पापों को नाश करने वाली है अथवा अपराधों को मिटाने वाली है गंगा (गंगाजल) स्वंय निर्मला (मल रहित) है ही अन्य को भी वैसा (निर्मल शुद्ध) करती है गंगाजी ने ब्रह्मदण्ड से दग्धों (जले हुए) को भी पावन किया हैं, यो होने में दोनों का गंगा एवं कथा का एक ही कारण है जिसको कहते हैं 'हरे पादाम्बुजाश्रया' दोनों (गंगा और कथा) भगवत् चरणों के आश्रित है ॥५॥

आभास—ततः किमत आह–

आभासार्थ—उससे क्या ? ऐसे प्रश्न होने से निम्न श्लोक कहा है ।

श्लोक—**ता नः कीर्तय भद्रं ते कीर्तन्योदारकर्मणः ।**
रसज्ञः को नु तृप्येत हरिलीलामृतं पिबन् ॥६॥

श्लोकार्थ-हे सूत ! आप का कल्याण हो । कीर्त्तन करने योग्य और उदार कर्म वाले हरि की कथाएँ हमें सुनाइये, भला, ऐसा कौन रसिक है, जो हरि के लीलामृत रस का पान करते हुए तृप्त हो जाय ॥६॥

सुबोधिनी—**तानः कीर्त्तयेति** । सूतत्वाद्देयं चेतत्राऽऽह—**भद्र त इति** । ते भद्रमस्तु, ब्राह्मणानामाशिष एव देयाः । कथानामाधिक्ये हेतुमाह–**कीर्तन्यान्युदाराणि कर्माणि** यस्येति । भगवतः कर्मणां स्वभावद्वयम्, यः कश्चन तानि कीर्तयेदेव, अफलार्थी फलार्थी च । अफलार्थिनो नित्यविधिः -**कीर्तन्यानीति** । फलार्थिनस्तु सर्वाण्येव फलानि । पात्रापात्रविचारव्यतिरेकेणैव सर्वफलदातृण्युदाराणि; तस्मात् कीर्तनीयानि । सर्वेषु पदार्थेषु सन्ति रसाः, रसज्ञं प्राप्याऽभिव्यक्ता भवन्ति । भगवतस्तु कर्माण्यभिव्यक्तान्येव, **रसज्ञः** परमपेक्ष्यते । कथानां स्वविषयरुच्युत्पादकत्वं पूर्वमवोचाम । यथाऽऽग्नेयेनौषधेन क्षुज्जायते, एवमन्नेन च तृप्यते । अन्नमेव चेत् क्षुज्जनकं स्यात्, कथं तृप्येत ? तद्वत् **रसज्ञः को वा, नु** निश्चयेन, **तृप्येत** ? पीतेनाऽमृतेनोत्तरत्रेच्छोत्पादनात् । स हि दुःखहर्ता स्मरन्नेव; दुःखं चाऽऽत्मतिरोभावात्, तिरोभावकश्च प्राकृतो गणः, स भूयानिति । कालादिरपि । अतो निरन्तरोत्पद्यमानदुःखनिवृत्त्यर्थं हरिः स्मर्तव्यः । किञ्च, लोके आलस्याद्युद्वेगादिषु लीलया स्वास्थ्यं भवति; स्वस्याऽन्यस्य वा, क्रियमाणया कीर्त्यमानया वा । मृत्योर्भयं सर्वेषाम्, तत्राऽवश्यापेक्षममृतम् । किञ्च, पानस्य कियत्कालव्यवधाने, कालादिना, प्राकृतैर्वा मध्ये रसान्तरोत्पादने अलं मन्येताऽपि; अस्मरणाद्वा । **पिबन्नेव** कथं तृप्येतेत्यर्थः ॥६॥

व्याख्या—यदि कहो कि 'सूत' कथा करने वाले हैं उनको कुछ देना चाहिए इस पर कहते हैं कि 'भद्रं ते' आपका कल्याण हो इस प्रकार आशीर्वाद देते हैं, कारण कि ब्राह्मण तो आशीर्वाद

ही देते हैं, कथाएं उत्तम हैं जिसका कारण यह है कि ये कथाएँ उनकी हैं जिनका कर्म उदार है। भगवान् के कर्मों के दो स्वभाव हैं जो कोई उसका कीर्तन करे तो वह कीर्तनकर्त्ता फल चाहने वाला सकाम हो अथवा फल न चाहने वाला निष्काम हो जो निष्काम है उसको भगवद्गुणगान नित्य ही करना चाहिए ऐसी शास्त्र की विधि है, जो सकाम है उसको सर्वं प्रकार के फल देते ही हैं, वह सकाम, पात्र है वा अपात्र है ऐसा विचार किये बिना ही सर्वफल देने वाले हैं, इसलिए वे (कर्म) उदार हैं इसलिए कीर्तन करने योग्य है।

सकल पदार्थों में रस है किन्तु वे रस, रस जानने वाले को पाकर प्रकट होते हैं, भगवान् के कर्म तो प्रकट ही हैं किन्तु रसज्ञ की अपेक्षा करते हैं।

कथाएँ अपने विषय में रुचि उत्पादन करने वाली है यों पहले ही दूसरे स्कन्ध के तीसरे अध्याय के १२ वें श्लोक 'ज्ञाने यदा' की सुबोधिनी में कहा है जैसे आग्नेय औषध (अग्नि तुण्डी आदि) से भूख लगती है वैसे ही अन्न से तृप्ति होती है, यदि अन्न ही भूख लगाने वाला हो तो तृप्ति कैसे हो? इसी तरह ऐसा रसज्ञ कौन हैजो निश्चय से तृप्त हो पिया हुआ अमृत बाद में इच्छा उत्पन्न करता है। किन्तु भगवन्तस्मरण तो स्मरण करते ही दुःखों को हरण करने वाला है, आत्मा के तिरोभाव के कारण हो दुःख होता है आत्मा का तिरोभाव करने वाला प्राकृत पदार्थों का समूह है और वह कठोर है काल आदि भी आत्मा का तिरोभाव कराने वाला है, अतः सदैव उत्पन्न होने वाले दुःख दूर हो जावे जिसके लिए भगवत्स्मरण नित्य करना आवश्यक है और विशेष जैसे लोक में आलस्य आदि उद्वेगों में जो दुःख होता है वह अपनी वा दूसरे की क्रीड़ा कहने वा स्मरण से वह दुःख दूर हो जाता है वैसे भगवत् लीला के करने अथवा कीर्तन से सर्व भय आदि दुःख मिट जाते हैं मृत्यु का भय तो सबको रहता है उसके लिए अमृत की अपेक्षा (आवश्यकता) है यदि अमृत(कथा पीयूष) का कुछ समय के लिए पीना बन्द रहे तो काल आदि से अथवा प्राकृत पदार्थ के मध्य में अन्य रस में आसक्ति करा दे तो वह बुद्धि वा 'संग' दोष से कहने लगेगा कि इतना ही पर्याप्त है किन्तु जो भगवद्रस का नित्य पान करता ही रहता है जिससे काल आदि वा प्राकृत पदार्थों का प्रभाव उस पर नहीं पड़ता है अतः वह कभी भी उस रस से अपने को तृप्त नहीं मानता प्रत्युत विशेष चाहने वाला है ॥६॥

आभास—सर्गलीला प्रथमत आरभ्यत इति ज्ञापयितुं व्यासः स्वयमाह—

आभासार्थ—यहां से सर्गलीला का पहले ही आरम्भ होता है यों जताने के लिए स्वयं व्यासजी निम्न श्लोक कहते हैं।

श्लोक—एवमुग्रश्रवाः पृष्ट ऋषिभिर्नैमिषायनैः।
भगवत्यर्पिताध्यात्मस्तानाह श्रूयतामिति ॥७॥

श्लोकार्थ—जब नैमिशारण्यवासी मुनियों ने उग्रश्रवा से इस प्रकार पूछा तब जिसने सब (आत्मा आदि) भगवान् में अर्पण कर दिये हैं वैसे सूत उग्रश्रवाने ऋषियों को कहा कि सुनिये ।।७।।

सुबोधिनी—एवमुग्रश्रवा इति। उग्रं श्रवः कीर्तिर्यस्येति । इदमुग्रत्वं भगवत्कीर्तिविरोधिनिराकरणार्थम् । रोमहर्षणस्याऽयं पुत्रः, **उग्रश्रवा** इति नाम्ना । ऋषयो हि ज्ञात्वा पृच्छन्ति अनेन कार्यसिद्धिर्भविष्यतीति । नैमिषमेव ऽयनं येषाम्; वैष्णवक्षेत्रे स्थिता देशगुणेनाऽपि वैष्णवा भवन्तीति । आत्मनि यावान् परिकरो बाह्याभ्यन्तरभेदेन देहादिः, बुध्यादिर्वा; तत्सर्वं भगवत्येवाऽर्पितं येन, तादृशस्यैतदेव कृत्यम्; अतस्तान्प्रत्याह—**श्रूयतामिति** । स्वस्य वक्तृत्वं सिद्धम्; तेषां श्रोतृत्वं स्थिरीकरोति-**श्रूयतामिति** । शुकस्तु मध्ये न विरत इति तस्य प्रश्नेनोत्तरम् । विदुरवाक्यं शुकोऽप्याहेति ज्ञातव्यम् ।।७।।

व्याख्या—जिसकी कीर्ति उग्र है उसको 'उग्रश्रवासूत' कहते हैं यह उग्रत्व भगवान् की कीर्ति के विरोधियों के नाश करने के लिए था रोम हर्षण का यह पुत्र 'उग्रश्रवा' नाम से प्रसिद्ध था इससे कार्य की सिद्धि होगी यों जानकर ही ऋषि पूछते हैं नैमिष हो जिनका रहने का स्थान है, वैष्णव क्षेत्र में स्थित देश के गुण से भी वैष्णव हो जाते हैं, अपने में भीतर व बाहर भेद से जो देह आदि अथवा बुद्धि आदि है वह सकल जिसने भगवान् में ही अर्पण कर दिया है वैसे भक्त का यह हो कृत्य है इस कारण से उनके प्रति (मुनियो को) कहने लगे कि 'श्रूयताम्' सुनिये अपने में वक्तापन तो सिद्ध ही है शेष उनका (मुनियों का) श्रोतापन सिद्ध करने के लिए कहा है कि 'सुनिये' शुकदेवजी ने कथा का विराम नहीं दिया था इसलिए उनके प्रश्नोत्तर यहां नहीं कहे हैं श्लोक ६ से विदुरजी के वाक्य शुकदेवजी ने भी कहे यो समझना[1] चाहिए ।।७।।

आभास-सूतस्तु विदुरः प्रश्नं कृतवानित्याह—

आभासार्थ—सूत जी तो विदुर कृत प्रश्न को निम्न श्लोक में कहते है -

सूत उवाच । श्लोक—हरेर्धृतक्रोडतनोः स्वमायया निशम्य गोरुद्धरणं रसातलात्
लीलां हिरण्याक्षमवज्ञया हतं संजातहर्षो मुनिमाह भारतः ।।८।।

श्लोकार्थ—सूतजी कहने लगे अपनी आविर्भावशक्तिरूप माया से वराह रूप धारण करने वाले श्री हरि की रसातल से पृथ्वी को निकालने एवं खेल ही खेल में अवज्ञा के कारण हिरण्याक्ष को मार डालने की लीला को सुनकर जब विदुरजी बड़े

—१ 'कुत्रक्षतुर्भगवता' इस श्लोक में समस्त संवाद पूछा हुआ है उसके अनुरोध से समझना चाहिए । प्रकाश

प्रसन्न हुए तब उन्होंने मुनिवर मैत्रेयजी को कहा ॥८॥

सुबोधिनी—हरेरिति शुकस्तु प्रश्नमेवाऽऽह, अयं तूपोद्घातमनुवदति, विदुरप्रश्नेनैव विशेषतो हिरण्याक्षवधस्योक्तत्वात् । सर्वदुःखहरणार्थमेव क्रोडतनुर्भगवता धृता । स्वमाययेति स्वाधीनया मायया, यथा सुखं परिवर्तमानया । लोकप्रदर्शनार्थं तथाभावं बोधयति, संपादयति वा; अत एव मायया धृतक्रोडतनोस्तस्य चरित्रद्वयम्-भूम्युद्धरणमिष्टरूपम्, हिरण्याक्षहननमनिष्टनिवृत्तिरूपम् । उभयं श्रुत्वा संजातहर्षः । अनुवादेऽपि भगवतो माहात्म्यज्ञापनार्थमुभयोर्लीलात्वमाह मध्ये-लीलामिति । उभयं लीला । हिरण्याक्षो भगवदीय इति स एव लीलात्वेनोक्तः । विशेषणपर्यवसाने तु लक्षणा, गौरवं च स्यात्; हिरण्याक्षचरित्रं चाऽधिकं स्यात् । एवं सर्वं लीलैव भवति । हर्षोत्पत्तौ रुच्युत्पादकत्वेन । मुनिमित्यग्रिमज्ञानार्थम् । भारत इति प्रकृते रसान्तराजननार्थम् ॥८॥

व्याख्या—शुकदेवजी ने तो प्रश्न ही कहा यह (सूतजी) तो उपोद्घात का अनुवाद करते हैं विदुरजी के प्रश्न से ही विशेष रूप से हिरण्याक्ष का वध कहा गया है भगवान् ने सकल सृष्टि के दुःखों को मिटाने के लिए सूकराकृति धारण की है अपने आधीन माया से धारण किया जिससे परिवर्तन में कुछ भी क्लेश नहीं हुआ लोक को दिखाने के लिए ऐसा भाव जताते हैं वा सम्पादन करते हैं इस कारण से ही माया से धारण किये हुए सूकर रूप के दो चरित्र हैं एक भूमि का उद्धार करना जो इष्ट रूप है और दूसरा हिरण्याक्ष का बध अनिष्ट की निवृत्ति करने के लिए है दोनों को सुनकर विदुरजी को आनन्द हुआ अनुवाद में भी भगवान् का महात्म्य जताने के लिए दोनों का लीलात्व[1] कहा है यदि 'लीला' पद विशेषण में परिणामित होता तो लक्षण होने से निरर्थक गौरव होता फिर हिरण्याक्ष के चरित्र का कहना अधिक हो जाय, इस प्रकार से सर्वलीला ही है रुचि उत्पन्न करने वाली होने के कारण इस लीला से हर्ष की उत्पत्ति हुई । 'मुनि' पद से यह सूचित किया है कि इनको आगे का सर्वज्ञान है 'भारत' पद से जताया है कि प्रकृत विषय में इनको (विदुर जी को) दूसरा रस उत्पन्न न हुआ ॥८॥

---

१ लीला कर्मरूप है इसलिए भूमिका उद्धार करना भी लीला ही है यदि कहेंगे कि हिरण्याक्ष पुरुष है अतः लीला नहीं इसके उत्तर में कहते हैं हिरण्याक्ष भगवदीय है अर्थात् भगवान् की क्रीड़ा का साधन रूप है । भगवान् ने युद्ध रूप लीला करने की इच्छा से हिरण्याक्ष को यह शरीर दिया अतः लीला ही है, इस तरह की कल्पना क्यों करते होकि हिरण्याक्ष वध को लीला कहना चाहिए ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'हत' पद कर्म से उत्पन्न है जिसको भाव व्युत्पन्न मान लेना चाहिए हिर–

● शेष पृष्ट १२६ पर

विदुर उवाच श्लोक—— प्रजापतिपतिः सृष्ट्वा प्रजासर्गे प्रजापतीन् ।
किमारभत मे ब्रह्मन् ! प्रब्रूह्यव्यक्तमार्गवित् ।।९।।
ये मरीच्यादयो विप्रा यस्तु स्वायम्भुवो मनुः ।
ते वै ब्रह्मण आदेशात्कथमेतदभावयन् ।।१०।।
सद्वितीयाः किमसृजन्स्वतन्त्रा उत कर्मसु ।
आहोस्वित्संहताः सर्व इदं स्म समकल्पयन् ।।११।।

श्लोकार्थ—विदुरजी कहने लगे हे ब्रह्मन् । आप परोक्ष विषयों के भी ज्ञाता हैं अतः यह बतलाइये कि प्रजापतियों के पति ब्रह्माजी ने मरीचि आदि प्रजापतियों की रचना कर अनन्तर सृष्टि बढ़ाने के लिए क्या किया ? मारीचि आदि विप्रों तथा स्वायंभूव मनु ने ब्रह्मा की आज्ञा से किस प्रकार प्रजा की वृद्धि की ।। उन्होंने इस जगत् को भार्याओं से मिलकर उनकी सहायता से रचा वा अपने अपने कार्यो में स्वतन्त्र रहकर रचा अथवा सबने मिलकर साथ में रचा ।।९-१०-११।।

सुबोधिनि - प्रजापतिपतिरिति विदुरस्त्वेवं मन्यते, भक्तो हि ब्रह्मा सृष्टिं कृतवानेव; अतः परं भक्त्युपयोग्येवकिञ्चित्कार्यं करिष्यतीति । **किमारभतेति** ब्रह्मकार्यविषयकः प्रथमः प्रश्नः । भक्तेन भगवदर्थमेव सृष्टा इति मरीच्यादयोऽपि कीदृशान् भक्तानुत्पादितवन्त इति द्वितीयः प्रश्नः। तत्राऽपि प्रकारत्रय भक्तजनने तारतम्य बोधनार्थम् । सद्वितीया इति । सद्वितोयाः सभार्याः, तथा सति प्राकृतभक्तोत्पतिः । स्वतन्त्रा एकाकिनः, तथा सति ज्ञानिभक्तोत्पतिः संहता मिलिताः, तथा सति परमभक्तोत्पत्तिरिति । यदि ब्रह्मा प्रजापतिसृष्टचनन्तरं न किञ्चित् कुर्यात् प्रजापतिरेव भवेत्, न तु प्रजापतिपतिः । सर्गस्य प्रवाहवत्प्रवर्त्तमानत्वान्न मरीच्यादिभ्यो विशेषः । प्रजापतिसृष्टिव्यतिरेकेण केवलं प्रजासृष्टौ रक्षकाभावात् प्रजा अमर्यादाः स्युः तत्सृष्टौ तु तैरेव प्रजा भविष्यन्तीति प्रजासर्गे प्रजापतीनेव सृष्टवान् । सृष्ट्वेत्येवाऽनुवादः । पूर्वशेषव्यावृत्त्यर्थमारभतेत्युक्तम्

ण्याक्ष पद का इसके साथ अन्वय के लिए उसकी द्वितिया विभक्ति को षष्ठी विभक्ति के अर्थ वाला मान लेने से लक्षणा हो जाती है जिसके परिणाम में लक्षणा और गौरव दो होने से व्यर्थता है, हिरण्याक्ष के कर्म भगवान् की लीला में प्रवेश न होने से और उस चरित्र का सर्ग लीला में न आने से केवल अधिकता होती है, इसलिए वह पक्ष उचित नहीं हैं । अतः हमने जो रीति कही है उसके अंगीकार करने से जैसे 'याग' पद से कर्म की सब सामग्री आ जाती है 'राज्ञोश्वेतो' यहां सब उपकरण आ जाते हैं वैसे ही यहां सर्व शेष भूतलीला ही है यह पक्ष श्रेष्ठ है । 'प्रकाश'

ब्रह्मन्निति ज्ञानार्थम् म इति स्वाधिकारिज्ञानात् । ब्रह्मणस्ततोऽप्यलौकिककरणज्ञानार्थमाह **अव्यक्तमार्गविदिति** । अव्यक्त इति कारणरूपं ब्रह्म, तस्य मार्ग उत्पत्तिप्रलयप्रकार: कथं तस्मादेते सामयान्ति, कथं प्रविशन्तीत्येतद्ब्रह्मैव जानाति । सर्वस्याऽपिकारणमव्यक्तमिति तथोक्तम् । द्वितीयं प्रश्नमाह–**ये मरीच्यादय इति** मरीच्यादयः स्वतन्त्राः सृष्टाः, मनुस्तुसभार्यः । ते सर्वे सृष्टौ नियोजिताः । निश्चयेन ब्रह्मण आदेशादेतत् जगत् **कथमभावयन्** ? उत्पादितवन्त इत्यर्थः कर्मसूत्पादनादिष्वन्येष्वपीति भिन्नं वाक्यम्, न ह्युत्पादनमात्रेणैव सर्गो भवति । **सर्व इति** वचनात् त्रिचतुराः, सर्वे वा कृतवन्त इति प्रश्नः । इदमिति परिदृश्यमानस्य कार्यस्य विद्यमानत्वादवश्यं कृतिः, प्रकारः संदिग्ध इति प्रश्नः । स्मेति प्रसिद्धे. नेदं जगन्मायिकम्, भ्रमसृष्टं चेति कथनार्थम् अतः सम्यगकल्पयन्, कात्स्न्येनाऽभिव्यक्तं केन **प्रकारेण** कृतवन्त इति **प्रश्नः** ॥९॥१०॥११॥

व्याख्या–– विदुरजी तो यों मानते हैं कि भक्त ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना की थी । इसके अनन्तर भक्ति के उपयोगी कुछ कार्य करेंगे किमारभत ब्रह्मा के कार्य सम्बन्धी यह पहला प्रश्न है कि क्या प्रारम्भ किया ? भक्त ने (ब्रह्मा ने भगवदर्थ हो मरीचि आदि प्रजापति उत्पन्न किये अतः उन्होंने भी किस प्रकार के भक्त उत्पन्न किये यह दूसरा प्रश्न है, इस प्रश्न में भी अवान्तर तीन प्रकार हैं जिससे भक्तों की उत्पत्ति में तारतम्यता का ज्ञान होवेः—

१ सद्वितीयाः– स्त्रियों से सहायता लेकर जो उत्पत्ति की वह प्राकृत भक्तों की उत्पत्ति हुई,

२ स्वतन्त्राः– अकेले उत्पत्ति की वह ज्ञानी भक्तों की उत्पत्ति हुई,

३ संहताः मिलिताः– सबने मिल कर उत्पत्ति की वह परमभक्तों की उत्पत्ति हुई,

यदि ब्रह्मा प्रजापतियों की उत्पत्ति के बाद कुछ वृद्धि न कराते तो आप प्रजापति ही कहलाते न कि 'प्रजापति–पति' कहलाते , सृष्टि सदैव प्रवाह की तरह चलती रहती है अतः मरीचि आदि भी अन्य प्रकार से कुछ नहीं कर सकते थे । यदि प्रजापतियों को उत्पत्ति न करते तो प्रजा का रक्षक कोई न होने से प्रजा मर्यादा रहित हो उछृंखल हो जाती इसलिए उनकी (प्रजापतियों की) सृष्टि पहले की, उनसे ही फिर प्रजाएं होंगी (बढ़ेगी) जो मर्यादित रहेगी,(सृष्ट्वा) पद से यह सूचित किया है कि पहले किया हुआ कार्य फिर आगे किया है प्रथम किया हुआ कार्य शेष नहीं रहा है इसलिए 'आरभत' प्रारम्भ किया कहा हे ब्रह्मन ! सम्बोधन से यह बताया है कि मैत्रेयजी को इस विषय का पूर्ण ज्ञान है 'मय' पद से यह सूचित किया है कि मैं सुनने का अधिकारी हूं । ब्रह्मा को इससे भी अलौकिक करने का ज्ञान है इसलिए उनके लिए 'अव्यक्त मार्गवित्' विशेषण दिया है 'अव्यक्त' पद का अर्थ है 'कारणरूप ब्रह्म' उसका मार्ग अर्थात् उत्पत्ति प्रलय का प्रकार उस कारणरूप ब्रह्म से यह कैसे उत्पन्न होते हैं फिर उसमें कैसे प्रवेश करते हैं, यह सर्व ब्रह्म ही जानता है, सबका कारण अव्यक्त हैं इसलिए यों कहा है ।

दूसरा प्रश्न कहते हैं 'ये मरोच्यादय इति' मरीचि आदि प्रजापतियों ने अकेले सृष्टि की और मनु ने पत्नी की सहायता से सृष्टि की, वे सब सृष्टि के कार्य में लगाये, निश्चय से ब्रह्मा के आदेश से यह जगत् किस प्रकार उत्पन्न किया ? 'कर्मसु' बहुवचन की उक्ति से उत्पत्ति के कार्य सम्पूर्ण नहीं होते हैं अतः 'सर्वे' पद बहुवचन देकर यह प्रश्न किया है कि तीन चार ने मिलकर वा सबने मिलकर किया ? 'इदं' अर्थात् जो सामने प्रत्यक्ष दिख रहा है इसलिए यह अवश्य कृति कार्य (बनाया हुआ) है, कैसे बनाया ? यह प्रश्न है 'स्म' प्रसिद्धि अर्थ में है यह जगत् मायिक नहीं हैं और न भ्रम से बना हुआ है। अतः यह अच्छे प्रकार से उत्पन्न किया हुआ हैं सम्पूर्ण प्रकार से अभिव्यक्त (प्रकट) किस प्रकार से किया ? यह ही प्रश्न है ।।९-१०-११।।

आभास-सृष्टिभेदान् वक्तुं साधारणीं सृष्टिमनुवदति षड्भि,, भगवद्गुणत्वाय।

आभासार्थ—सृष्टि के भेद कहने के लिये साधारण[1] सृष्टि जो भगवान् का गुण है वह निम्न छ श्लोकों से कहते हैं—

कारिका—**महत्तत्त्वमहङ्कारः सकार्योऽण्डं तथैव च।**
नारायणत्वं पद्मं च ब्रह्मा चेत्यत्र षट् क्रमात् ।।१।।

कारिकार्थ—महत्तत्व अहंकार और वैसे ही कार्य सहित ब्रह्माण्ड, नारायण, कमल और ब्रह्मा ये छ यहां क्रम से कहे हैं ।।१।।

कारिका—**प्राकृताः षडिमे सृष्टा एकादश तु वैकृताः।**
सगुणास्तु नवैतेषु पुरुषो भगवत्कृतः ।।२।।
निर्गुणः प्रोच्यते पुम्भिः शब्दब्रह्मात्मनो ऋषिः ।।२½।।

कारिकार्थ—ये छ प्राकृत[2] उत्पन्न किये है, अर्थात् इन छहों को भगवान् ने सृष्टि के कारण रूप से बनाये हैं और वैकृत[3] ११ बनाये हैं जिनमें से नव सगुण[4] हैं पुरुष को भगवान् ने उत्पन्न

१-साधारण सृष्टि वह है जो सर्व कल्पों में एक रूप होती है।

२-ये ६ प्राकृत भगवान् ने सर्व सृष्टि के कारण रूप बनाये

३-११ वैकृत उस उस सृष्टि के कारण भूत है।

४-अविद्या से लेकर ऋषियों तक गणना करने से सर्ग अनेक होते हैं यहाँ ११ कैसे हीं कहे ? जिसके उत्तर में कहते हैं 'सगुणाः' विभाग करने वाली उपाधि के कारण इतने ही हैं। ११ में से नव सगुण हैं मनु निर्गुण है क्यों कि पूर्व उत्पन्न पुरुषों ने उसको (मनु को) निर्गुण कहा है शुद्ध ब्रह्म से ऋषि उत्पन्न हुए इस तरह ही ११ वैकृत हैं।

पृष्ट १२८ की पाद टिप्पणी का शेष भाग

'एष सप्तदश प्रजापति' इस श्रुति के अनुसार इस सर्ग का यज्ञीय अक्षर के समान संख्या होने से ये प्रजापति (७०, हैं ये यज्ञात्माएँ है यों माना गया है, देव अर्थात् भगवान् सर्ग लीला से पहले उस यज्ञ से ही तृप्त होते हैं, इसलिये यह सर्ग भगवान् के लिये ही है न कि दूसरे प्रकार से है और न जीवों के लिये है यों यह संख्या से समझाया है, यह ही समुदाय संख्या का प्रयोजन है, संख्या भाव का निर्णय न होने से शङ्का रह जाती है इसलिये दूसरा हेतु देते है 'वेदे' वेद में यह सर्ग दोनों प्रकार से कहा है अथवा संख्या से शब्द से प्रमाण से और प्रमेय से कहा है । संख्या तात्पर्य कह कर विलक्षणता न लाने के लिये कहते हैं 'प्रथमतः' पहले महान् से सृष्टि हुई 'त्रय' इत्यादि 'तथाच' वे तीन गुण, सत्व, रज और तम के स्थान पर आ गए । प्रकाश

किया कारण कि भगवान् पुरुष आदि से पहले ही हैं अतः पुरुषों ने उनको निर्गुण कहा है, शब्द ब्रह्म में से ऋषि उत्पन्न हुए । अविद्या से लेकर ऋषि पर्यन्त गणना की जाय तो सर्ग बहुत होते हैं फिर ११ कैसे कहते हो ? इस शंका के उत्तर में कहते है विभाग कर्त्री उपाधि के भेद से ११ होते हैं अतः ११ कहे हैं ।।२½।।

कारिका—एवं सप्तदश प्रोक्ता यज्ञात्मानो मता इमे ।।३।।

कारिकार्थ—इस तरह १७ कहें है ये यज्ञ की आत्मायें मानी गई है ।।३।।

कारिका—तेनैव प्रथमं देवस्तृप्यते सर्ग लीलया ।
अतस्तदर्थं सर्गोऽयं नाऽन्यथेति निरूपितम् ।।४।।
वेदे सर्गोऽयमेवोक्तस्तस्माद्रुभयतो महान् ।।४½।।

देवता प्रारम्भ में इस सर्गं लीला से तृप्त होते हैं अतः यह सर्गं उनके लिए ही है अन्य प्रकार का नहीं है यों निरूपण किया है ।।४।।

वेद में यह ही सर्ग कहा है अतः दोनों प्रकार से वह सर्ग उत्तम है ।।४½।।

आभास—प्रथमतो महतः सृष्टिमाह—

आभासार्थ—पहले महत् की सृष्टि कहते हैं—

मैत्रेय उवाच श्लोक—दैवेन दुर्वितर्क्येण परेणाऽनिमिषेण च ।
जातक्षोभाद्भगवतो महानासीद्गुणत्रयात् ।।१२।।

श्लोकार्थ—मैत्रेय जी कहने लगे, जिसकी गति तर्क से नहीं जानी जा सकती है ऐसे दैव (भगवान् की इच्छा) से प्रकृति के नियन्ता पुरुष से, और काल से क्षोभ को प्राप्तभगवान् के तीन गुणों में से महत् की उत्पत्ति हुई ।।१२।।

सुबोधिनी— दैवेनेति । अयं महान्, न प्रकृतेः, किन्तु ब्रह्मण एव गुणवैषम्याज्जातः । अत्र त्रयो गुणाः-दैवम्, परः, कालश्चेति । दैवं भगवदिच्छा काम इति यावत् । तस्य तु स्वरूपमिदमित्थतया वक्तुमशक्यमिति दुर्वितर्क्यमुक्तम् । स कामो देव-संबन्धी, 'सोऽकामयत' इति श्रुतेः । स च कामो न निरूपित इति निरूपकाणामतर्क्यः । परोऽत्र पुरुषोऽक्षरं वा, स राजसः । अनिमिषः कालस्तामसः । चकारान्निमित्तमापद्यन्ते कर्मस्वभावादयोऽपि कालादिभेदाः । एतैस्त्रिभिर्गुणैरपि जातः क्षोभो यस्य, तस्माद्भगवतः पुरुषोत्तमान्महानासीत् । एते भगवद्रूपा एवेति न तत्त्वपदप्रयोगः । गुणत्रयादिति सच्चिदानन्देभ्यः, तदंशेभ्यो वा ।१२।

व्याख्या—यह महत् प्रकृति के (सत्वादि गुणों के) वैषम्य से उत्पन्न नहीं हुआ है किन्तु ब्रह्म के ही गुणों के वैषम्य से उत्पन्न हुआ है, ब्रह्म के वे तीन गुण बताते हैं, १-दैव २-पर और ३-काल ये तीन ब्रह्म के गुण हैं जिनके क्षोभ से महत् प्रकट हुआ है 'दैव' भगवान् ने जो सृष्टि करने की इच्छा (कामना) की उसको यहां दैव (गुण) कहा है उसका स्वरूप इस तरह का ही है यों कहना अशक्य होने से 'दुर्वितर्क्यम' विशेषण दिया है, वह काम (कामना) देव सम्बन्धी है क्योंकि श्रुति में 'सोऽकामयत' कहा हैं उस देव (परमात्मा) ने कामना (इच्छा) की वहां वह काम यों नहीं कहा[1] इसलिए निरूपण करने वालों के तर्क में नहीं आ सकता है । 'परः' यहां पुरुष अथवा अक्षर को कहा है, वह ही राजस है इसको यहाँ भगवद् गुण माना गया है । 'अनिमिष' अर्थात् काल यह तामस है इसको भी यहा भगवद् गुण माना गया है, सारांश यह हुआ कि दैव (भगवदिच्छा) 'पर' (पुरुष वा अक्षर) और काल ये तीन गुण ब्रह्म के कहे है यहां प्रकृति के सतो रजो और तमोगुण नहीं लिये गये है 'च' पद से कर्म स्वभाव आदि भी काल के भेद होने से निमित्त होते है इन तीन गुणों से जिसको क्षोभ हुआ है उस भगवान् पुरुषोत्तम से 'महत्' की उत्पत्ति हुई है ये गुण (दैव पर और काल) भगवद्रूप ही है, अतः 'महत्' को तत्व नहीं कहा है 'गुण त्रयात्' सच्चिदानन्दों से (सत् चित् और आनन्द से) अथवा उनके अंशो से उत्पन्न हुआ है ।।१२।।

आभास-महतः सकाशात् सकार्यस्याऽहङ्कारस्य सृष्टिमाह—

१—श्रुति में केवल इतना ही कहा है कि मैं बहुत हो जाऊँ उत्पन्न होऊँ यों सामान्य रीति से कहा है जिस तरह बहुत हुए और ऊँच नीच आदि बने वह विशेष प्रकार नहीं कहा है, 'स राजस' वह रजोगुण के स्थान को प्राप्त हुआ । 'न तत्त्व पद प्रयोगः तत्व' का तात्पर्य उसका भाव है । भाव अर्थात् धर्म यहाँ तो धर्मी ही का प्रादुर्भाव हुआ है अतः तत्वपद का प्रयोग नहीं किया है इस तरह पहले से इसकी विलक्षणता में गुणों का भेद है और साक्षात् भगवान् का कारणत्व है अतः तत्व शब्द (सर्ग की) नहीं कहा है । सत् चित् और आनन्द में गुण पद का प्रयोग अप्रसिद्ध है अतः दूसरा पक्ष कहते है 'तदंशेभ्यो वा द्वितीय स्कन्ध में कहे हुए सत्त्व आदि से ।

आभासार्थ—महत् अपने कार्यों सहित अहंकार की उत्पत्ति इस श्लोक में कहते है—

श्लोक—रजः प्रधानान्महतस्त्रिलिङ्गो दैवचोदितात् ।
जातः ससर्ज भूतादिर्वियदादीनि पञ्चशः ।।१३।।

श्लोकार्थ—दैव (भगवदिच्छा) से प्रेरित, मुख्य रजोगुण वाले महत् से अहंकार उत्पन्न हुआ जिसने तीन प्रकार के गुणों वाला होते हुए भी पाँच पांच विभागों में आकाशादि भूतों को उत्पन्न किया ।।१३।।

सुबोधिनी—रजःप्रधानादिति । महांस्त्रिगुणात्मकोऽपि अहङ्कारसृष्टयर्थं रजःप्रधानो जातः । स त्रिविधोऽपि रजोभेदकृत एव । तत्रापि भगवदिच्छा प्रेरिकेत्याह-दैवचोदितादिति । स जात एव त्रिविधोऽपि पञ्चशः ससर्जेति संबन्धः । तत्र भूतादिस्तामसः । स आकाशादीनि भूतानि पञ्च, मात्राश्च पञ्चेति । एवमिन्द्रियादिरपि; ज्ञानेन्द्रियाणि; कर्मेन्द्रियाणि, प्राणादीनि, नागादीनि च । सृष्टवान् देवादिश्च तत्तदभिमानिदेवदिगादीन् पञ्च; वह्न्यादींश्च; मनः; अन्तःकरणदेवताचतुष्टयं च । एवं पञ्चशस्त्रिलिङ्गोऽप्युत्पादितवानित्यर्थः ।।१३।।

व्याख्या—महत् त्रिगुणात्मक (दैव पर और कालात्मक तीन गुण वाला) होते हुए भी अहंकार को उत्पन्न करने के लिए रजः प्रधान (यहाँ रजोगुण पुरुष वा अक्षर समझना प्राकृत रजोगुण नहीं) हुआ, वह रजोगुण के भेद से ही त्रिगुणात्मक हुआ है (पहले कहे हुए सर्ग से इस सर्ग का भेद बताया है) इसमें भगवदिच्छा प्रेरिका है इसलिए 'दैव चोदितात्' कहा है, वह (अहंकार) उत्पन्न होते ही त्रिविध था तो भी पांच-पांच विभागों में आकाशादि भूतों को प्रकट किया इनमें भूतादि तामस हैं, उसने (अहंकार ने) आकाश आदि पाँच भूत, पाच मात्राऐं ऐसे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्दियाँ, प्राण और नाग आदि पाँच-पाँच प्रकट किये और उनके देवता और उनके अभिमानी देव दिशाएँ तथा पांच अग्नियाँ मन अन्तःकरण के चार[1] देव, उत्पन्न किये इस तरह तीन गुण वाले अहंकार ने पांच-पांच करके इन सब को प्रकट किया यों तात्पर्य है ।।१३।।

आभास—तैर्ब्रह्माण्डनिर्माणमाह—

आभासार्थ—निम्न श्लोक में कहते हैं कि उनसे ब्रह्माण्ड की उत्पति हुई—

श्लोक—तानि चैकैकशः स्रष्टुमसमर्थानि भौतिकम् ।
संहत्य दैवयोगेन हैममण्डमवासृजन् ।।१४।।

१-चन्द्र, रुद्र, ब्रह्मा और चैत्य ।

श्लोकार्थ— वे अलग अलग रहकर ब्रह्माण्ड नहीं रच सकते थे, क्योंकि प्रत्येक में इतनी शक्ति नहीं थो, अतः इन्होंने भगवदिच्छा शक्ति से आपस में संयोग कर एक सुवर्ण वर्ण वाले अण्ड की (ब्रह्माण्ड को) रचना की ।।१४।।

सुबोधिनी—तानि चेति । असमर्थत्वान्नपुंसकनिर्देशः । चकाराद्देवादयोऽप्येकैकं कार्यार्थे क्षोभयितुमशक्ता इत्युक्तम् । एकैकशः प्रत्येकं ब्रह्माण्ड-निर्माणे अशक्ताः, यतः सर्वभूतात्मकं ब्रह्माण्डम् । अतः संहत्य भगवदिच्छया प्रकाशबहुलं सुवर्णमयं ब्रह्माण्डमसृजन् । अवोपसर्गो नानार्थोऽपि प्रकृते रक्षावाचकः, दृढमनश्वरमवृद्धिक्षयमण्डमसृजन्निति ।।१४।।

व्याख्या--वे अशक्त थे इसको बताने लिए नपुंसक लिंग कहा है 'च' पद से भी यही कहा है कि इनके देवता भी अकेले ब्रह्माण्ड रूप कार्य के वास्ते क्षोभ उत्पन्न करने के लिए अशक्त थे अर्थात् हर एक ब्रह्माण्ड के रचने में असमर्थ था क्योंकि ब्रह्माण्ड सर्वभूतात्मक है, अतः उन्होंने भगवदिच्छा से इकट्ठे होकर विशेष प्रकाश वाला सुवर्णमय अण्ड (ब्रह्माण्ड रचा 'अव' उपसर्ग अनेक अर्थ वाला हाते हुए भी यहां रक्षा के अर्थ में आया है अर्थात् ब्रह्माण्ड को दृढ़, अविनाशी, न बढ़े और न क्षय हो ऐसे स्वरूप वाला बनाया यों है ।।१४।।

आभास—तत्र प्रविष्टो भगवान् नारायणो जात इत्याह—

आभासार्थ--उस अण्ड में भगवान् नारायण ने प्रवेश किया यों इस निम्न श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**सोऽशयिष्टाऽब्धिसलिले आण्डकोशो निरात्मकः ।**
साग्रं वै (संपूर्ण) वर्षसाहस्रमन्ववात्सीत्तमीश्वरः ।।१५।।

श्लोकार्थ—वह आण्डकोश चैतन्य रहित अवस्था में ही सम्पूर्ण हजार वर्ष पर्यन्त प्रलय के जल में पड़ा रहा, अनन्तर उसमें भगवान् ने प्रवेश किया अर्थात् उस को अपना वास स्थान बनाके उसमें रहे ।।१५।।

सुबोधिनी—स इति । अब्धिसलिल इति प्रलयोदके । पूर्वं वा समुद्रनिर्माणम्, 'अप एव ससर्ज' इति वाक्यात् । स एवाऽण्डः कमलकोशात्मको जातः, यथाऽण्डात्पक्षी भवत्येवं कोशात्मको जातः ! स आण्डकोश इत्युच्यते । स हि भगवद्दर्शे सृष्ट इति नाऽन्यस्तत्र प्रवेशमर्हति, अतो निरात्मक एव संपूर्णं वर्षसाहस्रमशयिष्ट । ततो भगवान्, अनु उत्पत्त्यनन्तरम्, अवात्सीत् तत्रैव वासं कृतवान्, तं प्रविवेशेति वा । तत्र प्रयोजनादिजिज्ञासा न कर्तव्येत्याह—ईश्वर इति ।।१५।।

व्याख्या--समुद्र के जल में अर्थात् प्रलय के जल में अथवा 'अप एव ससर्ज' इस वाक्यानुसार

पहले समुद्र बनाया उसमें वहीं ब्रह्माण्ड कमल कोश रूप हुआ, जैसे अण्ड से पक्षी होता है वैसे वह अणु कोशरूप हुआ, उसको आण्डकोश कहा गया है वह भगवान् के लिए ही बना इसलिए उसमें दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता है, अतः सम्पूर्ण हजार वर्ष पर्यन्त चेतनाशून्य पड़ा रहा, अनन्तर अर्थात् कमलकोश के उत्पत्ति के बाद भगवान् उसमें प्रवेश कर रहने लगे इसका प्रयोजन क्या है ? ऐसी जिज्ञासा नहीं करनी क्योंकि वे ईश्वर' हैं स्वतन्त्र हैं कैसे भी कुछ भी स्वेइच्छा से कर सकते हैं ।।१५।।

आभास–एवं नारायणत्वमुक्त्वा तस्मात् पद्मोद्भवमाह–

आभासार्थ––इस तरह नारायणत्व कहकर उस स्वरूप की नाभि से कमल उत्पन्न हुआ यों इस श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक–तस्य नभेरभूत्पद्मं सहस्रार्कोरुदीधिति ।
सर्वजीवनिकायौको यत्र स्वयमभूत् स्वराट् ।।१६।।

श्लोकार्थ–उनकी नाभि से सहस्र सूर्य से अधिक तेज वाला, सकल जीवों का निवास स्थान रूप कमल उत्पन्न हुआ जिसमें भगवान् स्वयं ब्रह्मारूप से विराजमान हुए ।।१६।।

सुबोधिनी—तस्य नाभेरिति । प्राकृतपद्मवत् तस्य विकासजनकसूर्याद्यपेक्षार्थमाह–सहस्रमर्काः, तेभ्योऽप्युरूरधिका दीधितिर्यस्य । न केवलं तस्य जगत्प्रकाशकत्वम्, किन्तु जगदाधारत्वमपीत्याह–सर्वजीवानां समूहस्थानमिति । उत्पादकं च तदेवेत्याह–यत्र कमले स्वयं भगवानेव, स्वराट् ब्रह्मा, अभूत् । ततः सर्वं भविष्यतीति भावः ।।१६।।

व्याख्या—प्राकृत कमल की तरह उसको भी विकसित करने वाले सूर्य की अपेक्षा है तदर्थ कहते हैं कि हजारों सूर्य से भी अधिक जिसमें प्रकाश है वैसा वह कमल था, यों कहने का आशय यह है कि इस कमल को अन्यसूर्य की अपेक्षा नहीं, यह कमल केवल जगत् को प्रकाश देने वाला नही है किन्तु जगत् का आधार भी है इसलिए कहा हैं सकल जीवों के समूह का स्थान है और जीवों का उत्पादक (उत्पन्न करने वाला) भी यही है इसलिए कहते हैं कि जिस कमल में स्वयं भगवान् ही ब्रह्मा रूप हो विराजे, उससे सर्व होगा, यह भाव हैं ।।१६।।

आभास–यथा ब्रह्मणः सकाशात् सृष्टिर्भवति, तथोपायमाह—

आभासार्थ—ब्रह्मा से जिस प्रकार सृष्टि हो वह प्रकार (उपाय) इस श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—सोऽनुविष्टो भगवता यः शेते सलिलाशये ।
लोकसंस्थां यथापूर्वं निर्ममे संस्थया स्वया ।।१७।।

श्लोकार्थ—जब जल में शयन करने वाले नारायण भगवान् ब्रह्माजी में प्रविष्ट हुए तब उनने जैसे पूर्व कल्प में व्यवस्था की थी उसी तरह ही अपनी संस्था से सृष्टि करने लगे ॥१७॥

सुबोधिनी—सोऽनुविष्ट इति । भगवता सह अनुविष्टः प्रविष्टः । को भगवानित्याकाङ्क्षायामाह यः शेत इति । सलिलमेवाऽऽशयो गृहम् । नारायण इत्यर्थः । ततः किं जातमत आह—लोकसंस्थामिति । लोकानां सम्यग्व्यवस्था, जातिगुणस्थानभेदेन यथा पूर्वकल्पे स्थिता । नन्वस्याः सृष्टेस्तथा सति को विशेष इत्याशङ्क्याऽऽह—संस्थया स्वयेति । अत्र स्वयमेव भगवान् तथा स्थितः, आकृतिमात्रसमता तु पूर्वेण । एवं षड्विधा मूलसृष्टिर्निरूपिता ॥१७॥

व्याख्या—भगवान् के साथ प्रविष्ट ब्रह्मा ने पूर्व कल्प की तरह लोकों की व्यवस्था की कौन से भगवान् के साथ ब्रह्मा प्रविष्ट हुए ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं कि जिसका निवास स्थान जल है अर्थात् नारायण भगवान् इस तरह प्रविष्ट होने के अनन्तर किस प्रकार की कृत्ति हुई ? इस पर कहते हैं । 'यथा पूर्व लोक संस्था' लोकों की पहले की तरह व्यवस्था हुई जिस तरह पूर्व कल्प में जाति गुण और स्थान भेद से व्यवस्था थी वैसी ही लोकों की व्यवस्था की यदि यह सृष्टि भी वैसी हो तो इस सृष्टि और उस सृष्टि में क्या भेद हुआ ? इस आकांक्षा पर कहते हैं कि संस्थायास्वया इस सृष्टि में भगवान् स्वयं[1] इस प्रकार स्थित हैं आकृति तो पूर्व के समान ही है इस तरह छ प्रकार की मूल सृष्टि कही है ॥१७॥

आभास—कार्यसृष्टिनिरूपणे प्रथमं तामसीं सृष्टिमाह ससर्जेति त्रिभिः, कार्यकरणतत्कार्यभेदेन—

आभासार्थ—कार्य सृष्टि का निरूपण करते हुए पहले तामसी सृष्टि निम्न श्लोक से तीन श्लोकों तक कहते हैं जिनमें कार्य और उसका 'करण[2] (साधन छाया)' एवं उसके कार्य के भेद दिखाये है -

---

१—इस सृष्टि की भी विलक्षणता बताते हैं क्योंकि इस सृष्टि में स्वयं भगवान् वैसे स्थित है । प्रकाश

२—'करण' पद से छाया कही है इससे इस सृष्टि में भी विलक्षणता है दशम श्लोक में सर्ग को अज्ञान कृत कहा है और ११ वें श्लोक में करण नहीं कहा है किन्तु 'अज्ञानवृत्तयः' कहा हैं जिसका आशय अज्ञान ही वहाँ करण है जिसको कारिकाओं से स्पष्ट करते हैं । आत्मा इत्यादि से यह अविद्या उस अविद्या से पृथक् रूप वाली होने से भिन्न है अतः उसमें हे 'महामोहफला' अर्थात्

शेष पृष्ठ १३५ पर

श्लोक—ससर्ज च्छाययाऽविद्यां पञ्चपर्वाणमग्रतः ।
तामिस्रमन्धतामिस्रं तमो मोहो महातमः ॥१८॥

श्लोकार्थ—प्रारम्भ में अपनी छाया से समिस्र अन्धतामिस्र तम, मोह और महातम इन पाँच अवयवों वाली अविद्या उत्पन्न की ॥१८॥

आभास—तत्र प्रथमं स्वस्मिन् विद्यमानतमसा तामसं पञ्चविधं कार्यमाह—

आभासार्थ—इससे पहले अपने में विद्यमान तम से उत्पन्न किये हुए पाँच प्रकार के तामस कार्य कारिका द्वारा समझाते हैं 'छाययाऽविद्यां' छाया से अविद्या की—

कारिका—स्तथा छाया सात्त्विकादिविभेदजाः आत्मा देह ।
तामसो तत्र वै छाया तस्यामपि हरिः स्वयम् ॥१॥
तच्छाया हि करणमविद्यां प्रतिनाऽन्यथा ॥१½ ।

कारिकार्थ—आत्मा, देह तथा छाया, सात्विक आदि के भेद से उत्पन्न हुए हैं इनमें छाया वस्तुतः तामसी है । तो भी उसमें हरि स्वयं रहे हैं, इस कारण से छाया अविद्या के उत्पन्न करने में शक्तिमान हुई अर्थात् साधन बन सकी यदि हरि स्वयं इसमें न होते तो अविद्या को उत्पन्न कर सकती होती ॥१½।

कारिका—एतस्याः पञ्च पर्वाणि, पूर्वस्मात्तु विशिष्यते ।
ससर्जाग्रेऽन्धतामिस्रमिति पूर्वकल्पना ॥२॥
अन्ययेव समाख्याता महामोहफला मता ॥३॥

पृष्ठ १३४ की पाद टिप्पणी का शेष भाग

महामोह उसका उत्तम पर्व (अवयव) है 'परम बाधकम्' ये बाधक होते हुए भी भगवद होने से उपयोगी है जैसे इन्द्र ने यज्ञ भंग किया और पारिजातक वृक्ष भगवान् ले गये तब उसने क्रोध किया उसको महाभोग की इच्छा रूप अज्ञान हुआ वह अज्ञान बाधक होते हुए भी गोवर्द्धन धारण में उपयोगी हुआ । इसी तरह बभ्रू और उग्रसेन की राज्य भोग की इच्छा रूप अन्धतामिस्र भगवान् की लीला में उपयोगी हुआ (स्कन्ध ३ अध्याय २ श्लोक २२) ऐसे ही देवकीजो का अज्ञान रूप तम भी भगवान् की लीला में उपयोगी हुआ 'सद्यो नष्ट स्मृतिः' में स्पष्ट बताया है यह पुष्टि में उपयोगी होने से यहाँ ही (स्क. १० अध्याय ८ श्लोक ५१) में आचार्य श्री ने सिद्ध किया है 'प्रकृते' सप्तमी विभक्ति है अग्रिमेयछाया' आगे पड़ने वाली छाया देखने में आती हैं, जब सूर्य पीछे होता है यों अर्थ न करने से बाधक कहते है 'अन्यथेत्यादि' नहीं तो इससे लेकर 'अग्रतः' पद व्यर्थ हो जाता है । 'भविष्यति' जैसे वत्सहरण के प्रक्षिप्त अध्यायों में कहा है वैसे होगा । यहाँ ऐसी तामस काया के त्याग करने का कहा है, अतः वत्सहरण कार्य इस कल्प में नहीं हुआ है । प्रकाश

कारिकार्थ – इस अविद्या के पाँच पर्व हैं पहले से यह उत्तम है क्योंकि उसमें यह पृथक् (अन्य प्रकार की) है इसने प्रथम अन्धतामिस्र की रचना की यह पहले की प्रकल्पना थी अतः यह अन्य प्रकार की कही और महामोह (महामोह इसका उत्तम अवयव रूप है) रूप फल देने वाली मानी गई है ।।३।।

सुबोधिनी—छाययाऽविद्यामिति । अत्र प्रथममविद्यायाः पर्वणां मध्ये तामिस्रम्; भगवतो वैमुख्ये महाभोगेच्छा परमं बाधकम्, तदनु भोगेच्छा, ततोऽप्यज्ञानं स्वल्पम्, ततोऽपि पुत्रादिषु विकलेषु सकलेष्वहमेव विकलादिरिति । एतेस्य वैराग्यजनकत्वादज्ञानात्समीचीनता । ततोऽपि देहाहङ्कारो भगवत्सेवौपयिकत्वादुत्कृष्ट इति । प्रकृत एव त्वयं क्रमः । अग्रत इति । अग्रिमेयं छायेति लक्ष्यते, अन्यथा प्रथमनिरूप्योऽग्रिमो भवत्येव ।।१८।।

व्याख्या—इस अविद्या के पर्वों में (अवयवों में) पहला पर्व तामिस्र है, भगवान् से विमुख होने में महान् भोग की इच्छा, परम (बहुत) बाधा रूप[1] है इसके बाद भोगेच्छा उससे भी अज्ञान कम बाधक है । इसके निबल सकल पुत्र आदि में ही निर्बलों का मूल हूँ इस प्रकार का मोहरूप पर्व, उनसे भी अल्प बाधक है यह वैराग्य को पैदा करने वाला होने के कारण अज्ञान से श्रेष्ठ है इससे भी कम बाधक देहाहङ्कार है कारण कि यह भगवत्सेवंऽपयोगी होने से उत्तम हैं ।

इस अविद्या में ही यह क्रम है, यह छाया अग्रिमा आगे की तरफ की होने से देखी जा सकती है, यों न होवे तो प्रथम निरूपण किया हुआ पहला होता ही है ।।१८ ।

आभास—यया मूर्त्या एषा छाया भवति तां मूर्ति जहौ—

आभासार्थ—जिस स्वरूप से यह छाया उत्पन्न हुई उस स्वरूप का त्याग किया यह इस श्लोक में कहते है ।

१—अविद्या के ये अवयव हैं अतः बाधक कहे जाते हैं तो भी भगवत्संबन्ध में उपयोगी हैं जैसे कि इन्द्रयज्ञ का भंग, स्वर्ग से पारिजात वृक्ष का लाना, जिससे क्रोध हुआ जो अज्ञान रूप तामिस्र महाभोगेच्छा रूप भक्ति में बाधक है तो भी भगवल्लीला गोवर्द्धन के लिए उपयोगी हुआ इस कारण से ही भगवान् का अनुग्रह रूप हुआ जैसे कहा है, मखङ्गोऽनुगृहतान्' ।

इसी तरह अन्धतामिस्र, जो भोग की इच्छा रूप है वह बभ्रू और उग्रसेन की भोगेच्छारूप भगवान् की लीला के उपयोगी हुआ यद्यपि नारद वाक्य से स्पष्ट है कि बभ्रू और उग्रसेन को राज्य प्राप्त अशक्य थी तो भी भगवदिच्छा से भगवल्लीलोपयोगी होने से हो गई ।

अविद्या का पर्व 'तम' माता देवकी में सद्यो स्मृति के अनुसार था किन्तु भगवल्लीला में उपयोगी था यह (तम) पुष्ट लीलोपयोगी है । 'प्रकाश'

श्लोक—विससर्जाऽऽत्मनः कायं नाऽभिनन्दंस्तमोमयम् ।
जगृहुर्यक्षरक्षांसि रात्रिं क्षुत्तृट्समुद्भवाम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—ब्रह्माजी को यह अपनी तमोमय काया पसन्द न आई अतः उसको त्याग दिया तब जिससे भूख एवं प्यास की उत्पत्ति होती है ऐसे उस शक्ति रूप शरीर को यक्ष और राक्षसों ने ग्रहण कर लिया ॥१६॥

सुबोधिनी—विससर्जेति । तस्यास्तामसत्वं कार्यवशादवगम्यते । वस्तुत इयं सृष्ट्युपयोगिनीति तस्या अभिनन्दनमुचितम्, तदपि न कृतवान् । तत्र हेतुः—**तमोमयमिति** । अस्यां स्थितायां भगवद्वैमुख्यं भविष्यतीति तां तनुं त्यक्तवान् । अतेजसां हरिवैमुख्यं सुखकरमिति तामन्ये यक्षरक्षांसि जगृहुः । सा रात्र्यभिमानिनी देवता जाता । त्यक्तायास्तस्याः कार्यमाह-**क्षुत्तृट्समुद्भवामिति** । पूर्वकल्प एवोत्पन्नानि यक्षरक्षांसि, अष्टदेवसर्ग मध्ये गणनात् । अथवा, पूर्वोक्तायाः पञ्चपर्वाया एतानि देवताः; अतः पञ्चपर्वा सदेवोत्पन्नेति । अत्रैव तेषामुत्पत्तिः । अत एव स्वकारणभूतां तां जगृहुः ।१६।

व्याख्या – उस काया का तामसत्व उसके कार्य से समझ में आ जाता है, वास्तव में यह काया सृष्टि में उपयोगिनी थी इसलिए इसका अभिनन्दन करना चाहिए था वह भी न किया जिसका कारण यह है कि यह काया तमोमय थी इस काया के होते हुए भगवद्विमुखता[1] होगी, इसलिए उस शरीर का त्याग किया, जिनमें प्रकाश नहीं अंधकार है अर्थात् जिनमें ज्ञान नहीं अज्ञान है वे हरि से सुख पूर्वक विमुख हो सकते हैं अतः ऐसे यक्ष और राक्षसों ने इस (त्याग किये हुए तमोमय शरीर) को ग्रहण किया, वह काया रात्रि की अभिमानी देवता बनी, उस छोड़ी हुई काया ने क्या कार्य किया जिसको बताते हैं- क्षुत्तृट्समुद्भवा' क्षुधा और तृष्णा को उत्पन्न करने वाली हुई, यक्ष और राक्षस इससे पहले कल्प में ही उत्पन्न हुए हैं क्योंकि इनकी गणना आठ देवों की उत्पत्ति के मध्य में की हुई है, अथवा पूर्व कही हुई पञ्चपर्वा के ये देव हैं, अतः पाञ्चपर्वा देवों सहित उत्पन्न हुई है इसमें से ही इनकी उत्पत्ति हुई है, इस कारण से ही अपने उत्पन्न करने में कारण रूप उस देह को ग्रहण किया ॥१६॥

आभास—तस्याः स्पर्शमात्रेण यक्षरक्षसां क्षुत्तृट् जातेत्याह–

आभासार्थ – उस रूप के केवल छूने से ही यक्ष और राक्षसों को भूख और तृष्णा (प्यास) उत्पन्न हुई यों निम्न श्लोक में कहते हैं

१—इस कथा से सिद्ध है कि वत्सहरण लीला ब्रह्मा ने इस कल्प में नहीं की है ।

श्लोक—क्षुत्तृड्भ्यामुपसृष्टास्त तं जग्धुमभिदुद्रुवुः ।
मा रक्षतैनं जक्षध्वमित्यूचुः क्षुत्तृडर्दिताः ॥२०॥

श्लोकार्थ—भूख और प्यास से पीड़ित वे यक्ष, राक्षस ब्रह्माजी को खाने के लिए दौड़ पड़े और कहने लगे कि इसको खा जावो इसकी रक्षा मत करो ॥२०॥

सुबोधिनी—क्षुत्तड्भ्यमिति । ततः पूर्वमस्मिन् कल्पे क्षुत्तृडुद्भवो न स्थितः । स्थिता वापि देवाधिष्ठानसहितौ न स्थिताविति कामादिवत्पूर्वं स्थितौ, वृक्षाणामिव सह्यौ । अतो महद्भ्यां क्षुत्तृड्भ्यामुपसृष्टा भक्षान्तरस्याऽसृष्टत्वात् ब्रह्माणं जग्धुमेवाऽभिदुद्रवुः पूर्वं नपुंसकत्वेन निर्दिष्टा अपि । प्रतिनिर्देशे पुंस्त्वेन निर्देशो ब्रह्मापेक्षयाऽपि बलिष्ठत्वात् । अत्र केचिदाहुः—मा रक्षतैनमिति । एनं ब्रह्माणं मा रक्षत । इदानीं माययाऽविद्यया वा क्षुत्तृडुपशान्तिं कुर्यादपि, तथाप्येनं मा रक्षत, पुनरुपद्रवान्तरमुत्पादयिष्यतीति । अन्ये त्वाहुः—जक्षध्वमिति । जक्ष भक्षहसनयोः' इति भक्षणार्थो जक्षिः, यक्षधातुर्वा भक्षणार्थः । ननु कथं पितरमेवमूचुरित्याशङ्क्याऽऽह—क्षुत्तृडर्दिता इति । नहि पीडितः किञ्चिज्जानाति धर्माधर्मम् ॥ २० ॥

व्याख्या—इससे पहले के कल्प में भूख प्यास उत्पन्न नहीं हुई थी। केवल ये दो ही थे वे भी देवाधिष्ठान रहित थे इसलिए कामादि की तरह पहले जैसे वृक्ष सहन करते हैं वैसे यों ये भी सहन करते थे, अतः अब महती क्षुधा और तृष्णा के उत्पन्न होने के कारण दूसरा कोई खाद्य पदार्थ न होने से ब्रह्मा को ही खाने के लिए दौड़ पड़े, यद्यपि इनको पहले नपुंसक कहा है किन्तु अब ब्रह्मा से विशेष बलवान् होने से पुल्लिग में निर्देश किया है, यहाँ कोई कहने लगे कि इस ब्रह्मा की रक्षा मत करो, चाहे अब माया व अविद्या से अपनी (हमारी) क्षुधा एवं तृष्णा की शान्ति करे तो भी इसकी रक्षा मत करो, क्योंकि फिर कोई दूसरा उपद्रव करेगा, इसी कहने लगे कि इसको खा जाओ 'यक्ष' धातु का अर्थ यहाँ भक्षण में लिया है, ब्रह्मा पिता है उनके लिए इस तरह कैसे कहने लगे इस शंका का उत्तर देते हैं कि 'क्षुत्तडर्दिताः' भूख और प्यास से पीड़ित थे पीड़ित (व्यक्ति) धर्म और अधर्म किसी को नहीं जानते हैं ॥२०॥

आभास—ततः किंजातमित्याकाङ्क्षायामाह—

आभासार्थ—अनन्तर, (इसके बाद) क्या हुआ ऐसी आकांक्षा होने पर जो कुछ हुआ वह इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—देवस्तानाह संविग्नो मा मां जक्षत रक्षत ।
अहो मे यक्षरक्षांसि प्रजा यूयं बभूविथ ॥२१॥

श्लोकार्थ–डरे हुए ब्रह्माजी ने उनको कहा तुम मेरी सन्तान हो मेरा भक्षण मत करो, मेरी रक्षा करो, इनमें से जिन्होने कहा 'खा जाओ' वे यक्ष हुए और जिन्होने कहा रक्षा मत करो वे राक्षस हुए ॥२१॥

सुबोधिनी—देवस्तानाहेति । देवत्वात्तस्य तथा ज्ञानम्, तामसोत्पादनात् तस्य तथा भयम् । भगवदिच्छयैव तथा जातमिति तन्निराकरणार्थं स्वयं देहे त्यक्ते भगवतः कोपादेवं जातमिति लक्ष्यते, अन्यथा दैन्यमात्रे कृते ते न त्यजेयुः । मा मां जक्षत रक्षतेत्याह । माँ मा जक्षत मा भक्षतेत्यर्थः, किन्तु रक्षत । तत्रोपपत्तिमाह—अहो मे यक्षरक्षांसीति । अहो इत्याश्चर्ये । न हि पुत्राः पितरं भक्षयन्ति, यतो मे यक्षरक्षांसि प्रजाः, पुत्रा इत्यर्थः, । ननु यक्षरक्षसाँ पुत्रत्वे किमस्माकं तत्राऽऽह—यूयं मे यक्षरक्षांसि बभूविथ । 'मा रक्षतैनं यक्षध्वम्' इति वचनात् यूयं यक्षरक्षाँसि, अत एव मे प्रजा बभूविथ । प्रजेति जातिवचनम् । सर्वेऽपि मम प्रजामात्रम्, तेन मध्यमपुरुषैकवचनमुपपद्यते । एवं प्रार्थनया सह चतुर्भिः प्रथमसृष्टिर्निरूपिता ॥२१॥

व्याख्या--ब्रह्मा देव थे इसलिए इनको वैसा ज्ञान हुआ, तामसों को उत्पन्न करने से उनको इस प्रकार का भय होने लगा भगवान् की इच्छा से ही यों हुआ इसलिए उसके[1] निराकरण के लिए स्वयं ने (बिना भगवान् की आज्ञा के) देह छोड़ दी जिससे भगवान् का कोप हुआ है, अतः यों हुआ है, यों समझ में आता है, अन्यथा केवल दीनता करने पर वे छोड़ न देंगे, ब्रह्मा ने कहा मुझे खाओ मत मेरी रक्षा करो, यों करने में उपपत्ति देते हैं कि पुत्र पिता का भक्षण नहीं करते हैं किन्तु उसकी रक्षा करते हैं आश्चर्य है कि तुम मेरी सन्तान हो मुझे खाने के लिए दौड़ रहे हो और कह रहे हो इनकी रक्षा मत करो जिन्होंने खा जाओ कहा इस वचन से वे यक्ष होंगे और जिन्होंने कहा रक्षा मत करो वे राक्षस बनेंगे । इससे ही इस प्रकार की मेरी प्रजा हुए हो, प्रजा शब्द से जाति कही है, तुम सब मेरी प्रजा हो, इससे ही मध्यम पुरुष का एक वचन कहा है, इस तरह प्रार्थना सहित चार श्लोकों से पहली सृष्टि निरूपण की है ॥२१॥

आभास–सात्त्विकीं सृष्टिमाह–

आभासार्थ—इस श्लोक में सात्विकी सृष्टि का वर्णन करते हैं—

श्लोक—देवताः प्रभया या या दीव्यन्प्रमुखतोऽसृजत् ।
तेऽहारिषुर्देवयन्तो विसृष्टां तां प्रभामहः ॥२२॥

१—तामस सृष्टि की उत्पत्ति के निराकरण के लिए 'एवंजात' भयमात्र हुआ 'अन्यथा' नहीं तो सर्वथा मारने की इच्छा में ही रहते । 'प्रकाश'

श्लोकार्थ—जो देव उपासक के सन्मुख क्रीड़ा करते हैं उनको ब्रह्माजी ने अपनी प्रभा से उत्पन्न किया, अनन्तर ब्रह्माजी ने जब उस प्रभा रूप शरीर का त्याग किया तब उन देवों ने क्रीड़ा करते उस प्रभा रूप दिन को अपना बना लिया ।।२२।।

सुबोधिनी—देवता इति । प्रभा यथा दीपस्य, यथा वा मणेः, सूर्यादेर्वा; तथा ब्रह्मणोऽपि; अतस्तया **प्रभया देवता असृजत्** । प्रभया सृष्टा देवता विशिनष्टि—**या याः प्रमुखतो दीव्यन्** । सम्मुखतया या या देवताः क्रीडन्ति, उपास्या देवता सूर्यादिरूपाः, ता एव प्रमुखत उपासकस्य क्रीडन्ति । यत्र ताः सृष्ट्वा दोषाभावेऽपि भिन्नभावोत्पत्तेस्तामपि तनुं विससर्ज । ततो ब्रह्मणा विसृष्टां तां प्रभारूपाम्, त एव देवाः, पूर्वं स्त्रीत्वेनाऽप्युक्ताः, **अहारिषुः** हृतवन्तः, गृहीतवन्त इत्यर्थः । **अहोरूपां दिनरूपाम्** । **अहाविषुरिति** पाठेऽप्यर्थः स एव । २२ ॥

व्याख्या—जैसी दीपक की, मणि की वा सूर्य की प्रभा होती है वैसी ब्रह्माजी की भी प्रभा है, अतः ब्रह्माजी ने उस प्रभा से देवताओं को रचा उस प्रभा से उत्पन्न देवताओं के गुण का वर्णन करते हैं। जो देव उपासक के सन्मुख क्रीड़ा करते हैं, उपास्य देवताएँ सूर्यादि रूप हैं वे ही उपासक के सामने क्रीड़ा करते हैं इसी तरह इन देवताओं की रचना कर इस स्वरूप में दोष न होने पर भी केवस भिन्न भाव की उत्पति होने के कारण से, इस स्वरूप का भी त्याग किया उसके बाद ब्रह्माजी के त्यागे हुए उस प्रभा रूप शरीर को देवों ने स्त्री रूप से दिन रूप में ग्रहण किया क्योंकि पहले इस प्रभाको स्त्री रूप से भी कहा है, 'अहाविषुः' यों पाठ होवे तो भी यही अर्थ समझना चाहिए ।। २२ ।।

आभास—रजसा सृष्टिमाह —

आभासार्थ—निम्न श्लोक में रजो गुण से रची हुई सृष्टि को कहते हैं:—

श्लोक—**देवोऽदेवाञ्जघनतः सृजति स्माऽतिलोलुपान् ।**
त एनं लोलुपतया मैथुनायाऽभिपेदिरे ।। २३ ।।

श्लोकार्थ—ब्रह्माजी ने अपने जघन स्थल से कामासक्त असुरों को उत्पन्न किया वे अत्यन्त कामी होने के कारण मैथुन के लिए इनके पास दौड़ कर आ गये ।।२३।।

सुबोधिनी—देव इति । पूर्वं तत्तद्भावापन्नस्तत्तत्सृष्टिं करोति, दैत्यसृष्टिं तु देवभावापन्नः करोतीत्याह— **देव इति** । **अदेवान्** देवप्रतिपक्षान् । **जघनत इति** गुह्यस्थानात् कटिस्थानाद्वा; कटिमारभ्य जानुपर्यन्ताद्वा; यत्रैव कामसंबन्धः । **अतिलोलुपानिति** उत्कटकामान् । कामस्तु स्त्रीसम्भोगात्मको मुख्यः । मैथुनं पुरुषेऽपि भवतीति **ते असुराः, एनं** प्रजापतिम्; मैथुनार्थ**मभिपेदिरे** । यथा मातुः सङ्गो निषिद्धः, तथा पितृसङ्गोऽपि; तथापि **लोलुपतया** तथा कृतवन्तः । कामेनाऽस्थिरत्वं **लोलुपता**, कामो विवेकापीनां नाशकः ।।२३।।

व्याख्या— पहले जिस प्रकार की सृष्टि करने की इच्छा करते उस प्रकार के भाव को धारण कर वह सृष्टि करते, अब तो दैत्य सृष्टि करनी है किन्तु देवभाव को धारण किया है इसलिए 'देव' विशेषण दिया है 'अदेवान्' देव हो के देवों के शत्रु असुरों से 'जघन स्थान' अर्थात् गुह्य (गुप्त) स्थान से वा कटि (कमर) स्थान से अथवा कटि से लेकर जानुपर्यन्त (घुटने तक) स्थान से उत्पन्न किया, क्योंकि काम का इन स्थानों से ही सम्बन्ध है, कैसे असुरों को रचा ? इस पर कहते हैं 'अति-लोलुपान्' अत्यन्त कामयुक्त 'काम' तो स्त्री सम्भोग रूप मुख्य है, मैथुन तो पुरुष में भी होता है यों जो करते हैं वे असुर हैं, जैसे माता से संग करना निषिद्ध है वैसे पिता से संग करना निषिद्ध है, तो भी कामी होने से यों करने लगे लोलुपता का तात्पर्य हे काम से मन की स्थिरता का नाश अतः काम विवेक आदि को नाश करने वाला है ।।२३।।

आभास–ततः किं जातमत आह–

आभासार्थ—उस के बाद क्या हुआ ? जो हुआ इसे बताने के लिए यह श्लोक कहते हैं–

श्लोक—**ततो हसन्सभगवानसुरैर्निरपत्रपैः ।**
अन्वीयमानस्तरसा क्रुद्धो भीतः परापतत् ।।२४।।

श्लोकार्थ—यह असुरों का कृत्य देखकर पहले तो हँसे, किन्तु फिर उन निर्लज्ज असुरों को अपने पीछे आते देख, क्रोधित हो डरे हुए जोर से भागे ।।२४।।

सुबोधिनी— तत इति । प्रथमतो हसन् जातः । तेषां लज्जाभावेन हास्यम् । तदनन्तरं **सभगवान्**, भगवता सहितो जातः, भगवद्धर्म एव तस्य स्थिरो जातः, न दैत्यधर्मः, अन्यथा तैः सह क्रीडां कुर्यात् । रसाभासेन प्रवृत्ता इति **निरपत्रपाः** । अन्यतो लज्जाऽत्रपा । असुराश्च स्वभावतो रजःप्रधानाः, अतस्तैः, **अन्वयिमानस्तरसा** प्रथमतः क्रुद्धो जातः, क्रोधेन कामो निवर्तनीय इति । तदनन्तरं भीतः, अभीतानिवृत्तान् दृष्ट्वा ततः **परापतत्** पलायनं कृतवानित्यर्थः ।।२४।।

व्याख्या-ब्रह्माजी पहले तो यह असुर कृत्य (कार्य) देख कर हँसे क्यों हँसे ? इस पर कहते हैं कि उनको ऐसा कृत्य (काम) करते हुए लज्जा नहीं आती है, इससे हँसे, इसके बाद भगवान् भी इसमें प्रादुर्भूत हुए अतः भगवान् के साथ होने से भगवद्धर्म ही इनमें (ब्रह्माजी में) स्थिर रहा, न कि दैत्य धर्म आया, जो यों न होता तो असुरों से क्रीड़ा करने लग जाते, रसाभास से प्रवृत्त हुए इस-लिए निर्लज्ज कहा, असुर स्वभाव से रजोगुण प्रधान होते हैं अतः वे पीछे पड़े थे जिससे शीघ्र ही पहले क्रोध युक्त हुए क्रोध से असुरों को काम से मुक्त करा दूँ किन्तु ऐसा होना न देखकर कि वे पीछे आ रहे हैं, अतः ब्रह्माजी भयभीत हो भागने लगे ।।२४।।

आभास–स गच्छन् वैकुण्ठं गतः, यत्र भगवानधिष्ठायाऽऽस्त इत्याह–

आभासार्थ–वह भागते हुए वैकुण्ठ गये जहाँ भगवान् विराजते हैं यों निम्न श्लोक में कहते हैं–

श्लोक–**स उपव्रज्य वरदं प्रपन्नार्तिहरं हरिम् ।**
अनुग्रहाय भक्तनामनुरूपात्मदर्शनम् ॥२५॥

श्लोकार्थ—वह (ब्रह्माजी) वर देने वाले, शरणागतों की आर्ति को हरने वाले, भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए उनके भावनानुसार दर्शन देने वाले हरि के पास जाकर कहने लगे ॥२५॥

सुबोधिनी—**स उपव्रज्येति** । लौकिकोपायेन नैते शान्ता भविष्यन्ति, अलौकिकस्तूपायो भगवत एव भवतीति ज्ञापयितुमाह- **वरदमिति** । वरो ह्यलौकिकपदार्थप्राप्त्युपायः । ते वरा लोके इष्टप्राप्तिरूपा इति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह— **प्रपन्नार्तिहरमिति** । दैत्या अपि गता इति तेषामपि कदाचिदार्ति हरेदत आह-**प्रपन्नेति** । यतोहरिः। किञ्च, भक्तानामनुग्रहार्थमेव वैकुण्ठमधिष्ठाय स्थितः । तदाह-**अनुग्रहायेति** । भक्तानामनुग्रहार्थम् । भक्तानां यादृशं रूपमनुरूपम्, तादृशमात्मनो दर्शनं यस्य । आत्मा स्वरूपम् । लोके संघातः, प्रकृते तु सच्चिदानन्दरूपमेव, नाऽन्तरात्मान्तरमस्ति । पौराणिकास्त्वस्तीत्याहुः ।२५।

व्याख्या--लौकिक उपाय से ये शान्त नहीं होंगे, अलौकिक उपाय तो भगवान् से हो सकता है, यों जताने के लिए कहते हैं 'वरद' वर शब्द का तात्पर्य है अलौकिक पदार्थों की प्राप्ति के उपाय वे वर तो लोक में जो चाहिए उनकी प्राप्ति रूप होते हैं, किन्तु भगवान् के द्वारा जो वर प्राप्त होते हैं वे शरणागतों के दुःखों के हरण करने वाले हैं, दैत्य भी गये तो उनकी भी आर्ति को हरेंगे ? इस पर कहते हैं 'प्रपन्नाः ये' जो शरण आये हैं उनकी आर्ति हरते हैं दैत्य शरणागत नहीं हैं क्योंकि 'हरि' दुःख हर्ता हैं, किञ्च, भक्तों का अनुग्रह करने के लिए वैकुण्ठ में बिराजे हैं, भक्तों की जिस स्वरूप के दर्शन की भावना हो वैसे ही आप दर्शन देते है 'आत्मा' स्वरूप लोक में वह देहरूप दीखता है, भगवान् का यह स्वरूप (देह) तो सच्चिदानन्द रूप ही है, इसके सिवाय दूसरा अन्तरात्मा नहीं है, पौराणिक कहते हैं कि दूसरा है ॥२५॥

आभास—एवं भगवन्तं गत्वा, असुरैः पीडितत्वात् स्तोत्रनमस्कारादिकमकृत्वैव विज्ञापनामेवाऽऽह–

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के पास जाकर असुरों से दुःखी होने के कारण बिना भगवान् को नमस्कार किए ही प्रार्थना करने लगे–

**श्लोक—पाहि मां परमात्मंस्ते प्रेरणेनाऽसृजं प्रजाम् ।
ता इमा यभितुं पापा उपाक्रामन्ति मां प्रभो ॥२६॥**

श्लोकार्थ—हे परमात्मन् ! मेरी रक्षा कीजिये, आपकी ही प्रेरणा से मैंने प्रजा उत्पन्न की है किन्तु यह पाप में प्रवृत होकर मैथुनार्थ मुझे तंग कर रही है ॥२६॥

सुबोधिनी— पाहीति । तव **प्रेरणेनाऽहं प्रजामसृजम्** । तत्र दैत्यरूपा इमाः, मामेव **यभितुमुपाक्रामन्ति** अतः **पाहीति** संबन्धः । पालनसामर्थ्यम्, मम प्रेर्यत्वम्, तव प्रेरकत्वं च न सान्दिग्धम्; यतस्त्वं **परमात्मा** । परमश्चासावात्मा चेति नियामकभूत आत्मा । अत एव त्वयाऽहं प्रेरितः । एते एवंविधा उत्पत्स्यन्तीति भवानेव जानाति, नाऽहम् । अतो दोषसमाधानमपि त्वयैव कर्तव्यमिति दोषविज्ञापना । निकटे चाऽतिक्रमणं जायत इति शीघ्रसमाधानम् । तत्र सामर्थ्यज्ञापकम्—**प्रभो** इति ॥२६॥

व्याख्या—आपकी प्रेरणा से मैंने प्रजा बनाई, उसमें दैत्य रूप यह प्रजा मुझ पर ही मैथुनार्थ आक्रमण कर रही है, अतः मेरी रक्षा कीजिये, क्योंकि आप में ऐसी सामर्थ्य हैं, आप प्रेरक हैं मैं प्रेरित किया गया हूँ आप प्रेरक हैं इसमें किसी तरह का संशय नहीं हैं कारण कि आप परमात्मा हैं अतः आप नियामक रूप आत्मा है इस कारण से ही आपसे में प्रेरित हुआ हूं, ये इस प्रकार के उत्पन्न होंगे यों आप ही जानते थे न कि मैं जानता था अतः दोषों का समाधान भी आपको ही करना चाहिए, इस कुकर्म में मैंथुन दोष शीघ्र होने वाला दीख रहा है अतः शीघ्र समाधान करना चाहिए, इसमें आप समर्थ हो यों जताने के लिए 'प्रभोः' विशेषण दिया है ॥२६॥

आभास—ननु त्वयोपार्जिताः प्रजा.; त्वं पिता ते च पुत्राः; अतोऽन्यतरहितं कर्त्तुमशक्यम्, उभयोस्तु हितं विरोधे कथं भविष्यतीत्याशङ्क्य, दैत्येषु प्रसादाभावादन्यतरहितमेव प्रार्थयितुमाह—

आभासार्थ—प्रजा उत्पन्न की है, आप पिता वे पुत्र हैं अतः एक का हित करना कठिन है यदि कहो कि दोनों का हित कीजिये तो विरोध में दोनों का हित कैसे होगा ? इस पर आप कहते हैं कि दैत्यों पर आपकी कृपा नहीं है अतः एक का ही हित कीजिए ऐसी प्रार्थना निम्न श्लोक में करते हैं—

**श्लोक—त्वमेकः किल लोकानां क्लिष्टानां क्लेशनाशनः ।
त्वमेकः क्लेशदस्तेषामनासन्नपदां तव ॥२७॥**

श्लोकार्थ—हे प्रभो ! निश्चय से आप ही एक दुःखी लोकों के दुःख का नाश करने वाले हैं और जिन्होंने आपके चरणों की शरण नहीं ली है उन (सेवकों) को क्लेश भी आप ही देते हैं ॥२७॥

सुबोधिनी—त्वमेक इति । अनासन्नपदामिति विपरीते वचनादासन्नपदां त्वमेव, एकोऽसहायः तेषामदृष्टादिकमप्यनपेक्ष्य, **किलेति** प्रसिद्धे, **क्लिष्टानां लोकानां** क्लेशं नाशयसि। कालादिकृतश्च क्लेशः। तर्ह्यन्येपूपेक्षा स्यात्, तद्व्यावृत्त्यर्थमाह-**त्वमेकःक्लेशद** इति। **अनासन्नपदामिति** वाक्यात् 'सुख दुःखं भवो भावः' इति शास्त्रानुसारेण नाऽत्र क्लेशदानम्, किन्तु भक्तिप्रवर्तकरूपेण। यथा कालादयोऽधिकारिणो दुःखदाः, तथा भगवानपि स्वतन्त्रतया दुःखद इति **त्वमेकः क्लेशद** इत्युक्तम्। अनासन्नपदां त्वमेक एव क्लेशदः। ननु कथमेवं शास्त्रार्थो वैषम्यापादक, तत्राऽऽह-**तवेति**। तव भूत्वा ये अनासन्नपदाः, तेषामित्यर्थः। अनेन त्वदीयानां नाऽन्यः सुखदुःखदाता, किन्तु त्वमेवेत्युक्तम् कालस्य साधारणत्वादुःखदानेऽपि त्वं निवारक इति। ततोऽस्मद्दुःखं दूरीकर्तव्यम्, एते च निराकार्या इति ॥२७।

व्याख्या—'अनासन्नपदां' इसके कहने से ही यह आशय निकलता है कि जो शरणागत है उनका आप अकेले ही बिना किसी सहायता के उनका अदृष्ट (प्रारब्ध) भी ध्यान में न लाकर उन दुःखी लोकों का क्लेशनाश करते हो यह प्रसिद्ध ही है क्लेश तो काल आदि का किया हुआ होता है, तब भगवान् दूसरों पर उपेक्षा करते हैं इसकी व्यावृत्ति के लिए कहते हैं, 'त्वमेकः क्लेशदः आप एक ही क्लेश देने वाले हैं किनको ? इस पर कहते हैं 'अनासन्नपयां' जो शरण नहीं आये हैं उनको 'सुखं दुःखभवी भावः इस शास्त्र के अनुसार यहां यह क्लेश देना नही है किन्तु भक्ति की प्रवृति हो इस विचार से क्लेशादि भक्ति में प्रवृतिकराते हैं जैसे काल आदि अधिकारी दुःख देने वाले हैं वैसे भग वान् भी भक्त हितार्थ स्वतन्त्र रूप से दुःख देने वाले हैं इसलिए कहा है 'त्वमेकः क्लेशद' जो सेवक शरण में नहीं आते हैं उनको काल आदि दुःख नहीं दे सकते हैं किन्तु आप एक ही दुःख देते हैं शास्त्रार्थ इस तरह कैसे विषमता करते हैं ? इस पर कहते हैं 'तव' अर्थात् आपके होकर भी आपकी शरण नहीं लेते हैं, उनके लिए ही आप एक ही दुःख दे सकते हैं कालादि नहीं इससे यह स्पष्ट किया है कि जो आपके हैं उनको दुःख देने की सामर्थ्य दूसरों में नहीं है यदि कालादि साधारण अधिकार के कारण दुःख दें तो भी उनके उस दुःख को आप मिटाने वाले है इससे हमारा दुःख दूर कीजिए और उनका निराकरण कीजिए ।।२७।।

आभास—तद्भगवतो नाऽत्यन्तमभीष्टमित्युभयसमाधानमाह—

आभासार्थ–यों करना भगवान् को बहुत अभीष्ट (इच्छित) नहीं था इसलिए निम्न श्लोक में दोनों के समाधान का उपाय कहते हैं--

श्लोक-- **सोऽवधार्याऽस्य कार्पण्यं विविक्ताध्यात्मदर्शनः**

विमुञ्चाऽऽत्मतनुं घोरामित्युक्तो विमुमोच ह ।। २८ ।।

श्लोकार्थ-- ब्रह्माजी की देह में के सर्व पदार्थो के देखने वाले प्रभु ने इनकी दीनता देख कहा कि तुम इस अपनी घोर देह का त्याग कर दो, यों भगवान् के कहने पर ब्रह्माजी ने इस देह को त्याग दिया ।। २८ ।।

सुबोधिनी -सोऽवधार्येति । दोषस्य निदानापरिज्ञानेन तन्निवर्तकत्वे भगवतो मर्यादानाशकत्वं स्यादिति तदर्थमाह- विविक्त ध्यात्मदर्शन इति । विविक्तः सम्यक्तया इतरवैलक्षण्यपूर्वकं विवेचितः अध्यात्मा ब्रह्मसङ्घातस्थितसकलपदार्थः तत्र दर्शनं प्रत्यक्षतया ज्ञानं यस्येति । एतादृशो भगवान् ब्रह्माणमाह-विमुञ्चाऽऽत्मतनुमिति । यया तन्वा दैत्याः सृष्टाः, सा घोरा भवति, कारणातथात्वे तादृशकार्यानुत्पत्तेः । एवमुक्तो ब्रह्मा तां विमुमोच । विमोचनार्थं वा दिविक्ताध्यात्मदर्शन इति ब्रह्मणो विशेषणम् । हेत्याश्चर्यं ॥२८॥

व्याख्या — दोष का कारण जाने बिना यदि उसकी यों ही निवृत्ति की जाय तो मर्यादा का ह्रो वह प्रभु को इष्ट नहीं , अतः कहा है कि 'अच्छी तरह से विचार पूर्वक ब्रह्माजी की देह में स्थित पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप से देख लिया जिससे निदान (करण) का ज्ञान हो गया 'गया' अतः कारणज्ञ प्रभू ने ब्रह्माजो को कहा अपनी इस देह का त्याग कर दो जिस शरीर से ये दैत्य रचे जो शरीर घोर है यदि वह घोर नहीं हो तो कार्य (दैत्योत्पति) भी घोर न हो, इस प्रकार भगवान् के कहने पर ब्रह्माजो ने उस देह का का त्याग कर दिया 'अथवा' ब्रह्माजी देह का त्याग करें इसलिए विविक्ताध्यात्म दर्शनः' ब्रह्मा का विशेषण समझना ब्रह्मा ने अपनी देह मैं के पदार्थं देख लिये जिससे देह त्याग अच्छा समझा 'ह' पद आश्चर्य वाचक है ।। २८ ।।

आभास— भिन्नस्वभावेनोत्पादितत्वात् सा देवताऽपि दैत्यहितकारिणी, देवत्वाभ्द्रामिका च जातेत्याह—तामित्यनुवर्णयति त्रिभिः—

आभासार्थ—पृथक स्वभाव से उत्पन्न होने से वह देवता भी दैत्यों का हित करने वाली हुई और देव होने के कारण भ्रम कारिका हुई यों निम्न तीन श्लोकों में कहते हैं—

श्लोक- तां क्वणच्चरणाम्भोजां मदविह्वललोचनाम् ।
काञ्चीकलापविलसद्दुकूलच्छन्नरोधसम् ।। २९ ।।
अन्योन्यश्लेषणोत्तुङ्गनिरन्तरपयोधराम् ।
सुनासां सुद्विजां स्निग्धहासलीलावलोकनाम् ।। ३० ।।

श्लोकार्थ—ब्रह्माजी ने जिस शरीर का त्याग किया वह उन कामातुरों को स्त्री रूप में दिखाई दिया जिसके रूप का वर्णन करते हैं।

हे धर्म ! उसके चरण कमलों में पायजेब झंकार कर रहे थे, और नेत्र मद से भरे होने से विह्वल हो रहे थे, एवं उसकी कमर करधनी की लड़ों से सुशोभित रेशमी सुन्दर साड़ी से ढ़की हुई थी स्तन परस्पर मिले हुए थे क्योंकि दोनों उभरे हुए

थे नासिका तथा दन्त पंक्ति बड़ी ही सुन्दर थी, एवं वह मन्द-मन्द मुस्कराती हुई स्नेह युक्त दृष्टि वाली थी ।। २६-३० ।।

सुबोधिनी—देवता हि यादृश्या भावनया दृश्यते, तादृशी भवति । ते च कामातुरास्तां स्त्रियं रूपवतीं दृष्टवन्तः । यादृशाश्च प्रकारास्तेषां मनसि रोचन्ते, ते ते देवतात्वात् तस्यां दृष्टा अनुवर्ण्यन्ते । यावच्च दैत्यैर्न स्पृष्टा तवद्बहिः स्थिता तथाऽऽत्मानं प्रदर्शितवती यदा पुनः सास्पृष्टा तदा संनिविष्टा सन्ध्याभिमानिनी देवतेति दृष्टाया तेष्वेव वर्णनम्, स्तोत्रम्, निकटे गमनम्, कामलोलया च प्रश्नपूर्वकं वर्णनमित्यष्टभिस्तत्प्रशंसा निरूप्यते । ततो ग्रहणमेकेन, अर्द्धेन चाऽनुभवः । वरुणन्तौ चरणावेव अम्भोजतुल्यौ यस्याः । तस्या देहे अनावृतं द्वयमेव, पादौ मुखं च; अन्यद्वस्त्र दिकम् । अतस्तेषां हीनाङ्गे स्पृहेति प्रथमतश्चरणवर्णनम् । नेत्रयोः सुखजनकत्वादम्भोजत्वम् । ततो मुखवर्णनं स्वाभिलषितप्रकारेण । मदेन विह्वले लोचने यस्याः । काञ्चीकलापेन विलसत् यत् दुकूलम्, तेन छन्नं रोधः कटिभागो यस्याः । अनेन प्रकटाभरणं वस्त्रं च निरूपितम् । काञ्च्याः कलापत्वम् कलां पतीति; श्लथद्वस्त्रधारकत्वमित्यर्थः । अंशा नामप्युत्कृष्टत्वात् कलापतुल्यसमूहरूपा वा । रोधश्शब्दः कामकुण्डे स्नानार्थिनां तटत्वबोधकः । अन्योन्यश्लेषणौ, उत्तुङ्गौ ऊर्द्धमुद्गतौ, निरन्तरौ मध्ये छिद्ररहितौ, पयोधरौ स्तनौ यस्याः ।।२६।।३०।।

व्याख्या—देवता को भक्त जिस भावना से देखते हैं वह उनको उस रूप में दर्शन देती है वे (इसके भक्त असुर) कामातुर थे अतः इसको रूपवती स्त्री रूप में देखने लगे जो प्रकार (नमूने) उनके मन में रुचते थे वैसे उसमें उन्होंने देखा जिसका वर्णन किया जाता है क्योंकि वह देवता थी इसलिए उनके भावानुसार दर्शन देती थी जब तक दैत्यों ने स्पर्श नहीं किया तब तक बाहर स्थित हो वैसे ही अपने को दिखाने लगी, जब वह उनसे छूई गई तब वह उनमे हो मिल गई, वह सन्ध्याभिमानी देवता थी, यों जैसी देखी वैसी स्तुति वर्णन की गई, असुर उसके पास जाने लगे और काम लीला से प्रश्न पूर्वक वर्णन यों आठ श्लोकों से उसकी प्रशंसा का निरूपण किया जाता है, पश्चात् एक श्लोक से उसके पकड़ने तथा उसके अनुभव का वर्णन किया है जिनके झङ्कार करते हुए चरण कमल जैसे हैं उसके देह में मुख तथा चरण ये दो ही खुले थे, दूसरे शरीर पर वस्त्र थे वैसे वर्णन किया हैं अतः उन असुरों को हीनांग देखने की चाहना थी इसलिए पहले चरणों का वर्णन किया है नेत्रों को अम्भोज (कमल) कहा है क्योंकि सुख जनक थे अनन्तर अपनी अभिलाषा नुसार मुख का वर्णन है, मद के कारण जिसके नेत्र विह्वल हो रहे थे, करधनी की लड़ों से सुशोभित सुन्दर साड़ी से कमर ढकी हुई थी, इसी तरह के वर्णन से जो आभरण (जेवर) और वस्त्र प्रकट थे निरुपण किये कलाप शब्द का अर्थ 'कलापति' कला की रक्षा करें अर्थात् अधो (नीचे के) वस्त्र ढीले पड़े तो उसको गिरने न दे अथवा उसके अंश भी उत्कृष्ट उत्तम होने से समूह रूप है, अतः उसको भी 'कलाप' कहा हैं, 'रोध' शब्द का भाव बताते (कहते) हैं कि, कामरूप कुण्ड में स्नान

करने वालों के लिए यह तट (किनारा) है परस्पर मिले हुए स्तन थे दोनों के मध्य में कोई (स्थान) खाली नहीं था, क्योंकि वे स्तन बहुत ही उभरे हुए थे[१] ॥२९-३०॥

आभास—एवं रूपं द्वाभ्यामुक्त्वा स्त्रीभावमनुवर्णयति

आभासार्थ—इस तरह उपर्युक्त २९-३० दो श्लोकों से रूप कह कर अब इस ३१ वें श्लोकों में स्त्री भाव का वर्णन करते हैं—

श्लोक—गूहन्तीं व्रीडयाऽऽत्मानं नीलालकवरूथिनीम् ।
उपलभ्यासुरा धर्म सर्वे संमुमुहुःस्त्रियम् ॥३१॥

श्लोकार्थ—नीली अलकावली से सुन्दर वह सुकुमारी लज्जा के कारण अपने को अपने वस्त्रों में ही छिपा देती थी, हे धर्म ! (विदुरजी) उस स्त्री को प्राप्त (देख) कर वे सकल असुर उस पर मोहित हो गये ॥३१॥

सुबोधिनी—व्रीडयाऽऽत्मानं गोपयन्तीम् । अत्राऽऽत्मा स्त्रीभावमापन्नः; स यथैव चेष्टया गुप्तो भासते, व्रीडया तादृशीं चेष्टां करोतीत्यर्थः । परिदृश्यमानावयवान् वस्त्रेण गोपायतीति केचित् । यथा बाह्याः पदार्था बुद्ध्या परिकल्पिताः; तथा व्रीडाऽप्यत्र । नीलवर्णा ये अलकाः, तेषां समूहयुक्ता च । अनेन तस्याः स्वलक्षणानि निरूपितानि ।

केचिदेनामाध्यात्मिकीं वर्णयन्ति । चरणकङ्कणनं पक्ष्यादिशब्दाः; अर्धोदयास्तमययुक्तौ चन्द्रसूर्यौ लोचने: आरक्ता मेघाः काञ्ची; आकाशमेवाऽम्बरम्; तटा दिशः; कामुकीकामुकयोर्मनोरथादेव स्तनौ, चक्रवाकौ वाः; उत्तमा नासिका शुकाः दन्ताः कुन्दादयः; शोभना द्विजा यस्या इति पक्षिणो वा योगात्; स्निग्धो यो हासः, पुरुषेण सह संबन्धसूचकः; तत्र या लीला तया सहितमेवाऽवलोकनं यस्याः । तत्काले कामिनीनाम्, विकसितपुष्पस्थभ्रमरादीनां वा, भावाः । प्रतिक्षणं सन्ध्यातिरोभाव एव गूहनम्; लज्जा तदानीन्तनसत्कर्माणि; अन्धकार एव केशपाशः। एते धर्मा ज्ञापका एव, नत्वेतन्मात्रम् अन्यथा वाक्यार्थो बाधितः स्यात्, सर्ववाक्यविरोधश्च । अतो ज्ञापकत्वेनैव एतेषां वर्णनमुचितम् । देव-

---

१—मयूरों के और उनके समूह रूप उसका शरीर था, गूहती-व्रीडया यहां श्रीधरजी का मत कहा है 'परिदृश्यमान' यहां भी श्रीधरजी का अथवा अन्यों का मत कहा है 'केचित्त' इत्यादि से इस प्रकार के अर्थ में स्वारस्य नहीं है, यों जताने के लिए कहते हैं 'एते' ये गुण आधिदैविक स्वरूप बताने वाले हैं, गौणी से केवल कथन नहीं है जो यों माना नहीं जावे तो 'स्त्री रूप वाक्य का अर्थ असंभव हो जाय अर्थात् असत् हो जाए वैसे मोह, धैर्य ग्रहण करने का जो आगे वर्णन किया है उन वाक्यों से विरोध होगा । प्रकाश

तायास्तथात्वाभावे लोके सन्ध्या यां तथा भावा न भवेयुरिति ।

एवं तां वर्णयित्वा तद्दर्शनकार्यमाह-उपलभ्येति । धर्मेति विदुरसंबोधनं मोहाभावाय । हे धर्मराजेत्यर्थः । एकदेशसंबोधनं साम्प्रतं राजत्वाभावात् विद्यमानधर्ममात्रबोधकम् । सर्वे असुराः संमुमुहुः । मोहे हेतुः स्त्रीत्वमेव, अतोऽन्ते निरूपणम् ।।३१।।

व्याख्या—लज्जा के कारण शरीर को छिपाती थी, यहां 'आत्मा' स्त्री भाव को प्राप्त हुआ है, वह जिसकी चेष्टा से गुप्त हो जावे लज्जा से उस प्रकार की चेष्टा कर रही थी, नंगे होने से देखने में आने वाले अवयवों (अंगों) को वस्त्र मे ढक लेती थी, यों किसी का मत है, जैसे बाहर के पदार्थ असुरों को बुद्धि से कल्पित हैं वैसे लज्जा भी कल्पित है, उसकी नील वर्णवाली अलकें एक नहीं किन्तु समूह रूप (बहुत) थी इससे उसके कैसे लक्षण हैं वे कहे हैं ।

कितने ही इस शरीर को आध्यात्मिक रूप मानते हैं (यह श्रीधरजी का मत बताते हैं) जैसे कि पक्षी आदि के जो शब्द हो रहे थे उनको चरणों की झंकार मानो (कहो) आधा अस्त हुवा सूर्य और आधा उदय हुआ जो चन्द्र थे उसके नेत्र माने हैं, लाल मेघ को करधनी मानो है, आकाश को ही वस्त्र कहा है, दिशाएं ही तट (कमर का भाग माना है) काम वाली स्त्री और काम वाले पुरुष दोनों के जो मनोरथ है वे ही उभरे हुए स्तन माने हैं वा चक्रवाक ही स्तन थे, शुक तोते को ही उत्तम-नासिका कहो है, श्वेत पुष्पों को दाँत माने हैं, सुन्दर श्वेत पक्षिओं को (व्युत्पत्ति के अनुसार) दान्त कहे हैं, स्निग्ध जो हास जिस हास से पुरुष से सम्बन्ध (विलास) होने की सूचना मिलती है, वहां जो लीला उसके सहित ही जिसका अवलोकन है, उस रूपक को (सन्ध्या के रूपक को) स्त्री कहा है, उस समय कामिओं का अथवा खिले हुए पुष्पों पर बैठे हुए भ्रमरों के भाव कहे हैं गूहन व्रीड़ा (लज्जा) से छिपना, यह प्रसिक्षण सन्ध्या का तिरोभाव है लज्जा क्या है ? उस समय के सत्कर्म लज्जा है, अन्धकार को ही केशपाश माना है, ये धर्म केवल ज्ञापक (पहचान करने वाले) है न कि ये धर्म ही थे स्त्री थी ही नहीं यों न समझना चाहिए यदि वह न थी यों माना जायेगा तो वाक्यों का अर्थ झूठा होगा, और समस्त वाक्यों का विरोध होगा, अतः ये केवल ज्ञापक हैं इसलिए इनका वर्णन उचित है, यदि देवता वैसी न होती तो लोक में सन्ध्या समय ऐसे भाव न होने चाहिए ।

इस तरह उसका वर्णन कर, उसके दर्शन होने का कार्य ३१ वें श्लोक के उत्तरार्द्ध से कहते हैं, हे धर्म ! यह संबोधन विदुरजी को इसलिए दिया है कि विदुरजी में मोह का अभाव है । हे धर्मराज ! यों आशय है, हे धर्म ! एक देश (भाग) के संबोधन देने का तात्पर्य यह है कि विदुरजी अब राजा नहीं है, उनमें केवल धर्म विद्यमान है इसको दिखाने के लिए यों संबोधन दिया है, सब असुर उस पर मोहित हो गये क्योंकि वह स्त्री थी इसलिए 'स्त्रियम्' अन्त में कहा है ।।३१।।

आभास—दृष्टानां तद्भावेन मुग्धानां भावप्रतिपादकं वाक्यमाह—

आभासार्थ—वे असुर उस शरीर को स्त्री भाव से देखकर मोहित हुए हैं, उनकी ऐसी मनोवृत्ति का वर्णन ब्रह्माजी निम्न श्लोक में करते हैं—

श्लोक—अहो रूपमहो धैर्यमहो अस्या नवं वयः।
मध्ये कामयमानानामकामेव प्रसर्पति ॥३२॥

श्लोकार्थ—वे असुर मनोवृति को प्रकट करते हैं अहो ! इसका कैसा विचित्र रूप है, तथा कैसा अलौकिक धैर्य है, फिर इसकी कैसी नयी अवस्था है, इतना होने पर भी हम काम पीड़ितों के मध्य में ऐसे फिर रही है कि उसको किसी प्रकार की कामना नहीं है ॥३२॥

सुबोधिनी—अहो रूपमिति। रूपमनूद्याश्चर्यत्वं विधीयते। **अहो धैर्यमित्यपि** तथा। चेष्टया कामस्त्वस्या अपि महानिव लक्ष्यते, तथापि या न लोलुपा, अत आश्चर्यमस्या धैर्यमित्यर्थः। एतद् द्वयमपि भुक्तभोगायाः, जरठाया वा; नाऽऽश्चर्यहेतुरित्याशङ्क्याऽऽह—**अहो अस्या नवं वय इति।** नवमनुपभुक्तम्, प्रत्यग्रविकसितं वा; वय उद्दिश्य आश्चर्यत्वं विधीयते। एवं दोषत्रयं तस्याः कामलक्षणसंनिपातजनकम्, सा कथमकामेव। अस्या अकामत्वज्ञापकं विशेषसर्पणमेव, स्तम्भोऽपेक्ष्यते मुख्यः। भावादीनां दृश्यमान त्वादकामेव। किञ्च, न केवलमस्या आन्तरा एव दोषाः किन्तु बाह्या अपीत्याह—**मध्ये कामायमानानामिति।** वयं सर्व एव कामयमानाः, तेन कामस्याऽऽवश्यकत्वात्, वेष्टकत्वाच्च, मध्ये कथमकामा भवेदित्यर्थः ॥३२॥

व्याख्या—इसके रूप का वर्णन कर कहते हैं कि क्या कहा जाय कैसा अनोखा रूप है अतः आश्चर्य है,

आश्चर्य है, इसका केवल रूप अचम्भे में नहीं डालता है किन्तु 'धैर्य' भी वैसा ही है इसकी चेष्टा से (चाल से) जाना जाता है कि 'काम' तो इसमें भी बहुत है तो भी यह असुरों की तरह लोलुप नहीं अर्थात् भोगार्थ पुरुष के पीछे नहीं पड़ती है अतः इसके धैर्य को देखकर भी आश्चर्य होता है, ये दो (रूप और धैर्य) जो भोग का स्वाद ले चुकी है अथवा जो अधेड़ हो गई हो उनमें भी रूप और धैर्य होते हैं इसमें आश्चर्य क्या है ? इस पर कहते हैं कि, इसकी अब तक अवस्था नवीन हैं अर्थात् यह किसी से भोगी हुई नहीं हैं, अतः अब तो कमल की तरह खिल रही है, जिससे इसकी युवावस्था उभर रही है, जिससे वय (उमर) भी आश्चर्य कारक हैं, इस तरह इसमें जो ये तीन दोष हैं। कामरूप सन्निपात को उत्पन्न करने वाले हैं अतः वह कैसे बिना काम वाली होगी, किन्तु इस पर कहते हैं कि निडर होकर हम लोगों के मध्य में घूम फिर रही है इससे ज्ञात होता है कि यह 'अकामा' है मुख्य तो अकामा में क्रिया का अभाव होना चाहिए, इसमें भाव आदि देखने में आते है

इसलिए यह अकामा नहीं हैं किन्तु उस जैसी देखने में आती है किञ्च इसमें केवल भीतर के ही दोष हैं किन्तु बाहर के भी दोष हैं—'मध्ये कामयमानां' हम सब कामी हैं हमारे बीच में फिर[1] रही है इससे इसमें काम अवश्य है उस काम ने इसको अपने में लपेट लिया है, यदि अकामा हो तो हमारे बीच में कैसे निलज्ज की तरह फिरे ।।३२।।

आभास--परिचयाभावदिति चेत,तर्हि 'संवादेन परिचितां करिष्यामः' इत्यभिप्रेत्य संवादार्थं यत्नं कृतवन्त इत्याह—

आभासार्थ—यदि कहा जावे कि पहचान नहीं है अतः अकामा की तरह फिरा करती हैं, इस पर कहते हैं कि हम इससे बातचीत कर परिचय प्राप्त कर लेंगे, इस अभिप्राय से उन्होंने इसके साथ संवाद करने का प्रयत्न किया, जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं—

श्लोक—-**वितर्कयन्तो बहुधा तां सन्ध्यां प्रमदाकृतिम् ।**
अभिसंभाव्य विश्रम्भात्पर्यपृच्छन्कुमेधसः ।।३३।।

श्लोकार्थ—इन कुबुद्धि दैत्यों ने स्त्री की आकृति वाली सन्ध्या के विषय में अनेक तर्कवितर्क किये, अनन्तर विश्वास पूर्वक उसका आदर करते हुए उससे प्रेम से पूछा ।। ३३ ।।

सुबोधिनी—वितर्कयन्त इति । प्रमदाकृतिं तां सन्ध्यां बहुधा वितर्कयन्तः पर्यपृच्छन्निति संबन्धः । बहुधेति स्वरूपसंबन्धाद्यर्थम्, न तु स्त्रीत्वे तस्याः सम्भोग्यत्वे वा सन्देहः; किन्तु सन्देहरूपाण्यग्रे प्रक्ष्यन्ते । प्रश्नात्पूर्वं स्वत एव ज्ञानार्थं वितर्कः । प्रकर्षेण मदो यस्याः सकाशात् । स्त्रीरूपा च सा देवता । अभितः संभाव्य स्तुत्वा, कुशलादिकं च पृष्ट्वेत्यर्थः । विश्रम्भादिति विश्वासात्, इयमस्मान् भजिष्यतीति । परितो नामगोत्रादिभेदेन । कुमेधस इति देवतात्वाज्ञानात्, न हि देवता भोग्या भवति । द्रष्टव्यैव सा, न तु स्पृश्येत्यर्थः ।।३३।।

व्याख्या—युवा स्त्री की आकृति वाली सन्ध्या के विषय में उन असुरों ने अनेक प्रकार के तर्कवितर्क करते हुए अन्त में पूछा, यों वाक्य का सम्बन्ध (अन्वय) है, अनेक प्रकार कहने का तात्पर्य है कि इसके स्वरूप एवं सम्बन्ध आदि जानने के लिए बहुत तर्क किये न कि उसके स्त्रीत्व में और वह संभोग के योग्य है वा नहीं ? इस विषय में सन्देह नहीं अतः तर्क वितर्क भी नहीं, किन्तु किस प्रकार के सन्देह हैं कि आगे पूछेंगे ? प्रश्न से पूर्व स्वत अपने आपके के लिए वितर्क हुआ, जिसके समीप होने से विशेष भय हुआ वह स्त्री रूप देवता हैं, उसका सर्व प्रकार आदर कर और स्तुति कर एवं कुशल आदि पूछकर, मन में यह विश्वास रखा कि यह हम लोगों के

१—विशेष सर्पण (फिरना) का तात्पर्य है अपने को छिपाना । प्रकाश

साथ प्रेम करेगी 'परितः' पद का तात्पर्य है कि नाम गोत्र आदि सर्व भेद इसलिए पूछे कि यह कौन है ? कुबुद्धि वाले थे इसलिए यह देवता है, इस प्रकार का ज्ञान नहीं था, देवता भोग्य (प्रेम, विषय करने) योग्य नहीं होती है वह केवल दर्शन करने योग्य है न कि स्पर्श के योग्य है यों तात्पर्य है ॥३३॥

आभास--प्रश्नत्रयमाहु:--

आभासार्थ—इस श्लोक में इससे तीन प्रश्न किये वे कहते हैं—

श्लोक—**काऽसि कस्याऽसि रम्भोरु ! को वाऽर्थस्तेऽत्र भामिनि ! ।**
रूपद्रविणपण्येन दुर्भगान्नो विबाधसे ॥३४॥

श्लोकार्थ—हे सुन्दरी ! तुम कौन हो ? किसकी पुत्री व पत्नी हो ? हे भामिनि ! यहाँ किस अर्थ के लिए आई हो ? अपने रूप को बहुत द्रव्य से बेचना चाहती हो तो हम दरिद्र हैं सो ले न सकेंगे, इस प्रकार हमको क्यों पीड़ा दे रही हो ॥३४॥

सुबोधिनी—**काऽसीति** । जातिकुलप्रश्नः । **कस्याऽसीति** संबन्धिप्रश्नः, पितुर्भर्तुश्च । अत्राऽऽगमने च किं प्रयोजनमिति तृतियः । परिचर्यार्थमेव ते प्रश्नः, न तूत्तरज्ञाने किञ्चित्प्रयोजनमस्ति । **भामिनीति** स्तोत्रम, हे भव्ये । आपाततो ज्ञायते महती, महतो महत् कार्यं तवेति । परमेकमेव तवाऽसामीचीन्यम्, यद्रूपद्रविणपण्येन दरिद्रानस्मान् **बाधसे** इति । रूपमेव द्रविणं सुवर्णादि, तदेव च पण्यम्, बहुद्रव्येण च प्राप्यम् वयं च दुर्भगाः, तन्मूल्य द्रव्यरहिताः, अतो बाधसे । केचित्तामसा उपायमज्ञात्वा एवमुक्तवन्तः ॥ ३४ ॥

व्याख्या—तू कौन है ? यह जाति और कुल विषयक प्रश्न है, तू किस की है ? यह पिता और पति सम्बन्धी प्रश्न हैं ? यहां किसलिए आई हो ? इस प्रकार तीन प्रश्न किये, ये प्रश्न केवल परिचय (पहचान) होने के लिए पूछे हैं किन्तु इनके उत्तर जानने की कोई आवश्यकता नहीं, है भामिनि इस संबोधन से उसकी स्तुति की है, हे उत्तम स्त्री । तू ऊपर से तो उत्तम दीखती है उत्तम अर्थात् महान् , महान् तो कार्य भी महान् करते हैं अतः तेरा कार्य भी महान् ही है, किन्तु एक ही कार्य तेरा समीचीन (उचित) नहीं है वह यह है जो तुम अपना सौन्दर्य रूपी द्रव्य बेचने से हम दरिद्रों को पीड़ा करती है, रूप ही द्रविन (सुवर्ण) है वह हो मूल्य है, वह बहुत मूल्य देने पर मिलेगा हम दरिद्र है इतना द्रव्य हमारे पास नहीं अतः पीड़ित होते हैं कितने ही तामस (असुर) उपाय क्या है, यह न समझकर यों कहने लगे ॥३४॥

आभास—अन्ये त्वाहु:-

आभासार्थ—दूसरे तो इस प्रकार कहने लगे—

श्लोक—या वा काश्विस्त्वमबले ! दिष्टया संदर्शनं तव ।
उत्सुनोषीक्षमाणानां कन्दुकक्रीडया मनः ।।३५।।

श्लोकार्थ-हे अबला ! तू चाहे कोई भी हो, हमें तुम्हारे दर्शन हुए यह प्रसन्नता की बात है, तुम गेंद से ऐसी क्रीड़ा कर रही हो जिससे हम लोगों के मन को मथ रही हो ।।३५।।

सुबोधिनी—या वा कास्विदिति । त्वं या काचित् । वा इत्यनादरे । स्विदिति सम्भावनायाम् । संबन्धे संभावनायां वाऽनादरः । हे अबले इति संबोधनेन, वलरहितायाः शुश्रूषणं कर्तव्यमिति, पादसंवाहनादिकं करिष्याम इति ज्ञापितम् । वयं न दुर्भगाः, किन्तु सुभाग्या इति निश्चितम्, यतः संदर्शन तव जातम् । एतद्दिष्टया । सापराधां वदन्ति-उत्सुनोषीति । तत् त्वं सर्वथा देवता; देवताभजनं देवतादर्शनं च नाऽल्पभाग्येनेत्यपि सूचयन्ति । त्वं नोऽस्माकं कन्दुकक्रीडया मन उत्सुनोषि। यथा ग्रावभिः सोमोऽभिषूयते, तथा मन ऊर्ध्वमभिषुणोषि, यत उर्ध्वमेव नोत्सर्पति । कन्दुकक्रीडा तु देहचालनेन भवति, तत्रावयवानां संवरणविवरणे भवतः; अतो यद्दर्शनाकाङ्क्षि चित्तम्, तत् क्षणे क्षणे संभृतं भवतीति मनसः खेदः ।।३५।।

व्याख्या—तू कोई भी हो, 'वा' शब्द अनादर के अर्थ में है, 'स्वित्' शब्द संभावना दर्शक है, अथवा संबन्ध एवं सम्भावना में अनादर द्योतक है हे अबले ! सम्बोधन से यह सूचित किया है कि जो निर्बल हो उसकी सेवा करनी चाहिए, तू निर्बल है अतः हम पाद संवाहनादि से तुम्हारी सेवा करेंगे, हम अभागे नहीं हैं किन्तु भाग्यशाली हैं यह हमको निश्चय है क्योंकि तुम्हारे दर्शन हो गये हैं यह प्रसन्नता और बड़े सौभाग्य की बात है ।

अपराधी हो कर कहते हैं कि, तू तो सर्वथा देवता है देवता की सेवा और देवता का दर्शन बड़े भाग्य से प्राप्त होते हैं न कि अल्प भाग्य से मिलते हैं तू हमारे मनों को गेंद की क्रीड़ा से मथ रही है, जैसे पाषाण से सोमरस मथा जाता है जिससे वह तुझसे विराम न पा सके अर्थात् तुझे छोड़ सके, गेंद की क्रीड़ा शरीर के इधर-उधर फिराने से होती है जिससे अवयव कभी वस्त्र से ढके रहते हैं कभी खुल जाते हैं, अतः जो चित्त उस (शरीर) का दर्शन करना चाहता है वह, क्षण-क्षण में हार जाता है, जिससे मन दुःखी होता है ।।३५।।

आभास—अन्ये सात्त्विकाः नैषोपालभ्या, किन्तु स्तुत्या; अतः स्तोत्रेण प्रसन्ना भविष्यतीत्यभिप्रेत्य स्तोत्रं कृतवन्तः—

आभासार्थ—दूसरे जो सात्विक वृत्ति वाले थे उन्होंने कहा कि यह इस तरह उपालम्भ (उल्हाने) के योग्य नहीं है उससे (उल्हाने से) प्रसन्न न होगी, अतः इसकी स्तुति करनी चाहिए जिससे यह प्रसन्न होगी इस आशा से निम्न श्लोक में स्तुति करने लगे-

श्लोक–नैकत्र ते जयति शालिनि ! पादपद्मं घ्नन्त्या मुहुः करतलेन पतत्पतङ्गम् ।
मध्यं विषीदति बृहत्स्तनभारभीतं श्रान्तेव दृष्टिरलसा सुशिखासमूहः ॥३६॥

श्लोकार्थ—हे मनोहारिणी ! तुम जब गेंद से खेलती हो तब बीच में जो भ्रमर आके रुकावट डालते हैं तब तुम उनको अपनी हथेली से प्रहार कर भगाती हो जिससे आपके चरण कमल एक जगह नहीं ठहरते है, अतः उनकी सर्वत्र जय होती है, तुम्हारा कटिभाग बड़े स्तनों के भार से भयभीत होने से दुःखी है, तुम्हारी दृष्टि थकी हुई जैसी आलस्य भरी है, केशपाश कैसा सुन्दर है[1] ॥३६॥

सुबोधिनी - **नैकत्रेति** । कामशास्त्रे हि कामिन्येव देवता, 'ताः स्तुमः' इति वाक्यात् । अलौकिकरूपवर्णनमेव महत्त्वेन कथन स्तोत्रमिति तदाह–हे **शालिनी** मनोहरे, विनययुक्ते वा, **ते पादपद्मं नैकत्र जयति** । प्रसिद्धं पद्मं तु जल एव शोभते, तत्र तु सवत्रेति विशेषः । पादपद्मपदं च भक्तिसूचकम् । एकत्र न जयति, किन्तु सर्वत्र नैकत्र अनेकत्र वा । पादपद्मस्य चलने हेतुमाह–**घ्नन्त्या इति** मुहुर्वारं वारम्, **करतलेन पतत्पङ्गं घ्नन्त्या** । कन्दुकार्थं गच्छन्ती मध्ये समागतान् भ्रमरान् करतलेन घ्नती । तेऽपिपतङ्गाः पतन्तो भवन्ति । जात्यपेक्षया त्वेकवचनम् । सात्त्विकत्वाद्वा सूर्यमेव तथा मन्यन्ते, अस्तं गच्छन् सूर्यः सन्ध्याकिरणैर्हन्यत इति । **मध्यं विषीदतीति** खेदनिराकरणार्थमस्माभिर्वा कलशौ स्तम्भनीयाविति भावः । कृशत्वाद्विषादः । उत्तमस्त्रियाश्च लक्षण कृशमध्यत्वम्, अन्यथा तृतीयशास्त्रे बन्धाः केऽपि न संगच्छेरन् । विषादहेतुः–**बृहत्स्तनभारेण भीतमिति** । न केवलं विषादमात्रम्, किन्तु भङ्गो भविष्यतीति भयमपि । तेन सुप्त्वैव स्थातव्यमिति भावः । किञ्च, **दृष्टिरपि ते श्रान्तेव, रसेन** पूर्णा आलस्ययुक्ता च जाता । श्रमो बहिःकार्येण शारीरः, आलस्यं मनसः । सुष्ठु शिखासमूहो यस्याः । अत उत्सङ्गे शयनं कर्तव्यमिति भावः ॥३६॥

व्याख्या—काम शास्त्र में कामिनी को यों ही देवता माना है 'ताः स्तुमः' उनकी स्तुति करते हैं इस वाक्यानुसार हम भी स्तुति करते हैं, अलौकिक रूप का वर्णन ही अर्थात् उसका महत्व से कथन ही स्तुति है, वह कहते हैं, हे शालिनी ! मनोहारिणि ! अथवा विनय युक्त ! तुम्हारे चरण कमल एक जगह जम नहीं पाते है बल्कि सर्वत्र जम पा रहे हैं, प्रसिद्ध कमल तो केवल जल में ही शोभता है तुम्हारे चरण कमल सर्वत्र शोभा दे रहे हैं, चरण कमल यह पद भक्ति का सूचक है अतः सर्वत्र जय एवं शोभा पा रहे हैं चरण कमलों के चलित होने का कारण बताते है कि, गेंद से क्रीड़ा करते हुए जब मध्य में भ्रमर पड़ते हैं तो उनको भगाने के लिए हथेली से प्रहार कर इधर-उधर चलना

१— 'न' शब्द के साथ 'एकत्र' का समास ऐसे अभिप्राय से यह कहा है 'प्रकाश'

पड़ता है, जाति की अपेक्षा एक वचन दिया है, ये असुर सात्विक थे अतः सूर्य को ही यों मानते हैं क्योंकि अस्त होने वाले सूर्य को सन्ध्या की किरणें प्रहार करती है।

बड़े स्तनों के भार से तुम्हारी कटि को पीड़ा होती है, उस पीड़ा की निवृत्ति के लिए हम इन दोनों कलशों (स्तनों) को पकड़ रखेंगे, कटि पतली होने से पीड़ित (दुःखी) होती है किन्तु कृश कटि उत्तम स्त्री का लक्षण है, यों न होवे तो काम शास्त्र में कहे हुए बन्ध बन न सकें, बड़े स्तनों के भार से केवल विषाद (दुःख) नहीं हुआ किन्तु कटि टूटने का भय भी होने लगा, यों कहने का भाव यह था कि तुम्हे (इसको) सो जाना चाहिए, और विशेष यह है कि तुम्हारी दृष्टि भी श्रमित सी (थकी) हुई है, और रस से पूर्ण होने से आलस्ययुक्त हो गई है 'श्रम' बाहर के कार्य से शरीर को होता है, आलस्य मन को होता है, तुम सुन्दर केश समूह वाली हो, यों कहने का भावार्थ है कि तुम्हें हम लोगों की गोद में शयन करना चाहिए ॥३६॥

आभास—एवं स्तुत्वा तूष्णीं स्थितां ताम्, 'अप्रतिषिद्धमनुमतं भवति' इति ज्ञात्वा सर्वे तां गृहीतवन्त इत्याह—

आभासार्थ—असुरों की इस प्रकार की स्तुति सुनकर भी वह चुप रही कुछ उत्तर न दिया जिससे उन्होंने समझा कि हमारी इच्छाओं को इसने मानने से निषेध नहीं किया है जिसका तात्पर्य यह है कि, यह हमारी कामनाओं को स्वीकार करती है. यों समझकर सर्व ने उसको पकड़ लिया यों इस निम्न १½ श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—इति सायन्तनीं सन्ध्यामसुराः प्रमदायतीम् ।
प्रलोभयन्तीं जगृहुर्मत्वा मूढधियः स्त्रियम् ॥३७॥
प्रहस्य भावगम्भीरं जिघ्रन्त्यात्मानमात्मना॥ ३७½ ॥

श्लोकार्थ—इस तरह स्त्रो सदृश (जैसे) आचरण करने वाली, और अपने को मोहित करने वाली सायंकाल को सन्ध्या को मूढ़ बुद्धि वालों ने स्त्री समझकर पकड़ लिया, और चित्त प्रसन्न हो वैसे हँस कर (मुस्करा कर) अपने को आप ही सूँघने लगे ॥ ३७½॥

सुबोधिनी—इतीति सायन्तनीं पश्चिमाम्, सन्ध्यां प्रमदामिवाचरन्तीमात्मना च प्रलोभयन्तीं काममुत्पादयन्तीम् । स्त्री चेत्प्रलोभयन्ती जाता, तदा सिद्धा जातेति ज्ञात्वा, जगृहुरालिङ्गितवन्तः यत एते मूढधियः ब्रह्मणः पुत्रा अपि तत्त्वं न जानन्तीति तथा वचनम् । ततः किं जातमित्या-शङ्क्याऽऽह--ते सर्वे तामालिङ्ग्य, स्वस्मिंस्तस्यां प्रविष्टायां भूताविष्टा इव आत्मनैवाऽऽत्मानं जिघ्रन्ति

स्म ।प्रथमतस्तया आलिङ्गिता इव संतुष्टाः, क्षणान्तामदृष्ट्वा, अस्मान् वञ्चयितुं लीनेति, भावगम्भीरं यथा भवति तथा प्रहस्य, पश्चादात्मानमेव स्त्रियं ज्ञात्वा, नियामकं रूपादिकमदृष्ट्वा, कमलगन्धां तां मत्वा घ्राणेन ज्ञातुं जिघ्रन्ति ।।३७।।

व्याख्या—सायंकाल की सन्ध्या स्त्री की तरह आचरण करने वाली और असुरों को मोहित करती हुई अर्थात् उनमें वह काम उत्पन्न करती थी, यों देखा वह जब इस प्रकार करने लगी तब असुरों को निश्चय हुआ यह कोई स्त्री है, यों समझकर उसको आलिंगन करने लगे, क्योंकि ये मूढ़ बुद्धि है, ब्रह्मा के पुत्र होते हुए भी तत्व को नहीं समझते हैं, इसके बाद क्या हुआ ? इस शंका के उत्तर में कहा है कि वे सब उसको आलिंगन कर भूतावेश की तरह उसको अपने में प्रविष्ट देखा बाद में अपने से ही अपने को सूंघने लगे, पहले तो उससे अपने को आलिंगित समझ बहुत प्रसन्न जैसे हो गये, क्षण गुजरने पर वह देखने में ही नहीं आई तब जाना कि यह कोई हमको ठगने के लिए आई हुई दीखती है, अतः छिप गई है; भाव की गम्भीरता जैसे समझ में आवे उसी तरह मुस्कराये फिर अपने को ही स्त्री समझ, नियामक रूप आदि न देखकर उसको कमल जैसी गन्ध वाली मान, गन्ध से पहचानने के लिए सूंघने लगे ।।३७।।

आभास—एवमेकप्रकारेण प्रथमं त्रिविधां सृष्टिमुक्त्वा द्वितीयेन प्रकारेणाऽऽह—

आभासार्थ—इस तरह एक[1] प्रकार से पहले तीन प्रकार की सृष्टि कह कर अब दूसरे[2] प्रकार से तीन प्रकार की सृष्टि निम्न श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—कान्त्या ससर्ज भगवान्गन्धर्वाप्सरसां गणान् ।।३८।।
विससर्ज तनुं तां वै ज्योत्स्नां कान्तिमयी प्रियाम् ।
त एव चाऽऽददुः प्रीत्या विश्वावसुपुरोगमाः ।।३९।।

श्लोकार्थ—इसके बाद भगवान् (ब्रह्माजी) ने अपनी कान्तिमयी मूर्ति से गन्धर्व और अप्सराओं के गणों की रचना की इस रचना के अनन्तर उस अपने प्रिय ज्योत्स्ना (चांदनी) रूप प्रिय कान्तिमय शरीर का भी त्याग कर दिया, जिसको विश्वावसु आदि गन्धर्वों ने प्रेम से ग्रहण किया ।।३८-३९।।

१—एक प्रकार (१) तामस-तामस, (२) तामस सात्विक (३) तामस राजस—
२—दूसरा प्रकार (१) सात्विक-सात्विक, (२) सात्विक-तामस (३) सात्विक राजस
एक प्रकारेण का भावार्थ है, तामस-तामस, तामस-सात्विक, तामस-राजस, प्रकार से सृष्टि की, सात्विक-सात्विक सात्विकी,)तामस और सात्विक राजस प्रकार से कहा है । सात्विक से उत्पन्न शरीर प्रकाशक और प्रिय होने से उस का कार्य भूत भी सात्विकी है 'प्रकाश'

सुबोधिनि—कान्त्या ससर्जेति कान्तिर्लावण्यम् एषा सात्त्विकी सृष्टिः राजसीति केचित्, साध्याः पितरश्च सात्त्विका इति ; तच्चिन्त्यम् । **भगवानिति** पुनर्मूलप्रवेशः, आरब्धगुणानां समाप्तत्वात् **गन्धर्वाप्सरसां** गणानित्यवान्तरजातिभेदान् । **विससर्जेति** तामपि तनुं विससर्ज सा ज्योत्स्नाऽभवत्, यतः **कान्तिमयी** सा । **कान्तिमतीमित्यपि** पाठे तथा । सा हि ब्रह्मणः प्रिया, गन्धर्वाप्सरसां वा; ते हि ज्योत्स्नायामेव रमन्त इति । अत एव त **एव** गणास्तामाददु चकरात् **भौतिकीं च** ज्योत्स्नाम् विश्वावसुर्मुख्यो वेदे **विश्वावसुः, पर्यमुष्णात्** इति श्रुतेः **विश्ववसु , पूर्वचित्तिर्गन्धर्वाप्सरसाम्**' इति **विभूति** वाक्याच्च ।।३६।।

व्याख्या—'कान्ति' पद का अर्थ है लावण्य अर्थात् सौन्दर्य, यह सृष्टि, सात्विकी इसलिए हुई है कि इसको उत्पन्न करने वाला शरीर प्रकाशक तथा प्रियरूप था कोई कहते हैं कि राजस[1] थी, साध्य और पितृगण सात्विक कहे जाते हैं । किन्तु यह मत शंका वाला है क्योंकि इसके सात्विकता मे कोई तर्क नहीं है, अतः यह मत दोष युक्त है, आचार्य श्री इस मत के लिए कहते है कि इस पर विचार करना चाहिए, ब्रह्मा के लिए भगवान् शब्द देकर यह सूचित किया है कि ब्रह्मा में भगवान् ने फिर मूल रूप से प्रवेश किया है, पहले आरम्भ किये हुए गुणों के समाप्त हो जाने से गन्धर्व और अप्सराओं का गण शब्द से इनकी अवान्तर जातियाँ भी कही है ।।३८।।

उस शरीर को भी ब्रह्माजी ने त्याग दिया वह शरीर "चांदनी" रूप हुआ क्योंकि वह (चांदनी) कान्तिवाली है, यदि 'कान्तिमती' पाठ हुवे तो भी यही अर्थ समझना, वह ब्रह्माजी को प्रिय है, अथवा गन्धर्व और अप्सराओं को प्रिय है, यह निश्चय है कि वे चांदनी में ही रमण करते हैं, इसलिए उन गुणों ने ही उसको ग्रहण किया 'च' पद से भौतिक चांदनी को भी उनने ग्रहण किया । 'विश्वावसु' को वेद में मुख्य कहा गया है जैसे कि विश्वावसुः पर्यमुष्णात्' इतिश्रुतेः गन्धर्व और अप्सराओं में विश्वावसु और पूर्वचिति हूं, इस तरह विभूति वर्णन में कहा है अतः विश्वावसु मुख्य है ।।३६।।

आभास—तामसीं सृष्टिमाह—

आभासार्थ—तामसी सृष्टि का वर्णन इस श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**सृष्ट्वा भूतपिशाचांश्च भगवानात्मतन्द्रिणा ।**
दिग्वाससो मुक्तकेशान् वीक्ष्य चामीलयद्दृशौ ।।४०।।

१—राजसी इत्यादि यह श्री चरजी का मत नहीं है, दूसरे मत विचारणीय है क्योंकि उन मतों में युक्ति का अभाव हैं ।

श्लोकार्थ—इसके अनन्तर भगवान् ब्रह्माजी ने अपनी तन्द्रा से भूत एवं पिशाचों की सृष्टि की, उनको नग्न तथा बिखरे हुए बालों वाला देख आँखें मूंद ली ॥४०॥

सुबोधिनी – सृष्ट्वेति । तन्द्री आलस्यनिद्रा, तया भूतानि पिशाचांश्चाऽसृजत् । न चैषा सृष्टिरेतावती, किन्त्वधिकाऽप्यस्तीति ज्ञापयितुं सृष्ट्वेति क्त्वाप्रत्ययः । दृशोर्मीलनं चाऽऽलस्यनिद्रायामवान्तरं करणम् । सृष्टाः पिशाचा दिग्वाससो मुक्तकेशाश्च । तानमङ्गलान् दृष्ट्वा, दृशावमीलयत् । निमीलितेन चोन्मादो गण उत्पन्न इति । तनुद्वयं च त्यक्तम् ॥४०॥

व्याख्या—'तन्द्री' आलस्य तथा निद्रा उससे भूत और पिशाच रचे, यह सृष्टि इतनी ही नहीं है, किन्तु इससे अधिक प्रकार की भी है यों जताने के लिए 'सृष्टा' यह 'क्त्वा' प्रत्ययान्त पद दिया है, आँखें बंद करना आलस्य और निद्रा का अवान्तर साधन है, रचे हुए पिशाच नग्न तथा बिखरे हुए बालों वाले थे उनका यह रूप अमंगल जान ब्रह्माजी ने नेत्र मूंद लिए, नेत्र मूँदने से उन्माद गण उत्पन्न हुआ, बाद में दोनों शरीर (आलस्य वाला तथा नेत्र मूँदे ये दोनों शरीर) त्यागे[1] ॥४०॥

आभास–तत्रैकस्या विनियोगमाह–

आभासार्थ–उनमें से एक शरीर का जिस प्रकार विनियोग हुआ वह निम्न श्लोक में कहते हैः—

श्लोक—जगृहुस्तद्विसृष्टां तां जृम्भणाख्यां तनुं प्रभोः ।
निद्राभिन्द्रियविक्लेदो यया भूतेषु दृश्यते ।
येनोच्छिष्टान्धर्षयन्ति तमुन्मादं प्रचक्षते ॥४१॥

श्लोकार्थ–प्रभु के त्याग किये हुए उस जंभाई रूप शरीर को भूत पिशाचों ने ग्रहण किया, इसी को निद्रा का रूप भी कहते हैं, जिससे भूतों की इन्द्रियों में शिथिलता आती देखी जाती है, उच्छिष्ठ (झूठे) मुँह होते हुए जो सो जाते हैं उन पर भूत पिशाचादि आक्रमण करते है, उसी को 'उन्माद' कहा जाता है ॥४१॥

सुबोधिनी जगृहुरिति । भूतपिशाचा एव तां जगृहुः । विशेषेण सृष्टा विसृष्टेति योगेन पूर्ववद्ग्रहणमपि सूचितम् विसृष्टा त्यक्ता । तयोर्भेदार्थं पूर्वस्या नामाह–जृम्भणाख्यामिति । आलस्यनिद्रायां हि समागतायां जृम्भा भवतीति । असमीचीनाया अपि ग्रहणे हेतुः—प्रभोरिति ।

१—नेत्र बंद किये थे उस स्थिति का त्याग किया, अर्थात् आलस्य एवं नेत्र मूंदे थे इन दोनों शरीरों (स्थितियों) का त्याग किया । 'प्रकाश'

द्वितीया पूर्वसंदिग्धामिदानीं लक्षयति--**निद्रामिति** निद्रा एव तनुर्द्वितीया, पूर्वा तु जृम्भणाख्या। तस्या देवतारूपाया निद्रायाः कार्यद्वारा लक्षणं निरूपयति--**इन्द्रियविक्लेदो यया भूतेषु दृश्यते। इति**। निद्रया हि इन्द्रियाणि सर्वाणि लीनानि भवन्ति, स्रवन्ति च निद्रया। तयैवाऽऽधिदैविकया चक्षुःस्रावादिकमपि भवति। अतस्त्रिविधमपि कार्यमिन्द्रिय विक्लेदशब्देनोच्यते। तां ये गृहीतवन्तस्तानाह--**येनोच्छिष्टानिति** स गणस्तून्मादलक्षणः, येन सा गृहीतेत्यर्थादुक्तं भवति, अन्यथा निरूपणवैयर्थ्यापत्तेः तेषामुन्मादसंज्ञा कथं जातेत्याशङ्क्याऽऽह--**येन कारणेन उच्छिष्टान्**। भोजनादिना, मलोत्सर्गादिना वा, उच्छिष्टा भवन्ति, तांस्ते धर्षयन्ति। तत्तेन कारणेन तं गणमुन्मादं प्रचक्षते। उद्गतो मादो यस्येति। उन्मत्ता एव ह्यनवहितान् धर्षयन्ति, अतस्तं गणमुन्मादं प्रचक्षते। यद्वा, भूतपिशाचा एव जृम्भणाख्यां निद्रां च गृहीतवन्तः। निद्रया द्वितीयतन्वोत्पादितं च गणं धर्षणार्थं करणत्वेन गृहीतवन्तः। तथा सति स गणः पिशाचमध्य एवाऽन्तर्भूतो ज्ञेयः। धर्षयन्ति पिशाचाः-आचक्षते अभिज्ञाः ॥४१॥

व्याख्या—भूत और पिशाचों ने ही उस त्यागे हुए शरीर को ग्रहण किया, विसृष्टा विशेष प्रकार से ग्रहण किया इससे यह भी सूचित किया है कि पूर्व की तरह यह शरीर ग्रहण किया था, अब फिर छोड़ दिया, उन दोनों शरीरों का भेद दिखाने के लिए पहले का 'जृम्भणा' (जंभाई) नाम कहा है, आलस्य व निद्रा जब आने लगती है तब जंभाई आती है। यद्यपि यह समीचीन नहीं है अर्थात् अशुभ है तो भी ग्रहण करने का कारण यह है कि प्रभु का शरीर है, पहले जिसके सम्बन्ध में संशय होता था उसको निवृत्त करने के लिए उसका नाम 'निद्रा' कहा है निद्रा ही दूसरा शरीर था।

पहला शरीर 'जंभाई' था जिससे इन्द्रियों में शिथिलता होती है, अब देवता रूप निद्रा का कार्य द्वारा लक्षण कहते हैं (१) निद्रा से सकल इन्द्रियां लीन हो जाती हैं और (२) निद्रा से ही उनका स्रवण (नाश) होता है (३) यदि निद्रा आधिदैविक होती है तो आँखों से आँसू बहने लगते हैं, इन तीन प्रकार के कार्यों को इन्द्रियों का 'विक्लेद' कहा जाता है, उसको जिन्होंने ग्रहण किया उनको उन्माद गण कहते है, नहीं तो निरूपण की व्यर्थता हो जाती, उनकी 'उन्माद' संज्ञा कैसे हुई ? इस शंका का समाधान करते हैं कि, जो प्राणी, भोजन आदि के बाद कुल्ला वगेरे अर्थात् मुँह जल से साफ नहीं करते हैं उच्छिष्ट ही रहते हैं तथा मल त्याग के बाद मुख शुद्धि न कर, अपवित्र ही रहते है उन पर वे आक्रमण करते हैं, इसलिए उस समूह को 'उन्माद' कहते हैं उन्माद शब्द का तात्पर्य है जिनमें पागलपन बढ़ गया है वे 'उन्माद' वाले पागल कहे जाते हैं उन्मत ही उन पर आक्रमण करते हैं जो सावधान नहीं रहते है, अथवा भूत पिशाचों ने ही जंभाई (उवासी) और निद्रा (नीन्द) को ग्रहण किया, निद्रा से ही दूसरे शरीर से उत्पन्न किये हुए गण को आक्रमण करने के लिए साधन रूप से ग्रहण किया, यों होने पर वह गण पिशाचों में ही अन्तर्भूत समझना चाहिए पिशाचा आक्रमण करते हैं जानने वाले उनको 'उन्माद' कहते है ॥४१॥

आभास—राजसी सृष्टिमाह—

आभासार्थ—निम्न श्लोक से राजसी सृष्टि कहते हैं—

श्लोक—ऊर्जस्वन्तं मन्यमान आत्मानं भगवानजः ।
साध्यान् गणान् पितृगणान् परोक्षेणाऽसृजत्प्रभुः ॥४२॥

श्लोकार्थ—अपने को बलवान[1] मानने वाले भगवान् ब्रह्मा ने साध्यों के समूहों को और पितृओं के समूहों को परोक्ष से रचा ॥४२॥

सुबोधिनी—ऊर्जस्वन्तमिति । इडो(डू)-र्जश्शब्दौ शक्तिविशेषवाचकौ । इन्द्रियाणां विषय-ग्रहणसामर्थ्यविशेषसंपादिका आत्मनिष्ठा शक्ति-विचारकारण भूता चोर्जश्शब्देनोच्यते । क्षुत्पि-पासाभिवृद्धिकर्त्री तु शक्तिरिट्शब्देनोच्यते । अत एव शाखाच्छेदने एते काम्ये इषेत्वोर्जेत्वा' इति । एते शक्ती भगवत एव, जीवे ओषधिवनस्पतिषु च प्रतिष्ठिते । 'ऊर्वा अन्नाद्यं दधि' 'ऊर्वा उदुम्बरम्' इति च; 'इषे प्राणाय, ऊर्जेऽपानाय इति च । यस्तु ऊर्युक्तः स ऊर्जस्वान् । यदैव ब्रह्मणोऽभिमानो जातः । भगवानिति मूलोक्तसंब-न्धज्ञापकः । अज इत्यभिमाने हेतुः, अन्यथा भग-वान् सर्वरूपो नाऽऽत्मानं तथाऽभिमन्यते । तदा परोक्षेण भावेन साध्यान् पितृगणांश्चाऽसृजत् । अदृष्टं सर्वं परोक्षम् । अत एव साध्या अतिरिक्त-भागिनो जाताः-पितरश्च न्युब्जभागिनः, 'परोक्ष-भागिनश्च हीकाः' इति श्रुतेः । अत उभयेषां सृष्टिरदृष्टैवव कृता । तथा सृष्टौ सामर्थ्यम्-प्रभुरिति ॥४२॥

व्याख्या—'इट्' और 'ऊर्ज' विशेष शक्ति को बताने वाले शब्द हैं, इन दोनों शब्दों में 'ऊर्ज' शब्द को समझाते हैं, विषयों को ग्रहण करने के लिए सामर्थ्य का विशेष सम्पादन करनेवाली आत्मा में रहने वाली विचारों की कारण भूता शक्ति 'ऊर्ज' शक्ति कही जाती है, भूख और प्यास को बढ़ाने वाली शक्ति इट् नाम से कही जाती है, अतः इन दोनों शक्तियों की प्राप्ति करने से शाखा का छेदन करने में आता है, ये दोनों शक्तियाँ भगवान् की हैं जो जीव में तथा औषधि और वनस्पतियों में स्थित हुई है जैसे कि श्रुति कहती है 'ऊर्वा' अन्नाद्यं दधि ऊर्वाउदुम्बरं इति च; इषे प्राणाय 'उर्जेऽपानाय' इतिच अर्थात् अन्न (खाद्य पदार्थ) में आद्य दही ऊर्ज है, और वनस्पतियों में उदुम्बर ऊर्ज (बल) है अतः जो ऊर्युक्त है वह

१—'ऊर्जस्वन्त' श्लोक में अत एव इत्यादि से इन्द्रियों की सामर्थ्य का सम्पादकपन तथा उसकी अभिवृद्धि का कर्तृत्व इन दोनों से हो इन्द्रियों के वीर्यरूप पन से उस तन्त्र में पविश्र होने के लिए 'इषेत्वेति शाखां च्छिन' इससे शाखा छेदन करने पर वैसे हुए दोनो जगह प्रतिष्ठितपन में प्रमाण कहते है उर्वेत्यादि 'प्रकाश'

ऊर्जवाला अर्थात् बलवान है इसलिये ब्रह्मा मैं बलवान हूं ऐसे अभिमानी हुए थे उस समय ब्रह्मा का भगवान् से सम्बन्ध था भगवान् तो ऊर्जो का मूल है इसलिए भगवत्सम्बन्ध से ब्रह्मा ने अपने को बलवान समझा ब्रह्मा अज थे यह अभिमान में कारण है अन्यथा (नहीं तो) सवरूप भगवान् अपने को ऐसा न मानते, ऐसा समझकर ही परोक्षभाव से (अदृष्ट से) ही साध्य और पितृगणों की सृष्टि की, सब जो परोक्ष वह 'अदृष्ट' है, इस कारण से साध्य' जो भाग बढ़ने से शेष रह जाता है उसके भाग वाले होते हैं और पितर 'न्युब्ज' के भागवाले होते हैं अर्थात् श्राद्ध में एक प्रकार के भाजन (बरतन) में रखे हुए भाग को लेते हैं, परोक्ष भागिनश्रहीकोः' इतिश्रुतेः, लज्जित परोक्ष के भागवाले हैं, अतः दोनों (साध्य और पितरों) की सृष्टि न देखकर अर्थात् परोक्ष ही की है, इस तरह सृष्टि करने में सामर्थ्य है क्योंकि 'प्रभुः' सर्व समर्थ हैं ॥४२।

आभास—तामपि तनुं विससर्ज-

आभासार्थ—उस शरीर को भी ब्रह्मा ने त्याग दिया, यों निम्न श्लोक में कहते है-

श्लोक—**तं स्वात्मसर्गं तत्कायं पितरः प्रतिपेदिरे ।**
साध्येभ्यश्च पितृभ्यश्च कवयो यद्वितन्वते ॥ ४३ ॥

श्लोकार्थ—पितरों ने अपने उत्पत्ति के कारण रूप उस शरीर को ग्रहण कर लिया, इसी को ध्यान में रखकर पंडितगण श्राद्धादि में पितरों को पिण्ड और साध्यों को हव्य देते हैं ॥ ४३ ॥

सुबोधिनी—तं स्वात्मेति । अत एव ते उभये, आत्मसर्गं स्वोत्पादकम्, तस्य ब्रह्मणः कायं शरीरम्, मुख्यतया पितरः प्रतिपेदिरे । लोकेऽत्यन्त पितर एव प्रसिद्धा इति । तेन शरीरेणोभयेषां विनियोगमाहसाध्येभ्यः पितृभ्य—श्चेति । यद्येन शरीरेण वितन्वते लोकाः, अतिरिक्तेन श्राद्धेन च ॥ ४३ ॥

व्याख्या—इस कारण से ही उन दोनों से अपने को पैदा करने वाले ब्रह्मा के उस शरीर को ग्रहण किया, मुख्य रूप से पितरों ने प्राप्त किया, लोक में पितर ही विशेष प्रसिद्ध हैं उस शरीर से दोनों को क्या प्राप्त होता है वह बताते हैं कि, लोक पितरों को श्राद्ध द्वारा और साध्यों को हव्य द्वारा देते हैं, जिसको वे ग्रहण करते हैं ॥ ४३ ॥

आभास—पुनस्तृतीयं गुणत्रयसर्गमाह-

आभासार्थ—फिर तीसरे प्रकार की गुण सृष्टि कहते हैं

१—राजस राजस, राजस सात्विक, राजस तामस—इस तरह रजो गुण से तीन प्रकार की सृष्टि हुई—　　'प्रकाश'

श्लोक—सिद्धान्विद्याधरांश्चैव तिरोधानेन सोऽसृजत् ।
तेभ्योऽददात्तमात्मानमन्तर्धानाख्यमद्भुतम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—ब्रह्माजी ने अपने तिरोधान से 'सिद्ध' और 'विद्याधरों' की सृष्टि की, और उनको अपना वह अन्तर्धान नामक अद्भुत शरीर दे दिया ॥४४॥

सुबोधिनी—सिद्धानिति । एते सात्त्विकाः । सिद्धा ज्ञानसिद्धाः, **विद्याधराः** कर्मसिद्धाः, उभयानपि तिरोधानेनैवाऽसृजत् । तिरोधानविद्यारूपो यो भावः, तेनाऽसृजदित्यर्थः । तां च तनुं पूर्ववन्न त्यक्तवान्, किन्तु तेभ्यो दत्तवानित्याह-**तेभ्य इति आत्मानं देहमददात्** । असंदेहार्थं तस्य नामाऽऽह **अन्तर्धान** मित्याख्या यस्य । **अद्भुतमिति** स्वतो दाने हेतुः ॥४४॥

व्याख्या–यह सृष्टि सात्विकी है, 'सिद्ध' ज्ञान से सिद्ध (ज्ञानी) थे, और 'विद्याधर' कर्म से सिद्ध (कर्मिष्ठ) थे, दोनों को तिरोधान से रचा, अर्थात् तिरोधान विद्यारूप जो भाव (शक्ति) उससे रचा; उस तिरोधान रूप शरीर को पूर्व शरीर की तरह त्यागा नहीं, किन्तु उनको दे दिया इसलिए 'तेभ्य' पद दिया उनके लिए अर्थात् उनको अपना वह शरीर दिया इसमे संशय न होवे इस वास्ते उसका नाम बताते हैं 'अन्तर्धान' जिसका नाम था 'अद्भुत' विशेषण से सूचित किया है कि पूर्व शरीर से यह अद्भुत (अजीब) था इसलिए त्याग न कर इनको दिया । ४४॥

आभास—राजसीमाह–

आभासार्थ—राजसी सृष्टि कहते हैं–

श्लोक–स किन्नरान्किम्पुरुषान्प्रत्यात्म्येनाऽसृजत्प्रभुः ।
मानयन्नात्मनाऽऽत्मानमात्माभासं विलोकयन् ॥४५॥

श्लोकार्थ—उस समर्थ ने अपने प्रतिबिम्ब रूप सुन्दर शरीर का आदर करते हुए उससे किन्नर और किम्पुरुषों को उत्पन्न किया ॥४५॥

सुबोधिनी—स किन्नरानिति । किन्नराः किम्पुरुषाश्च देवगायकाः, तान् प्रत्यात्म्येन प्रतिबिम्बेनाऽसृजत् । **प्रभुरिति** पूर्ववत् । न प्रतिबिम्बमात्रेण, तेषां सृष्टिः, किन्तु सन्मानपुरः सरमित्याह–**मानयन्निति** । **आत्मना** प्रतिबिम्बरूपेण, **आत्मानं** बिम्बरूपम्, **मानयन्न**सृजदिति संबन्धः । लोकोऽपि दर्पणादौ मुखं पश्यन्नात्मानं बहु मन्यते किञ्च, नापि सन्मानमात्रसहितेन, किन्त्वात्माभासं **विलोकयन्नेवा**ऽसृजत् । तेन दर्शनेन सन्मानेन सहितेन प्रतिबिम्बेनाऽसृजदित्यर्थः ॥४५॥

व्याख्या—किन्नर और किम्पुरुष देवों के गवैय्ये हैं, उनको अपने प्रतिबिम्ब रूप से उत्पन्न किया, 'प्रभु' शब्द का अर्थ (समर्थ) पहले किया हुआ हैं वैसा ही है, केवल प्रतिबिम्ब से सृष्टि कर

दी यों नहीं है किन्तु आदर पूर्वक प्रतिबिम्ब को अपना ही रूप मानकर यह सृष्टि उत्पन्न की, लोक भी दर्पण आदि में अपना रूप देखकर अपने को सुन्दर भाग्यशाली मानते हैं किञ्च केवल सम्मान से सृष्टि नहीं की किन्तु आत्मा के आभास को देखते रहते ही उनको रचा, उस दर्शन से सम्मान सहित प्रतिबिम्ब से रचना की यह अर्थ है ।।४५।।

आभास—तेन कार्ये त्रिरूपता जातेत्याह—

आभासार्थ—उससे कार्य में तीन प्रकार हुए वह निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—ते तु तज्जगृहू रूपं त्यक्तं यत्परमेष्ठिना ।
मिथुनीभूय गायन्तस्तमेवोषसि कर्मभिः ।।४६।।

श्लोकार्थ—जिस प्रतिबिम्ब शरीर को ब्रह्माजी ने त्यागा उसको उन्होंने ग्रहण कर लिया, अतः ये सब उषः (प्रातः) काल में अपनी पत्नियों के साथ मिलकर ब्रह्माजी के गुण एवं कर्मों का गान करते रहते है ।।४६।।

सुबोधिनी—ते त्विती इदं रूपं ब्रह्मणा त्यक्तमेव, यतः स **परमेष्ठी**, परमां निष्ठां प्राप्तवानिति **'तेन स परमां काष्ठामगच्छत्'** इति श्रुतेः । ततो यज्जातं तदाह **मिथुनीभूयेति** । ते उभयेऽपि स्त्रीपुरुषरूपेण जाताः, (?) माननस्याऽयं धर्मः । उषसि च प्रातः काले, **कर्मभि**र्ब्रह्मकृतैरुत्कर्षहेतुभिर्**मिथुनीभूयैव** रसाभिव्यक्त्यर्थं, तमेव ब्रह्माणं **गायन्तो जगृहुरिति** संबन्धः । गानं दर्शनकृतम् ।।४६।।

व्याख्या—यह शरीर ब्रह्मा ने त्याग ही दिया कारण कि आप परमेष्ठी हैं इसलिए आपने 'तेन स। परमांकाष्ठाभगच्छत्' इति श्रुतेः इस श्रुति के अनुसार अपनी वह उत्तम स्थिति प्राप्त कर ली, उसके बाद जो कुछ हुआ वह कहते हैं, 'मिथुनी भूय' वे दोनो स्त्री और पुरुष रूप हो गये यह प्रतिबिम्ब[1] का गुण है प्रातः काल में, ब्रह्माजो ने उत्कर्ष के लिए कर्म किये उनको स्त्री पुरुष मिलाकर रस प्रकट करने के लिए गाते हुए उस शरीर को ग्रहण किया यों सम्बन्ध है, गान दर्शन से हुआ ।।४६।।

१—स्त्री और पुरुष रूप होना वह दर्शन से होना यह दर्शन का धर्म है (गुण है) प्रतिबिंब धर्म तो किन्नर हैं किम्पुरुष और मिथुनी भाव ये अपने प्रतिबिंब नहीं है, इस तरह (१) स्त्री पुरुष होना (२) स्त्री पुरुषों में रस उत्पन्न हो तदर्थ युगल होना (३) ब्रह्माजी के गुणों का ज्ञान तीन कार्य हुए ।

'प्रकाश'

आभास—तामसीं सृष्टिमाह—

आभासार्थ—इस श्लोक से तामसी सृष्टि का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**देहेन वै भोगवता शयानो बहुचिन्तया ।**
सर्गेऽनुपचिते क्रोधादुत्ससर्ज ह तद्वपुः ॥४७॥

श्लोकार्थ—किसी बार सृष्टि न हो सकने के कारण ब्रह्माजी बहुत चिन्तित हुए तब स्थूल देह से सो गये किन्तु सोते ही क्रोध आ जाने से उस देह को त्याग दिया ॥४७॥

सुबोधिनी—**देहेनेति** । भोगवता स्थूलेन देहेन । **भोगो** विषयभोगः, तद्वान् स्थूलो भवत्येव इदं लोकप्रसिद्धमिति **वै** निश्चयेनेत्युक्तम् बहु-**चिन्तया शयानो** जातः पतित्वा स्थित इत्यर्थः । चिन्तायां हेतुः-**सर्गेऽनुपचित इति** । कामस्याऽपूर्तौ क्रोधो जातः, **क्रोधाच्च तद्वपुरुत्ससर्ज** ॥४७॥

व्याख्या—'भोगवता देहेन' स्थूल देह से, जिस देह से विषय भोग किया जाता है वह स्थूल ही होती है, निश्चय से यह बात प्रसिद्ध ही है, सृष्टि न हो सकने के कारण बहुत चिन्ता हुई सो वे सो गये अर्थात् लम्बे हो कर लेट गये, जो कार्य करना था वह पूर्ण न हुआ अर्थात् सृष्टि करनी थी वह न हो सकी जिससे क्रोधित हुए क्रोध होने से उस शरीर को त्याग दिया ॥४७॥

आभास—त्यक्ताद्वपुषः सृष्टिर्जातेत्याह—

आभासार्थ—इस त्यागे हुए शरीर से सृष्टि होने लगी यों निम्न श्लोक में कहते हैं,

श्लोक—**येऽहीयन्ताऽमुतः केशा अहयस्तेऽङ्ग ! जज्ञिरे ।**
सर्पाः प्रसर्पतः क्रूरा नागा भोगोरुकन्धराः ॥४८॥

श्लोकार्थ—उस त्यागे हुए शरीर से जो केश गिरे वे अहि हुए वे चलने फिरने लगे तो उनसे क्रूर सर्प हो गये और बड़े फण तथा बड़ी गरदन वाले नाग हुए ॥४८॥

सुबोधिनी—**येऽहीयन्तेति अमुतः** शरीरात् ये **केशा अहीयन्त** । अनेन क्रोधात् स्वकेशाकर्षणमपि कृतवानिति ज्ञायते । त एव केशा **अहयो** जाताः । **अहयः सर्पाः**, **नागा** इत्यवान्तरभेदाः । यतोऽहीयन्त, अतोऽहयः क्रोधाद्यद्धावनं कृतवान्, ततः प्रसर्पतो देहाद्ये जाताः, ते **सर्पाः** । पतितात् क्रियारहिताद्ये जाताः, ते **नागाः** । स्थूलाकारात् देहात् क्रियारहितात् यज्जाता, **अतः भोगोरुकन्धराः** । महान् भोगः, उरुः कन्धरा च येषाम् । कन्धराः फणस्थानानि । उरुशब्दस्य मध्ये प्रयोगादुभयसंबन्ध भोगार्थं वोरुकन्धरा भोगापेक्षया वा ॥४८॥

व्याख्या—ब्रह्माजी के इससे (शरीर से) जो केश झड़कर गिरे वे 'अहि' हुए, इससे जाना जाता है कि ब्रह्माजी ने क्रोध में आकर केशों को खेंचा है जिससे वे झड़कर गिरे हैं, 'अहि' सर्प और नाग ये सर्पों की जाति में अवान्तर भेद हैं।

कारिका—क्रियावन्तोऽफणाद्याश्च सफणास्तु तथा परे ।
नागा अजगराः प्रोक्ता मध्यमाः सविषाः स्मृता ।। १ ।।

कारिकार्थ—जो बिना फण के आद्य (पहले हुवे हैं वे क्रियावान हैं, और जो अन्तिम फणवाले कहे हैं वे 'नाग' हैं वे अजगर कहलाते हैं एवं जो मध्य में उत्पन्न हुए वे विषवाले होते हैं। झड़े हुए बालों से जो हुए थे 'अहि' कहलाये, जो क्रोधकर दौड़ने लगे उनकी चलती हुई देह से जो उत्पन्न हुए वे सर्प कहलाये गिर जाने से जो क्रिया रहित हुई देह से जो उत्पन्न हुए वे 'नाग' कहलाये, इस प्रकार उत्पन्न होने से महान् फण और गरदन वाले हुए, 'गरदन' (कन्धा) फण धारण करने का स्थान है, मध्य में 'उरु' शब्द होने का आशय है कि इसका फण और गरदन दोनों से सम्बन्ध है, अथवा भोग के लिए महान् गरदन (कन्धा) है एवं उसको अपेक्षा होने से महान् हैं ।।४८।।

आभास—एवं नवविधां सृष्टिमुक्त्वा स्वस्य गुणातीतभावनया कांचित् सृष्टि कृतवान् । तामाह—

आभासार्थ—इस तरह नौ प्रकार की सृष्टि कहकर अब अपनी गुणातीत भावना से किसी सृष्टि को किया वह इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—स आत्मानं मन्यमानः कृतकृत्यमिवाऽऽत्मभूः ।
तदा मनून्ससर्जाऽन्ते मनसा लोकभावनान् ।।४९।।

श्लोकार्थ—इसके बाद भगवान् से उत्पन्न ब्रह्माजी ने लोंको का धर्मादि से उत्कर्ष करने वाले मनुओं को मन से उत्पन्न किया ।।४९।।

कारिका - यदैव पुरुषः स्वस्मिन् गुणातीतेऽवतिष्ठते ।
तदैव कृतकृत्योऽहमित्यात्मानं स मन्यते ।।१।।

कारिकार्थ—जब पुरुष गुणों से ऊपर (निर्गुण) अपनी स्थिति करता है अर्थात् निर्गुण बन जाता हैं तब ही अपने को कृत कृत्य मानता है ।।१।।

सुबोधिनी—इवेति भावनया तथात्वात् । एवं भावे हेतुः--आत्मभूरिति । आत्मनो भगवत सकाशात् जातः । तदा मनून् ससर्ज । मनसा शरीरस्थानीयेन । मनवोऽत्र चतुर्दश मुख्याः, अन्येऽपिबहवस्तद्विधाः । स्वसृष्टेरन्ते । नाऽतः परं ब्रह्मण सृष्टिः ऋषिसृष्टिस्तु वेदात्मकभगवतः एतेषामुत्कर्षमाह–लोकभावनानिति । लोकाननुभावयन्ति धर्मादिभिरिति ।।४९।।

व्याख्या—'इव' पद से यह सूचित किया है कि (निर्गुण) भावना से वैसे (कृतकृत्य) हो गये ऐसे भाव होने का कारण बताते हैं 'आत्म भूः' भगवान् से उत्पन्न हुए हैं ऐसी अवस्था का अनुभव हो जाने पर ब्रह्माजी ने मन से मनुओं की सृष्टि की यहाँ मुख्य मनु १४ (चौदह) है दूसरे भी अनेक उसी प्रकार के हैं। इन मनुओं को अपनी समग्र। सृष्टि के अन्त में रचे, इसके अनन्तर ब्रह्माजी ने सृष्टि नहीं रची। ऋषियों की सृष्टि तो वेद रूप भगवान् से हुई है। इनका (मनुओं का) उत्कर्ष बताते हैं 'लोक भावनात्' ये मनु लोकों को धर्म आदि से उन्नति कराके उनको आनंदित व सुखी करते हैं ॥४६॥

आभास—तदा ब्रह्मा स्वस्य सामर्थ्यं तभ्यो दत्तवानित्याह—

आभासार्थ—तब ब्रह्माजी ने अपना सामर्थ्य उनको (मनुओं को) दे दी यों निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—तेभ्यः सोऽप्यसृजत्स्वीयं पुरं पुरुष आत्मवान्।
तान् दृष्ट्वा ये पुरा सृष्टाः प्रशशंसुः प्रजापतिम् ॥५०॥

श्लोकार्थ—उस आत्मवान् (मनस्वी ब्रह्माजी) ने यह ब्रह्माण्डात्मक अपना पुर जिनको पहले उत्पन्न किया था उनको दे दिया, वे ब्रह्माजी को देख उनकी प्रशंसा करने लगे ॥५०॥

सुबोधिनी—तेभ्य इति। पुरं ब्रह्माण्डात्मकम् तदेव तेभ्यः कालतो विभज्य दत्तवान्, यतः स पुरुषः। ते हि पुरं पालयिष्यन्ति, स्वयं शयिष्यत इति। तदा बहवो मनवो ब्रह्मस्थानीया जाता इति पूर्वसृष्टानां सुखं जातमित्याह--तान् दृष्ट्वेति। ये मन्वपेक्षया **पुरा सृष्टाः**, ते **प्रजापतिं प्रशशंसुः** ॥५०॥

व्याख्या ब्रह्माजी का जो यह ब्रह्माण्डात्मक पुर है वह ही उनको काल से विभाग कर दे दिया क्योंकि वह पुरुष है अतः आप शयन (आराम) करेंगे एवं मनु पुर की पालना करेंगे। तब ब्रह्माजी के स्थान पर बहुत मनु हुए जिन्होंने पहले उत्पन्न किये हुओं को आनन्द, सुख दिया, मनुओं की अपेक्षा पहले रचे थे वे प्रजापति की प्रशंसा करने लगे ॥५०॥

आभास-प्रशंसामेवाऽऽह--

आभासार्थ—इस श्लोक में प्रशंसा कहते हैं—

श्लोक—अहो एतज्जगत्स्रष्टुः सुकृतं बत ! ते कृतम्।
प्रतिष्ठिताः क्रिया यस्मिन्साकमन्नमदामहे ॥५१॥

श्लोकार्थ—उन्होंने कहा, हे जगत् स्रष्टा ब्रह्माजी ! प्रसन्नता की बात है कि आपने जो यह मनुओं को सृष्टि की है वह बड़ी सुन्दर है, जिसमें अग्नि होत्र आदि कर्मों की स्थापना की है, इसकी सहायता से हम भी अपना हविभाग ग्रहण करेंगे ।५१।

सुबोधिनी—अहो इति । सृष्टिरत्यन्ताश्चर्यरूपा, वयमपि तेनैव सृष्टाः, एतेऽपि । तथापि कारणतुल्यत्वेऽप्युत्तमा जाता इत्येतत्कृतमेव जगत्स्रष्टुः सुकृतम् । बतेति हर्षे, स्वकारणादुत्तमं जातमिति । हेत्वन्तरमप्याह—प्रतिष्ठिताः क्रिया यस्मिन्निति । यस्मिन् कृते मनुरूपे, क्रिया धर्मादिरूपाः प्रकर्षेण स्थिताः । अनेन धर्मो मोक्षश्च सिद्ध उक्तः । साकमन्नमदामह इति चाऽर्थः कामश्च । एवं सर्वपुरुषार्थसाधकता ।। ५१ ।।

व्याख्या—यह सृष्टि बहुत आश्चर्य रूप है, हमको भी उनने (ब्रह्माने) ही रचा है, उन (मनुओं) भी उनने उत्पन्न किये हैं, तो भी अर्थात् कारण समान होते हुए भी ये उत्तम हुए, इसलिए यह कार्य ही जगत् स्रष्टा का सुन्दर पुण्यरूप है, 'बत' यह प्रसन्नता की बात है, क्योंकि अपने कारण से भी कार्य उत्तम हुआ है, दूसरा हेतु कहते हैं कि 'प्रतिष्ठिताः क्रिया-यस्मिन्' जिस इस मनुरूप सृष्टि में धर्म आदि क्रियाऐ स्थापित की हैं, इससे धर्म और मोक्ष सिद्ध होंगे, 'साकमन्नमदामह' हम भी साथ में (अन्न) का भोजन करेंगे जिससे अर्थ और काम पुरुषार्थ भी सिद्ध हो जायेंगे, इस तरह आपके इस उत्तम कृति से चारों पुरुषार्थ सिद्ध हुए हैं ।।५१।।

आभास—उत्कृष्टभगवद्भावेन सृष्टिमाह—

आभासार्थ—इस श्लोक से भगवान् के उत्कृष्ट भाव से उत्पन्न सृष्टि का वर्णन करते हैं—

श्लोक—तपसा विद्यया युक्तो योगेन सुसमाधिना ।
ऋषीनृषिहृषीकेशः ससर्जाऽभिमताः प्रजाः ।।५२।।

श्लोकार्थ—तप विद्या और उत्तम समाधि पर्यन्त योग से ऋषि हृषीकेश ने अपने को प्रिय ऋषिरूप प्रजाओं की सृष्टि बनाई ।।५२।।

सुबोधिनी—तपसेति । ज्ञानकर्मभक्तिभिर्हृषीकेशो भगवान्, ऋषीन् सर्ववेदादिप्रवर्तकान् अभिमतप्रजारूपान् ससर्ज तपोऽत्र ज्ञानम्, विद्या भक्तिः । योगेन युक्तो भगवद्भावं प्राप्तः, समाध्यन्तेन योगेन वा युक्तः । सर्वैः भगवता वा, इन्द्रियपतित्वात् स्रष्टुः । ऋषयो जितेन्द्रियास्त्रिविधाश्च; ज्ञाननिष्ठाः, कर्मनिष्ठाः, भक्तिनिष्ठाश्चेति । ऋषिश्चासौ हृषीकेशश्च, शब्दार्थब्रह्मरूप इत्यर्थः ।।५२।।

व्याख्या—ज्ञान, कर्म और भक्ति से हृषीकेश भगवान् ने, सर्व वेदों के प्रवर्तक जो प्रिय प्रजा है ऐसे ऋषियों की सृष्टि की यहां तप का अर्थ ज्ञान है और विद्या भक्ति है, योग से युक्त का आशय भगवान् के भाव को प्राप्त हुआ है अथवा समाधि पर्यन्त योग से युक्त है, इन्द्रियों के पति होने से भगवान्

ने इन सब साधनों से यह सृष्टि रची. ऋषि' अर्थात् जो जितेन्द्रिय हैं, वे तीन प्रकार के हैं—१—ज्ञाननिष्ठ २ कर्मनिष्ठ और ३-भक्तिनिष्ठ हैं—ऋषि और हृषीकेश दोनों पदों का आशय है कि शब्द तथा उसका अर्थ दोनों ब्रह्मस्वरूप हैं।५२।।

आभास—भगवतः षड्गुणा एकीभूताः कर्तृ विशेषणभूता इति सृष्टेभ्य एकैकमंशमदादित्याह—

आभासार्थ—भगवान् के ऐश्वर्यादिछगुण इकट्ठे होके कर्त्ता के विशेषण होने से, जो उत्पन्न हुए उनको एक एक अंश दिया यों इस श्लोक में कहते हैं

श्लोक—तेभ्यो ह्येकैकशः स्वस्य देहस्यांशमदादजः ।
यत्तत्समाधियोगर्द्धितपोविद्याविरक्तिमत् ।।५३।।

श्लोकार्थ—अजन्मा ने अपने शरीर का एक एक अंश समाधि, योग, तप, ऐश्वर्य विद्या और वैराग्य रूप थे वे उनको दिये ।।५३।।

सुबोधिनी तेभ्य इति । हि युक्तश्चायमर्थः, यदंशपुरस्कारेण ये सृष्टाः, तेभ्यः सोंऽशो देय इति । स्वार्थं तु नापेक्ष्यते, यतोऽयमजः, अतः पर पुत्रादिरूपेण न भविष्यतीति तानेवांशानाह—**यत्तदिती यदेव**[3] यस्य तदेव **तस्येत्यर्थः** । ऐश्वर्यादिषु षट्सु[1] समाध्यादयः षडन्तर्भाव्याः, तत्तत्त्वेन वा व्याख्येयाः; भिन्ना वा । एते प्रकृतोपयोगिभग[2]--शब्दवाच्याः । **समाधिश्चित्तैकाग्र्यम्, योगस्त**स्योपायः, **ऋद्धिः** फलं तस्य; इति त्रयमेका कोटिः तपो ज्ञानम्, विद्या भक्तिः, वैराग्यं चेत्यपरा । विद्यैव यशः, ऋद्धिरेव श्रीः, योगो बलम्, समाधिरैश्वर्यमिति । सम्यगाधिः शत्रूणां यस्मादिति योगश्च । ऋषयो हि भगवत एकैकमंशं संपादयन्तीति ।।५३।।

व्याख्या—'हि' पद का भावार्थ है यह अर्थ (यों करना) योग्य ही है, अर्थात् जिस अंश के पुरस्कार से जिनको रचा वह अंश उनको ही देना चाहिए, अपने लिए तो किसी की अपेक्षा नहीं है क्योंकि यह अजन्मा होने से फिर पुत्रादि रूप से होने वाले नहीं हैं जो अंश दिये वे बताते हैं कि जो अंश जिसका (उत्पादक) था उसको वह ही अंश दिया, ऐश्वर्य आदि छ गुणों में समाधि आदि का समावेश कर लेना, अथवा प्रत्येक का एक एक गुणानुसार अर्थ करना अथवा प्रकृत विषय में उपयोगी 'भग' शब्द से पहचानने में आने से भिन्न समझना ।

१- समाधि – चित्त की एकाग्रता २—योग-उसका (एकाग्रता का) उपाय ३-ऋद्धिः उसका जो 'फल' मिलता है इन तीन की एक कोटि है, ४-तप (ज्ञान) ५- विद्या (भक्ति) और
६- वैराग्य इन तीन की दूसरी कोटि है विद्या ही 'यश' है ऋद्धि ही श्री है योगबल है और समाधि ऐश्वर्य है समाधि शब्द की व्युत्पत्ति है 'सम्यगाआधिः' शत्रूणांयस्मात् इति योगश्च जिससे शत्रुओं को मन की पीड़ा होती है उसको समाधि व योग कहते हैं, ऋषि ही भगवान् के एक एक अंश को प्राप्त करतेहैं यों तात्पर्य है ।।५३।।

इति श्री मद्भागवत महापुराण के तृतीयो स्कन्ध के २० वें अध्याय की
श्री मद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)
हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

(इस अध्याय की कथा का सार)

स्वायंभुव मनु सुत भए दोइ। तनया तीनि, सुनौ अब सोइ।
दच्छ प्रजापति कौं इक दई। इक रूचि, एक कर्दम-तिय भई।
कर्दम कें भयौं कपिलऽवतार। सूर कह्यौ भागवतऽनुशार।

कर्दम ऋषि की पुत्र हेतु तपस्या एवं उन्हें वरदान
(इक्कीसवें अध्याय की कथा का सार)

हरि हरि हरि सुमिरन नित करौ। हरि कौ ध्यान सदा हिय धरौ।
ज्यौं भयौ कपिलदेव-अवतार। कहौं सो कथा, सुनौ चित धार।
कर्दम पुत्र-हेत तप कियौ। तासु नारिहूं यह व्रत लियौ।
हरि सो पुत्र हमारें होइ। और जगत-सुख चहैं न कोइ।
नारायन तिनकौं बर दियौ। मो सो और न कोऊ दियौ।
मैं लेहौ तुम गृह अवतार। तप तजि, करौ भोग संसार।

कर्दम ऋषि का देवहूतिजी से विवाह, तत्पश्चात् उनका विहार, कपिलदेवजी का जन्म और कर्दम ऋषि का वन-गमन
(बाईसवें, तेईसवें और चौबीसवें अध्यायों की कथा का सार)

दुहूँ तब तीरथ माहि नहाए। सुंदर रूप दुहूं जन पाए।
भाग-सामग्री जुरी अपार। बिचरन लागे सुख-संसार।
तिनके कपिलदेव सुत भए। परम सुभाग्य मानि तिन लए।
कर्दम कह्यौ तिन्है सिर नाइ। आज्ञा होइ, करौ तप जाए।
अभिद अछेद रूप मम जान। जो सब घट है एक समान।
मिथ्या तनु कौ मोह बिसार। जाहु रहौ भावै गृह-बार।
करत इंद्रियनि चेतन जोइ। मम स्वरूप जानो तुम सोइ।
जब मम रूप देह तजि जाइ। तब सब इंद्रि-सक्ति नसाइ।
ताको जानि मग्न ह्वै रहै। देहऽभिमान ताहि नहि दहै।
तन अभिमान जासु नसि जाइ। सो नर रहैं सदा सुख पाइ।
और जो ऐसी जानै नाहि। रहै सो सदा काल-भय माहि।
यह सुनि कर्दम बनहि सिधाए। उहाँ जाइ हरि-पद चित लाए।
हरि स्वरूप सब घट यौं जान्यौ। ऊख माहि ज्यौ रस है सान्यौ।
खोई तन, रस आतम-सार। ऐसो बिधि जान्यौ निरधार।
यौं लखि, गहि हरि पद अनुराग। मिथ्या तनु को कीन्यौ त्याग।
तनहि त्यागि कै हरि-पद पायौ। नृप सुनि हरि-स्वरूप उर ध्यायौ।

(सूरसागर)

॥ श्रीहरिः ॥

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजन वल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पति चरण कमलयेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी संस्कृत टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

मुक्त सृष्टि (तत्व मुक्ति) प्रकरण

तृतीय स्कन्ध

इक्कीसवां अध्याय

कर्दमजी की तपस्या और भगवान् का वरदान

कारिका—एकविंशे तु सफलो धर्ममार्गो निरूप्यते।
भूतसंस्कारकर्तृत्वात्तद्भूतसर्गोऽयमुच्यते ॥१॥

कारिकार्थ—इक्कीसवें अध्याय में तो फल सहित धर्म मार्ग का निरूपण किया जाता है महाभूतों का संस्कार करने वाला होने से यह (धर्म मार्ग) 'भूतसर्ग' कहा जाता है ॥१॥

कारिका—षड्विधं रूपमस्याऽपि तपोदर्शनसंस्तवाः ॥
त्रिविधाःकारणे युक्ता वाक्यागमसमृद्धयः ॥
फलेऽपि त्रिविधाः प्रोक्ता ऋषिवाक्यं समृद्धये ॥२॥

कारिकार्थ—इसके भी छ प्रकार हैं त, दर्शन और स्तुति इन तीन प्रकारों के कारण में (महा भूतों के संस्कार में)[1] कारण रूप धर्म में उपयोग है इस तरह 'वाक्य' 'आगम' और 'समृद्धि' इन तीनों का महाभूतों के संस्कार रूप फल के अन्दर समावेश है, ऋषिवाक्य अर्थात् कर्दम ने जो मनु को कहा वह (वाक्य) समृद्धि के लिये है ॥२॥

१—इस इक्कीसवें अध्याय का विवरण करने की इच्छा वाले आचार्य श्री आज्ञा करते है कि सङ्गति तो पहले कही गई है। इस प्रकरण का दो प्रकार से विभाग होने से प्रत्येक अध्याय दो अर्थ वाले है, उनमें (अध्यायों मे) भेद न होवे इसलिये अर्थों का हो ,हेतु हेतुमद्भाव है यों जताते हुवे प्रस्तुत अध्याय के अर्थ को 'एकविंशे' उपरोक्त कारिका १ से समझाते हैं। 'अयं' पद से धर्ममार्ग कहा है। दोनों से इस अध्याय में जो अर्थ है उसका विभाग करते हैं। 'षड्विधं' कारिका से 'कारणे' का भावार्थ है। भूत संस्कार कारण रूप धर्म में 'फले' पद का आशय है कि भूत संस्कार रूप फल में ऋषिवाक्यां अर्थात् मनु को जो कर्दम ऋषि ने कहा यों सकल अध्याय का अर्थ समझाया है। वहां विदुरजी के प्रश्न की सङ्गति प्रसङ्ग के अनुरूप है यों समझ लेना चाहिये। 'प्रकाश'

आभास–एवं सकलां ब्रह्मसृष्टिं पूर्वाध्याये श्रुत्वा, तद्विशेषं श्रोतुं मनोर्वंश पृच्छति स्वायम्भुवस्येति पञ्चभिः–

आभासार्थ—इस तरह समग्र ब्रह्माजी की सृष्टि पूर्व अध्याय में श्रवण कर मनु के वंश की विशेषता सुनने के लिये स्वायंभुवस्य श्लोक से पाँच श्लोकों में मनु के वंश के विषय में विदुरजी पूछते हैं।

विदुर उवाच श्लोक–**स्वायंभुवस्य च मनोर्वंशः परमसंमतः।**
कथ्यतां भगवन् ! यत्र मैथुनेनैधिरे प्रजाः ॥१॥

श्लोकार्थ–विदुरजी ने कहा कि हे भगवन् स्वायंभुव मनु के वंशकी बड़ी प्रशंसा है। जिसमें मैथुन धर्म से प्रजावृद्धि हुई उसकी कथा अब कहिये ॥१॥

सुबोधिनी—अस्य विशेषत्वं मैथुनजनितत्वमेव। स्वयभुवो वंशः श्रुतः, **स्वायंभुवस्य च मनोर्वंशः** श्रोतव्यः। तत्र हेतुः–**परमसंमत इति**। परममत्यर्थं संमतः। सर्वसंमतं च श्रोतव्यम्, यत इदानीन्तनानां तथैव जन्म। तदाह—**मैथुनेनैधिरे प्रजा इति**। **भगवन्निति** ज्ञानार्थं संबोधनं मैत्रेयस्य॥ १॥

व्याख्या—इस वंश की विशेषता मैथुन क्रिया से उत्पन्न होना ही हैं, ब्रह्मा का वंश सुना, अब स्वायंभुव का वंश सुनना हैं। क्योंकि वह बहुत प्रशंसित है। जो सर्वत्र प्रशंसित हो उसकी कथा सुननी चाहिये, कारण कि, इस समय की सृष्टि इस प्रकार की ही है। वह कहते हैं, कि 'मंथुनेनैधिरे प्रजाः' मैथुन से प्रजाएँ बढ़ती है। भगवन्: ! संबोधन से सूचित किया है, कि मैत्रेयजी को इसका पूर्ण ज्ञान है॥ १॥

आभास–एवं सामान्यतः पृष्ट्वा पुत्रयोर्विशेषं पृच्छति–

आभासार्थ—यों सामान्य रूप से पूछ कर पुत्रों (प्रियव्रत और उत्तानपाद, की कथा विशेष रूप से पूछते हैं।

श्लोक–**प्रियव्रतोत्तानपादौ सुतौ स्वायंभुवस्य वै।**
यथाधर्मं जुगुपतुः सप्तद्वीपवतीं महीम् ॥२॥

श्लोकार्थ–स्वायंभुव मनु के जो प्रियव्रत और उत्तान पाद दो पुत्र थे उन दोनों ने निश्चय से सात द्वीप वाली पृथ्वी का धर्मानुसार पालन किया ॥२॥

सुबोधिनी—प्रियव्रतेति। यौ स्वायंभुवस्य सुतौ प्रियव्रतोत्तानपादावुक्तौ, तौ, निश्चयेन, धर्ममनतिक्रम्य, सप्तद्वीपवतिं महीं जुगुपतः। जन्ममात्रं श्रुतम्, युक्त्या रक्षा च निर्द्धारिता। तयोर्वंशस्तु वक्तव्य इति भावः ॥ २ ॥

व्याख्या—स्वांम्भुव मनु के जो प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्र थे, उन्होंने धर्मानुसार सात द्वीपवाली पृथ्वी की पालना की, उनका केवल जन्म सुना है, जिसकी युक्ति से रक्षा निर्द्धारित की हैं, अब उनका वंश कहिये यह भाव है ॥ २ ॥

आभास—कन्यकानां वंशं पृच्छति—

आभासार्थ—इस श्लोक से कन्याओं का वंश पूछते हैं।

श्लोक—तस्य वै दुहिता ब्रह्मन्! देवहूतीति विश्रुता।
पत्नी प्रजापतेरुक्ता कर्दमस्य त्वयाऽनघ! ॥३॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन्! उसकी पुत्री देवहूती नाम से जो प्रसिद्ध है। हे अनघ! वह आपने कर्दम प्रजापति की पत्नी कही है ॥३॥

सुबोधिनी—तस्येति। मध्यमाया द्वयेन, शिष्टयोरेकेन। मध्यमा सर्वत्र मूलभूतेति तस्याः प्रशंसा। तन्मोक्षावधिरेव सर्गः। ब्रह्मन्निति संबोधनमविकृतत्वाय। देवानां हूतिर्यस्या इति सर्वदेवमयी सर्वदेवाधिष्ठिता वा। संतर्पणार्थं वा देवानामाह्वानम् उपभोगार्थं वा, मोहिता रूपेण समाहूता इति। सर्वथा विशेषेण श्रुता प्रसिद्धा। तस्या विवाहश्च श्रुतः। **कर्दमस्य प्रजापतेः, त्वया पत्नीति निरुक्ता** अनघेति संबोधनात् स्त्रीकृतो भावो हृदये नोत्पद्यत इत्युक्तम्। पापयुक्तानामेव तादृशः कामो भवति, यो लौकिकेन क्षुभ्यति ॥३॥

व्याख्या—मध्य में उत्पन्न इस देवहूती की दो श्लोकों से और अन्यों की एक श्लोक से कथा पूछते हैं, मध्यमा। सब जगह मूल रूप मानी जाती है। इसलिये उसकी प्रशंसा होती है। उसका सर्ग मोक्ष पर्यन्त ही है, हे ब्रह्मन्! यह संबोधन विकार-रहितपन बताता है, देवहूति की व्युत्पत्ति 'देवानाँ' हूतिर्यस्या इति सर्व देवमयी सर्व देवाधिष्टतावा' अर्थात् जिसको देवों का आमन्त्रण (बुलगना) हुवा है वह 'देवहूति' सकल देवरूप अथवा सर्वदेव जिसमें रहते हैं, आनन्द के लिये अथवा उपभोग के वास्ते देवों ने आमन्त्रण जिसका किया है। मोह प्राप्त देवों को जिसका रूप आकर्षण कर रहा है। वह "देवहूति" अतः सर्वथा विशेष प्रकार से सुनी हुई प्रसिद्ध है, उसका विवाह भी हुआ है। यों सुना है। वह प्रजापति कर्दम की पत्नी है, यों आपने ही कहा है, हे अनघ! सबोधन से यों सूचित किया है, कि उसके हृदय में स्त्री कृत भाव उत्पन्न नहीं होता है। पापियों को ही वैसा काम पैदा होता है, जो लौकिक से क्षुब्ध होते हैं ॥ ३ ॥

आभास–अनूद्य प्रश्नमाह–

आभासार्थ—इस प्रकार कहकर अनन्तर उसके सम्बन्ध वाला प्रश्न इस श्लोक से करते हैं।

श्लोक—तस्यां स वै महायोगी युक्तायां योगलक्षणैः ।
ससर्ज कतिधा वीर्यं तन्मे शुश्रूषवे वद ।।४।।

श्लोकार्थ–उस महायोगी ने योग के लक्षण युक्त उस (देवहूति) में कितने प्रकार (बार) निश्चय से वीर्य का आधान किया। यह कहिये, मैं श्रवण करना चाहता हूँ अतः मुझे बताईये ।।४।।

सुबोधिनी—तस्यामिति। तस्य महायोगित्वात्, बीजावापो योगप्रतिबन्धक इति, तादृशस्यापि बह्वपत्यजनकत्वमाश्चर्यमिति प्रश्नः। साऽपि योगलक्षणैर्युक्ता। द्वात्रिंशल्लक्षणयुक्तो योगस्याऽधिष्ठानं भवतीति कर्दमस्य तु सिद्धो योगः। तस्यास्तु लक्षणानि सन्ति, योगस्त्वग्रे सेत्स्यति। अत उभयोरपि सृष्टिविरुद्धत्वात् प्रश्नः। महायोगित्वाच्च सर्गेऽपि न काचित् क्षतिरिति। वै निश्चयेन। तस्यां कतिधा वीर्यं ससर्जेति सङ्ख्यायां प्रकारविशेषे च प्रश्नः। उत्तरे हेतुः–शुश्रूषव इति। श्रोतुमिच्छवे। वदेति प्रार्थना। ।। ४ ।।

व्याख्या–वह महान् योगी है, अतः उसके लिये वीर्य आधान करना योग में प्रतिबन्ध करने वाला होगा, ऐसे को बहुत सन्तति होना आश्चर्यजनक है। यों प्रश्न है, फिर वह (देवहूति) भी योग के लक्षणों वाली है। जिसमें ३२ लक्षण होते हैं। वह ही योग के रहने का स्थान होता है। कर्दम को तो योग सिद्ध था। उसमें केवल योग के लक्षण थे योग तो आगे सिद्ध होगा, अतः दोनों सृष्टि होने के योग नहीं है। इसलिये प्रश्न किया है, महा योगी होने से सृष्टि होने पर भी निश्चय से कोई हानि नही हैं। उसमें कितने प्रकार (बार) वीर्य का आधान किया यह प्रश्न है, कृपया उत्तर दीजिये कारण कि मैं सुनना चाहता हूँ ।। ४ ।।

आभास–अवशिष्टयोरपि वंशप्रश्नमाह—

आभासार्थ—इस श्लोक से शेष दो कन्याओं के वंश सम्बन्धी प्रश्न करते हैं।

श्लोक–रुचिर्यो भगवान् ब्रह्मन् ! दक्षो वा ब्राह्मणः सुतः ।
यथा ससर्ज भूतानि लब्ध्वा भार्यां च मानवीम् ।।५।।

श्लोकार्थ–हे ब्रह्मन् ! इस तरह ब्रह्मा के पुत्र भगवान् रुचि तथा दक्ष प्रजापति ने मनु की कन्याओं से विवाह कर जिस प्रकार सन्तान उत्पन्न की, वह प्रकार भी बताईये ।।५।।

सुबोधिनी— रुचिरिति। रुचिर्ज्ञानपूर्णं इति पूर्वकल्पेषूर्वरितः। ब्रह्मन्निति सर्वथा सर्वार्थ-परिज्ञाने दक्षस्तृतीयायाः। भूतानीति कन्यासु नानाविधोत्पत्तिः सूचिता। मानवीमिति मनोः पुत्रीं भार्यात्वेन लब्ध्वा, चकारात् ब्रह्मण आज्ञाम्॥ ५॥

व्याख्या - रुचि ज्ञान पूर्ण होने से पूर्व कल्पों से जीवित था, मैत्रेयजी को ब्रह्मन् संबोधन देकर यह सूचित किया है कि वे सब जानते हैं, दक्ष तीसरी कन्या का पति था। 'भूतानि' बहुवचन से कन्याएँ अनेक प्रकार की उत्पन्न हुई बताई है, 'मानवी' मनु की कन्या प्राप्त कर जिस प्रकार सन्तान उत्पन्न की वह कहिये॥ ५॥

सुबोधिनी-सर्गे कर्दमस्यैवोपयोगात् देवहूत्याः | सकाशात्[1] सृष्टिमाह चतुर्भिरध्यायैः

व्याख्या—इन कारिकाओं से बताते हैं कि सर्ग में कदम के ही उपयोग से देवहूति द्वारा उत्पन्न सृष्टि चार अध्याया में कही है।

कारिका - साधनं च विवाहश्च सृष्टि र्द्वेधा विभेदतः।
विसर्गे सर्ववस्तूनां धर्मादावुपयोगिनाम्॥१॥
निरूपणं हि सर्गे तु सर्वं सर्गार्थमेव हि॥१½॥

कारिकार्थ—उनमें से 'साधन' इस अर्ध कारिका में कहा है कि पहले अध्याय में साधन दूसरे अध्याय में विवाह, तीसरे और चौथे अध्यायों में दो प्रकार की सृष्टि कही है। दो प्रकार के अध्या-यार्थ होते हुए भी जिन वाक्यों का जहां उपयोग होता है, उसको 'विसर्गे' कारिका में स्पष्ट करते हैं कि विसर्ग में धर्म आदि सकल उपयोगी वस्तुओं का धर्मार्थ निरूपण किया है,और सर्ग में तो सर्व ही सर्ग के लिये निरूपण करने में आता हैं॥१½॥

१–मैत्रेयजी के वाक्य का तात्पर्य कहने में 'साधनं च' कारिका कही है। जिसके आधे भाग में चार अध्यायों का अर्थ कहा है, वहां दो प्रकार की सृष्टि में से तीसरे अध्याय में कन्या सृष्टि कही है, और चोथे अध्याय में पुत्र सृष्टि कही है।

दो प्रकार के भी अध्यायर्थ कहते हुवे जिन वाक्यों के अर्थों का जहाँ उपयोग हो उसको वहाँ करना चाहिये वह 'विसर्ग' इत्यादि हैं। 'तु' पद शङ्का के निरास करने के लिये है, इस कारण से समस्त वस्तुओं का सर्ग में निरूपण किया है अतः निश्चय से सर्व सर्ग के लिये ही है, उसमें युक्ति यह है कि प्रकरण ही इसका हैं इसको दूसरे 'हि' शब्द से कहा है, मैत्रेजी के वाक्य का विचार करने पर सर्व विसर्ग के लिये ही है, विदुरजी के प्रश्न से उसका अवान्तर प्रकरण का प्रकरण होने से उपयोगी पदार्थों का निरूपण धर्म आदि के लिये है। यों विभाग में समझ लेना, उसके हेतु का स्वरूप 'न केवलं' पद से कहते हैं कि भगवान् केवल तप से प्रसन्न नही होते हैं। 'प्रकाश'

मैत्रेय उवाच । श्लोक–प्रजाः सृजेति भगवान्कर्दमो ब्रह्मणोदितः ।
सरस्वत्यां तपस्तेपे सहस्राणि समा दश ।।६।।

श्लोकार्थ-मैत्रेय जी ने कहा कि ब्रह्मा ने जब कर्दमजी को कहा कि 'प्रजा उत्पन्न करो' तब भगवान् कर्दमजी ने दश हजार वर्ष सरस्वती (नदी) के किनारे पर तपस्या की ।।६।।

सुबोधिनी – ब्रह्मा भगवद्रूपः, कर्दमोऽपि भगवद्रूपः, अतः स्वकर्तव्यसृष्टौ कर्दममेव प्रेरितवान्, स्वतुल्यत्वात् । सृष्ट्युपयोगिनी हि ब्रह्मदवत्या सरस्वती; तस्याः तीरे दशवर्षसहस्राणि दिव्यानि तपस्तेपे । एतावता चतुर्युगानामावृत्तिर्जाता । स्वतन्त्रब्रह्मसृष्ट्यर्थमपि सहस्रवर्षमात्रं तपः, इदं तु ततोऽप्यधिकमिति तत्र हेतुं वक्ष्यति ।। ६ ।।

व्याख्या— ब्रह्मा तथा कर्दम दोनों भगवद्रूप थे अतः अपनी सृष्टि की उत्पत्ति के लिये कर्दम को ही प्रेरणा की, क्योंकि वह अपने समान था, ब्रह्मा जिसका देव हैं, अर्थात् ब्रह्मा देव वाली सरस्वती सृष्टि के कार्य में उपयोग वाली है, अतः उसके किनारे पर सृष्टि की उत्पत्ति करने के लिये 'दिव्य' दस हजार वर्ष पर्यन्त तपस्या की इतने समय में चार युगों की आवृत्ति हो गई स्वतन्त्र ब्रह्मा की सृष्टि के लिये भी केवल एक हजार वर्ष तपस्या हुई यह तो उससे भी अधिक हुई, जिसका कारण कहेंगे ।।६।।

आभास–न केवलं तपसा भगवान् परितुष्यति, किन्तु भक्त्येति भगवद्भजनमाह–

आभासार्थ—भगवान् केवल तपस्या से प्रसन्न नहीं होते हैं किन्तु भक्ति से प्रसन्न होते हैं। जो निम्न श्लोकों में भगवद्भजन कहते हैं।

श्लोक--ततः समाधियुक्तेन क्रियायोगेन कर्दमः ।
संप्रपेदे हरिं भक्त्या प्रपन्नवरदाशुषम् ।।७।।

श्लोकार्थ--अनन्तर समाधि से युक्त क्रिया योग से पूजनादि से एवं भक्ति से कर्दम ने शरणागतों को वर देने वाले हरि को प्राप्त किया ।।६।।

सुबोधिनी—ततः समाधियुक्तेनेति । समाधौ भगवानाविर्भावितः । तत्र क्रियायोगः परिचर्या । अतः समाधिना युक्तेन क्रियायोगेनेत्युक्तम् । एवं परिचर्यया सम्यक् प्रपेदे । ततो भजनक्लेशनिवृत्तिर्भजनीयगुणात् । तदाह-हरिमिति । तत प्रेमभक्तिः । तथापि संप्रपेदे । भगवान् वा तया कृत्वा प्रपन्नानां वरदाता जातः । दाशुषं दातारम् ।। ७ ।।

व्याख्या-समाधि से भगवान् को प्रकट कराये वहाँ क्रिया योग करना अर्थात् परिचर्या (सेवा) इसलिये कहा है। कि समाधि से युक्त क्रिया योग से इसी तरह परिचर्या से प्रभु को सम्यक् प्रकार से प्राप्त किया भजन करने के योग्य भगवान् के गुणों से भजन के क्लेशकी निवृत्ति हुई, वह बताते हैं 'हरि' प्रेम भक्ति से हरि को पाय', अथवा इस प्रेम भक्ति से भगवान् शरणागतों को वर देने वाले हुये ॥७॥

आभास--ततो भगवत्साक्षात्कारो जात इत्याह--

आभासार्थ—बाद में भगवान् के साक्षात् दर्शन हुवे, यों इस श्लोक में कहते हैं

श्लोक—तावत्प्रसन्नो भगवान्पुष्कराक्षः कृते युगे ।
दर्शयामास तं क्षत्तः ! शाब्दं ब्रह्म दधद्वपुः ॥८॥

श्लोकार्थ--हे संयमी ! (विदुरजो) तब सत्ययुग में उनकी तपस्या भक्ति से प्रसन्न हुये भगवान् ने उन्हे अपने शब्द ब्रह्ममय स्वरूप से मूर्तिमान् होकर दर्शन कराये ॥८॥

सुबोधिनी—तावदिति। तावता कालेन प्रसन्नः। प्रेम्णा वा प्रपन्नवरदातारं यावत् सेवते, मनःपूर्णा सेवा यावन्न जाता; तन्मध्य एव भगवान् प्रसन्नो जात इत्यर्थः। विलम्बे कारणं कृतेयुग इति। स हि सत्ययुगे तपः कर्तुमुपविष्टः। सत्ये तपसा शुद्धान्तःकरणो जातः, ततस्त्रेतायां योगसिद्धो जातः; तपस्त्वनुवर्तत एव सर्वत्र। ततो भगवदाविर्भावः। ततो द्वापरे परिचर्या, ततः प्रेम कलौ। तत्र चेदाविर्भावं प्राप्नुयात्, ततः कलावुत्पन्ना सृष्टिरसज्जना स्यात्। अतो जातेऽपि स्नेहे प्रपन्नानां वरदातेति तदनाशार्थं कृतयुगे प्रादुर्भूतो जातः। तत्र तु न विलम्ब इति द्योतितम्। तावदिति। पुष्कराक्ष इति दृष्टचैवाऽऽप्यायनजनकः। शब्दब्रह्मणा वेदेन निष्पादितं छन्दोमयम्, वेदपुरुषो भगवान्, तादृग्रूपं गृहीत्वा आविर्भूतः, तं दर्शयामास। क्षत्तरिति संबोधनमन्तः पुरात् बहुप्रकारेण प्रभुराविर्भवतीति भगवतो रूपविशेषे सन्देहाभावायोक्तम्। यद्यपि तदतीन्द्रियमेव, तथापि भगवानेव दर्शयामास। न हि भगवतोऽशक्यं किञ्चित्, स्वरूपमेव बहिरनेकधा कृतवतः ॥ ८ ॥

व्याख्या—इतने समय में भगवान् प्रसन्न हुये अथवा जब शरणागतों को वर देने वाले हरि की प्रेम से सेवा आरम्भ की (किन्तु) जब तक मन को संतोष हो इतनी सेवा भी नहीं हुई तो भी मध्य में ही भगवान् प्रसन्न हो गये, सेवा के सन्तोष होने में विलम्ब का कारण 'कृतयुग' शब्द से कहा है। कारण कि सतयुग में ही तपस्या करने के लिये बैठा, सतयुग में तपस्या करने से अन्तःकरण शुद्ध हुआ, अनन्तर त्रेता में योग की सिद्धि हुई तप तो सब में होता ही रहता था, बाद में भगवान्

का आविर्भाव हुआ पश्चात् द्वापर में परिचर्या (पूजा सेवा) की, अनन्तर कलियुग में प्रेम उत्पन्न हुआ, यदि कलि में प्रभु का आविर्भाव होवे तो उससे कलिमें उत्पन्न सृष्टि उद्धत हो जावे, इसलिए भगवान् स्वयं रूप से प्रकट न होकर उनने प्रेम उत्पन्न किया. यों होते हुए भी भगवान् शरणागतों को वरदान देने वाले हुये तो कर्दम को दिये हुए वर का नाश न हो इसलिये कृतयुग में ही प्रकट हो गये, वहाँ विलम्ब नहीं की यों प्रकाशित कर दिखाया 'पुष्कराक्ष' नाम से यह सूचित किया है कि आप (हरि) दृष्टि से ही अनुग्रह करने वाले हैं, अर्थात् दृष्टि से ही अनुग्रह करते हैं, वेद से ग्रहण किया हुआ छन्दोमय शरीर वेद पुरुष भगवान् हैं, वैसा स्वरूप धारण कर प्रकट हो दर्शन दिये, भगवान् के इस तरह के रूप में सदेह न रहे इसलिये 'हे क्षत्तः' सबोधन विदुर जी को दिया है, अन्तः पुर से बहुत प्रकार से प्रभु प्रकट होते हैं, इससे भगवान् के इस रूप विशेष में विदुर को संदेह नहीं होगा, यह इस सबोधन से सिद्ध किया है, यद्यपि वह स्वरूप इन्द्रियातीत अर्थात् इन्द्रियों से देखने में नहीं आता है, तो भी भगवान् ने स्वेच्छा से ही दर्शन दिया है, भगवान् के लिये कुछ भी करना अशक्य नहीं है, स्वरूप को ही बाहर अनेक प्रकार का किया ।।८।।

आभास—एवं दृष्टं भगवद्रूपमनुवर्णयति त्रिभि—

आभासार्थ—इस तरह देखे हुए भगवत् स्वरूप का निम्न श्लोकों में वर्णन करते हैं—

श्लोक—स तं विरजमर्काभं सितपद्मोत्पलस्रजम् ।
स्निग्धनीलाल कव्रातवक्त्राब्जं विरजाम्बरम् ।।९।।

१- 'संतं' इस श्लोक से भगवान् के १४ विशेषणों का 'सृष्ट्यर्थं' कारिकाओं से तात्पर्य कहते हैं । आद्यो कारिका से समुदाय की संख्या कहकर आगे विभाग कर वर्णन करते हैं, उस कर्दम से सगुण और निर्गुण भेद से तथा स्त्री पुरुष भेद से दो प्रकार की सृष्टि कही हुई हैं । इस कारण से दो श्लोकों से वर्णन है तो फिर पाँच प्रकार की कही है, प्रत्येक में पाँच पाँच विशेषण दिये हैं पुरुष के एकत्व में बीज कहते हैं, कि 'एक एव प्रमानुयतः' क्यों कि यहाँ एक ही पुरुष है सांख्यान्तर की तरह बहुत नहीं है, तीसरी कारिका में कहे, हुए विशेषणों की संख्या का तात्पर्य कहते हैं, 'सर्गेच' इत्यादि अर्थात्, सर्ग में पुरुषार्थो में दोष निवृत्ति स्वयं होती हैं सत्पुरुषों का हित करने वाली आद्या (स्त्री) सृष्टि समान सृष्टि करने वाली हुई है यों जाना जाता हैं, इसलिये संख्या से और सृष्टि प्रकार से सांख्यान्तर से इसमें विलक्षणता है यह हृदय (भावार्थ) है 'विशेषण द्वयं इति' यहाँ स्निग्ध शब्द से एवं समुदाय शक्ति से तानों रूपों में ऐहिक सुख कहा जाता है, 'नील' शब्द से निकृष्ट इला का (पृथ्वी) जिससे उत्पन्न हुई, इस योग से आमुष्मिक यह है, यों कहा जाता है, यों भाव समझाने के लिये ये दो विशेषण दिये हैं । 'प्रकाश'

श्लोकार्थ—भगवान् का यह स्वरूप सूर्य के समान रज रहित कान्तिवाला था इनके गले में श्वेत कमल और कुमुद के फूलों की माला पड़ी थी, श्याम तथा चिकनी अलकावली से मुख कमल आवृत था, श्वेत वस्त्रों से सुशोभित थे। (ऐसे प्रभु को देख दण्डवत् प्रणाम किया) ॥९॥

सुबोधिनी- स तमिति। स्वरूपाभरणोपकल्पैः प्रथमं स्वरूपमनुवर्णयति। स कर्दमः, तं प्रसिद्धम्, दृष्ट्वा जातहर्षः सन् मूर्ध्नाऽपतदिति संबन्धः। ॥ २½ ॥

व्याख्या—पहले स्वरूप तथा आभरणों के विशेषणों सहित रूप का वर्णन करते हैं। 'सः' उस कर्दम ने 'तं' उन प्रसिद्ध प्रभु को देख कर हर्षित होने से दंडवत् प्रणाम किया।

कारिका–सृष्ट्यर्थं पुरुषार्थार्थं चतुर्दशविधो हरिः।
सृष्टिश्च द्विविधा तस्मादतो द्वाभ्यां तु पञ्चधा ॥१॥

कारिकार्थ—हरि सृष्टि के लिये दस और पुरुषसार्थ के वास्ते चार यों मिलाकर चौदह हुवे; उस (कर्दम) से सृष्टि दो प्रकार की (स्त्री और पुरुष भेद से एवं सगुण तथा निर्गुण भेद से) हुई है; इससे दो श्लोकों से पाँच पाँच प्रकार (विशेषण) कहे हैं ॥१॥

कारिका—दशापत्यानि तस्माद्धि एक एव पुमान् यतः।
सर्गे च दोषव्यावृत्तिः पुरुषार्थेषु च स्वयम् ॥२॥
शुक्लो हरिः प्रादुरासीदाद्या नव हिताः सताम् ॥२½॥

कारिकाथ—दस सन्तान जिसमें से एक पुत्र हुआ, अन्य प्रकार के सांख्य में पुरुष बहुत होते हैं, सृष्टि में दोष मिटाने के लिये और पुरुषार्थ में दोष दूर करने के लिये तेजस्वी हरि स्वयं प्रकट हुये हैं पहले उत्पन्न सन्तान नव है नौ कन्याएँ सत्पुरुषों का हित करने वाली हैं, अर्थात् समान सृष्टि करने वाली थी, अतः संख्या से एवं सृष्टि प्रकार से अन्य सांख्यों से भेद दिखाया है ॥२½॥

सुबोधिनी—प्रथमतो दोषाभावमाह-विरजमिति। रजोगुणो, रागः, कालुष्यं च नाऽस्तीत्यर्थः। अज्ञानान्धकारजडत्वव्यावृत्त्यर्थमाह-अर्काभमिति। अर्को हि देवतामण्डलं नारायणश्च। अर्कस्येवाभा यस्य। सितानि पद्मानि, उत्पलानि च तेषां स्रक् यस्य। अहोरात्रविकासयुक्तगणसमूहवान् भगवानुक्तः। स्निग्धा नीला ये अलकव्रातास्तैरावृत वक्त्राब्जं यस्य। अनेन भक्तिः सर्वसुखसहिता तस्मिन् प्रकाशिता। सुखं चैहिकामुष्मिकमित्यलके विशेषणद्वयम्। विरजं शुक्लमम्बरं यस्य, शुद्धा एव वेदभागास्तेन गृहीता इति। अनेन पूर्णा ज्ञानशक्तिरुक्ता। एवमनेन दोषाभावो गुणाश्च त्रिविधा उक्ताः ॥ ९ ॥

व्याख्या— पहले 'विरजं' विशेषण से सूचित करते हैं, इस स्वरूप में कोई दोष नहीं, अर्थात् रजोगुण, राग (मोह-आसक्ति आदि) एवं कलुषता नहीं है, 'अर्काभ' विशेषण से बताते हैं कि अज्ञान रूपी अन्धकार तथा मूर्खता भी इसमें नहीं है, अर्क का तात्पर्य है देवतामण्डल और

नारायण, जिस स्वरूप की सूर्य के समान कान्ति है, जिन के श्वेत कमल और कुमुदों की माला है, जिससे सूचन किया कि दिन रात विकास वाले प्रभु हैं, चिकने और नील अलकावली से जिनका मुख कमल आवृत सा शोभा दे रहा है। इससे यह जताया है, कि इस स्वरूप में सकल सुख के साथ भक्ति प्रकाशित है, 'अलकैं' के दो विशेषणों से यह प्रकट किया है, कि इस लोक और परलोक के सुख इनसे प्राप्त हैं, सफेद वस्त्र धारण करने से यह बताया है, कि शुद्ध वेद के भाग उनने ग्रहण किये है, इससे यह सूचित किया है कि इनमें पूर्ण ज्ञान शक्ति विद्यमान है, इस प्रकार यों कहने से दोषों का अभाव और तीन प्रकार के गुण इसमें (स्वरूप में) है, यह सिद्ध किया है ॥ ९ ॥

आभास— पुनर्द्वितोयेन राजसान् गुणान् दोषाभावं चाऽऽह–

आभासार्थ - फिर इस दूसरे श्लोक से राजस गुणों को और दोषों के अभाव को कहते है—

श्लोक—किरीटिनं कुण्डलिनं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
श्वेतोत्पलक्रीडनकं मन : स्पर्शस्मितेक्षणम् ॥ १० ॥

श्लोकार्थः-(१) किरीट मुकुट वाले(२) कुण्डलों वाले(३) शंखचक्र और(४) गदा धारण करने वाले (५) श्वेत कमल रूप खिलौने वाले, मन का स्पर्श करते हुए स्मित एवं दृष्टि वाले (प्रभु देख दण्डवत् प्रणाम किया) ॥ १० ॥

सुबोधिनी--किरीटिनमिति । किरीटयुक्तं । कुण्डलयुक्तं शङ्खचक्रादियुक्तं च ।

व्याख्या—किरीट मुकुट युक्त कुण्डल और शङ्खचक्र एवं गदायुक्त प्रभु के दर्शन किये ।

कारिका—वेदान्ते परमं वेद्यं प्रमेयबलमीरितम् ॥३।
साङ्ख्ययोगौ प्रमाणं च तत्त्वानां कार्यतो बलम् ।
त्रिविधान्यपि तत्त्वानि प्रोक्तानि त्रिभिरायुधैः ॥४॥

कारिकार्थ—वेदान्त में जानने के योग्य प्रमेय[२] बल उत्तम कहा है, सांख्य और योग प्रमाण कहे हैं तत्वों का बल उनके कार्यों से कहा है तीन आयुधों से तीनों प्रकार के तत्व कहे हैं ॥

❀पहले और पांचवें विशेषण मुकुट वाले और श्वेत कमल रूप खिलौने वाले से दोषाभाव दिखाया है शेष तीन विशेषणों शंख, चक्र, और गदा धारण करने वाले से गुण कहते हैं

१. उत्पल में तो अज्ञान है उसके भ्रमण कराने से अज्ञान दूर किया ।

२. मुकुट से प्रमेय बल कहा हैं.

३ साङ्ख्य और योग दो कुण्डल है, इनमें प्रमाण बल कहा है ।

४ भूमि जल और तेज तत्वों का कार्यरूप गदा शंख और चक्र से तत्वों का बल प्रदर्शित किया है।

सुबोधिनी भूभाववर्तार्णो लीलां कुर्वाणः तद्गतदोषयुक्तो भवेदिति तन्निराकरणार्थं चतुर्थमायुषं पद्ममपि परित्यज्य, श्वेतं यदुत्पलं तदेव क्रीडनकं यस्य, तथा जातः। क्रीडनकमिति वचनात् भ्रामणं लक्ष्यते। कमले च भ्रामिते जगदेव भ्रामितं स्यात्, उत्पले त्वज्ञनम्; अतो लीलाऽप्यज्ञाननाशिकैवेत्युक्तम्। मनः स्पृशति मनोहरं यत् स्मितम्, तत्सहितमीक्षणं यस्य। भगवतो मायासृष्टिश्च मनस्येवाऽल्प किञ्चिद्विकारं जनयति, न तु कायिकादि। अनेनाऽयं पुत्रो योगभक्तिज्ञानानि च नेष्यतीत्यपि[1] सूचितम्।१०।

व्याख्या-पृथ्वी पर प्रकट होकर लीला करने से भगवान् में पृथ्वी के दोष आजायेंगे उसके निराकरण के लिये अपनी चतुर्थ आयुध कमल को छोड़कर श्वेत व उत्पल (रात्रि कमल-कुमुद) को अपना खिलौना बनाकर उसको फिराते हुए अज्ञान का नाश कर रहे हैं कमल फिराने से जगत् भ्रमित होता है, और उत्पल के भ्रमण से अज्ञान भ्रमित (नाश) होता है, अतः लीला भी अज्ञान का नाश करने वाले है मन को ही स्पर्श करने वाला जो मनोहर स्मित(मुसकाना)उसके सहित जिसकी दृष्टि है अर्थात् जब आप भक्तजनों पर दृष्टि डालते हैं तब वह दृष्टि मन्द मुसकान सहित हो मनका मंथन करती है क्योंकि यह स्मित रूप माया सृष्टि का यही कार्य है, इसलिए इससे देह आदि में विकार नहीं होता हैं, इस कारण से यह पुत्र (कपिल) योग भक्ति और ज्ञान प्राप्त करायेंगे यह भी सूचित किया है ॥१०॥

आभास—पुरुषार्थेषु दोषान्निराकुर्वन्नाह—

आभासार्थ-पुरुषार्थों में रहे हुए दोषों का निराकरण करते हुए कहते हैं,-

श्लोक—विन्यस्तचरणाम्भोजमंसदेशे गरुत्मतः।
दृष्ट्वा खेऽवस्थितं वक्षःश्रियं कौस्तुभकन्धरम् ॥११॥

श्लोकार्थ—उनके चरण कमल गरुड़ के कन्धों पर धरे हुऐ थे एवं आपने वक्षःस्थल पर श्री लक्ष्मीजी और कण्ठ में कौस्तुभमणि को धारण किया था, तथा आप आकाश में स्थित थे, (ऐसे प्रभु को दण्डवत् प्रणाम किया) ॥११॥

सुबोधिनी—विन्यस्तेति। धर्मे हि मृत्युः + अमात्मको मृत्युरूपश्च निमित्तभूतश्च कालो बाधको भवतीति तन्निराकरणार्थम्, गुरुत्मति काले चरणकमलं भक्तिमार्गं च विन्यस्य स्थितः। असदेश इति मोक्षपर्यन्तं भक्तिरुक्ता, शिरश्चतुर्थांश इति। खे आकाशे[2] स्थितम्, आकस्मिकोर्थस्तस्य निरूपितः वक्षसि श्रीर्यस्य, कामो यथेच्छं निरूपितः। कौस्तुभो मणिः कन्धरायां यस्य। जीवाः सर्वे स्वोपरि यथासुखं[3] नयनार्थं स्थापिता इति सर्वविधा मुक्तिरुक्ता ॥ ११ ॥

व्याख्या—मृत्यु श्रम[1] रूप है, और उसका निमित्त बना हुआ काल, धर्म में विघ्न करता है, उसके निराकरण के लिये गरुड रूप काल पर अपना भक्ति रूप चरण कमल धर कर स्थित थे 'अंसदेशे' कन्धे पर धरने का तात्पर्य है कि यह काल अब भक्तों को मोक्ष पर्यन्त रुकावट नहीं कर सकेगा 'अंशदेश' शब्द से मोक्ष पर्यन्त तक की भक्ति कही गई है क्योंकि कंधे के ऊपर का शिर शरीर का चौथा भाग है। आप आकाश में स्थित थे, इस स्थिति से यह सूचित किया है कि आपकी प्राप्ति में कोई प्रतिबन्धक नहीं है, वक्ष स्थल पर लक्ष्मी के विराजमान होने से यह बताया है कि अपनी इच्छानुसार कार्य करते हैं कंठ में कौस्तुभ मणि धारण करने का यह भाव है, कि समस्त जीवों को सुख से अपने पास लाने में रुकावट न होवे, यों सर्व प्रकार की मुक्ति कही है ।११।।

श्लोक—जातहर्षोऽपतन्मूर्ध्ना क्षितौ लब्धमनोरथः ।

गीर्भिस्त्वभ्यगृणात्प्रीतिस्वभावात्मा कृताञ्जलिः ।।१२।।

श्लोकार्थ—भगवान् के इस प्रकार के स्वरूप का दर्शन कर कर्दमजी को बहुत हर्ष हुआ, तब अपने सब मनोरथ पूर्ण समझकर आनन्द हृदय से पृथ्वी पर दण्डवत् प्रणाम किया फिर प्रेम पूर्ण वाणी से हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे ।।१२।।

सुबोधिनी—जातहर्ष इति । अत एव जातो हर्षो यस्य । मूर्ध्ना क्षितावपतत्, उपरि स्थितस्य तिष्ठन्नेव चरणं न स्पृष्टवान् । दर्शनाकाङ्क्षी च शिरो न नामयेदिति दोषश्चव्यावर्तितः । समागतो मदर्थमेवेति लब्धो भगवद्रूपो मनोरथो येन । एवं कायिकं मानसिकं च भजनमुक्त्वा वाचनिकं भजनमाह ★ गीर्भिस्त्वभ्यगृणादिति । अभितो गृणनं सर्वसिद्धान्तनिरूपणपूर्वकम् । भगवति प्रीतिः स्वभाव एव यस्य । अतो भक्त्या गृणन न वक्तव्यम्, सर्वकर्मस्वेव भक्तेर्विनियोगात् । तादृश आत्मा यस्य । जीवान्तःकरणस्वभाव एव[2] तादृश इति देहकार्ये दासकार्ये वा स्नेहोऽनवच्छिन्नो निरूपितः । प्रार्थनार्थम्-कृताञ्जलिरिति प्रसृताञ्जलिरुक्तः प्रसादग्रहणार्थम् ।१२।

व्याख्या—इस प्रकार के दर्शन से कर्दमजी को हर्ष उत्पन्न हुआ, जिससे भूमि पर मस्तक से दण्डवत् प्रणाम किया खड़े होकर ही ऊपर स्थित भगवान् के चरण स्पर्श नहीं किये अर्थात् मस्तक चरणों में नहीं रखा कारण कि यों करने से दर्शन नहीं होते हैं अतः दर्शन चाहने वाले को सिर नमाना नहीं चाहिये, यों करने से दोष निवृत्त किया, अर्थात् मस्तक नमाने से भगवदर्शन न

१-'तानि मृत्युः श्रमो भत्वो पये में इस श्रुत्यनुसार मृत्यु श्रम रूप है 'यथेच्छ' कर्दम की इच्छा के अनुरूप है।

२-'गिर्भिः' यहां जीव और अन्तःकरण का स्वभाव बताया है ।

होने का जो दोष लगता, वह अपने को लगने न दिया दण्डवत् प्रणाम करने से प्रणाम भी हो जाय तथा भगवद्दर्शन भी होता रहता है, भगवान् मेरे लिये ही पधारे हैं अतः अपने मनोरथ (भगवद्दर्शन) सिद्ध हुआ जाना इस तरह कार्य किया मानसिक भजन कहकर अब वाचनिक भजन कहते हैं, गिर्भिस्त्वभ्य गृणात् इति सर्व प्रकार से सिद्धान्त जानकर वाणी से स्तुति करने लगे, भगवान् से प्रेम इति करना जिसका जीव तथा अन्तःकरण सहित स्वभाव ही है, इस कारण से यों न कहना भक्ति स्तुति नहीं की उनका तो सफल कर्मों में भक्ति का उपयोग होता रहता है, कारण कि ऐसा ही स्वभाव है, इस प्रकार का जोव तथा स्वभाव होने से देह के कार्य में व दास के कार्य में इसका स्नेह अन्वच्छिन्न ही रहता है, कभी भी टूटता नहीं, प्रार्थना के लिये इस प्रकार अंजली बांधी जैसे हाथों में कुछ लेना हो क्योंकि (इसको कर्दमजी को) भगवत्कृपारूप प्रसाद लेना है ।।१२।।

कारिका—नवधा वर्णयामास सृष्ट्यर्थं गुणभावतः ।
आद्यास्तु रजसा सत्त्वे तमसाऽप्यत्रयोजितम् । १।।

कारिकार्थ--सृष्टि के लिये गुण भाव से (प्रकार से) नो तरह से वर्णन किया है, पहले[1] चार श्लोकों में से तीन श्लोकों में अर्थात् (१३ वें से १५ वें तक) सत्वरज, रजोरज और तमोरज से स्तुति की है, चौथे श्लोक (अर्थात् १६ वें) में सत्वतम से स्तुति की है ।।१।।

कारिका—द्वाभ्यां सत्त्वं रजःसत्वात् त्रिभिरन्तिम ईर्यते ।
सत्त्वमिश्रं रजः पूर्वं तमोमिश्रं तथा परम् ।।२।

कारिकार्थ--दो[2] श्लोकों पाँचवें, छठे श्लोकों (अर्थात् १७ वें और १८ वें) से सत्व-सत्व और रज सत्व के गुणों वाली स्तुति की है, इसके बाद अर्थात् छठे श्लोक अर्थात् १८ वें के बाद तीन श्लोक सातवें, आठवें, नवमे अर्थात् १९ से २१ से शेष गुणों से स्तुति की है, जिसमें अन्तिम श्लोक में रजसत्व गुण वाली स्तुति की है,।।२।।

१-आद्या का तात्पर्य है 'जुष्टं' अर्थात् १३ वें श्लोक से लेकर १६ वें तक चार श्लोक समझने।

२-पहले तीन श्लोकों से सतोरजोगुण, रजो रजो गुण और तमो रजो गुण से सृष्टि कही है, अन्तिम अर्थात् नवम् में रज और सत्व की अवधि तक है, पहले सातवें में सत्व से मिश्र रज से से सृष्टि की है, किन्तु आठवे में तम से मिश्र रजोगुण से सृष्टि हुई है, वैसे उस प्रकार से कहा जाता है, पहले के चारों का अर्थ कहते हैं, 'फल से लेकर दो से, उसमें पहले अर्द्ध से प्रथम का, दूसरे अर्ध से दूसरे का 'दोषज्ञान' दोष जानकर वैसे यहां से लेकर तीसरे अर्द्ध से तीसरे का आगे चौथे का यों जानना चाहिये, 'विचार्य' इति मध्यमपन अपने में विचार कर समझना । 'प्रकाश'

कारिका—फलं तु भगवानेव सर्वोत्कृष्टमिति स्थितिः ।
तं परित्यज्य तस्माद्धि प्राप्यं प्रथममुच्यते ॥३॥

कारिकार्थ—सर्व से उत्कृष्ट (उत्तम) फल तो भगवान् ही हैं, उनको छोड़कर उनसे पहले प्राप्त पदार्थ को कहते है ॥३॥

कारिका—दोषज्ञाने तथा कामे विद्यमाने तु मध्यमः ।
विचार्य भगवान् दातेत्यस्य वै शरणं गतः ॥४॥

कारिकार्थ—अपने दोष के ज्ञान तथा कामना विद्यमान होने से 'कर्दम' मध्यम (अधिकारी) थे, भगवान् कामना की पूर्णता करने वाले दाता हैं, इसलिये विचारकर उनकी शरण में गये ।।४।।

आभास—प्रथमं सत्त्वयुक्तरजोभावेन भगवानेव परमपुरुषार्थ इति निरूपयति—

आभासार्थ—पहले सत्व से मिले हुए रजोभाव से भगवान् ही पुरुषार्थ हैं, यों इस श्लोक में निरूपण करते हैं—

ऋषिरुवाच । श्लोक—जुष्टं बताऽद्याऽखिलसत्त्वराशेः सांसिध्यमक्ष्णोस्तव दर्शनान्नः ।
यद्दर्शनं जन्मभिरीड्य ! सद्भिराशासते योगिनो रूढयोगाः ॥१३॥

श्लोकार्थ—कर्दम ऋषि ने कहा-हे स्तुति करने योग्य प्रभु आप सत्वगुण के भण्डार हैं, योगीजन जब योगस्थ होते हैं, तब आपके जिस स्वरूप के दर्शन की इच्छा करते हैं आज उस स्वरूप के दर्शन पाकर नेत्रों के उत्पन्न होने का फल मिल गया यह प्रसन्नता की बात है ॥१३॥

सुबोधिनी—जुष्टमिति । नोऽक्ष्णोः सांसिद्धयं सम्यक् सिद्धेर्भावः, तव दर्शनादेव जुष्टं सेवितम् । सिद्धिरुत्तमा सर्वफलात्, यतः सर्वाणि फलानि स्वाधीनान्येव भवन्ति । सा च सिरद्धिस्माकं जातेति सर्वप्रकारेण भविष्यतीति ज्ञायते । यतः प्रथममक्ष्णोः सिद्धिर्जाता, अस्माभिर्ज्ञाता; न हि असिद्धा दृष्टिरधोक्षज दृष्टिमर्हति। तेन ज्ञायते, अक्षिभ्यां सांसिद्धयमाधिदैविकी सिद्धिः सेवितेति । अत एव-बतेति हर्षे । अद्येत्यलभ्यलाभोक्तिः । सिद्धयः सर्वाः सत्त्वकार्याः, अखिलानि च सत्त्वानि त्वयि राशीभूतानि । तानि चेत् निकटे दृष्टानि, तदा का सिद्धिरवशिष्येतेत्यभिप्रायेणाऽऽह—अखिलसत्त्वराशेरिति । न इति सर्वानेव सिद्धानात्मत्वेन ज्ञात्वा वदति । एवं दर्शनान्यथानुपपत्त्या चक्षुषोः सिद्धिरुक्ता । इदानीं दर्शनमेव सर्वसिद्धीनां फलमित्याह— यद्दर्शनमिति । ईड्येति संबोधनात नेदं स्तोत्रं क्रियते, किन्तु वस्तुस्वरूपमेव तथेति ज्ञापितम् । भगवतः स्तोत्रं नित्यसिद्धम्, सर्वैरेव क्रियत इति । अतः स्तोत्रस्याश्चर्यत्वाभावात्, न वाक्यानां स्तोत्रपरत्वम् । रूढयोगा अपि, बहुभिः

जन्मभिः, कायव्यूहमपि कृत्वा, देहदेशकालकृत-संदेहव्यावृत्त्यर्थं सद्भिरपि जन्मभिर्यद्दर्शनमाशासते । तेषां सिद्धयः स्वतः, दर्शनं तु दुर्लभमाकाङ्क्षितमेव ॥ १३॥

व्याख्या—हमारे नेत्रों ने अपने होने को आज आपके दर्शन से सफलता प्राप्त कर ली है, सर्वफलों से उत्तम फल सिद्धि है क्योंकि सर्वफल, सिद्धि के आधीन होते हैं, वह सिद्धि हमको प्राप्त हुई है । कहने का सारांश यह है कि सर्वप्रकार से होगी, यों जाना जाता हैं, क्योंकि पहले हमने समझा कि नेत्रों को सिद्धि प्राप्त हुई जिस दृष्टि को सिद्धि प्राप्त नहीं हुई हैं, वह दृष्टि, भगवद्दर्शन नहीं कर सकती है, इससे जाना जाता है, कि दोनों नेत्रों ने आधिदैविकी सिद्धि प्राप्त कर ली है, इस कारण से आज प्रसन्नता है क्योंकि आज जो लाभ हुआ है वह अलभ्य था सब सिद्धियाँ सत्वगुण के कार्य हैं सम्पूर्ण सत्व आप में इकट्ठे हुवे हैं वे जब निकट देखे तब कौनसी सिद्धि बाकी रह सकेगी, इसलिये प्रभु को सम्पूर्ण सत्व का भण्डार कहा हैं, 'नः' बहुवचन से यह सूचित किया है कि समस्त सिद्ध अपने ही हैं, इस प्रकार चक्षुओं को सिद्धि प्राप्त हुए बिना भगवान् के दर्शन दूसरी तरह हो नहीं सकते, अब भगवान् के दर्शन ही सर्वसिद्धियों का फल है, यों 'यद्दर्शन' पदसे कहा हैं, 'ईडयः' इस संबोधन से जताया है कि यह स्तुति नहीं की जाती है, क्योंकि आप तो प्रथम ही स्तुत्य हैं, न केवल इतना ही किन्तु वस्तु स्वरूप ही वैसा है, भगवान् की स्तुति तो नित्य सिद्ध है, कारण कि समस्त नित्य कर रहे हैं, अतः स्तोत्र करना कोई आश्चर्यजनक नहीं है, अतः यह स्तुति परायण नहीं है, रूढ-योग योगी भी बहुत जन्मों से कायव्यूह कर भी देह देश और काल द्वारा होने वाले संदेहो को मिटाने के लिये उत्तम जन्म प्राप्त कर भी जिसके दर्शन की इच्छा करते हैं, उनके लिये सिद्धियाँ स्वतः सिद्ध हो हैं, किन्तु दर्शन है जिससे उसकी आकांक्षएँ करते ही रहते है ॥१३॥

आभास—एवं भगवद्दर्शनं सूचकत्वेन फलत्वेन च निरूप्य दर्शनानन्तरं दर्शनदातुः सकाशात् येऽन्यत्कामयन्ति तान् निन्दति—

आभासार्थ—इस तरह भगवान् के दर्शन, सिद्धि सूचक तथा फल रूप हैं, यों निरूपण कर भगवान् के दर्शन होने के बाद उन दर्शनदाता प्रभु से जो लोक दूसरी कुछ प्राप्त करने की कामना करते हैं, उनको इसी लोक में निन्दते हैं ।

श्लोक—ये मायया ते हतचेतसस्त्वत्पादारविन्दं भवसिन्धुपोतम् ।
उपासते कामलवाय तेषां रासीश ! कामान्निरयेऽपि ये स्युः ॥१४॥

श्लोकार्थ—आपके चरणारविन्द संसार से पार जाने के लिये जहाज है, तो भी जिन की बुद्धि माया से नष्ट हो गई है, वे ही तुच्छ विषय के सुखों के लिये जिनकी

प्राप्ति नरक में भी हो सकती है, उन चरणों की उपासना करते हैं, किन्तु आप परम-दयालु होने से उनको वे भी दे देते हैं ॥१४॥

सुबोधिनी—ये माययेति। ये ते पदारविन्दं कामलवायोपासते, ते मायया हृतचेतसः। बालो हि मायया मोहितो बहुसुवर्णं दत्वा भक्ष्यमुष्टिं गृह्णाति, तद्वदिति। तथा ग्रहणे हेतुः-हृतचेतस इति। पादारविन्दमिति सुसेव्यता। ननु ये भजन्ति, ते हि कार्यार्थमेव; अतो वरप्रार्थनोचितेत्याशङ्क्याऽऽह–भवसिन्धुपोतमिति। सैन्धवे[1] पोतोऽस्ति तत्तीरवासिनां परोत्तरणहेतुः; तदर्थमेव तस्य निर्माणात्, न तु ग्रामवत् भोगार्थे। अतो य पारगमनेच्छव: तैरेवारोढव्यः; न तु ग्रामवत् स्थित्यर्थम्। तथार्थमारोहे कर्णधारः क्रुद्ध्यति। ये पुनस्तत्र कार्यार्थं स्थापिताः, ते भोगं प्राप्नुवन्तोऽपि निरोधेन क्लिष्टयातयामभोगानेव भुञ्जते। ते तु नरकेऽपि भवन्ति, निरोधादीनां विद्यमानत्वात्। अतः पोतारूढो यथाकथञ्चित् पार एव गच्छेत्। न तु ततो विषयभोगं वाञ्छेत् तत्र निरोधस्य सहजस्य विद्यमानत्वात्। (क्षणमात्रं प्राप्नोति) कामलव एव तत्र भोगेन भवति। परमदयालुस्तु भगवान् तदपि प्रयच्छति यथा महता कष्टेन पोतारूढः, तत्र तत्र स्थित-कर्णधारात् भक्ष्यमात्रं प्राप्नोति, महानगराद्यपेक्षया तु तदन्नादिकमपकृष्टमेव; तद्वदित्यर्थः ॥१४॥

व्याख्या—जो आपके चरणारविन्दों की उपासना तुच्छ कामनाओं के लिये करते हैं, उनकी[1] बुद्धि माया ने नष्ट कर दी है, जैसे बुद्धिहीन छोटा बालक सोना देकर चनों की मुठ्ठि ले लेता है, उसी तरह यह भी है, यों ग्रहण करने का कारण बुद्धि का नष्ट हो जाना है, 'चरण कमल' पद से सूचित किया है, कि सेवा सरलता से हो सकती है, जो भी सेवा करते हैं, वे अपने कार्य सिद्धि के लिये ही करते हैं, अतः वर की प्रार्थना करना उचित ही है, यह शङ्का होने पर कहते हैं, कि 'भवसिन्धु-पोत' भगवान् का चरणारविन्द संसार सिन्धु से पार होने के लिये जहाज है, जहाज बड़ी नदी से पार जाने के लिये ही बनाया जाता है, न कि ग्राम की तरह वहां के सुखों को भोगने के लिये अतः जो जहाज में बैठकर भी पार जाना नहीं चाहते हैं उन पर नाविक अप्रसन्न होता है फिर नाव में बैठकर भी पार जाना न चाहकर वहाँ ही यदि भोग भोगते हैं, तो वे बासी भोग भोगते हैं, ऐसे भोग तो नरक में भी मिलते रहते हैं, बन्धन आदि के विद्यमान होने से यों होता है। अतः उचित तो यह है, कि जो नाव में बैठे हों, वे पार ही जाने को इच्छा करें न कि फिर नगर के विषय भोगों को भोगने की इच्छा करें, वहां तो सहज (स्वाभाविक) निरोध मौजूद हैं, किन्तु वह क्षणमात्र प्राप्त होता है वहाँ भोग से काम की नाम मात्र अभिलाषा पूर्ण होती है भगवान् परम

१–'ते' जो माया से अपहृत चित्त वाले है वे 'तत्र' उस जहाज में यों अर्थ है।

प्रकाश

दयालु हैं, अतः वह भी देते है. जैसे महान् कष्ट से बैठे हुवे को नोकावाला केवल पेट भरने के लिये कुछ खाद्य दे देता है, महान् नगर में जो कुछ अन्नादि भक्ष्य मिलता है, उससे यह खाद्य अपकृष्ट (हलका) हो होता है ।।१४।।

आभास—एवं गुणदोषान् ज्ञात्वाऽपि गत्यन्तराभावात्, उद्यतकामस्य प्रतीकाराभावाच्च आत्मार्थमपि भगवन्तमेव प्रार्थयति—

आभासार्थ—यों गुण और दोष जानकर भी दूसरे मार्ग के अभाव से, तथा आरम्भ हुए काम का कोई प्रतिकार (उपाय) न होने से निम्न श्लोक में अपने लिये भी भगवान् को ही प्रार्थना करते हैं:—

श्लोक—तथा स चाऽहं परिवोढुकामः समानशीलां गृहमेधिधेनुम् ।
उपेयिवान्मूलमशेषमूलं दुराशयः कामदुघाङ्घ्रिपस्य ।।१५।।

श्लोकार्थ—वैसा मैं काम कलुषित होने से, अपने समान स्वभाव वाली, गृहस्थी की धेनुरूप (पत्नी) से विवाह करना चाहता हूं अतः कामनाओं को पूर्ण करने वाले आपके चरण कमलों का आश्रय लिया है ।।१५।।

सुबोधिनी— **तथेति** । **स चाऽहमिति** ज्ञात्वाऽपि प्रकटकामः, अत एव परिवोढुकामः । स्वयोगबलेन कामिनीर्निर्माय न भोगकामः, न वा तथोत्पादिता ब्रह्मणः कार्ये प्रयोजका भवेयुः, हीनास्ते । तद्व्यावृत्त्यर्थमाह-**समानशीलामिति** । समानं शील यस्याः । तदा पूर्णमपत्यं भवति । अनेन भगवता सदानन्देनैव सा निर्मिता भवतीति ज्ञापितम् । किञ्च, न केवलं कामार्थी, किन्तु धर्मादयोऽप्यपेक्ष्यन्ते । अतो ये **गृहमेधिनो** गृहस्थितबुद्धयो धर्मार्थकामपराः, तेषां धेनुर्धर्मादिदोग्ध्री । तादृशीं परिवोढुकामस्ते **कामदुघाङ्घ्रिपस्य** मूलमुपेयिवान् । कल्पवृक्षमूले गतः सर्वं प्राप्नोति, यावती शक्तिः कल्पवृक्षे भगवत्स्थापिता, तत्र सिद्धम् । भगवच्चरणारविन्दद्वयं तु ततो विशिष्टमित्याह-**अशेषमूलमिति** । न हि कल्पवृक्षः सर्वस्य मूलम्, न हि देवहूतिं दातुं समर्थो वा भवति । ननु चित्तशुद्धिं प्रार्थय, सपादय वा; किमनयेत्याशङ्क्याऽऽह-**दुराशय इति** । अन्तःकरणशुद्ध्यभावान्न स पक्षः सिद्ध्यति । यथा भवसिन्धुपोतः तथा कल्पवृक्षोऽपि भवान्; अतो भार्यार्थमपि भजनं युक्तमिति भावः ।।१५।।

व्याख्या—वह मैं ऐसा हूँ, जानकर भी अब प्रकट काम वाला हो गया हूँ, इस कारण से विवाह करना चाहता हूँ, अपने योग बल से कामिनियों का निर्माण कर उनसे भोग करना नहीं चाहता हूँ, कारण कि इस तरह उत्पन्न की हुई स्त्रियाँ ब्रह्मा के कार्य में उपयोगी नहीं होगी, क्योंकि वे हीन होती हैं, इनकी मुझे आवश्यकता नहीं है इसलिये कहतेहै, 'समानशीला' मेरे समान जिसका

१—'ते'-अपने लिये योग बल से बनाये हुए पदार्थ (स्त्रिये) यों अर्थ है । प्रकाश

शील हो वैसी पत्नी चाहिये, क्योंकि वैसी पत्नी से ही पूर्ण सन्तति उत्पन्न होती है, यों कहने से यह आशय प्रकट होता है कि, सदानन्द भगवान् ने ही वह स्त्री रची है, किञ्च वह केवल काम की इच्छा वाली हो वैसी नहीं चाहिये किन्तु धर्म आदि पुरुषार्थ भी सिद्ध करने वाली हो उसकी भी अपेक्षा है,

अतः जो गृहस्थ बुद्धि वाले धर्म, अर्थ और काम के परायण हैं, उनको वह धेनुरूप होनी चाहिये जिससे कामादि पुरुषार्थ रूप दूध दुहा जा सके, ऐसी पत्नी से विवाह करने की इच्छा वाला, मैं आपके सर्व काम पूरक चरण कमलों के आश्रय में आया हूँ, कल्पवृक्ष का आश्रय करने वाला उससे इतनी सिद्धि प्राप्त कर सकता है जितनी भगवान् ने उसको दी है, भगवान् के चरण कमल तो उससे उत्तम है, क्योंकि 'अशेष मूलं' सकल सिद्धियों के मूल हैं, कल्पवृक्ष सर्व का मूल नहीं है; अतः वह देवहूति को देने में समर्थ नहीं है, भगवान् को चित्त शुद्धि के लिये प्रार्थना कर अथवा वह प्राप्त कर, इस देवहूति से कौनसा लाभ होगा ? इस शङ्कान पर कहते है, कि 'दुराशय' मेरा अन्तः-करण शुद्ध नहीं है अतः यों नहीं हो सकता है, अर्थात् यह पक्ष सिद्ध नहीं हो सकता हैं, जैसे आप संसार से पार पहुँचाने वाले जहाज हैं, वैसे कल्प वृक्ष भी आप है अतः पत्नी के लिये भी भजन करना उचित है । यों भाव है ।।१५।।

आभास—नन्वन्तःकरणशुद्धिरेव वरात्कथं न प्रार्थ्यते ? किं कामपूरणेनेत्याशङ्क्याऽह

आभासार्थ—वरदान से अन्तःकरण की शुद्धि ही हो यों क्यों नही माँगते काम पूर्ति होने से कौन सा लाभ है ? इस शङ्का के निवारण के लिये यह श्लोक कहते हैं—

श्लोक—प्रजापतेस्ते वचसाऽधीश ! तन्त्या लोकः किलाऽयं कामहतोऽनुबद्धः ।
अहं च लोकानुगतो वहामि बलिं च शुक्लानिमिषाय तुभ्यम् ।।१६।।

श्लोकार्थ—है सर्वेश्वर ! निश्चित अनेक कामनाओं में फँसा हुआ यह लोक आपकी वेदवाणी रूप डोरी में बंधा हुआ है, हे शुक्ल ! उसी का अनुगमन करने वाला मैं भी कालरूप आपको बलि (पूजा) देता हूँ ।।१६।।

सुबोधिनी—प्रजापतेरिति न केवलं कामः किन्तु पितुराज्ञा च । स च वैष्णवस्त्वत्पुत्रः; अतस्तव यः प्रजापतिः, तस्य वचसा । लोकापेक्षया वा स एव भवान्; यथा ग्रामवासिनां ग्रामाधिप ? तैरेव महाराजः । लोकानां ब्रह्मवाक्यमनुल्लङ्घनीयमित्याह-ते वचसा तन्त्या अयं सर्वोऽपि लोकः कामहतोऽनुबद्धः । 'ऋणत्रयमपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्' । जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्वा जायते' इति च । एवंविधानि श्रुतिस्मृतिवाक्यानि सकामपराणि, अत सकामश्चेदन्यथा कुर्यात् पतेदेव । अतो हे अधीश ! अनुल्लङ्घ्यसामर्थ्य, सर्व एव लोकः कामहतोऽनुबद्ध एव । एवं सामा-

न्यतः कामहृतस्य ऋणत्रयापाकरणं कर्तव्यमित्युक्त्वा, स्वस्य लोकत्वाभावेऽपि सकामत्वं लोकानुगतत्वं च वर्तत इत्याह- अहञ्चेति हे शुक्ल ! ते च बलिं वहामि । इदमधिकम्, भक्तोऽहमपि यतः अतस्त्रितयकार्यार्थं मह्यं स्त्री देयेति भावः । शुक्लेति संबोधनान्न संसारकृतः कश्चन क्लेशो भविष्यतीति सूचितम् ।।१६।।

व्याख्या केवल काम के लिये स्त्री प्राप्ति का वर नहीं माँगता हूँ, किन्तु पिता की भो ऐसो आज्ञा है, वह आपका पुत्र वैष्णव है, इससे आपका जो प्रजापति है उसकी वाणी से बँधा है, अथवा लोकों के विचारानुसार वैसे वह आप ही हैं, जैसे ग्रामवासियों के लिये ग्राम का अधिपति ही महाराजा होता है, वैसे आप भी, लोकों को ब्रह्मा के वाक्य उल्लंघन नहीं करने चाहिये इसलिये कहते है, कि 'ते वचसा तन्त्या अयंसर्वोपि लोकः कामहतोऽनुबद्ध' आप की वेद रूप वाणी की डोरी में कामहत यह समग्र लोक बंधा हुआ है, जैसा कि कहा हैं, 'ऋणत्रमपा कृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्' तीन ऋण (देव, ऋषि और पितरों के) उतारने के बाद मन को मोक्ष में लगावे और 'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभि ऋंणैर्वा जायते' उत्पन्न हुआ ब्राह्मण अपने साथ तीन ऋणों को ले आया है, इस प्रकार के 'श्रुति' तथा 'स्मृति' के सकाम मनुष्यों के लिये वाक्य हैं, अतः जो सकाम होते हुए भी यह आज्ञा न मानकर अन्यथा करता है उसका पतन ही होता है ।

हे अधीश ! आपकी सामर्थ्य का उल्लङ्घन कोई नहीं कर सकता हैं अतः समग्रलोक कामाधीन हो बंधा है, इस तरह सामान्य रूप से सकाम को तीन ऋण उतारने ही चाहिये, यों कहकर यद्यपि मुझ में लोकत्व नहीं हैं, फिर भी जो सकाम दीखता है वह लोक का अनुकरण मात्र है, यों कहते हैं कि 'अहञ्चेति हे शुक्ल ते च बलिं वहामि' है प्रभो ! आप सर्वथा शुद्ध हैं, अतः आपके लिये पूजा समर्पण करता हूँ यह मुझ में अधिक है क्योंकि मैं भी भक्त हूँ इस कारण से तीनों कार्यों को सिद्ध करने के लिये मुझे स्त्री देनी चाहिये कहने का वैसा भाव हैं । शुक्ल ! सम्बोधन से यों सूचित किया है, कि संसार सम्बंधी कोई कष्ट न होगा ।।१६।।

आभास---एवं लोकानुसारिणं सकामभक्तमात्मानं निरूप्य, मुख्यभक्तान् निरूपयितुं तेषां धर्ममाह---

आभासार्थ- इस तरह अपने को लोकानुसारी सकामभक्त निरूपण कर मुख्य भक्तो के निरूपण के लिये इस श्लोक में उनका धर्म कहते हैं---

श्लोक--लोकांश्च लोकानुगतान् पशूंश्च हित्वाऽऽश्रितास्ते चरणातपत्रम् :
परस्परं त्वद्‌गुणवादसिन्धुपीयूषनिर्यापितदेहधर्माः ।।१७।।

श्लोकार्थ-जिन्होने लोगों को और लोकानुसरण करने वाले कर्मजड़ पशुओं को त्याग कर आपकी चरण रूप छत्रछाया का आश्रय लिया है, एवं आपस में (परस्पर)

गाये हुऐ गुणगान सिन्धु से उत्पन्न अमृत का पान कर देह धर्मों को शान्त कर दिया है, वे ही आप के भक्त हैं ॥१७॥

सुबोधिनी—लोकांश्चेति मुख्या भगवद्भक्तास्त्रिधर्मा भवन्ति । प्रथमतो लोकान् त्यजन्ति, तदनु ते चरणातपत्रमाश्रिता भवन्ति, निरन्तरं च तादृशैः सह तथा भगवद्गुणगानं कुर्वन्ति । यथा देहादीनामस्मरणं भवति । यद्येतन्मध्ये एकमपि न्यूनं भवेत्, न स वैष्णवो मुख्यः । यथा लोकास्त्यक्तव्याः, एवमेव भगवद्भक्ता अपि लोकानुगताश्चेत् त्यक्तव्या एव । लोकापेक्षयाऽप्येते विशेषतस्त्यक्तव्या इत्यत्र हेतुमाह—**पशूनिति** । अन्धश्चेत् कूपे पतति, युक्तं तत्;¹ चक्षुष्मान् चेत् पतति स महानन्ध इति ज्ञेयम् । त्यक्त्वा पश्चाच्चरणशरणता । आतपत्रग्रहणादिदानीमिव भगवान् यस्य प्रसन्नो भवति, तथा सति शरणागतश्चेत्, समुख्यो भवति । स्वत एव गुणकथने रसाविर्भावो न स्यात्, अभिमानश्च स्यादिति समानाश्चेत्परस्परं वदेयुः । तत्रापि त्वद्गुणानां वादो यत्र; तादृशवाक्समुद्र एव, मथनादिवोद्धृतं यदमृतम, तेन कृत्वा नितरां यापिताश्चेत् क्षुत्पिपासादयः । त एव भगवद्भक्ताः, ये कथामृते पीयमाने देहधर्मरहिता भवन्ति । अमृतं च तदेव यद्देहधर्मनिवर्तकम् । येषां च निवर्तते, त एव त्यक्तलोका भवन्ति, अन्येषां तदपेक्षाया विद्यमानत्वात् । वादस्तद्देवान्तस्तापं दूरीकुर्यात्; यदि चरणच्छायामाश्रितो भवेत् । यस्य च्छायान्तरेण धर्मनिवृत्तिः, अन्नादिना च क्षुन्निवृत्तिः, ते चेल्लोकानुगताः, पतिता एव; तदा उभयभ्रंशात् । अतो लक्षणत्रय—मुक्तम् ॥१७॥

व्याख्या—मुख्य भगवद्भक्तों में तीन धर्म होते हैं. (१) लोक का त्याग करते हैं (२) भगवान् के चरण छत्रछाया के आश्रित होते हैं, (३) सदैव तादृशी भगवद्भक्तों के साथ गुणगान करते रहते है, जिसे देह आदि का स्मरण ही न रहे यदि इन धर्मों में से एक भी धर्म कम हैं तो मुख्य वैष्णव नहीं है, जिसे लोगों का त्याग किया जाता है, यदि भगवद्भक्त लोगों का अनुसरण करने वाले हों तो उनका भी वैसा ही त्याग करना चाहिये, लोगों की अपेक्षा भी ये विशेष प्रकार से त्याग करने योग्य हैं इसमें हेतु कहते हैं, 'पशून्' वे पशुओं जैसे हैं अर्थात् मूर्ख हैं यदि अन्धा कूऐ में गिर जावे वह तो न दीखने से गिरता है, अतः उसका गिरना उचित है, यदि नेत्र होते हुए जो गिरता है, वह महान् अन्धा है, यों जानना चाहिये लोकानुसरण को त्याग कर अनन्तर जो भक्त भगवच्चरण की छत्र छाया की शरण लेता है उस भक्त पर आप की तरह (कपिल के समान) भगवान् प्रसन्न होते हैं, प्रसन्नता होने पर यदि वह भक्त प्रभु की शरण त्यागता नहीं है, तब मुख्य भक्त हो गिना जाता हैं, अकेले आप ही यदि गुणगान किया जाता है तो रसका आविर्भाव नहीं होता हैं, और साथ में अभिमान भी आ जाता हैं, अतः जो समान होवे परस्पर मिलकर गुणों को कहे अर्थात् गुणगान करे, उसमें भी आपके गुणानुवाद जहाँ होता हैं ऐसे गुणवाणी रूप समुद्र से हो मथन की तरह जो अमृत उद्धृत हुआ (निकला) उससे क्षुधा तृष्णा आदि देह धर्म जिन्होंने मिटा दिये हैं

(वे मुख्य भक्त कहे जाते हैं) जो भक्त भगवत् कथा रूप अमृतपान से देह धर्म भूल जाते हैं वे ही भगवद्भक्त है और जो देह धर्म को मिटा देता है, वह ही अमृत है, इसमे जिनका देह धर्म निवृत्त हो जाता हैं, उन्होने ही लोक का त्याग किया है, जिन्होंने देह धर्म से स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं की है, उनको लोक की अपेक्षा रहती है, भगवद्गुणानुवाद तब हो भीतर का ताप मिटाता है, जब भगवच्चरण छाया का आश्रयलिया हुआ हो जो भगवच्चरण छत्रछाया के सिवाय दूसरी छाया से देह धर्म की निवृत्ति करते हैं, और अन्नादि से क्षुधा की निवृत्ति करते हैं, और वे यदि लोकानुयायी होके रहते हैं तो वे गिरे हुवे हो हैं क्योंकि दोनों तरफ से भ्रष्ट हैं अत मुख्य भक्त के तीन लक्षण कहे ।।१७।।

आभास—तथाविधानां फलं वदन् कालादीनामबाधकत्वमाह—

आभासार्थ—वैसे मुख्य भक्तों के फल को कहते हुए इस श्लोक में कहते हैं, कि उनको कालादि बाध नहीं करते हैं—

श्लोक—न तेऽजराक्षभ्रमिरायुरेषाँ त्रयोदशारं त्रिशतं षष्टिपर्वं ।

षण्नेम्यनन्तच्छदि यत्त्रिणाभि करालस्रोतो जगदाच्छिद्य धावत् ।।१८।।

श्लोकार्थ—यह आपका काल चक्र, जरा रहित अक्षर रूप अक्ष पर (धुरी पर) घूमता है, तेरह अरे वाला है तीन सौ साठ दिन इसके जोड़ हैं छ इसको नेमि हैं, इसके अनेक पत्र हैं, तीन नाभि हैं, भयंकर प्रवाहवाला यह संवत्सररूप काल चक्र चराचर जगत् की आयु का छेदन करता हुआ फिर रहा है किन्तु यह चक्र इन भक्तों की आयु का नाश नहीं करता है ।।१८।।

सुबोधिनी - न त इति । ते[२] त्रिणाभी कालचक्रमेषामायुराच्छिद्य धावन्न भवतीति संबन्धः । कालस्य बलिष्ठत्वमनन्यप्रेयत्वं वक्तुं प्रवाहत्वेनोच्यते स्वरूपम्, चक्रं त्वन्यप्रेरणं भवति । चक्रस्येव वा गतिविशेषस्य प्रवाहत्वं विधीयते । कालचक्रं संवत्सरात्मकमविक्रुतेऽक्षोऽक्षररूपे प्रोतं भ्रमति नाशकमिति । समलं त्रयोदशारमुच्यते । त्रयोदशमासा एवाऽराः । सारमेतच्चक्रम्, न तु प्रधियुक्तम् । एकैकस्याऽरस्य त्रिंशत् पर्वाणि भवन्ति । तथा सति त्रिशतं षष्टि च पर्वाणि यस्य । इदमाधिदैविकं चक्रं तुल्यमेव, अन्यथा तस्यैव परिवर्तो न स्यात् । आधिभौतिके हि वृद्धिक्षयौ, अतस्तावत्पर्वत्वं नानुपपन्नम् । षड्ऋतव एव नेमयो यस्य । अरास्तु नाभिं नेमिं प्रविशन्ति, अयं च त्रिणाभिर्भवति । सर्पकुण्डलिकावन्नाभित्रयम्, परं चत्वार एवारा एकस्यां नाभौ प्रविशन्ति । अत एवाऽस्य करालत्वम् । ते च वर्षातपहिमागमा नाभिस्थानीयाः । किञ्च, अनन्तच्छदि च भवति । प्ररोहात्मा चाऽयं संवत्सरः, यतोऽस्य पत्राणि सन्ति, न तु प्राकृतचक्रवत् शुष्ककाष्ठजनितम्, अतो नाऽस्य कदाऽपि क्षयः । करालं चाऽस्य स्रोतः, अत एव जगदाच्छि-

छञ्च धावद्भवति । लोकमध्ये स्थितौ अवर्जनीयतयापि तस्याऽऽयुराच्छिद्येत् । तटच्छायाश्रयणेऽपि कदाचित्पातयेत्, परिवृत्तौ तद्गतानां वैकल्यसम्भवात् । तदपेक्षया तन्निकटगमने पातयेदेव । अपेक्षा च कथया चेद्देहधर्मनिवृत्तिः, तदैव निवर्तते । एवं द्वाभ्यां भक्तिमार्गनिष्कर्षो निरूपितः ॥१८॥

व्याख्या— आपका यह तीन नाभि वाला संवत्सर रूप काल चक्र सबसे बलवान होने पर भी इन मुख्य भक्तों के आयु का ह्रास (नाश) नहीं करता है. उसका स्वरूप प्रवाह रूप है, क्योंकि इसका प्रेरक अन्य कोई नहीं है साधारणतः चक्र का प्रेरक दूसरा होता है. अथवा चक्र के समान विशेष गति को प्रवाह कहा जाता है, यह संवत्सरात्मक काल चक्र अविकारी अक्षर रूप में लगा हुआ घूम रहा है, अर्थात् इसकी अक्षर धुरी है, उस पर फिरता हुआ जगत् का नाश करने वाला होता है, मल मास (अधिक मास) सहित १३ मास इसके अरे हैं यह चक्र अखण्ड है, मध्य में टूटा हुआ नहीं है एक एक अरे के तीस दिन साँधे जोड़) यों होने से तीन सौ साठ दिन संवत्सर के साँधे होते हैं यह आधिदैविक चक्र समान ही रहता है, यदि यों न होता तो फिर न आवे । आधिभौतिक में ही क्षय वृद्धि होती है, इसलिये उस अधिदैविक के ही ३६० दिन साँधे कहे हैं वे अनुचित नहीं है, छ ऋतु ही जिसकी नेमि है, अरे तो नेमि और नाभि में प्रवेश करते हैं, और इसकी सर्प की कुण्डलिका वत् तीन 'नाभि' है, किन्तु चार ही अरे नाभि में प्रविष्ट हो सकते हैं इस कारण ही यह कराल (भयानक) है, अतः वर्षा, गरमी और सरदी की मौसमें इनकी नाभि के स्थान पर हैं और फिर वह अनेक पत्रों वाला हैं, तथा यह संवत्सर अङ्कुर वाला है, जिससे इसमें पत्र होते है, इसलिये यह प्राकृतचक्र के समान सूके काठ से नहीं बना है, इस कारण से इसका कभी भी नाश नहीं होता है, इसका स्रोत (वेग) भयानक है, इस कारण से ही जगत् को ग्रसता हुवा दौड़ता जाता है, जो वे (भक्त) लोक के भीतर रहें तो काल उनकी आयु को हरण कर ले, यदि किनारे पर छाया का आश्रय कर रहें, तो भी काल गिरा दे, गिरने से विकलता उत्पन्न होती है, उसकी अपेक्षा उसके निकट जाने से गिरा देवे, कथा में जब देह धर्म की निवृति हो, तब ही इच्छा पूर्ण होती है, यों इन दो श्लोकों में भक्ति मार्ग का सार कहा हैं ॥१८॥

आभास—तामसभावेन जगत्कर्तृत्वेनोक्त्वा तं च लीलाविग्रहंमत्वा, तेन च वरं प्रार्थयते—एक इति त्रिभिः—

आभासार्थ—यहाँ तामस भाव से भगवान् जगत्कर्ता हैं, यों कहकर वह आकृति लीला से धारण की हैं यों मानकर निम्न ३ श्लोको से उनसे वर माँगते हैं—

श्लोक—एकः स्वयं सन् जगतः सिसृक्षया द्वितीययात्मन्यधियोगमायया ।
सृजस्यदः पासि पुनर्ग्रसिष्यसे यथोर्णनाभिर्भगवान्स्वशक्तिभिः ॥१६॥

श्लोकार्थ—हे प्रभो ! आप स्वयं अकेले ही हैं, जगत् रचने की इच्छा से अपने भीतर उत्पन्न हुई अभिन्न योगमाया से, ज्यों मकड़ी स्वयं ही जाले को फैलाती है, उसकी रक्षा करती है, और अन्त में उसको निगल जाती है. त्यों आप अपनी शक्तियों से जगत् उत्पन्न करते हैं पालते हैं और संहार करते हैं ।।१९।।

सुबोधिनी—**त्वमेक एव स्वयम्** । यदा जगतः सिसृक्षा जाता, तदा तादृशोऽपि **सन् आत्मनि** स्वाधिष्ठाने, अधिका योगमाया निर्मिता । तदा सा द्वितीया करणत्वेन प्राप्ता, सर्वमेव जगददोऽव्यक्तरूपमपि **सृजसि**, **पासि**, पुनश्च **ग्रसिष्यसे** । असहाये करणमात्रापेक्षायां दृष्टान्तः—**यथोर्णनाभिरिति** । तथा करणे सामर्थ्यम्—**भगवानिति** ऊर्णांशाः स्वशक्तयः सत्वादयः ।।१९।।

व्याख्या—आप स्वयं अकेले ही हैं, जहां जगत् के रचने की इच्छा हुई, वैसे होते हुए भी आपने अपने भीतर अधिक योगमाया का आविर्भाव किया हैं, तहाँ वह दूसरी साधन रूप से प्राप्त हुई तब यह समग्र जगत् अव्यक्त (अप्रकट) रूप है, तो भी आप उसको उत्पन्न करते हैं, पालते हैं और फिर निगलेंगे, कोई सहायक नहीं फिर इतना कार्य कैसे हुआ ? केवल साधन की अपेक्षा में दृष्टान्त देते हैं कि जैसे मकड़ी बिना किसी भी अन्य साधन व सहायक स्वयं जाले को प्रकट कर फैलाती है, और अन्त में निगल जाती है वैसे ही आप भी स्वयं अकेले ही ये सब कार्य करते हैं, कारण कि आप अनेक शक्तियों वाले भगवान् हैं, जैसे मकड़ी में उर्णांश (तांते के अंश) अपनी शक्तियां है वैसे प्रभु में सत्वादि शक्तियाँ हैं ।।१९।।

आभास—सर्वकर्तृत्वात् पालकत्वाच्च स्त्रयादिदानेन सृष्टिकारणंनाऽऽश्चर्यम्, तथापि भक्तिमार्गे तथा करणं तस्याऽप्याश्चर्यमित्याह—

आभासार्थ—भगवान् के सर्वकर्ता होने से एवं पालक होने से तथा स्त्री आदि के दान से सृष्टि का कारण होना आश्चर्य नहीं है, तो भी भक्तिमार्ग में वैसे करना उसके लिये भी आश्चर्य करने वाला है, यों इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**नैतद्वताऽधीश ! पदं तवेप्सितं यन्मायया नस्तनुषे भूतसूक्ष्मम् ।**
अनुग्रहायाऽस्त्वयि ! यर्हि मायया लसत्तुलस्या तनुवा विलक्षित ।।२०।।

श्लोकार्थ—हे अधीश ! आप हम भक्तों के लिये जो माया से विषय सुख का विस्तार करते हैं वह खेद है कि आप को भी इच्छित नहीं है । हे प्रभु ! आपने जब माया से प्रकाशित तुलसी की मालाओं से विभूषित देह से दर्शन दिये हैं, तब इससे हमारा जैसे कल्याण हो वैसी कृपा कीजिये अर्थात् गृहस्थ करते हुवे भी इसमें आसक्त न होवें ।।२०।।

सुबोधिनी—नैतदिति । एताद्विवाहादिलक्षणं पदम् तवाभीप्सितं न भवति। बतेति खेदे। यतस्त्वमधीशः अन्यथापि सर्वां सृष्टिं कर्तुं शक्तः भक्तेभ्यश्च, संसारदायकं भूतसूक्ष्ममहङ्कारं, तन्मात्रा वा, यन्नस्तनुषे विस्तारयसि, एतन्न तवेप्सितम् । सहजजगन्निर्माणे भक्तार्थं त्वया विषया न सृष्टा इत्यर्थः । नन्वेवं सत्यन्यार्थं निष्पादिता विषयाः कथं प्रार्थ्यन्ते ? तत्राऽऽह–**अनुग्रहायाऽस्त्वति ।** अन्यार्थं कृता अप्यनुग्रहेणान्यस्मै देयाः, अत एव तद्दानमनुग्रहाया भवतु अयीति संबोधने स्नेहेन । अव्ययं चैतत् नन्वनुग्रहेणाऽपि कथमन्यथाकर्तुं शक्यते ? तत्राऽऽह–**यर्हि मायया कृत्वा लसत्तुलस्या तनुवा भवान् विशेषेण लक्षितः ।** त्वया न भक्तार्थं स्वार्थं वा किञ्चित्सृष्टम्, तत्र परार्थसृष्टेरेव सत्वकार्यैः स्वस्य तनुं सपाद्य, तुलस्याद्याभरणानि च गृहीत्वा, विष्णुरयमिति चेदात्मानं प्रकाशयसि, तदा भक्तमपि यथाभिलषित विषययुक्तं संपादयेत्यर्थः तामसभावत्वेऽप्येवविधैव सृष्टि ॥२०॥

व्याख्या—यह विवाह आदि लक्षणवाली स्थिति आपको इच्छित नहीं हैं, 'बत' पद खेद के अर्थ में दिया है, क्योंकि आप अधीश्वर हैं. आप अन्य प्रकार से भी सृष्टि करने के लिये समर्थ हैं, भक्तों को संसार में पटकने वाला, भूत सूक्ष्म अर्थात् अहंकार अथवा तन्मात्राएँ जिनको हमारे लिये विस्तार हो वह आपको अभीष्ट (पसन्द) नहीं हैं, स्वाभाविक जगत् निर्माण करते हुए आपने विषयों को भक्तों के लिये नहीं बनाया है, यदि यों है, तो दूसरों के लिये बने हुए विषयों को आप क्यों माँगते हैं, इस पर कहता है, कि 'अनुग्रहायाऽस्त्वति' दूसरों के लिये बनायी हुई भी अनुग्रह कर दूसरों को दीजिये, इस कारण से वह दान अनुग्रह के लिये हो, अर्थात् आपके इस प्रकार किये हुए दान से हम पर अनुग्रह होने से हमारा हित ही होगा अयि ! यह संबोधन स्नेह सूचक है, और यह 'अव्यय' भी है, अनुग्रह से अन्यथा कैसे किया जा सकेगा ? इस पर कहते हैं कि जब माया के कारण प्रकाशमान तुलसी युक्त देह से आपने उत्तम प्रकार से दर्शन दिये हैं आपने जो कुछ रचा है, वह दूसरों के लिये रचा है न कि भक्तों के लिये और न अपने लिये रचा है. अतः पदार्थ रचे हुए सत्व के कार्यों से अपनी आकृति (साकार स्वरूप) आविर्भाव कर उसको तुलसी आदि आभरणों से सुशोभित कर 'यह विष्णु' हैं यों यदि अपने को प्रकाशित करते हो तब भक्तों को भी अभिलषित विषयों से युक्त कर, तामस भाव होने पर भी ऐसी ही सृष्टि होती है, अर्थात् दूसरों के लिये रचे सत्व के कार्य से निर्मित होती है ॥२०॥

आभास—एवं स्वाभिलषितं ज्ञापयित्वा तद्दानार्थं नमस्यति—

आभासार्थ—इस प्रकार अपनी इच्छा प्रकट कर उसके दान के लिये इस श्लोक में प्रणाम करते हैं—

श्लोक—तं त्वानुभूत्योपरतक्रियार्थं स्वमाययाऽऽवर्तितलोकतन्त्रम् ।
नमाम्यभीक्ष्णं नमनीयपादसरोजमल्पीयसि कामवर्षम् ॥२१॥

श्लोकार्थ—अनुभूति से जिसका क्रिया के अर्थ मे कोई प्रयोजन नहीं हैं, अर्थात् जो स्वरूप से सर्वदा निष्क्रिय हैं, तो भी अपनी माया से बार बार लोक रचना का व्यवहार कर रहे हैं, अर्थात् जो माया प्रभु के अधीन है, उसको आप प्रभु करण बताकर सृष्टि रच रहे हैं। जिनके चरण कमल नमन करने के योग्य हैं, और जो साधारण को भी इच्छित देते हैं, उन आपको बार बार प्रणाम करता हूँ ।।२१।।

सुबोधिनी—तं त्वेति सर्वप्रकारेणोक्तं त्वां नमामीति संबन्धः। भगवान् हि स्वतोऽनुभूयमानस्वानन्देनैव पूर्णः स्वार्थं कामपि क्रियां न करोति, अतोऽनुभूत्यैव उपरतक्रियार्थो भवति। क्रियायाश्चाऽर्थद्वयम्-दुःखाभावः स्वसुखं[1] चेति। जगत्कारणव्यावृत्तिरपि न तस्य स्वतः, किन्तु माययेत्याह-**स्वमाययेति**। बहुधा आवर्तितं लोकतन्त्रं लोकरचना येन; स्वाधीनया माययैव बहुधा सृष्टिः क्रियत इति। अत एतादृशमभीक्ष्णं नमामि। इदं च नमनं नाऽपूर्वमित्याह-**नमनीयमेव पादसरोजं सर्वेषां यस्येति**। प्रकृतोपयोगाय विशिनष्टि-**अल्पीयसि कामवर्षमिति**। अल्पीयस्यप्यर्थे, पुरुषे वा, यथेष्टं वर्षतीति। मया तु गार्हस्थ्यमात्रं प्रार्थ्यते, अलौकिकं च दास्यसीति भावः ।।२१।।

व्याख्या सकल प्रकारों से वर्णित आपको नमस्कार करता हूँ, यों अन्वय (संबन्ध) है, भगवान् स्वतः अनुभव किये हुए अपने आनन्द से ही पूर्ण हैं अतः अपने लिये कुछ भी क्रिया नहीं करते हैं, जिससे अनुभूति के कारण ही क्रिया करने से उपराम पाये हुवे हैं, क्रिया के दो आशय है, दुःख का अभाव और अपना सुख जगत् बनाने का पसारा भी उनका स्वतः नहीं है, किन्तु माया से यों कहते हैं, 'स्वमायया' अपने अधीन माया द्वारा प्रायः सृष्टि करते हैं इस तरह बार बार लोक रचना का चक्र फिरा रहे हैं, अतः वैसे आप भगवान् को मैं बार बार प्रणाम करता हूँ, यह कोई नवीन विषय नहीं है, क्योंकि जिनके चरण कमल सबके लिये प्रणाम के योग्य हैं, अथवा सब सर्वदा जिनके चरण कमल को नमते आये हैं, प्रकृत (चालू) विषय में उपयोगी हो इसके लिये 'अल्पियसि कामवर्षं' विशेषण दिया है, तुच्छ कार्य के लिये एवं साधारण मनुष्य पर भी यथेष्ट वर्षा करते है, अर्थात् उनका कार्य पूर्ण करते हैं, मैं तो केवल गृहस्थ करने की प्रार्थना करता हूँ, अलौकिक तो आप स्वयं देंगे यह भाव है ।।२१।।

आभास—अद्भुतकर्मा भगवान् प्रार्थिते सति किं कृतवानित्याकाङ्क्षायामाह—

आभासार्थ—प्रार्थना करने पर अद्भुत कर्मा भगवान् ने क्या किया? इस आकांक्षा का उत्तर निम्न श्लोक में देते हैं—

मैत्रेय उवाच श्लोक—इत्यव्यलीकं प्रणुतोऽब्जनाभस्तमाबभाषे वचसाऽमृतेन।
सुपर्णपक्षोपरि रोचमानः प्रेमस्मितोद्वीक्षणविभ्रमद्भ्रूः ।।२२।।

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी ने कहा—भगवान् की भौहें प्रेमयुक्त मुसकान भरी चितवन से चञ्चल हो रही थी, प्रभु गरुड़जी की पांखे (कन्धे) पर सुशोभित हो रहे थे, कर्दमजी ने आपको निष्कपट भाव से जब प्रणाम किया तब कमल नाभ भगवान् अमृतवाणी से कर्दमजी को निम्न प्रकार से कहने लगे ।।२२।।

सुबोधिनी—इत्यव्यलीकमिति । यथाहृदयं कथनादव्यलीकत्वम् । स्वरूपनिरूपणमेतत्[3] । भगवांस्तु प्रकर्षेण नुतः, तपोभक्त्यादिकं त्वग्रे[4] फलिष्यति । इदं तु स्तोत्रं फलमेवेति ज्ञापितम् । अब्जनाभ इति जगत्कर्तृत्वादेव करणमभीष्टमेव । विषयदाने कदाचिन्मृत्युर्भवेदित्याशङ्क्य अमृतेन वचसेत्युक्तम् । तथात्वसिध्यर्थं सुपर्णपक्षोपरि रोचमान एव बभाषे । पक्षपदेन कालपक्षपातोऽपि लक्षितः, येन परित्यागादिसाधनानि च कृतवान् । भगवता सह संवादेऽस्य मायापगतिर्मा भवत्विति स्मितपूर्वं दर्शनम्, संसारभावापत्तिव्यावृत्यर्थं प्रेम च । उद्वीक्षणमुत्कर्षाधायकम् तदर्थं विभ्रमयुक्ता भ्रूर्यस्य । मोक्षे देहपरित्याग उत्कर्षाधायको भवति । एवं सर्वमेव भाव्यर्थं सूचयन् बभाष इत्यर्थः ।।२२।।

व्याख्या—हृदय का स्पष्ट आशय कहने से कर्दमजी की सरलता एवं निष्कपटता प्रकट होती है, यों उसका (कर्दम का) स्वरूप वर्णन किया कर्दमजी ने भगवान् को सप्रेम सादर नमन किया, इनके तप और भक्ति आदि का फल तो आगे प्राप्त होगा अब तो यह स्तुति का ही फल है । 'अब्जनाभ' विशेषण से यह जताया है, कि हम जब जगत्कर्त्ता हैं तब यह करना भी हमको अभीष्ट ही है। विषय-दान से कदाचित् कर्दम की मृत्यु हो जाये ? इस शङ्का का समाधान 'अमृतेन वचसा' कहकर किया है, अर्थात् भगवान् ने अमृत वचन कह के मृत्यु निवारण कर दी है । मृत्यु निवृत्ति की सिद्धि हो तदर्थं आप गरुड़जी के पक्ष (पाखे) कन्धे पर सुशोभित होकर ये वचन कह रहे हैं, 'पक्ष' पद से यह भी लक्षित होता है, कि काल का पक्षपात भी है, जिससे परित्याग आदि के साधन (अमृतत्व) भी किये, यदि भगवान् के साथ संवाद होवें तो इसकी माया नष्ट न हो अतः भगवान् ने स्मित पूर्वक दर्शन दिये, संवाद भाव की प्राप्ति न हो इसलिये प्रेम दृष्टि से देखा, यह देखना उत्कर्ष करने वाला है इसलिये भगवान् की भौहें भ्रमर वत् चञ्चल होकर फिर रही थी, अर्थात् इस (कर्दम) के ऊपर कृपा वृष्टि कर रही थी, इससे मोक्ष में देह का त्याग उत्कर्ष करने वाला होता है, यों यह सर्व ही भगवान् ने भावी अर्थ का सूचन करते हुए कहा ।।२२।।

कारिका—स्वसिद्धान्त कामनायाः पूरणं द्विविधं तथा ।
तव च त्वत्पितुश्चैव मदाज्ञा न्याम एव च ।
एवं कृते त्वहं तुष्टः पुत्रस्ते भविता शुभः ।।१।।

कारिकार्थ—अपना सिद्धान्त और तुम्हारी और तुम्हारे पिता की दोनों ही कामनाओं को पूर्ण करना, तथा सन्यास लेने की मेरी आज्ञा पालन आदि करने का समझ कर प्रसन्न हुआ मैं तुम्हारे यहां पुत्र रूप से प्रकट होऊंगा ।।१।।

आभास—द्वाभ्यां भगवच्छास्त्रसिद्धान्तमाह–

आभासार्थ – निम्न दो श्लोकों से शास्त्र का सिद्धान्त कहते हैं–

श्री भगवानुवाच । श्लोक–विदित्वा तव चैत्यं मे पुरैव समयोजि तत् ।
यदर्थमात्मनियमैस्त्वयैवाऽहं समर्चितः ।।२३।।

श्लोकार्थ–भगवान् ने कहा कि तुम्हारे चित्त का भाव जानकर, जिस लिए तुमने देह को वश में रखकर मेरी पूजा की, वह मैंने पहले से ही तैयार कर रखा था ।।२३।।

कारिका—**भक्तस्य हृदये कामस्तदैव स्याद्यदा पुरा ।**
भगवान् पूरकं कुर्यात्सिद्ध एव हि[1] साधनम् ।।१।।

कारिकार्थ–जब भगवान् की इच्छा भक्त की कामना पूर्ण करने की होती है, तब ही भक्त के हृदय में कामना उत्पन्न होती है, जब कार्य सिद्ध हुआ होता है, तब ही (भगवान् साधन कराते है, ।।१।।

कारिका—**अतो हि सर्वमार्गाणां भगवन्मार्ग उत्तमः ।**
सफलान्येव सर्वाणि साधनान्यत्र सर्वदा ।।२।।

कारिकार्थ--इस कारण से सकल मार्गो में भगवन्मार्ग उत्तम है। क्योंकि इस मार्ग में सब साधन सफल ही होते हैं, अर्थात् साधन निष्फल नहीं होते हैं ।।२।।

सुबोधिनी-तव चैत्यं चित्तभावं विदित्वा, त्वद्याचनात्पूर्वमेव, तन्मया समयोजि । किं त्वया योजितमित्याशङ्क्य भयाभावार्थमाह-यदर्थमिति । यत्कामनार्थमात्मनियमैस्तपस्यादिभिः सह भक्त्या त्वयैवाऽहं समर्चितः । यदि मया तन्न कृतं स्यात् । तदाऽन्तर्यामिप्रेरणया अहमेव त्वया कथमर्चितः स्याम्, अतो मदर्चनायाः सफलत्वाय पुरैव मया कृतम्, सफलैवोत्पद्यतामिति ।।२३।।

व्याख्या—तुम्हारे चित्त का भाव (अभिप्राय) जानकर ही मैंने तुम्हारी याचना के पहले से ही वह तैयार कर रखा था, आपने क्या तैयार कर रखा था ? यदि कर्दम ऐसी शङ्का करे तो उसकी भय निवृत्ति के लिये 'यदर्थ' आदि कहते हैं जिस कामना के लिए तुमने आत्मा (देह) आदि का नियम पालन न कर तपस्यादि के साथ भक्ति से तुमने ही मेरा अर्चन किया, यदि मैं ऐसा न करता अर्थात् कामना पूर्ति करनी है, ऐसी तैयारी न कर रखता तो 'तुम्हें मेरो (अन्तर्यामी की) पूजन के लिए प्रेरणा ही न होती, बिना उस प्रेरणा के तुम मेरा पूजन कैसे कर सकते थे? एवं वह सफल कैसे होती ? अतः मैंने मेरी अर्चना से तुम्हारी कामना (पूजन) सफल हो, इसलिए पहले ही प्रबन्ध (तैयारी) कर रखा था ।।२३।।

आभास—नन्वर्चना पश्चात्कुतो न फलतीत्याशङ्क्याऽऽह–

आभासार्थ—पूजन के अनन्तर क्यों न फल देवे ? इस शङ्का पर निम्न श्लोक कहते हैं-

श्लोक–न वै जातु मृषैव स्यात्प्रजाध्यक्ष ! मदर्हणम् ।
भवद्विधेष्वतितरां मयि संगृभितात्मसु ॥२४॥

श्लोकार्थ—हे प्रजाध्यक्ष ! मेरा पूजन तो किसी का भी निष्फल नहीं होता है, तो फिर जिनका चित्त मुझ में आसक्त होने से प्रसन्न रहता है, वैसे तुम्हारे समान भक्तों का अर्चन कैसे निष्फल होगा ? प्रत्युत उनको अधिक ही फल मिलेगा ॥२४॥

सुबोधिनी—न वा इति । मदर्चनं कदाचिदपि मृषा फलरहितं न स्यात्, कालभेदेनाऽपि मद्भजनस्य न फलाभाव- संबन्धः । भगवच्छास्त्रे अदृष्टादेरभावात्, भगवतो व्यापारस्वाभावात् तदानीं फलानि न भवेयुः, भजनस्य निवृत्तत्वात् । सामग्री पूर्वसिद्धा कामितेति न समकालमपि फलोत्पत्तिः । सर्वेष्वेव पक्षेषु फलस्यैकांशो बाध्यते, यदि पूर्वं न क्रियेत । अतो मद्भजनस्य स्वभाव एव तादृश इति पूर्वमेव फलजननम् । किञ्च, अभक्तेषु मदर्हणमन्यथापि भवेत्, भक्तिविरोधात् । भवद्विधेषु तु अन्यथाभावशङ्का नास्त्येवेत्याह-भवद्विधेष्विति । अतितरां सर्वथा, न केनाप्यंशेनाऽन्यथाभावः । तमेव प्रकारमाह-मयि संगृभितात्मस्विति । मयि सम्यक् गृभितो गृहीत आत्मा येषाम्, तेषु ।२४॥

व्याख्या—मेरा पूजन कभी भी निष्फल नहीं होता है, यदि मेरे भजन में कालभेद से अर्थात् अकाल मुकुल आदि में कभी[1] भी किया जाता है, तो भी भजन का फल मिलता ही है, भगवच्छास्त्रों (भक्ति मार्ग में) अदृष्ट आदि कुछ नहीं है तथा भगवान् में कोई व्यापार (क्रिया) नहीं हैं, भजन करना बन्द किया जावे, तो तब फल भी प्राप्त न होवे, कामना की हुई सामग्री पूर्व सिद्ध है इसलिए समान काल में फल की उत्पत्ति नहीं होती है यदि पहले ही तैयार न की हुई हो तो सर्व पक्षों में फल के एक अंश का बाध हो, अतः मेरे भजन का स्वभाव ही वैसा है इसलिए पहले ही फल तैयार हुआ होता है, जो भक्त नहीं उन्हो में मेरा पूजन (वा पूजन का फल) अन्यथा भी (उलटा भी) हो जाय,क्यों कि भक्ति से विरोध वाला होने से, परन्तु आप जैसों में तो अन्यथा भाव की(उलटा होने की) शङ्का ही नहीं है यों कहते हैं 'भवद्विधेष्वतितराम्' आप जैसे भक्तों में किसी तरह व किसी अंश से भी फल की निष्फलता नहीं हो सकती है, उस प्रकार को कहते हैं 'मयि संगृभितात्मसु' मुझ में आसक्त चित्त होने से उनकी आत्मा सदैव प्रसन्न रहती है अतः उनका भजन आदि व कामना निष्फल नहीं होती है ॥ २४ ॥

---

१ जीव जो कुछ माँगता है उसका (भजन का) फल साधन करने से पहले ही सिद्ध है साधन नाम मात्र है ।

'प्रकाश'

आभास-एवं सिद्धान्तकथनेन सामान्यतस्तस्य कामनां पूरयित्वा विशेषतः पूरयति प्रजापतेरिति चतुर्भि :-

आभासार्थ—इस प्रकार सिद्धान्त के कहने से सामान्य प्रकार से उनकी कामना को पूर्ण कर अब विशेष से प्रकार पूर्ण करते हैं यों 'प्रजापतेः' इन निम्न चार श्लोको से कहते हैं-

श्लोक—प्रजापतेः सुतः सम्राट् मनुर्विख्यातमङ्गलः ।
ब्रह्मावर्तं योऽधिवसन् शास्ति सप्तार्णवां महीम् ॥२५॥

श्लोकार्थ—प्रजापति के पुत्र प्रसिद्ध यश वाले सम्राट् स्वयंभुव मनु ब्रह्मावर्त में रहकर सात समुद्रों वाली पृथ्वी का शासन कर रहे हैं ॥२५॥

कारिका—श्वशुराधिक्यकथनं तत्समागम एव च ।
कन्यादानं ततः कन्यारुचिस्त्वयि च वर्ण्यते ॥१॥

कारिकार्थ—श्वशुर की उत्तमता कहना, उनके साथ मिलाप, कन्या का दान, अनन्तर तुम में कन्या को रुचि और तुम्हारा (कर्दम का) प्रेम कन्या में होना यों क्रमशः वर्णन है-

सुबोधिनी—प्रथमं मनोरुत्कर्षमाह प्रजापतेः ब्रह्मणः सुतः, अनेनोत्तमो वंशो निरूपितः । सम्राडिति राजा, सम्पत्तिरुक्ता । मनुरिति धर्मः । विख्यातमङ्गल इति कीर्तिः । विख्यातं मङ्गलं सदाचारो यस्य । देशस्वधर्मावाह ब्रह्मावर्ते देशे अभितो वसन् सप्तार्णवामेव पृथिवीं शास्ति । 'सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्' । तद्देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते' । इति । इदानीं कुरुक्षेत्रमिति प्रसिद्धम् । एवं मनुः सर्वत उत्कृष्ट उक्तः ॥२५॥

व्याख्या—पहले मनु का उत्कर्ष (बड़ाई) कहते है, प्रजापति ब्रह्मा का पुत्र है इससे जताया है कि मनु का वंश उत्तम है, सम्राट् हैं, इससे सम्पत्ति वाले चक्रवतो राजा हैं यों बताया 'मनु' शब्द से कहा कि धर्मरूप है, जिसका सदाचार प्रसिद्ध है, इससे कीर्ति बताई है, देश तथा स्वधर्म का वर्णन करते हैं, ब्रह्मावर्त्त देश में सर्वत्र स्थिति करते हुए सात समुद्रों वाली पृथ्वी का शासन कर रहे हैं, ब्रह्मावर्त्त देश 'जो प्रदेश सरस्वती तथा दृषद्वती देव नदियों के बीच में हैं, जिसको देवी ने बनाया है उस देश को ब्रह्मावर्त कहते हैं, अब वह प्रदेश कुरुक्षेत्र नाम से प्रख्यात है, इस तरह मनु सर्व से उत्तम है ॥२५॥

आभास—तस्याऽऽगमनमाह स्वयम्[3]—

आभासार्थ—उनका स्वयं आना, श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**स चेह विप्र ! राजर्षिर्महिष्या शतरूपया ।**
आयास्यति दिदृक्षुस्त्वां परश्वो धर्मकोविदः ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे विप्र ! वह धर्मज्ञराजर्षि महाराज शतरूपा महिषी के साथ आप को देखने के लिये परसों आयेंगे ॥२६॥

सुबोधिनी—स चेहेति । न हि भक्ताः स्वयं याचन्ते । विप्रेति संबोधनमागते स्वागतकरणार्थम् । विप्रा हि पश्चिमबुद्धयः, असंमानने अभिमानो दोषो भवेत् तदभावार्थं संबोधनेनोपदेशः राजर्षिरिति योग्यता । भार्याया अपि संमत्यर्थं तया सहाऽऽगमनम् । तस्याः प्रतिबन्धकत्वाभावाय विचक्षणत्वनिरूपणार्थं शतरूपयेत्युक्तम् । विवाहस्याऽज्ञातत्वात् दिदृक्षुरेव त्वामायास्यति । अयं चाऽर्थो नाऽतिदूर इत्याह-परश्व इति । धर्मकोविद इति । 'अभिगम्य स्वयं कन्यामलङ्कृत्य यथाविधि । सद्वराय प्रयच्छेद्यः स कूकुद इति स्मृतः' अतः कन्यादानधर्मं जानातीति ॥२६॥

व्याख्या—भक्त स्वयं कुछ मांगते नहीं हैं । हे विप्र ! यह संबोधन इसलिये दिया है कि आपको आने वाले का स्वागत करना चाहिये वह तो किया ही जाता है फिर कहते क्यों हो ? 'विप्रा हि पश्चिमबुद्धयः' ब्राह्मणों को पीछे की बुद्धि होती है, अर्थात् समय पर स्मरण नहीं आता है, अतः यदि आप सम्मान न करोगे तो आपको दोष लगेगा, अर्थात् आपकी निन्दा होगी कि यह अभिमानी है, वह न हो इसलिये यह उपदेश किया है, 'राजर्षि' पद से उनकी योग्यता प्रकट की गई है, स्त्री को साथ में लाने का कारण यह है कि उसकी भी सम्मति लेनी है, वह रुकावट न करे इसलिए उसकी सम्मति आवश्यक है, 'शतरूपा' नाम से सूचित किया है कि वह 'विलक्षण' अर्थात् चतुर विचारों वाली है विवाह होने हो वाला है उसका मनु को ज्ञान नहीं था तुम्हें देखने के लिए ही आवेगा और यह आपका मनोरथ पूर्ण होना भी बहुत दूर नहीं है, 'परश्व.' परसों ही आयेंगे, और मनु 'धर्म 'कोविद' है, अर्थात् धर्म को पूर्ण रीति से जानता है, स्वयं जाकर कन्या को आभूषण आदि से सुशोभित कर शास्त्र विधि के अनुसार जो श्रेष्ठ वर को कन्या देता हैं, उस को 'कूकुद' नाम से स्मरण किया गया है, अतः यह मनु कन्यादान कैसे किया जाय और किस वर को दी जाय इस कन्यादान धर्म को जानता है ॥२६॥

आभास—आगत्य कन्यां दास्यतीत्याह—

आभासार्थ—आकर कन्यादान करेगा यों इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**आत्मजामसितापाङ्गीं वयःशीलगुणान्विताम् ।**
मृगयन्तीं पतिं दास्यत्यनुरूपाय ते प्रभो ! ॥२७॥

श्लोकार्थ—हे-प्रभो ! श्याम नेत्रों वाली, वय, शील और गुणावली, पति को ढूंढती हुई कन्या को तुमको देंगे क्योंकि तुम ही उसके समान हो ॥२७॥

सुबोधिनी—आत्मजामिति पिता हि कन्यादाने मुख्योऽधिकारी। असितापाङ्गीमिति स्वभावतो नेत्रप्रान्तकार्ष्ण्यं सर्वसल्लक्षणसूचकम्। वयस्तारुण्यम् शीलं पातिव्रत्यम्, गुणाः स्त्रीलक्षणानि। विरक्ताया विवाहानौचित्यात्। पतिमृगयन्तीमिति। त्वमपि तादृश इत्यनुरूपाय ते दास्यति। प्रभो इति संबोधनं स्वसामर्थ्यं तत्र दत्तवानिति ज्ञापनार्थम्। अतः स्त्रीणां यावानपेक्षते भोगपदार्थः स सर्वोऽपि मया दत्तइति बोधितः ॥२७॥

व्याख्या—कन्यादान करने में मुख्य अधिकारी पिता है, स्वभाव से नेत्र प्रान्तों का श्याम होना, कन्या में सर्व लक्षण अच्छे हैं, यों सूचन करता है, 'वय' पद से कन्या युवा है, यों सूचित करते हैं, 'शील' पद से प्रतिव्रत धर्म को जानने वाली है यों बताया है, 'गुणाः' पद से यह सिद्ध किया है कि स्त्रियों के लक्षणों वाली है, यदि कन्या विरक्त हो तो वह विवाह के योग्य नहीं है, वह तो 'पति मृगवन्ती' पति को ढूंढ रही है, अर्थात् मन में पति प्राप्ति की इच्छा कर रही है, तुम भी उसके समान हो, पत्नी चाहते हो, इसलिये उसके अनुरूप होने से तुम्हें ही देगें, प्रभो ! सम्बोधन से यह सूचित किया है, स्त्री को भोगार्थ जिन पदार्थों की जैसी आवश्यकता है, वह आवश्यकता मैंने पूर्ण कर दी है ॥२७॥

आभास—एतदज्ञानेऽपि सा त्वां भजिष्यतीत्याह—

आभासार्थ—इसका ज्ञान न होने पर भी वह तुम्हारी सेवा करेगी यों इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**समाहितं ते हृदयं यत्रेमान्परिवत्सरान्।**
सा त्वां ब्रह्मन्नृपवधूः काममाशु भजिष्यति ॥२८॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! तुम्हारा चित्त जैसी पत्नी का इतने वर्षो चिन्तन कर रहा था (मिलने की इच्छा करता था) वैसी ही वह राजकन्या तुम्हारी पत्नी होकर शीघ्र ही आकर तुम्हारी सेवा करेगी ॥२८॥

सुबोधिनी—समाहितमिति यस्यां देवहूत्यां ते हृदयं सम्यगाहितम् इमान् परिवत्सरानिति दशसहस्रसङ्ख्याकान्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। सा देवहूतिस्त्वां भजिष्यति। ऋषिर्हि राजकन्याया न रोचते तथापि मदिच्छया भजिष्यति। ब्रह्मन्निति निरूपितार्थसंवादार्थम्। नृपवधूर्नृपकन्या। वधूरिव सुरक्षिता, पितृगृहे चाञ्चल्यसम्भवात् तन्निवृत्त्यर्थमुक्तम्। कामं यथासुखम् न त्वतिक्रमेण रतिः प्रीतये भवतीत्युभयोरतिरुक्ता ॥२८॥

व्याख्या—जिस देवहूति में तुम्हारा हृदय सम्यक प्रकार लगा हुआ था, जैसे तुमने इतने वर्ष उसका चिन्तन किया वैसी यह (देवहूति) भी दश सहस्र वर्ष तक तुम्हारी सेवा करेगी,

द्वितिया विभक्ति बहुत संयोग होने में दी जाती है अतः यहाँ द्वितिया विभक्ति दी है, यद्यपि राज कन्या को ऋषि प्रसन्द नहीं आता है, तो भी मेरी इच्छा से वह तुम्हारी सेवा करेगी, हे ब्रह्मन् ! यह संबोधन निरूपित किये हुए विषय की सम्मति के लिये दिया है, 'नृपवधु' का अर्थ यहाँ बहु नहीं है, किन्तु कन्या है, 'वधु' शब्द केवल इसलिये दिया है. कि इसको पितृगृह में जो चंचलता होती है, वह रहने नही दी थी, 'घर में बहुओं के समान विनयादि की शिक्षा दी गई थी कामम्' जैसे सुख आनन्द हो वैसे सेवा करेगी, किन्तु आप की उपेक्षा (परवाह) न कर उच्छृङ्खल नहीं रहेगी, क्योंकि वह प्रेम आनन्द के लिये नहीं होता है, यों दोनों में 'रति' कही है ॥२८॥

श्लोक—या त आत्मभृतं वीर्यं नवधा प्रसविष्यति ।
वीर्ये त्वदीये ऋषय आधास्यत्यञ्जसाऽऽत्मनः ॥२९॥

श्लोकार्थ—जो (देवहूति) अपने भीतर धारण किये हुए आपके वीर्य को नवनौ प्रकार प्रकट करेगी ऋषि लोग उस संतति में सरलता से पुत्र उत्पन्न करेंगे ॥२९॥

सुबोधिनी—या त इति ततस्त्वया सर्वभावेन सा भोक्तव्या । भिन्नभिन्नभावेन स्थापितान्यपि बीजानि स्वसामर्थ्यादेकधा एकभावापन्नमात्मनि भृतं नवधा प्रसविष्यति । ता नवापि कन्या एवं भविष्यति । ततस्त्वदीये वीर्ये कन्यन्सु, मरीच्यादय ऋषयः, आत्मनः पुत्रान् आधास्यन्ति । अतस्तेभ्यो देया इति भावः ॥२९॥

व्याख्या—पश्चात् सर्व प्रकार से उसका भोग करना पृथक् पृथक् भाव से स्थापित किये हुवे बीजों को अपनी समर्थता से एक ही भाव वाले बना के नव प्रकार से उत्पन्न करेंगी वे नो होगी कन्याएँ होगी, अनन्तर तुम्हारे उन वीर्योत्पन्न कन्याओं में मरीचि आदि ऋषि पुत्र उत्पन्न करेंगे अतः उनको ये कन्याएँ देनी, यों भाव है ॥२९॥

आभास—त्वया च ततः संन्यासो ग्राह्य इत्याह—

आभासार्थ—इसके बाद तुम सन्यास ले लेना यों इस श्लोक में कहते है—

श्लोक—त्वं च सम्यगनुष्ठाय निदेशं म उशत्तम !
मयि तीर्थीकृताशेषक्रियार्थो मां प्रपत्स्यसे ॥३०॥

श्लोकार्थ—हे सुन्दर ! तुम तो मेरी आज्ञा का अच्छे प्रकार से पालन कर तीर्थ रूप मुझ में सर्वकम और उनके फल अर्पण कर मुझे ही पाओगे ॥३०॥

सुबोधिनी—त्वं चेति। न तु यावज्जीव श्रुत्यनुरोधेन गार्हस्थ्येनैव स्थातव्यमिति भावः। ममाज्ञा पूर्वोक्तैव। **त्वं चेति।** चकारस्त्वर्थे। सापि प्रपत्स्यत इति ज्ञापितम्। **निदेशमाज्ञाम्, सम्यगुक्तप्रकारेणाऽनुष्ठाय मां प्रपत्स्यस** इति संबन्धः। **उशत्तमेति** संबोधनं मत्प्रवेशयोग्यतार्थम्। ननु कर्मणां विद्यमानत्वात् कथं भगवति प्रवेशः? तत्राऽऽह–**मयीति। तीर्थीकृताः**–स्तीर्थे समर्पिता **अशेषक्रियार्थाः** येन, तादृशो मां प्रपत्स्यस इत्यर्थः। ३०॥

Blank page, please ignore

व्याख्या—इस श्लोक के कहने का भावार्थ व सारांश यह है कि सत्पुरुष को जीवन पर्यन्त गृहस्थ में ही श्रुति के अनुरोध से स्थिति नहीं करनी चाहिये, मेरी आज्ञा तो पहले कही हुई है, कि तुम मुझे प्राप्त करोगे 'च' पद का अर्थ 'तु' अर्थात् 'तो' है, वह देवहूति भी मुझे प्राप्त करेगी यों जताया है. मेरी आज्ञा पूर्ण रीति से पालन करने से मुझे प्राप्त होवेगे यों सम्बंध है, उशत्तम ! संबोधन से सूचित किया है कि तुम मुझ में प्रविष्ट होने के योग्य हो, कर्मों के होते हुए भगवान् में प्रवेश कैसे होगा ? इस पर कहते हैं कि 'मयितीर्थी'······ मुझ तीर्थरूप में तुमने सकल क्रिया के फल अर्पण कर दिये हैं, अतः तुम को कर्म बन्धन हैही नहीं वैसे तुम मुझे प्राप्त करोगे, यों आशय है ॥३०॥

आभास—ततः पूर्वमभिज्ञापकं तव ज्ञानं भविष्यतीत्याह—

आभासार्थ—मुझ में प्राप्त होने से पहले तुम्हे ब्रह्म ज्ञान होगा, यों इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**कृत्वा दयां च जीवेषु दत्त्वा चाऽभयमात्मवान् ।**
मय्यात्मानं सह जगद्द्रक्ष्यस्यात्मनि चाऽपि माम् ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ—जीवों पर दया करने से और उनको अभय देने से आत्मज्ञानी हो जाओगे जिससे मुझ में अपने साथ समग्र देखोगे और अपनी आत्मा में भी मुझे तथा समग्र जगत् को देखोगे ॥ ३१ ॥

सुबोधिनी—कृत्वेति । **सर्वसाक्षात्कारो** हि तस्याभिज्ञापकम्, ब्रह्मविद एव भगवत्प्राप्तिः । **ज्ञानस्य** च निदर्शनं **'यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितम्'** इति । तस्याऽपि निदर्शनमाह—**जीवेषु दयां कृत्वा अभयं च दत्त्वेति** । स्वयं च ब्रह्मभावमापन्नः अन्ये तु तद्रहिता दीना दयापात्रं भवन्ति । आत्मत्वे स्फुरिते तु अभयदानं च आत्मविदो हि तत् कृत्यम् । तदाह—**आत्मवानिति** । आत्मत्वं नाम मूलचिद्रूपस्य स्वस्मिन्नाविर्भावः । इन्द्रियजयस्तत्र नोपयुज्यत एव, पूर्वमेव सिद्धत्वात् तदा । सर्वाधिष्ठानत्वेन मां पश्यतीत्याह—**मय्यात्मानं सह जगदिति** । भगवति स्वात्मानं जगच्च द्रक्ष्यसि । **आत्मनि**, चकारात् जगति च मां द्रक्ष्यसि । एतावता आधाराधेयभूतो भगवान् ज्ञातः, स्वाधारश्चेति पूर्णब्रह्मज्ञानं तस्योक्तम् ॥३१॥

व्याख्या—सब का साक्षात्कार हो जाय वह ही उसका (ब्रह्म का) ज्ञान है, ब्रह्म को जो जानता है, उसको ही भगवान् की प्राप्ति होती है, 'यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितम् भवति' जिसके जानने से यह सब जानने में आ जाता है, यह ही ज्ञान का स्वरूप है, उनका भी स्वरूप कहते हैं, जीवों पर दयाकर और उनको अभय देकर और स्वयं ब्रह्म भाव को प्राप्त हुए है. दूसरे जो ऐसी

दशा से रहित हैं, वे दीन, दया के पात्र होते हैं, सब आत्मा है, ऐसा भाव हो जाने पर अभयदान देना, आत्मज्ञानी का ही कर्त्तव्य है, वह कहते हैं 'आत्मवान्[1]' अर्थात् आत्मवेत्ता वह है, जिसने मूल चित्स्वरूप को अपने में प्रकट किया है, वहाँ इन्द्रियों के जीतने का उपयोग नहीं क्योंकि वह पहले ही सिद्ध हो गया है, जब यह स्थिति होगी, तब मैं सब का अधिष्ठान हूं मेरे ऐसे स्वरूप का दर्शन करोगे यों बताते हैं, 'मय्यात्मानं सह जगत्' भगवान् में अपनी आत्मा को तथा जगत् को देखोगे और अपने में तथा जगत् में मुझे ही देखोगे, इस प्रकार भगवान् आधार तथा आधेय दोनों हैं, यों जानोगे और अपना आधार इस तरह उसके पूर्ण ब्रह्मज्ञान का वर्णन किया है। ३१॥

आभास—एवं तस्मै आज्ञामुक्त्वा तदङ्गीकारे स्वस्य प्रसादमाह—

आभासार्थ—यों उसको आज्ञा दी उसके स्वीकार करने पर मेरी कृपा होगी, यों इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—सहाऽहं स्वांशकलया त्वद्वीर्येण महामुने !।
तव क्षेत्रे देवहूत्यां प्रणेष्ये तत्त्वसंहिताम् ॥ ३२ ॥

श्लोकार्थ—हे महामुने ! तुम्हारे वीर्य के साथ (मैं) अपने अंश कला सहित तुम्हारी पत्नी देवहूति के गर्भ से अवतार लेकर तत्त्व संहिता रचूँगा ॥ ३२ ॥

सुबोधिनी—सहेति स्वांशकलया सह। अंशा आनन्दरूपाः, भगवतस्त एव स्वांशभूताः। जीवास्त्वंशाः, कला ज्ञानक्रियाशक्तयः। तत्रानन्दांशो ज्ञानकलासहितः। त्वद्वीर्येण सह, तव क्षेत्रे देवहूत्याम्, तत्त्वसंहितां साङ्ख्यसिद्धान्तप्रतिपादिकां प्रकर्षेण नेष्ये कथयिष्यामि वीर्यक्षेत्रसंबन्धं एव, न तु जीववदुत्पत्तिरस्तीति। पुराणे वेदवन्मूलसंहिताश्चतस्रः, साङ्ख्ययोगपशुपतिमतवैष्णवसिद्धान्तप्रतिपादकमन्त्ररूपाः। सर्वाण्येव पुराणानि तस्याऽपेक्षितषडङ्गभूतकालादिप्रतिपादकानि ब्राह्मणस्थानीयानि। तत्र मूलसंहिताः कालेन ग्रस्ता इति तत्राऽऽद्यां प्रकाशयिष्यामीत्यर्थः। स्वस्यांशस्य वीर्यस्य चाऽभेदप्रतिपादनाय प्रथमत एव सहेत्युक्तम्। महामुने इति संबोधनं तथा त्वधिकारज्ञापनाय ॥३२॥

व्याख्या—अपने अंश एवं कला सहित भगवान् के अंश आनन्द रूप हैं, जो आनन्द रूप अंश हैं, वे ही भगवान् के अंश हैं, जीव भगवान् के चिद्रूप के अंश हैं जो, कलाएँ हैं, वे ज्ञान और

---

१ आत्मवान् (आत्मवेत्ता) वह है, जिसने अन्तःकरण जीत लिया है, जब उसमें इन्द्रियें बाधक होती है। वह पहले ही हो गया है, अर्थात् अन्तःकरण जीत लिया गया है। "प्रकाश"

क्रिया की शक्तियाँ है, उसमें आनन्दांश ज्ञान कला सहित हैं, तुम्हारे वीर्य के साथ तुम्हारे क्षेत्र देवहूति में साङ्ख्यः सिद्धान्त को सिद्ध करने वाली तत्व सहिता कहूँगा, यहाँ वीर्य एवं क्षेत्र का केवल सम्बन्ध ही है कि जीव की तरह (जीव के देह के समान) उत्पत्ति नहीं है, पुराणों में वेद की तरह चार संहिताएँ कही हैं, (१) सांख्य (२) योग (३) पशुपत (४) वैष्णव सिद्धान्त के प्रतिपादन करने वाले 'मन्त्ररूप समस्त पुराण, उनके आवश्यक अंगरूप काल आदि के प्रतिपादक ब्राह्मण ग्रन्थों की तरह है, उनमें से मूल संहिताएँ काल ने ग्रस ली है, अर्थात् नष्ट हो गई हैं, उनमें से पहली साङ्ख्य संहिता, मैं प्रकट करूंगा, अपने अंश और कर्दम के वीर्य का अभेद है यों प्रतिपादन (सिद्ध) करने के लिये प्रथम ही श्लोक के आरम्भ में 'सह' पद दिया है, हे महामुने ! संबोधन से यह सूचित किया है कि कर्दम का इस प्रकार का अधिकार है ।।३२।।

आभास—एवं कामनां पूरयित्वा, स्वसन्निधाने जीवस्य कामना न सिध्यतीति, भगवान् वरं दत्त्वा प्रस्थित इत्याह द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—यों कर्दम की कामना पूर्ण कर अर्थात् वरदान देकर पधार गये, क्योंकि प्रभु सन्निधि में जीव की कामना पूर्ण नहीं होती है, यों निम्न श्लोकों में कहते हैं,

मैत्रेय उवाच श्लोक— **एवं तमनुभाष्याऽथ भगवान्प्रत्यगक्षजः ।**
जगाम बिन्दुसरसः सरस्वत्या परिश्रितात् ।।३३।।

श्लोकार्थ—मैत्रेय जी कहने लगे कि, हे विदुरजी ! कर्दमजी से इस प्रकार सम्भाषण कर अन्तर्मुख इन्द्रियों से दर्शन देने वाले भगवान् सरस्वती से घिरे हुए बिंदुसर से अपने धाम को पधार गये ।।३३।।

सुबोधिनी—एवमिति । तं कर्दम मनुभाष्य । करिष्यति सर्वं स्वयमेव, अनुभाषणमात्रं तु क्रियते । अथ भिन्नप्रक्रमेण । पूर्वं दयापरीतः समागत इदानीं भक्तमुद्धृत्य पूर्णमनोरथ इव गतः । अतो भिन्नप्रक्रमः । तस्मिन् स्थापितं ब्रह्मभावं गृहीत्वा गत इति ज्ञापयितुं भगवानित्युक्तम् । पुनराविर्भावः कदा भविष्यतीत्याशङ्कय तामेवाऽवस्थांकथयन्निव भगवन्तं विशिनष्टि— प्रत्यगक्षज इति । प्रत्यग्भूतेष्वक्षेष्वाविर्भवतीति । यदैवाऽयमन्तर्मुखो भविष्यति, तदैव भगवदाविर्भाव इत्यर्थः । तद्धि तीर्थं बिन्दुसर इति भगवतैव निर्मितम्, सरस्वती च ब्रह्मदैवत्या तया च परिश्रितम् । भगवद्भावः सृष्टिश्च द्वयं तत्र सिद्धं भवतीति[1] स्थानादेव तस्य द्वयं सेत्स्यतीति सरस्वतीपरिवेष्टिताद्बिन्दुसरसो जगामेत्युक्तम् ।।३३।।

व्याख्या—उस कर्दम को जो कहना था वह कह दिया, करेगा तो सर्व आप (कर्दम) ही; भगवान् को तो केवल कर्दम को कहना था-

'अथ' से यह सूचित किया है, कि अब दूसरा प्रकार आरम्भ हुआ भगवान् दयायुक्त हो के पधारे थे अब भक्त के उद्धार करने से मनोरथ पूर्ण होना समझ पधार गये इसलिये आरम्भ नवीन है, कर्दम में जो ब्रह्म भाव धरा था वह लेकर पधार गये जिससे 'भगवान्' विशेषण या नाम दिया है, भगवान् फिर कब दर्शन देंगे इसके उत्तर में वह स्थिति कहते हुए भगवान् की विशेषता दिखाते हैं, 'प्रत्यगक्षज:' लोगों के नेत्रो से आपके दर्शन नहीं होते हैं, अत: जब नेत्र अन्तर्मुखी होंगे तब दर्शन स्वत: होंगे अर्थात् भगवान् उसको प्रत्यक्ष होंगे सारांश यह है कि तब ही भगवान् प्रकट होंगे, जो बिन्दुसर तीर्थ स्वयं भगवान् ने प्रकट किया हैं, और सरस्वती की देवता ब्रह्म है सरस्वती से यह सरोवर घिरा हुआ है, अत: वहां सृष्टि और ब्रह्मभाव दोनों सिद्ध होते हैं, इसलिये कर्दम के दोनों मनोरथ स्थान से ही सिद्ध हो जायेंगे यों निश्चय जान भगवान् सरस्वती से घिरे हुए बिन्दुसर से पधार गये, यों कहा ।।३३।।

आभास—अन्यचित्ते तदानीं देशोऽप्यनुपयुक्तो भविष्यतीति, हृदये भगवत्स्थापनार्थं च निरीक्षत एव तस्य स तो ययावित्याह–

आभासार्थ—यदि कर्दम का चित्त अन्य में आसक्त होवे तो देश की उपयोगिता भी न रहे, इसलिये हृदय में भगवान को स्थापन करने के लिये भगवान् को देखते रहे, उसके देखते हुए ही भगवान् पधार गये यों इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—निरीक्षतस्तस्य ययावशेषसिद्धेश्वराभिष्टुतसिद्धमार्गः ।
आकर्णयन्पत्त्ररथेन्द्रपक्षैरुच्चारितस्तोममुदीर्णसाम ।।३४।।

श्लोकार्थ--सकल सिद्धेश्वर, सिद्ध मार्ग (वैकुण्ठ मार्ग) की स्तुति कर रहे हैं, वे भगवान् उसके (कर्दम के) देखते हुए उस मार्ग को पधार गये गरुड़जी जो 'साम' को अपने पंखों से गान कर रहे थे, उस गान को सुनते हुए जा रहे थे ।।३४।।

सुबोधिनी—निरीक्षत इति । अशेषसिद्धेश्वरैरभितः स्तुतः, सिद्धः स्वत एव सिद्धो मार्गो यस्य, वैकुण्ठमार्गो वा । सिद्धैर्मृग्यत इति भगवतो गमनागमने च सिद्धानां संमते । अतो भगवति गते न तस्य काचिदप्रतिष्ठा, पुनरागमनसम्भवात् । सिद्धैः सह भगवतो व्यवहार एवं तादृशः । सर्वसम्मतिरत्रे त्यशेषपदम् । येषामपि सिद्धिर्जाता, स्वयं च सिद्धिदातारः, तेषामपि भगवन्मार्गोऽभीष्टदः, ततोऽप्यधिकफलापेक्षित्वात् । ननु सिद्धेश्वरा भगवन्तं निरन्तरं स्तुवन्तीति तेषां स्तोत्राण्यश्रुत्वा कथं गत इत्याशङ्कयाऽऽह **पत्त्ररथस्य** गरुडस्य, **पक्षैः** पृष्ठरूपैर्बृहद्रथन्तरादिभिरुच्चारित: स्तोभ स्तोत्रियसमुदायो यस्मिन् । उदीर्णं यत् **साम** ऋगधिरूढगीतम् ।

त्रिवृदादयः स्तोमाश्चत्वारः, बृहदादयोऽपि । तत्र ऋचः प्रधानभूताः । पक्षैः उदीर्णं यत् साम तदाकर्णयन्निति संबन्धः । उच्चारितस्तोममिति विशेषणम् । अतो वेदैः साक्षाद्भगवानेव स्तूयते; तदेव च शृणोति । अन्ये तु मार्गमेव स्तुवन्तीति भावः ।।३४।।

व्याख्या – सकल सिद्धेश्वरों से चारों तरफ स्तुति किया हुआ, स्वतः सिद्ध मार्ग वाले अथवा वैकुण्ठ मार्ग वाले, एवं जिस मार्ग को सिद्ध ढूँढ रहे हैं, इससे यह सूचित किया कि यहाँ से भगवान् के आने जाने मे सिद्धों की भी सम्मति है, इस कारण से भगवान् के पधार जाने से उसकी (कर्दम की) किसी प्रकार की अप्रतिष्ठा नहीं हुई, क्योंकि फिर पधारने की सम्भावना है, सिद्धों के साथ भगवान् का व्यवहार ही इस प्रकार का है, यहाँ 'अशेष' पद से सब की सम्मति है, यों सूचित किया है, जिनको सिद्धि प्राप्त हुई है, वे सिद्ध हैं और जो स्वयं सिद्धि देने वाले हैं; वे सिद्धेश्वर इन सब को भगन्मार्ग इच्छित फल देने वाला तो है किन्तु वे इससे भी विशेष फल चाहते हैं।

सिद्धेश्वर तो भगवान् की निरन्तर (लगातार) स्तुति करते हैं, उनके स्तोत्र सुनते हुए छोड़ कर कैसे पधार गये ? इस शङ्का का समाधान करने के लिये कहते हैं, कि गरुड़ जी के पृष्ठ रूप[१] पांखों से रथन्तर आदि मन्त्रों के उच्चारित 'स्तोम' अर्थात् बृहत् आदि स्तुति के मन्त्रों का समूह जिसमें इस प्रकार का गाया हुआ 'साम' जो ऋग्वेद के मंत्रों का आधार वाला है, उसका श्रवण करते हुए पधारे त्रिवृत आदि चार स्तोम हैं, बृहत् आदि भी सामवेद के मंत्र हैं, उनमें ऋग्वेद के मत्र मुख्य हैं, (पांखो से गाया हुआ साम वह सुनते हुए पधारे, यों संबन्ध है) उच्चारित स्तोत्र' जिस में स्तुतियों के समूहों का उच्चारण हो रहा था, यह विशेषण है अतः वेद साक्षात् भगवान् की ही स्तुति करते हैं, और वह ही सुनते हैं दूसरे तो मार्गों की स्तुति करते हैं इस प्रकार का भाव है ।।३४।।

१–'अभित्वाशूरनो नुम इति' कयानश्चित्रेति, तं वोदस्ममृति षहमिति 'तिरो मित्रविद इन्तुम्' इतिसूक्त चतुष्ट यानि' ये चार साम के सूत्र हैं जो मध्यह्नि (दोपहर के समय) सोम रस निकालते हुए गाये जाते हैं, उनको पृष्ठ शब्द से कहा जाता हैं अर्थात् उसके रूप हैं, जिसका स्पर्श हो वह पृष्ठ अर्थात् भगवान् गरुड़ के पीठ पर बिराजमान हुवे हैं, इसलिये उसका स्पर्श हुआ जिस से वह 'पृष्ठ' कहलाया 'स्तोत्र समुदाय' पृष्ठ में सत्र स्तोम है उसकी विशेष स्तुति यों कहते है, पंचोभ्योहि करोति, स एकया तिसृभिः स एकया सप्तभ्यो हि करोति स एकया स तिसृभिः स तिसृभि इति ही करोति गायति, यहां पहली आवृत्ति में प्रथमा की तीन आवृत्ति, दूसरी आवृत्ति में मध्यमा की तृतीय आवृत्ति में मध्यमा और उत्तमा दोनों की आवृत्ति करने से ७० सोम होते हैं, ऐसा गाया हुआ मन्त्रों का समुदाय है, यों अर्थ (तात्पर्य) है 'त्रिवृदादय' अर्थात् 'त्रिवृत्' पञ्चदश, सप्तदश और एकविंश (२१) ये चार हैं बिस्तार के भय से उन के लक्षण नहीं लिखे जाते हैं, बृहदादि सब सामवेद के मन्त्र हैं।

'प्रकाश'

आभास---एवं भगवत्कृतमुक्त्वा तथैवेदं जातमित्याह--

आभासार्थ--इस तरह भगवान् ने जो कुछ जैसा किया वह कहकर वैसे ही हुआ, यह निम्न श्लोकों में कहते हैं--

श्लोक--अथ संप्रस्थिते शुक्ले कर्दमो भगवानृषिः ।
आस्ते स्म बिन्दुसरसि तं कालं प्रतिपालयन् ।।३५।।

श्लोकार्थ----हे विदुर जी ! भगवान् के वहाँ से पधार जाने के बाद भगवान् कर्दम उनके बताये हुवे काल की प्रतीक्षा करते हुए बिन्दु सरोवर पर ही ठहर गये ।।३५।।

सुबोधिनी--अथेति अथाऽऽनन्तर्यवाचकः । यास्मन्नेव क्षणे शुक्लनारायण प्रस्थितः, तदेव मनुः स्वगृहान्निर्गतः । कर्दमोऽपि ऋषित्वात्समर्थं जानन्, भगवत्त्वाच्च अदीनः सन् तं कालं परिपालयन्नेव स्थितः । कदा दिनद्वयं यास्यतीति । दीनो हि तत्र प्रयत्नं कुर्यात् । कामापेक्षयापि भगवद्वाक्यं महदिति विश्वासो भगवद्भावापन्नस्यैव ।।३५।।

व्याख्या--अथ, नारायण भगवान् के पधार जाने के अनन्तर उसी ही समय मनु अपने घर से निकले । कर्दम भी ऋषि होने से इनको जानने में चिन्ता नहीं की क्योंकि भगवान् हैं, अतः केवल उस काल को व्यतीत कर रहे थे ये दो दिन कब पूरे होंगे ? यदि चिन्तित होवे तो प्रयत्न करें, इन्होंने प्रयत्न नहीं किया जो भगवद्भाव को प्राप्त हुआ हो उसको ही कामना से भी भगवान् का वाक्य महान् है, ऐसा विश्वास होता है, ।।३५।।

आभास---मनुस्तु सभार्यः समागत इत्याह--

आभासार्थ - मनु अकेले नही आये किन्तु पत्नी को भी साथ में लाये यों इस श्लोक में हैं--

श्लोक--मनुः स्यन्दनमास्थाय शातकौम्भपरिच्छदम् ।
आरोप्य स्वां दुहितरं सभार्यो व्यचरन्महीम् ।।३६।।

श्लोकार्थ--हे उत्तम धनुष वाले ! मनुजी पत्नी सहित सुवर्ण जटित रथ पर बैठकर अपनी कन्या को भी बिठाकर पृथ्वी पर घूमने लगे ।।३६।।

सुबोधिनी मनुरिति शातकौम्भपरिच्छदमिति सौवर्णपरिकरयुक्तं स्यन्दनं विवाहं सूचयति । आरोप्य स्वां दुहितरमिति विवाहे कृतनिश्चयः । अन्तर्यामिप्रेरणया तत्तथैव भविष्यतीति विनिश्चत्य, स्वकन्याया नाऽन्यः प्रष्टव्य इति दम्पत्योः प्राधान्यात्सभार्यः, देयत्वेन तां गृहीत्वा, तामज्ञापयन् तस्याः पश्चात् कौतुकदर्शनं भविष्यतीति महींव्यचरत् । उत्तमस्थानानि सर्वाणि प्रदर्शितवानित्यर्थः ॥३६॥

व्याख्या—सुवर्ण जटित रथ से विवाह की सूचना है, अपनी पुत्री को बिठाकर लाये यह कथन प्रकट करता है विवाह करने का निश्चय है, अन्तर्यामी की प्रेरणा से वह वैसा होगा (कर्दम से ही किया जायेगा) यों निश्चय कर अपनी कन्या के सिवाय दूसरे से पूछने की आवश्यकता नहीं है, स्त्री पुरुष (माता-पिता की) ही कन्या देने में प्रधानता है, इसलिये मनु स्त्री सहित आये हैं, कन्या देनी है, अर्थात् इसका विवाह करना है यह भाव कन्या के आगे अब प्रकट किया क्योंकि विवाह के बाद रमणीय स्थानों को देखना न हो सकेगा इसलिये पृथ्वी पर घूमते हुवे सर्व जो भी उत्तम स्थान थे, वे दिखाये यों अर्थ है ॥३६॥

आभास----एवं दिनद्वयमतीतम् । तृतीये दिवसे कुरुक्षेत्रात् बिन्दुसरसि समागत इत्याह--

आभासार्थ—यों घूमते हुवे दो दिन पूरे हो गये, कुरुक्षेत्र से निकल तीसरे दिन बिन्दु सरोवर पहुँचे यों निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक--तस्मिन्सुधन्वन्नहनि भगवान्यत्समादिशत् ।
उपायादाश्रमपदं मुनेः शान्तव्रतस्य तत् ॥३७॥

श्लोकार्थ हे वीरश्रेष्ठ ! जो दिन भगवान् ने बताया था, उसी दिन शान्तव्रत मुनि के आश्रम पर पहुँचे ॥३७॥

सुबोधिनी—तस्मिन्निति । हे सुधन्वन्निति स्वपौरुषं ख्यापयन् स्वस्य जितेन्द्रियत्वं बोधयतीति विदुरप्रतीत्यर्थं संबोधनम् । भगवदाज्ञा नाऽन्यथा भवतीति तस्मिन्नेव दिने समागतः, यद्भगवान् समादिशत् न तु काकतालीयन्यायेन तदा समागतः एतद्व्यावृत्त्यर्थमेव भगवदाज्ञाकीर्त्तनम् । आश्रमो यस्मिन् पदे देशे तमुपायात् तस्य निकटे समागतः । ननु तपसा तप्यमाने तस्मिन् तत्तेजसा कथं निकटे गत इति तत्राऽऽह शान्त व्रतस्येति । परमशान्तं तपोलक्षणं व्रतं यस्य तत् प्रसिद्धम् । न ज्ञानार्थं प्रश्नापेक्षा ॥३७॥

व्याख्या—हे सुधन्वन ! यह संबोधन देकर विदुरजी को प्रतीति कराई है, कि इससे

तुम अपना पौरुष (वीरता) प्रकट कर रहे हो, और अपनी जितेन्द्रियता बता रहे हो भगवान् की आज्ञा बदलती नहीं है, अतः उसी ही दिन आ गये, जो भगवान् ने कहा था, न कि काकतालीय न्याय से अचानक वहाँ पहुँचे, इस को जताने के लिये भगवदाज्ञा कही है, जिस प्रदेश में मुनि का आश्रम था, उसके निकट (पास) आ गये, ऋषि अपनी तपस्या के तेज से तप्त हो रहे होंगे, उसके समीप कैसे गये, इस पर कहते है, 'शान्तव्रतस्य' उस काल में मुनि ने तपस्या से जो चिन्ह प्रकट होते हैं, उनका त्याग कर शान्ति का व्रत (स्वरूप) धारण किया था, वह प्रसिद्ध है, इसलिये ये जानने के लिये प्रश्न करने की आवश्यकता नहीं थी । ३७॥

आभास—भगवन्निरूपितकालः स एवेति निरूप्य, देशोऽपि भगवत्कृत इत्याह-

आभासार्थ—भगवान् का कहा हुआ समय वह ही था यों कहकर अब निम्न श्लोक में कहते है कि देश भी भगवान् का किया हुआ है—

श्लोक—यस्मिन्भगवतो नेत्रान्न्यपतन्नश्रुबिन्दवः ।
कृपया संपरीतस्य प्रपन्नेऽर्पितया भृशम् ॥३८॥

श्लोकार्थ—यह बिन्दु सरोवर वह स्थान है, जहाँ अपने शरणागत भक्त कर्दम के प्रति अत्यन्त करुणा उत्पन्न होने में भगवान् के नेत्र से अश्रु बिन्दु गिरे थे ॥३८॥

सुबोधिनी—यस्मिन्निति बिन्दुसरोनिरुक्तिस्तत एव, बिन्दवः सरसि यस्मिन्निति । तेषां बिन्दूनामुत्पत्तिमाह **यस्मिन्** सरसि **भगवतो नेत्रादश्रुबिन्दवो न्यपतन्** । बिन्दुपाते निमित्तम्-**कृपया संपरीतस्येति** । कृपायां निमित्तम्-**प्रपन्नेऽर्पितयेति** । शरणागतश्चेत् क्लिष्टः तदा तत्र कृपा भवति । कृपया यो व्याप्रियते स्वस्थानात् प्रच्याव्यते । तदा नेत्रात् बिन्दवो भवन्ति । भगवान् स्वकृपां शरणागतेष्वेवाऽर्पितवान्, अतो न दीनमात्रे भगवतो दया, यतः प्रपन्नाय दत्तवान्, तदाह र्पितयेति । भृशमिति सर्वभावेन ॥३८॥

व्याख्या—बिन्दु सरोवर पद की व्युत्पत्ति (भावार्थ) कहते हैं कि जिस सरोवर में बिन्दुएँ पड़ी हैं, वह बिन्दु सरोवर है, वे बिन्दु कहाँ से आई इस पर कहते हैं, कि 'भगवान् के नेत्र से ये बिन्दु गिरे जो कि सरोवर में पड़े, भगवान् के नेत्र से बिन्दुएँ क्यों गिरे ? जिस के उत्तर में कहते हैं कि दया युक्त होने से बिन्दु गिरे, दया (कृपा) क्यों हुई जिसके लिये कहते हैं कि कर्दम शरण आये उसको दुःखी देख दया उत्पन्न हुई कृपा से जो ओत प्रोत होता है, वह अपने स्थान से गिर पड़ता है तब नेत्र से बिन्दु गिरने लगती हैं, भगवान् ने अपनी कृपा शरणागतों के लिये ही अर्पण कर दी है, अतः दीन मात्र के लिये दया नहीं है, क्यों कि शरणागत को दे दी है 'अर्पितया' पद का यह भावार्थ है, 'भृशं' पद से सूचित किया है कि वह अर्पण भी साधारण नहीं, किन्तु सर्व भाव से है ॥३८॥

आभास--एवं देशकालयोर्भगवन्निरूपितत्वमुक्त्वा भगवत्कृताकार्यं तस्मिन् देशे वर्णयति कन्यायाः सुखस्थित्यर्थम्[२] । तद्वै बिन्दुसर इति षड्भिः-

आभासार्थ—इस तरह देश और काल दोनों भगवान् के बताये हुए हैं यों निरूपण कर अब भगवान् का सिद्ध किया हुआ कार्य उस देश में सम्पन्न हुआ वह निश्चित बिन्दु सरोवर है जहॉ कन्या के सुख से स्थिति के लिये ६ श्लोकों से वर्णन करते हैं—

श्लोक--तद्वै बिन्दुसरो नाम सरस्वत्या परिश्रितम् ।
पुण्यं शिवामृतजलं महर्षिगणसेवितम् ॥३९॥

श्लोकार्थ—सरस्वती के जल से भरा हुआ बिन्दुसर नाम वाला पवित्र तीर्थ तथा इसका जल अमृत के समान मिष्ट एवं कल्याणकारी है बड़े बड़े महर्षि इस स्थल का सेवन करते हैं ॥३९॥

सुबोधिनी-भगवद्गुणकृतत्वाय बिंदुसर इति नाम प्रसिद्धम् । सरस्वत्या परिश्रितमिति । तत्र धर्मसिद्धिः । परिप्लुतमिति पाठे सरस्वतीमध्ये एव कालीयह्रदं इव तत्कुण्डम् । प्रथमतो जलं वर्णयति-पुण्यमदुष्टजनकम् । शिवमारोग्यकरम् । अमृतं स्वादु । प्रमाणमाह-महर्षिगणसेवितमिति महर्षयो ये सर्वपदार्थयाथात्म्यद्रष्टारः तेषां सदैव न सेवितम्, अतो महाफलमेवैतज्जलम् ॥ ३९ ।

व्याख्या—भगवान् के गुण से बनने से कारण इसका बिन्दु सरोवर नाम प्रसिद्ध हुआ है सरस्वती के जल से पूर्ण है इसलिये वहाँ धर्म की (श्राद्ध आदि कर्म की) सिद्धि होती है यदि 'परिश्रितं' के स्थान पर परिप्लुत' पद होवे तो इसका आशय यह हैं कि यमुनाजी में कालीय ह्रद है वैसे यह सरस्वती नदी के मध्य में कुण्ड है । पहले इसके जल का वर्णन करते हैं 'पुण्यं शिवामृत जलं' पुण्य रूप होने से कल्याण करने वाला है 'शिवं' पद से बताया है कि आरोग्य करने वाला है 'अमृत' पद से कहा है कि स्वादिष्ट मधुर है इसमें प्रमाण कहते हैं कि इसलिये बड़े-बड़े महर्षिगण इसका सेवन करते रहते हैं । अतः यह जल उत्तम फल रूप है ॥३९॥

आभास—जलप्रान्तभागं ऋषिगणसेवितत्वेनोक्त्वा, तस्याऽपि वेष्टनरूपं वनमनुवर्णयति[२] —

आभासार्थ—जल के तट का भाग ऋषिगण सेवन कर रहे हैं यों कहकर अब उसको भी घेरे हुए जो वन है उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं—

श्लोक—पुण्यद्रुमलताजालैः कूजत्पुण्यमृगद्विजैः ।
सर्वर्तुफलपुष्पाढ्यं वनराजिश्रियान्वितम् ॥४०॥

श्लोकार्थ—(वह बिन्दु सरोवर) पवित्र वृक्ष और लताओं से घिरा हुआ था जिसमें अनेक प्रकार की मीठी एवं शुद्ध बोली बोलने वाले पशु पक्षी रहते थे सर्व ऋतुओं के फलों और पुष्पों से सदैव युक्त था उस सुन्दर वन की सुन्दर श्रेणियां शोभा बढ़ा रही थी ।।४०।।

सुबोधिनी-पुण्येति । द्रुमा वृक्षाः, लताश्च; स्वभावतोऽपि पुण्याः आम्रादयः द्राक्षादयश्च, पुण्यजनकाश्च । पुण्यास्तत्फलभक्षकाःकूजन्तो मृगा हरिणादयः, द्विजा मयूरादयश्च यत्र । तत्र तादृशानि द्रुमलतानां जालानिः, तैः कृत्वा सर्वर्तुषु तत्स्थानम् फलैः, पुष्पैश्चाढयम् ।वनपङ्क्तिश्च तत्र शोभमाना परितः । तदाह-वनराजिश्रियान्वितमिति ।। ४० ।।

व्याख्या—स्वभाव से स्वयं पवित्र और दूसरों को भी शुद्ध करने वाले आम्र(आम) आदि वृक्ष तथा बेलें वहां मौजूद थी उनके फलों को भक्षण करने वाले पवित्र तथा कूजन कर्ता हिरन आदि पशु एवं मयूर आदि पक्षी रहते थे । वहां ऐसे वृक्ष एवं बेलों के समूह थे जिनसे वह स्थान सब ऋतुओं में फल और पुष्पों से भरपूर रहता था । वन पंक्ति चारों तरफ सुशोभित थी ।।४०।।

आभास—एवं धर्मजनकत्वं वनस्य निरूप्य रसालत्वं निरूपयति—

आभासार्थ - यों वन का धर्मजनकत्व वर्णन कर अब रसालपन निरूपण करते हैं-

श्लोक—मत्तद्विजगणैर्जुष्टं मत्तभ्रमरविभ्रमम् ।
मत्तबर्हिनटाटोपमाह्वयन्मत्तकोकिलम् ।।४१।।

श्लोकार्थ—जहां झुण्ड के झुण्ड पक्षी चहचहा रहे थे, एवं मदमत्त भ्रमर मंडरा रहे थे उन्मत्त मयूर नर्त्तको के अभिमान वाले हो नाच रहे थे, इसी तरह कोयल भी अपनी कूहू कूहूवाणी से परस्पर आलाप कर रहो थी ऐसा वह स्थान था ।।४१।।

सुबोधिनी--मत्तेति । द्विजगणाः पक्षिगणाः सर्व एव तत्रत्यरसेन मत्ताः । अत एव तल्लोभेन सेवन्त एव, अतस्तैर्जुष्टम् । मत्तानां भ्रमराणां विभ्रमो विलासः, मधुररणनम्, गतिविशेषो वा यत्र । मत्ताये बर्हिणस्त एव नटा नर्तकास्तेषा माटोपः संभ्रमो यस्मिन् । निश्चिन्तता अहिंसकत्वात्तेषां निरूपिता । आह्वयन्तो मत्ताः कोकिला यस्मिन् ।। ४१ ।।

व्याख्या—सब पक्षीगण वहां के रस पान से मस्त हो रहे थे, इस कारण से ही लोभ से वे यहां रहते हैं, जिससे उनसे सेवित हैं, जैसे--मत्तभ्रमरों का विलास अर्थात् मधुर गुंजार हो रहा है, अथवा विशेष प्रकार की गति (उड़ना) हो रही है, इसी तरह उन्मत्त वे ही नाचने वाले नर्त्तक

उनका अभिमान जिनमें है वैसा वह बन है, वहां कोई हिंसक (शिकारी) न होने से मयूर निश्चिन्त है, जिस बन में कोयल अपनी कूहूकूहू वाणी से परस्पर बुला रही है ॥४१॥

आभास—एवं रसालतां निरूप्य पुष्पप्रधानान् वृक्षान् गणयति—

आभासार्थ—इस तरह रसालता का निरूपण कर निम्न श्लोक में पुष्प प्रधान वृक्षों का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**कदम्बचम्पकाशोककरञ्जबकुलासनैः ।**
कुन्दमन्दारकुटजैश्चूतपोतैरलङ्कृतम् ॥४२॥

श्लोकार्थ—कदम्ब चम्पक अशोक, करंज, बकुल, असन, कुन्द, मन्दार, कुटज और नवीन आम के वृक्षों से यह आश्रम अलंकृत था ॥४२॥

सुबोधिनी-कदम्बेति आसनोऽपि वृक्षः पुष्पप्रधानः । चूतपोताः सूक्ष्माम्राः, तैरप्यलङ्कृतम् ॥४२॥

व्याख्या— आसन वृक्ष भी पुष्प प्रधान है, अर्थात् जिसमें पुष्प ही मुख्य है, फल पत्र मुख्य नही, है 'चूतपोताः' छोटे आमो वाले (आमके) वृक्ष उनसे भी सुशोभित हैं ॥४२॥

श्लोक—**कारण्डवैः प्लवैर्हंसैः कुररैर्जलकुक्कुटैः ।**
सारसैश्चक्रवाकैश्च चकोरैर्वल्गु कूजितम् ॥४३॥

श्लोकार्थ—वहां जलकाग, बतख, हंस कुदर, जलमुर्ग, सारस, चकवा और चकोर मधुर स्वर से कूजन (कलरव) कर रहे थे ॥४३॥

सुबोधिनी-कारण्डवैरिति । कारण्डवादयः पक्षिविशेषाः, **तैर्वल्गु** यथा तथा उपकूजितम् ॥४३॥

व्याख्या—जल काग, बतख आदि विशेष पक्षी हैं, उनसे जिस प्रकार हुवे मन को हरने वाला कूजन (मधुर स्वर गाना) उसमें गुञ्जित वह था ॥४३॥

श्लोक—**तथैव हरिणैः क्रोडैः श्वाविद्गवयकुञ्जरैः ।**
गोपुच्छैर्हरिभिर्मर्कैर्नकुलैर्नाभिभिर्वृतम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—वैसे ही हरिन, सूअर, स्याही, नील गाय, हस्ती, लंगूर, सिंह, बन्दर नेवले तथा कस्तूरी मृग आदि पशुओं से वह आश्रम घिरा हुआ था ॥४४॥

सुबोधिनी-तथैवेति । हरिणादयो मृगविशेषास्तैर्वृतम् । **क्रोडः** सूकरः । श्वावित् शल्लकः । गोपुच्छादयः मर्कटविशेषाः, हरयः सिंहाः, वानरा वा । नाभिभिः कस्तूरीमृगैः ॥४४॥

व्याख्या – हरिन आदि विशेष मृगों से घिरा हुआ, तथा सूअर, स्वाही, नीलगाय लंगूर सिंह बंदर और कस्तूरी मृग आदि से भी वन घिरा हुआ था । ४४।।

आभास—तादृशं वनं निःशङ्कं प्रविश्य तत्र विद्यमानं मुनिं दृष्टवानित्याह–

आभासार्थ—ऐसे बन में निःशङ्क प्रवेश कर मनुने वहां विद्यमान (स्थित) मुनि को देखा ।

श्लोक—**प्रविश्य तत्तीर्थवरमादिराजः सहानुगः ।**
ददर्श मुनिमासीनं तस्मिन्हुतहुताशनम् ।।४५।।

श्लोकार्थ—सेवक सहित आदिराज मनु ने आश्रम में प्रवेश कर वहाँ देखा कि अग्निहोत्र कर्म पूर्ण कर कर्दम मुनिजी बैठे हुए है ।।४५।।

सुबोधिनी प्रविश्येति । बिन्दुसरसो निकटे तस्य पर्णशालाः अत एव **तीर्थवरं प्रविश्येत्युक्तम्** नदीमुत्तार्य तदाश्रमे गत इति प्रविश्येति पदात् ज्ञायते । तीर्थश्रैष्ठ्यपरिज्ञानार्थं **मादिराज इत्युक्तम्** आदिराजो मनुः । सहानुगः ससेवकः, राजत्वपरिज्ञानार्थम् । दूरादेव ददर्श । हुतो हुताशनो येन अनेन कर्मसमाप्तिः सूचिता ।। ४५ ।।

व्याख्या—बिन्दुसर के समीप उसकी पर्णशाला (कुटिया) थी, इस कारण से ही कहा है कि तीर्थ श्रेष्ठ में 'प्रविश्य' (प्रवेश कर) पदऐसा समझ में आता है, कि नदी को पार कर आश्रम में पहुँचे हैं तीर्थ की श्रेष्ठता का परिज्ञान है, इसलिये मनु, को 'आदिराजं' कहा है, मनु पहला नृपति है, और जिसके साथ परिचारक भी है । सेवक क्यों ? इसलिये कहते हैं कि यह राजा है, ऐसा पूर्णज्ञान होवे दूर से ही देखा कि अग्नि होत्रादि हो गये हैं, इससे कर्म समाप्ति की सूचना है ।।४५।।

आभास-कन्यादानयोग्यत्वाय वर्णयति सार्द्धाभ्याम्–

आभासार्थ—निम्न श्लोकों से वर्णन करते हैं, कि यह कन्या दान के योग्य वर है—

श्लोक—**विद्योतमानं वपुषा तपस्युग्रयुजा चिरम् ।**
नातिक्षामं भगवतः स्निग्धापाङ्गावलोकनात् ।
तद्व्याहृतामृतकलापीयूषश्रवणेन च ।।४६।।

श्लोकार्थ—बहुत दिन तक उग्र तपस्या करने से जिसका शरीर तेजस्वी देहवाला दीखता था एवं भगवान् की स्नेहयुक्त कटाक्ष चितवन वाली दृष्टि के कारण तथा उनके (भगवान्) के वचन रूप चन्द्रमा से उत्पन्न अमृत के श्रवण (पान) से जिसका शरीर तप करते हुए भी विशेष कृश (दुर्बल) नहीं हुआ है ऐसे मुनि को देखा ।।४६।।

सुबोधिनी—विद्योतमानमिति। उग्रयुजा तपसि वपुषा विद्योतमानम्। उग्रो युक् योगो यस्य। तपसि तस्य महान् योगः, तपसः परमधर्मत्वात् चिरकालकृतेनापि तपसा वपुर्विद्योतमानमेव। अनेन वर्णोत्तमता निरूपिता। कृशत्वं परिहरति-नातिक्षाममिति। भगवतो यत् स्निग्धापाङ्गावलोकनं तेनाऽत्यन्तं न कृशः। 'दुरन्तसर्गो यदपाङ्गमोक्षः' इत्यादिवाक्यात् भगवत्कटाक्षः सर्वपदार्थजनको भवति। स हि देहपुष्टिमपि जनयेत्। दुरन्तत्वव्यावृत्त्यर्थं स्निग्धता निरूपिता। देहे स्थूलत्वापादका अवयवा भगवत्स्नेहसहितदृष्ट्या जनिता इति नोत्तरत्राऽयथाभावः। ते चावयवाः कियन्त एव भवन्तीति नातिक्षामता। साक्षाद्दृष्टिजनितत्वाय सर्वावयवेषु दृष्टिसंबन्धार्थं बहुवचनम्। तथाप्यासन्यो न तृप्यतीति कारणान्तरमप्याह तद्व्याहृतेति। भगवतो यत् व्याहृतं वाक्यं स एवामृतकलः चन्द्रः तस्याऽऽसमन्ताद्यत्पीयूषम् तस्य श्रवणेन च। भगवद्वाक्यं निरन्तरामृतोत्पत्तिरूपमिति वाक्यश्रवणेनापि पुष्टिप्रतिपादनार्थममृतकलत्वेन निरूपितम्। अतो नाऽत्र द्रविडमण्डकः। तत्रापि प्रयोजकं रूपं वक्तुं अमृतकलप्रयोगः। तस्य च श्रवणमात्रमिति नातिक्षामता। अन्यथा पुष्टिरेवोक्ता स्यात्। चकारादलौकिककृपया। ४६॥

व्याख्या—उग्रतप के सम्बन्ध से अर्थात् उसने उग्रतप बहुत दिन तक किया था, जिससे उसकी देह प्रकाश युक्त (तेजस्वी) हो गई थी, तपस्या करने में उसका विशेष योग (संबन्ध) था, तपस्या परम धर्म होने से वहुत समय तक करने पर भी शरीर चमक ही रहा था, इसमे कर्दम के वर्ण की उत्तमता दिखाई है शरीर में दुर्बलता नहीं थी यों बताने के लिये 'नातिक्षामं' पद दिया है, भगवान् की स्नेहयुक्त चितवन के देखने से अत्यन्त कृश नहीं हुवे हैं, 'दुरन्तसर्गो पद पाङ्गमोक्ष.' जिनके कटाक्ष पड़ने से अनन्त सृष्टि होती है, इस वाक्यानुसार भगवान् कटाक्ष से सर्गो सब कुछ उत्पन्न करने वाले हैं अतः इन कटाक्षों ने ऋषि में साधारणतः पुष्टि भी उत्पन्न की थी, जिससे तप के कारण अति दुर्बलता नहीं आई थी, अत्यन्तता निवृत्ति के लिये शरीर में स्निग्धता का निरूपण किया है, देह में स्थूलता प्रदर्शित करने वाले जो अवयव थे वे भगवान् की स्नेह सहित दृष्टि ने बनाये थे अतः वे सदैव वैसे ही रहेंगे, वे अवयव कितने (स्वल्प) थे, इसलिये बहुत दुर्बलता नहीं आई थी, साक्षात् दृष्टि से उत्पन्न होने के कारण एवं उस दृष्टि का सम्बन्ध समस्त अवयवों से हुआ था इसलिये बहुवचन दिया है,

यों होने पर भी आसन्य (मुख्य प्राण) तृप्त होता है इसलिये दूसरा कारण कहते हैं 'तद्व्याहृतामृत·········श्रवणेन' भगवत्कार्यत वाक्य ही चन्द्रमा है उसके पीयूष के श्रवण से (पान से भी पुष्टि मिलती है, भगवान् के वचन सदैव अमृत को उत्पन्न करने वाले हैं. वाक्य (वचन) के श्रवण से पुष्टि होती है यों प्रतिपादन करने वाले हैं, श्रवण से भी पुष्टि होती है, यह सिद्ध करने के लिये उसको अमृत कल (चन्द्र) कहा है। अतः इस कारण से वह 'द्रविड़-मंडक वत्' धोका नहीं है। वहां भी कुछ उपयोगी कार्य में आने वाले होने से 'अमृत कल (चन्द्र) पद दिया है। उसको केवल सुना जाता है। जिससे अति क्षमता न हुई न तो पुष्टि ही हुई यों कहे, 'च' पद से सूचित किया है कि यह भगवान् की अलौकिक कृपा है ।।४६।।

आभास--एवं दोषाभावमुक्त्वा गुणान् वर्णयति-

आभासार्थ--यों दोषों का अभाव वर्णन कर इस श्लोक में गुण कहते हैं—

श्लोक--प्रांशुं पद्मपलाशाक्षं जटिलं चीरवाससम् ।
उपसंसृत्य मलिनं यथार्हणमसंस्कृतम् ।।४७।।

श्लोकार्थ--वे शरीर से लम्बे थे, कमल दल के समान नेत्र वाले थे जटाधारी थे, चीर वस्त्र युक्त थे जैसे सान पर न चढी हुई मणि मलीन होती है वैसे वे भी मलीन थे यों निकट जाने पर राजा को मालूम हुआ ।।४७।।

सुबोधिनी- प्रांशुमिति । प्रकृष्टा अंशवः पर्वाणि यस्य । आजानुबाहुत्वं यज्ञियत्वं च निरूपितम् । पद्मपलाशवत् अक्षिणी यस्येति । सौन्दर्यं प्रकृतोपयोगि । जटिलं चीरवाससमिति तप ऋषित्वज्ञापकं सत्वाय । उपसंसृत्य निकटे गत्वा ददर्शेति पूर्वेणैव संबन्धः । अथवा । उप निकटे संसृत्य ससारं प्राप्य मलिनम् । कामेन हि प्राणिनो मलिना भवन्ति । 'धूमेनाव्रियते वह्निः' इति वाक्यात् । तत्र दृष्टान्तमाह सहजदोषत्वाभावाय, यथार्हणमसंस्कृतमिति । महारत्नमणिरिक्तं यथा स्वभावत उज्ज्वलमपि बहिः संस्काराभावे न सुवर्णे योजयितुं शक्यते । तथाऽत्र प्रकृते विद्योतमानमिति विशेषणविरोधात् ऋषीणां तथात्वस्य बाधकत्वाभावात् द्वितीयः पक्षः ।।४७।।

व्याख्या—जिसके अवयव बड़े थे जिसकी भुजाएँ घुटनों तक लम्बी थीं और यज्ञियता निरूपण की । (इससे पूज्यता प्रकट की) कमल दल के समान नेत्र वाले थे इससे प्रकृत प्रसंग में यह सौन्दर्य उपयोगी था, इसी तरह जटा धारण चीर वस्त्र युक्त होना ये दो गुण सत्व के होने से ऋषित्व को जताते हैं । उपसंसृत्य अर्थात् निकट जाकर दर्शन किये यों पूर्व से ही सम्बन्ध हैं अथवा निकट ही ससार में प्राप्त होने से मलीन से हैं क्योंकि काम से प्राणी मलीन होता है जैसा कि गीता में कहा है कि धूमेना व्रियते वन्हिः धूमअग्नि को घेर लेता हैं । इसमें दृष्टान्त देते हैं कि जैसे सहज दोषत्व के अभाव के लिये 'यथार्हणमसंस्कृत मणियादि सान पर न चढ़ी हो तो भी स्वभाव से गुणवती हैं किन्तु वह सुवर्ण पर चढने के योग्य नहीं जब सान पर चढे तब सोने पर चढाई जाती है । वैसे प्र त विषय में भी समझना चाहिये कि कर्दमजी मुनि होने से प्रकाशते थे किन्तु संसार में आने से मुनि मलीन कहाते हैं । यह मलीनता ऋषि के लिये क्षति कारक हीं है यों नहीं यहाँ दुस रा पक्ष लिया है मणि सहज प्रकाशवती होने पर पृथ्वी के संसर्ग से मलीन होती है वह मलीनता मणि के लिये क्षति कारक नहीं होती है ।४७।।

आभास--एवं दूरादृष्टं तं वर्णयित्वा, तस्य लौकिकधर्मं वक्तुमाह--

आभासार्थ – दूर से देखे हुए कर्दम का यों वर्णन कर अब इस श्लोक में उसके लौकिक धर्म कहते हैं—

श्लोक--अथोटजंप्रत्यायान्तं नृदेव प्रणतं पुरः ।
सपर्यया पर्यगृह्णात्प्रतिनन्द्याऽनुरूपया ॥४८॥

श्लोकार्थ---अनन्तर पर्ण कुटी में अपने पास आकर प्रणाम किये हुए राजा का मुनि ने अभिनन्दन कर योग्य पूजन से सत्कार किया ॥४८॥

सुबोधिनी–अथोटजमिति । पर्णशालां प्रत्यायान्तं राजानं पुरः पादसमीपे प्रणतम्, क्षत्रियस्य तथैव धर्म इति राजपूजार्थं पूर्वमेव संपादितया सपर्य्यया पर्यगृह्णात् । प्रतिनन्द्याऽऽशीर्भिः कुशलप्रश्नैर्वा तुल्यताज्ञानार्थं च । अनुरूपया महाराजयोग्ययाऽर्घ्यादिरूपया इत्यर्थः । परिग्रहोह्यात्मीयतया गृहे नयनम् ॥४८॥

व्याख्या—राजा के पूजार्थ पर्ण निर्मित कुटिया में आये हुए क्षात्र धर्मानुसार प्रणाम किये हुए राजा का पहले से ही तैयार की हुई सामग्री से उनका स्वागत किया और आशीर्वाद से अभिनन्दन कर बराबरी जताने के लिये सर्व सत्कार आदि करने के बाद कुशलता के प्रश्न पूछे घर में ले जाने से आत्मीयता दिखाई ॥४८॥

आभास—एव बहिस्तस्य पूजां विधाय, आधिनिराकरणार्थं सर्वसन्देहनिवृत्त्यर्थं च वाचा पूजां कृतवानित्याह—

आभासार्थ—इस तरह बाहर उनकी पूजा कर चिन्ता के निराकरण करने के लिये और सकल सन्देह मिटाने के लिये वाणी से पूजा करने लगे यों इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक– गृहीतार्हणमासीनं संयतं प्रीणयन्मुनिः ।
स्मरन्भगवदादेशमित्याह श्लक्ष्णया गिरा ॥ ४९ ॥

श्लोकार्थ— भगवान् की आज्ञा स्मरण करता हुआ मुनि की पूजा को स्वीकार कर सावधान हो बैठे हुए राजा को प्रसन्न करते हुए मनोहर वाणी से कहने लगे ॥ ४९ ॥

सुबोधिनी–गृहीतार्हणमिति । ऋषिदत्तां पूजां स्वीकृत्य स्थितं ज्ञात्वा अग्रिममपि स्वीकरिष्यतीति निश्चित्य सम्यक् यत्त सावधानं विनीतं प्रीणयन्निति प्रथमं स्तोत्रं कुर्वन् । मुनिरिति भावज्ञाता । तथापि निश्चयरूपेण कथं तदुक्त करिष्यामीति प्रतिजानीते । स चेदन्यदेव किञ्चिद्वदेदित्याशङ्कयाऽऽह–स्मरन् भगवदादेशमिति । 'आत्मजामसितापाङ्गीम्' इति भगवद्वाक्यात् कन्या

दातुमेवाऽयमागतः। लज्जया च स्वयं न वक्ष्यति। अतः स्वयमेव श्लक्ष्णया मनोहरया वाचा अग्रिम-वाक्यरूपमिदमाह। वाक्यान्येवाऽऽह सप्तभिः। यद्यपि त्वया किमर्थमागतमिति न प्रष्टव्यं प्रसङ्गा-दप्यागमनसम्भवात्। प्रसङ्गश्च वक्तव्यः षड्भिः, तथापि विशेषाकारेण मत्समीपमागत इति लक्षित इति तयात्वे यद्भवानाज्ञापयिष्यति तत् करिष्यामीति समुदायार्थः ।।४६।।

व्याख्या—पूजा स्वीकार कर बैठे हुए मनु को जानकर आगे का (सुझाव) भी स्वीकार करेगा यों निश्चय कर सावधान तथा विनीत को स्तुति से प्रसन्न करते हुए मुनि ने कहा मुनि भावी (जो आगे होने वाले है) अर्थ को जानते है तो भी मनु का कहना निश्चय रूप से मैं कैसे कर सकूँगा ? ऐसा विचार आने पर कहने हैं कि वह मनु कदाचित् अन्य कुछ ही कह दे इस प्रकार शङ्कित होने पर भगवान् के वचन आदेश को स्मरण करने लगे 'आत्मजामसितापाङ्गी' भगवान् ने कहा है कि श्याम नेत्र प्रान्त वाली कन्या तुमको मनु आकर देगा अतः यह अब कन्या देने के लिये ही आया है, लज्जा के कारण स्वयं न कहेगा, अतः स्वयं (मुनि) ही मनोहर वाणी से अग्रिम वाक्य रूप यों सात श्लोकों से कहते हैं। यद्यपि आप किस लिये आए हो ? यों पूछना नहीं चाहिये क्यों कि किसी कार्य के प्रसङ्ग से भी आना होता है, ६ श्लोकों से यों कहेंगे कि जिस प्रसङ्ग के लिये आपका आना हुआ है वह कहिए, विशेष प्रकार से तो मेरे पास ही आये हो यों देखने में आता है। यों है तो जो आप आज्ञा करेंगे वह करूंगा यों सब श्लोकों का तात्पर्य है ।।४६।।

आभास—प्रसङ्गमाह—

आभासार्थ—प्रसङ्ग कहते हैं—

कर्दम उवाच श्लोक— नूनं चङ्क्रमणं देव ! सतां संरक्षणाय ते।
वधाय चाऽसतां यत्त्वं हरेः शक्तिर्हि पालिनी ।।५०।।

श्लोकार्थ—कर्दमजी बोले, कि हे देव ! सत्पुरुषों की रक्षा के लिये आपको घूमना होता है तथा दुष्टों के नाश के लिये आप घूमते हैं क्योंकि आप भगवान् की पालिका शक्ति हैं ।५०।

सुबोधिनी नूनमिति। हे देव ! तव चङ्क्रमणं सतां संरक्षणाय, असतां वधाय च। देवेति संबोधन-मुपपादयतियत् यस्मात्त्वं हरेः पालिनी शक्तिः 'स्थानेऽथ धर्म' इति वाक्यात् सतामसतां चाऽनुग्रह निग्रहौ स्वतन्त्रौ धर्मत्वात्। नत्वेकार्थमन्यत् ।५०।

व्याख्या— हे देव ! आपका घूमना सत्पुरुषों की रक्षा तथा दुष्टों के नाशार्थ होता है कारण कि आप भगवान् की पालिका शक्ति हो इसको हे देव ! सम्बोधन सिद्ध करता है, 'स्थानेऽथ धर्मः' धर्म स्थान पर ही होता है, इस वाक्यानुसार सत्पुरुषों की रक्षा असत्पुरुषों का निग्रह (नाश) दोनों धर्म होने से स्वतन्त्र हैं, न कि एक के वास्ते दूसरा है ।।५०।।

आभास—ननु लोकपालकैरेव पालने सिद्धे किं मन्वादिभिरित्याशङ्क्य, परिपालिकां शक्तिं निरूपयन् तथा कर्तारं भगवन्तं नमस्यति—

आभासार्थ—लोकपाल पालन कार्य पूरा कर रहे हैं तो फिर मनु आदि से क्या ? इस शङ्का पर पालिका शक्ति का निरूपण करते हुए यों करने वाले भगवान् को नमते हैं—

श्लोक—योऽर्केन्द्वग्नीन्द्रवायूनां यमधर्मप्रचेतसाम् ।
रूपाणि स्थान आधत्ते तस्मै शुक्लाय ते नमः ॥५१॥

श्लोकार्थ—जो आप उपयुक्त अवसर पर सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र, वायु, यम, धर्म और वरुण के रूप धारण करते हैं ऐसे आप शुक्ल को नमस्कार है ॥५१॥

सुबोधिनी— योऽर्केति । यः अर्कादीनां लोकपालानां रूपाणि, स्थाने तत्तत्कार्यावसरे, मनुशरीरे वा आधत्ते, तस्मै ते शुक्लाय नम इति । अयं शुक्लनारायण एव मनौ तिष्ठतीति; तस्मै नमः सर्वाणि रूपाणि अन्यस्तत्र स्थापयितुं न शक्नोति । न वा भगवत्स्थितिव्यतिरेकेण तत्र सर्वदेवतासान्निध्यं भवति; अतो मनुमधिष्ठाय पालनार्थं भगवानेव स्थितः ॥५१॥

व्याख्या—जो (प्रभु) सूर्य आदि लोकपालों के रूप, प्रत्येक कार्य के अवसर पर धारण करते हैं इस तरह मनु शरीर में भी आप कार्य के अवसर पर विराजते हैं उस आप शुक्ल को नमस्कार है, यह शुक्लनारायण ही मनु में विराज रहे हैं, उन्हे नमस्कार, शुक्ल, के सिवाय दूसरा कोई सकल रूप मनु में स्थापित करने के लिये शक्तिमान नहीं है, और बिना भगवान् की स्थिति के वहां (मनु में) सब देवताओं का सान्निध्य हो नहीं सकता है, अतः मनु को अधिष्ठान कर पालने के लिये भगवान् ही विराजते हैं ॥५१॥

आभास—विपरीते बाधकमाह चतुर्भिः । साधनाभ्यां फलाभ्यां च स्वतश्च सेनया च परिपालनं द्वयेन, सेतुधर्मरक्षा अधर्मनिवृत्तिश्च फले । प्रथमतः स्वतो रक्षाभावं बाधकत्वेनाऽऽह—

आभासार्थ—विपरीत होने पर होने वाले बाधक को इस श्लोक से लेकर चार श्लोकों से कहते हैं-साधन में बाधक दो से और फल में बाधक दो से कहते हैं' दो श्लोकों से मनु स्वतः तथा सेना से पालन करते हैं। फल में सेतु (मर्यादा) धर्म की रक्षा तथा अधर्म की निवृत्ति कही है। प्रारम्भ में मनु स्वतः रक्षण नहीं करे तो वह बाधक गिनते हैं यों ५२ वें श्लोक में कहते है—

श्लोक—न यदा रथमास्थाय जैत्रं मणिगणार्पितम् ।
विस्फूर्जश्चण्डकोदण्डो रथेन त्रासयन्नघान् ॥५२॥

श्लोकार्थ—आप मणि जटित तथा जय पाने वाले रथ पर बैठ कर अपने धनुष को टङ्कार से तथा रथ के चलने से जो घरघराहट होती है, उससे पापियों को डरा देते हो।।५२।।

सुबोधिनी— न यदेति। यदा त्वं जैत्रं रथमास्थाय न पर्यटसि तदा सेतवो नश्येयन्निति संबन्धः। रथस्य मुख्यासनत्वं। जैत्रमिति जयशीलम्। अनेन न क्काऽपि पराभवशङ्का। मणिगणार्पितमिति महाराजयोग्यत्वात् दृष्टैव भयमसतां ज्ञापितम्। विशेषेण स्फूर्जंश्चण्डः कोदण्डो यस्य। अनेन धनुष्टङ्कारेण दूरादेव भयं जनयतीति ज्ञापितम्। पापानां पापिष्ठानां न मारणं शस्त्रेण किन्तु, रथेनैव त्रासं जनयन् ५२।

व्याख्या—यदि आप जयशील रथ पर बैठकर नहीं घूमें तो धर्म मर्यादाएँ नाश हो जाय, (जाती) यों सम्बन्ध है 'रथ' आपके बैठने के लिये मुख्य आसन है और वह रथ साधारण नहीं है बल्कि जयशील है, इससे कहीं भी पराजय होने की तो शङ्का ही नहीं है। 'मणिगणार्पितम्' मणियों से जटित रथ कहने से सूचित किया है कि महाराज के योग्य होने से उसको दूर से देखते ही असत् (दुष्ट, पुरुषों को भय होता है, जिसके धनुष की प्रबल टङ्कार से दूर से ही दुष्टों को भय उत्पन्न होता है। पापियों को शस्त्र से नहीं मारते हो किन्तु उपर्युक्त (उपरोक्त) प्रकार से अर्थात् जयशील रथ की ध्वनि (घरघराहट) से तथा धनुष के टङ्कार से भय उत्पन्न कर भगा देते हो ।।५२।

आभास—दुष्टानां बहुत्वात् तदर्थं साधनान्तरमप्याह—

आभासार्थ—दुष्ट लोक बहुत हैं इसलिये उनके वास्ते दूसरा साधन इस श्लोक में बताते हैं-

श्लोक—स्वसैन्यचरणक्षुण्णं वेपयन्मण्डलं भुवः।
विकर्षन्बृहतीं सेनां पर्यटस्यंशुमानिव ।।५३।।

श्लोकार्थ—अपनी सेना के चरणों से रौंदे हुए भूमण्डल को कम्पित अपनी महती सेना को साथ ले पृथ्वी पर ऐसे फिरते हो जैसे सूर्य घूम रहा है ।।५३।।

सुबोधिनी— स्वसैन्येति। स्वसैन्यानां चतुर्विधानां चरणैः क्षुण्णं भुवो मण्डलं वेपयन् महती सेनां दृष्ट्वैव महान्तो दोषा निवर्तन्त इति भूकम्पननिमित्तान्तरत्वज्ञानाभावाय बृहतीं सेनां विकर्षन् तत्र तत्र नयन्। पूर्वोक्तधर्मं धर्माधर्मनिवृत्तिसाधकत्वेन निरूपयन् दृष्टान्तमाह-अंशुमानिवेति। स हि सहस्रकिरण तमो दूरीकरोति अग्निहोत्रादिधर्मं च जनयति। न हि सूर्ये अनुदिते कश्चिद्धर्मादिः सेत्स्यति ।।५३।।

व्याख्या—चारों प्रकार की अपनी सेना के चरणों से रौंदे हुए पृथ्वी मंडल को सैन्य सहित कम्पाते हो भारी सेना को देखकर ही अनेक दोष निवृत्त हो जाते हैं। भूमि को कम्पित करने का अन्य कोई कारण नहीं यों बताने के लिये अपनी महती सेना को पृथक २ स्थानों पर घुमाते हुए आप भी घूम रहे है वह पृथ्वी पर फिरने के गुण का धर्म प्रवृत्ति एवं अधर्म की निवृत्ति का साधन है उसको सूर्य के दृष्टान्त से समझाते है कि जैसे सूर्य अपनी सहस्त्र किरणों से अन्धकार को दूर करता है, और अग्निहोत्र आदि धर्म प्रवृति कराता है वैसे ही आप भी सत्पुरुष एवं धर्म की रक्षा के साथ दुष्टों का नाश कर रहे है, सूर्य का उदय न होवे तो अग्निहोत्र आदि भी न होने पावे ॥५३॥

श्लोक—तदैव सेतवः सर्वे वर्णाश्रमनिबन्धनाः
भगवद्रचिता राजन्भिद्येरन्बत दस्युभिः ॥५४॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! यदि आप इस तरह रथ में बैठ एवं सैन्य को ले पृथ्वी पर भ्रमण न करो तो भगवान् की बनाई हुई वर्ण और आश्रम को बान्धने वाली मर्यादाओं को दस्यू गण (दुष्ट जन लूटेरे) तोड़ डालें ॥५४॥

सुबोधिनी— तदैवेति। तदैव सर्वे सेवतो मर्यादा वर्णकृता आश्रमकृताश्च भगवद्रचिताः। औदासीन्याभावाय राजन्निति, तस्य स्वधर्म इति ज्ञापितम्। दस्युभिरेव भिद्येरन्। चौरभये वर्णाश्रमवतां भीतत्वान्न मर्यादा सिध्यतीति ॥५४॥

व्याख्या—तब ही तो भगवान् की बनाई हुई वर्ण एवं आश्रम कृत बन्धन की मर्यादाएं दस्यु 'अधर्मी डाकुओं' से तोड़ी जायेगी यदि आप ससैन्य पृथ्वी पर न घूमो। हे राजन् विशेषण से सूचित किया है कि आप अपने कर्त्तव्य से उदासीन नहीं हैं यों पृथ्वी पर घूमना राजा का धर्म है। डाकुओं के भय से वर्णाश्रमी जब डर जाते हैं तब धर्म की मर्यादा नहीं रह सकती है ॥५४॥

श्लोक—अधर्मश्च समेधेत लोलुपैर्व्यङ्कुशैर्नृभिः।
शयाने त्वयि लोकोऽयं दस्युग्रस्तो विनङ्क्ष्यति ॥५५॥

श्लोकार्थ—यदि आप सो जावें अर्थात् इस तरह रक्षार्थ घूमें नही तो लोभी तथा निरङ्कुश (उच्छृंखल) प्रजा द्वारा अधर्म भी बढने लगे यह लोक लुटेरों का भक्ष बनकर नाश हो जावे ॥५५॥

सुबोधिनी—***अधर्म इति** । न केवलं धर्म-हानिरेव किन्तु, **अधर्मश्च समेधेत** वृद्धिं गच्छेत् । चकारात् **पाखण्डधर्मा** अपि । तत्र हेतुः—**लोलुपैरिति** । **धर्मे** निरन्तरं क्रियमाणे इन्द्रियाणि व्यापृतानि भवन्ति, तदा **लौकिके भोगे** नाऽऽसक्तानि भवेयुः । अन्यथा त्वासक्तानि योग्यैः कामैरपूर्णानि अयोग्ये लोलुपानि भवन्ति । तथापि राजभयं चेत्, न कार्यनिष्पत्तिः स्यात् । अन्यथा त्वतिप्रसङ्गः स्यादेवेत्याह—**व्यङ्कुशैरिति** । विगतोऽङ्कुशो नियामको येषाम् । **नृभिरिति** । त एव हि भगवदाज्ञोल्लङ्घका वेदेनोक्ता अशनप्रसङ्गे । राज्ञो द्रव्यव्यवस्था; विषयभोगः, परिपालनं च । आद्यैव शयनम् । यदि चोभयोः समता, यदि वा कालविभेदेन व्यवस्था, यदिवा भोगप्राधान्यम्, सर्वप्रकारेणापि **त्वयि शयाने सति अयं लोको दस्युभिरेव ग्रस्तः**, आच्छिन्नदारद्रविणः स्वरूपादपि **विनङ्क्ष्यति** । अतस्त्वया पर्यटनमवश्यं कर्तव्यम् । अतः प्रसङ्गादागमनम् । अत्रापि चोरादिनिराकरणार्थं च ॥५५॥

व्याख्यार्थ—केवल धर्म की हानि ही न होवे किन्तु अधर्म बढ़ने लगे (च) से यह सूचना दी है कि पाषण्ड धर्म भी बढ़े, कारण कि, धर्माचरण करते रहते इन्द्रियां उसमें लगी रहती है, तब लौकिक वा भोग में आसक्त नहीं होती है ।

Blank page, please ignore

आसक्त नहीं होती है, यदि धर्माचरण में नहीं लगी रहती तो जब लौकिक एवं भोग में आसक्त हो जाती है तब योग्य कामनाओं के पूर्ण न होने से इन्द्रियां अयोग्य में लोभ वाली होती है ऐसी दशा में यदि राज्य का भय हो तो लोभियों की कार्य स्फूर्ति नहीं हो सकती है अर्थात् लूट नहीं मचा सकते हैं। राज्यभय न होने पर अनीति होने लगे क्योंकि मनुष्य निरङ्कुश उच्छृङ्खल हो जाते हैं, कारण कि उन पर कोई नियामक नहीं 'नृभिः' पद से कहा है कि वे ही भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करने वाले होते हैं जिससे जनता को दो काल भोजन करने की वेद में आज्ञा है वह हो नहीं सकती। राजाओं की दो अवस्था है, १–विषय भोग, २–प्रजापालन, पहली अवस्था शयन अर्थात् आराम है यदि १ विषय भोग उपाराम तथा २ प्रजापालन दोनों अवस्थाएं यदि समान मानी जाय अथवा काल भेद से उन की व्यवस्था (बंदोबस्त) है यदि विषय १ भोग उपाराम की जाय अथवा भोग को मुख्य माना जाय, इसी तरह सब प्रकार से आप सो जाओ तो यह लोक लुटेरुओं से ग्रसा हुआ, स्त्री तथा धन आदि गवाँ कर लुटाकर स्वरूप से भी नाश हो जायेगा, अतः आपको जरुर घूमना चाहिये, अतः प्रसङ्ग से आगमन हुआ है यहां भी चोर आदि का निराकरण करता है ।।५५।।

श्लोक—अथाऽपि पृच्छे त्वां वीर ! यदर्थं त्वमिहागतः ।
तद्वयं निर्व्यलीकेन प्रतिपद्यामहे हृदा ।।५६।।

श्लोकार्थ—तो भी हे वीर ! तुम जिस प्रयोजन से आये हो, वह तुम से पूछता हूं उस प्रयोजन की पूर्ति हम निष्कपट हृदय से करेंगे ।।

सुबोधिनी—अथाऽपीति । हे वीर ! स्वधर्मनिष्ठ! यदर्थं त्वमिहागत ; तत्प्रयोजनं पृच्छामि । मां प्रार्थयितुमिति यदि; तदा तद्वयं निर्व्यलीकेन हृदा प्रतिपद्यामहे स्वीकुर्महे। ननु त्वत्प्रार्थनां न करिष्यामीति सन्देहः । एवं वचनं हि भगवत्प्रसादादेव महाराजादप्युत्कर्षवचनात् ।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्री मल्लक्ष्मणभट्टात्मज श्री मद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे एकविंशाध्यायविवरणम् ।

व्याख्या—अपने धर्म में निष्ठा रखने वाले हे वीर ! जिस कार्य के लिये आप यहाँ आश्रम में आये हो वह पूछता हूँ, जो मुझसे प्रार्थना के लिये आये हो तो वह कहिये, मैं वह आपकी प्रार्थना निष्कपट शुद्ध हृदय से स्वीकार करूंगा, यह कभी भी सन्देह न करना कि आपकी प्रार्थना न मानूंगा, कर्दम के ऐसे वचन भगवान् की कृपा से निकले, ये वचन महाराजा से भी उत्कर्ष के वचन हैं ।।५६।।

तीसरे स्कन्ध सुबोधिनी के २१ वें अध्याय का हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण ।।

इति श्री मद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के इक्कीसवें अध्याय की श्री मद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

।। श्रीहरिः ।।

।। श्री कृष्णाय नमः ।।

।। श्री गोपीजन वल्लभाय नमः ।।

।। श्री वाक्पति चरण कमलेभ्यो: नमः ।।

श्रीमद्भागवत महापुराण

श्रीमद्वल्लभाचार्य - विरचित सुबोधिनी संस्कृत टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

मुक्त सृष्टि (तत्व मुक्ति) प्रकरण

तृतीय स्कन्ध

बाईसवां अध्याय

कर्दमजी को देवहुतिजी अर्पण कर मनु महाराज का राजधानी में पहुंचना

कारिका—द्वाविंशे कर्दमस्याऽर्थः सिद्धस्त्रीधनरूपवान् ।
अयमेवैन्द्रियगणः कृष्णार्थं सुविनिश्चितः ।।१।।
अर्थस्य सत्त्व चाख्यातुं मनोधर्मस्य वर्णनम् ।
भगवत्कृपयैवार्थं उत्तमो नान्यथेति च ।।२।।
आकूतिः पुत्रिकात्वेन दत्ता येन निजेच्छया ।
स एवात्यन्तदैन्येन देवहूतिं प्रयच्छति ।।३।।
कृतकृत्यं च मनुते ततो धर्मं च सेवते ।
यज्ञश्रवणभेदेन द्विरूपमपि सर्वदा ।।४।।

कारिकार्थ—बाईसवें अध्याय में सिद्ध, स्त्री, धन और रूपवान् यह कर्दम का अर्थ (प्रयोजन) है। इन्द्रियों से ग्राह्य मात्राओं को ऐन्द्रिय कहते हैं उनका जो गण है वह सब कृष्ण के लिए है यह सब तरह से निश्चित है ।।१।।

अर्थ की साधुता को बताने के लिए मनु के धर्मों का वर्णन है। भगवान् की कृपा से ही उत्तम अर्थ होता है अन्यथा नहीं ।।२।।

जिसने अपनी इच्छा से पुत्रिका धर्म से आकूति को दिया था वह ही अत्यन्त दैन्य से देवहूति को दे रहा है ।।३।।

और अपने को कृतत्य मानता है उसके अनन्तर धर्म का सेवन करता है। वह धर्म यज्ञ तथा श्रवण इस भेद से दो रूप वाला है। उसी दो रूपवाले धर्म का सदा सेवन किया ।।४।।

आभास—पूर्वाध्यायान्ते त्वद्वाक्यं कर्तव्यमिति ऋषिमुखात् श्रुत्वा, सन्तुष्टो विज्ञापयितुमादौ तं स्तौतीत्याह—

आभासार्थ—पहले अध्याय के अन्त में तुम्हारे कहे हुए वाक्य को करना चाहिये ऐसा ऋषि के मुख से सुनकर संतुष्ट हुए और उनकी प्रार्थना करने के लिये पहले उनकी स्तुति करते हैं।

मैत्रेय उवाच-श्लोक—**एवमाविष्कृताशेषगुणकर्मोदयो मुनिम् ।**
सव्रीड इव तं सम्राडुपारतमुवाच ह ॥१॥

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी कहते हैं:- हे विदुरजी इस प्रकार जब कर्दमजी ने मनुजी के सम्पूर्ण गुणों और कर्मों की श्रेष्ठता का वर्णन किया तो उन्होंने उन निवृत्ति परायण मुनि से संकोच के साथ कहा ॥१॥

सुबोधिनी—एवमिति । आविष्कृता: प्रकटीकृता: सर्वे **गुणा:कर्माणि, अभ्युदयश्च** यस्य, गुणकर्मणां वाऽभ्युदयो यस्य । गुणोदय: सर्वदेवाधिष्ठानात् । धर्माधिपालनात् कर्माभ्युदय: । अन्यथा कथनं व्यावर्तयति **मुनिमिति सव्रीड इव** स्वकीर्तिश्रवणात्, प्रत्याख्यानशङ्कया वा कन्यार्थं प्रार्थनायामपि । **सम्राडिति** । महत: सर्वमेव वचनं शोभाकरम् । **उपारतं** तूष्णींभूतम् । उप समीपे कन्यायामासमन्ताद्रतं वा । हेत्याश्चर्ये । न हि महाराज: कंचिदेवं प्रार्थयति ॥१॥

व्याख्यार्थ—प्रकट किये हैं सभी गुण, कर्म और अभ्युदय जिनके अथवा प्रकट किया है गुण कर्मों का अभ्युदय जिसका सब देवताओं का उनमें निवास था इसलिए तो उनमें गुणों का उदय वा और धर्म के सम्यक्रूप से पालन करने के कारण कर्म का अभ्युदय था। उनका कथन अन्यथा नहीं था इसको बताने के लिए मुनि पद दिया है अर्थात् मुनि कभी अन्यथा नहीं बोलते। मुनि ने राजा को उसकी कीर्ति सुनाई थी अत: वह लज्जित सा हो गया। अथवा राजा के लज्जित होने का यह भी कारण हो सकता है कि मैं मुनि को अपनी कन्या देने की बात कहूँगा कहीं वे मेरी इस बात को अस्वीकार न करदें। सम्राट् पद इस बात को सूचित करता है कि बड़ों के सभी वचन शोभाकारक होते हैं। उपारतं के दो अर्थ हैं एक तो यह कि मुनि जब चुप हो गये (तब राजा बोला) दूसरा अर्थ उप+आरतं ऐसा पदच्छेद करने पर है कन्या के समीप में कन्या में पूर्ण रूप से अनुरक्त (मुनि से राजा बोले) 'ह' आश्चर्य अर्थ में है आश्चार्य यह है कि महाराज कभी किसी से प्रार्थना नहीं करते। यहां तो महाराज मुनि से प्रार्थना करते हैं यह आश्चर्य है।

आभास—प्रथमं ब्राह्मणक्षत्रिययोर्विवाहो नोचित इत्याशङ्क्य, भगवत्कृत एव तयो: संबन्ध इत्यन्योऽन्योपकारेण तुल्यतामापादयति—ब्रह्माऽसृजदिति त्रिभि:—

आभासार्थ—सर्व प्रथम तो ब्राह्मण और क्षत्रिय का विवाह सम्बंध हो सो उचित नहीं है ऐसी आशंका करके यह सम्बन्ध तो भगवान् ने ही किया है ब्राह्मण और क्षत्रिय एक दूसरे का उपकार करने के कारण समान हो हैं इसे तीन श्लोकों से कहते हैं।

मनुरुवाच-श्लोक—**ब्रह्माऽसृजत्स्वमुखतो युष्मानात्मपरीप्सया ।**
छन्दोमयस्तपोविद्यायोगयुक्तानलम्पटान् ॥२॥

श्लोकार्थ—मनुजी ने कहा, हे मुने वेदमूर्ति भगवान् ब्रह्माजी ने अपने वेदमय शरीर की रक्षा के लिए तप, विद्या और योग से सम्पन्न एवं विषयों में अनासक्त आप लोगों को अपने मुख से प्रकट किया ॥२॥

सुबोधिनी-प्रथमतो **ब्रह्मा** वेदमयः **स्वमुखतो युष्मान् सृजत्** । ब्राह्मणानसृजत् । **आत्मपरीप्सया** आत्मनः स्वस्य वेदस्य पर्याप्तुमिच्छया, रक्षार्थं वा । ब्राह्मणव्यतिरेकेण वेदानां यज्ञानां वा पर्याप्तिः पूर्तिर्न भवति । **छन्दोमय** इति सर्ववेदात्मकः । ते ब्राह्मणास्त्रिविधाः; तपोयुक्ताः योगयुक्ताः, भगवदुपासनायुक्ता वा । त्रितययुक्ता मुख्याः । **अलम्पटानि**ति विषयलाम्पट्यं ब्राह्मणानां दोषः, तपस्यादयो गुणाः ॥२॥

व्याख्यार्थ—सबसे पहले जिनका वेदमय शरीर है उन ब्रह्माजी ने अपने मुख से आप लोगों की ब्राह्मणों की सृष्टि की । आत्मपरीप्सया का अर्थ है अपनी तथा वेद की पूर्ति के लिए अथवा अपने वेदमय शरीर की रक्षा के लिए आपको उत्पन्न किया । ब्राह्मण के बिना वेदों की अथवा यज्ञों की पूर्ति नहीं हो सकती । सर्ववेदात्मक को छन्दोमय कहते हैं । वे ब्राह्मण तीन प्रकार के हैं (१) तपोयुक्त (२) योगयुक्त (३) भगवद् उपासना से युक्त । जिनमें ये तीनों गुण हो वे मुख्य होते हैं । अलम्पटान् यह पद इसलिए दिया है कि विषय लम्पट होना ब्राह्मणों के लिए दोष है और तपस्या आदि ये ब्राह्मणों के लिये गुण हैं ॥२॥

आभास—एवं गुणदोषाभावयुक्तान् ब्राह्मणान्निरूप्य, क्षत्रियान्निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह गुण वाले तथा दोष के अभाव वाले ब्राह्मणों का निरूपण करके अब क्षत्रियों का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**तत्त्राणायाऽसृजच्चाऽस्मान् दोःसहस्रात्सहस्रपात् ।**
हृदयं तस्य हि ब्रह्म क्षत्रमङ्गं प्रचक्षते ॥३॥

श्लोकार्थ–आप (ब्राह्मणों) की रक्षा के लिये सहस्रचरणों वाले विराट् पुरुष ने अपनी सहस्रों भुजाओं से हम क्षत्रियों को उत्पन्न किया इस प्रकार ब्राह्मण उनके हृदय और क्षत्रिय शरीर कहे जाते हैं ॥३॥

सुबोधिनी - **तत्त्राणायेति** । ब्राह्मणानां त्राणायाऽस्मान् क्षत्रियान् **दोःसहस्रात्** । वरेणाऽन्यस्यापि सहस्रबाहवो भवन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह-**सहस्रपादिति** । वेदो हि ब्राह्मणेषु स्थितो भगवता रक्ष्यते । रक्षणे च बाहवः करणम् । तत्र जाताः क्षत्रियाः । शब्दप्राधान्येन ब्राह्मणानां सृष्टिः, अर्थप्राधान्येन क्षत्रियाणामिति योनिभेदोऽपि विवाहार्थः सूचितः । उभयोरन्योऽन्योपयोगमाह-**हृदयं तस्य हि ब्रह्मे**ति । **तस्य** भगवतः, ब्रह्मब्राह्मणाभिमानिनी देवता, हृदयमन्तःकरणम्, आत्मा मध्यमिति यावत् । **क्षत्रं** क्षत्रियाभिमानिनी देवता, **अङ्गम**वयवाः । **प्रचक्षत** इति प्रमाणम् । यथाऽङ्गव्यतिरेकेणात्माऽवसीदति । एवमात्मव्यतिरेकेणाप्यङ्गान्यवसीदन्ति ॥३॥

व्याख्यार्थ—ब्राह्मणों की रक्षा के लिये हजारों हाथों से हम क्षत्रियों को (उत्पन्न किया) वरदान से अन्य भी हजार हाथ वाले होते हैं वे न लिये जाय इसके लिये सहस्रपाद् पद दिया है वरदान से हजार हाथ वाले हुऐ थे परन्तु हजार पैर वाला विराट् पुरुष के सिवाय अन्य कोई नहीं हुआ। वेद ब्राह्मणों में स्थित हैं उस (वेद) को रक्षा भगवान् करते हैं। रक्षा के लिये हाथ ही काम में आते हैं। हाथों से ही क्षत्रिय हुए हैं। शब्द प्राधान्य से ब्राह्मणों की और अर्थ प्राधान्य से क्षत्रियों की सृष्टि हुई,इसलिए इस प्रकार योनिभेद परस्पर विवाह के लिये है यह सूचित होता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय एक दूसरे के उपयोग में आते हैं इसे 'हृदयंतस्य' आदि से बताया है। ब्रह्म कहते हैं ब्राह्मणाभिमानिनी देवता वह हृदय अन्तःकरण है अर्थात् आत्मा या मध्य। क्षेत्र का अर्थ है क्षत्रियाभिमानिनी देवता वह अङ्ग (अवयव) हैं। ऐसा कथन प्रामाणिक है उसके लिये प्रचक्षते पद दिया है। जैसे बिना अंगों के आत्मा को कष्ट होता है ऐसे ही बिना आत्मा के अङ्ग कष्ट प्राप्त करते हैं ॥३॥

श्लोक—**अतो ह्यन्योन्यमात्मानं ब्रह्म क्षत्रं च रक्षतः।**
रक्षति स्माऽव्ययो देवः स यः सदसदात्मकः ॥४॥

श्लोकार्थ—अतः एक ही शरीर से सम्बंध होने के कारण अपनी - अपनी तथा एक दूसरे की रक्षा करने वाले उन ब्राह्मणों और क्षत्रियों की वास्तव में रक्षा हरि ही करते हैं जो समस्त कार्य कारण रूप होकर भी वास्तव में निर्विकार हैं।

सुबोधिनी-अत इति। **अतोऽन्योन्यं ब्रह्म च क्षत्रं च रक्षतः**, तथा सत्यात्मानमेव रक्षतः। हि युक्तोऽयमर्थः। यो हि आत्मार्थं अन्यान् पालयति; स हि आत्मानमेव पालयति। एवमन्योन्यपालनमुक्त्वा उभयोः साकाङ्क्षत्वेन पालकत्वमाशङ्क्य स्वतन्त्रेण भगवता पाल्यमानाः अन्योन्यं पालयन्तीति वक्तुमाह—**रक्षति स्मेति**। **स** हि **देवः** स्वतन्त्रः सर्वानेव पालयति। पालने हेतुः-**सदसदात्मक** इति। सर्वात्मकोऽपि निर्विकार इत्याह—**अव्यय** इति। **स्मेति** प्रमाणम्। एवं च भगवता कृत्वा यथाऽन्योन्यरक्षा तथा कामकन्यकाभ्यामप्युभयो रक्षा कर्तव्या। तव कामोऽस्माभिः पूरणीयः कन्यादानेनास्मत्कामोऽपि त्वया पूरणीयो विवाहेनेति भावः ॥४॥

व्याख्यार्थ— अतः ब्राह्मण और क्षत्रिय आपस में एक दूसरे की रक्षा करते हैं। ऐसा होने पर वे दोनों आत्मा की ही रक्षा करते हैं। यह अर्थ उचित भी है। जो अपनी आत्मा के लिये दूसरों की रक्षा करता है वह अपनी आत्मा की ही रक्षा करता है। इस तरह परस्पर एक दूसरे का पालन कर अब दोनों की पालकता (रक्षण) साकांक्ष है ऐसी आशंका करके स्वतन्त्र रूप से भगवान् के द्वारा पालित होते हुए ये ब्राह्मण और क्षत्रिय एक दूसरे की रक्षा करते हैं यह रक्षतिस्म से कहा है। वह देव (भगवान्) स्वतन्त्र है सबकी पालना करता है। इस तरह रक्षा करने में सदसदात्मकः यह हेतु है। अर्थात् भगवान् सद्रूप और असद्रूप दोनों ही है। विशेषता यह है कि सदसदात्मक होते हुए भी वह निर्विकार है यह अव्यय पद से कहा है स्म यह इसमें प्रमाण है। इस तरह भगवान् के द्वारा जैसे एक दूसरे की रक्षा होती है उसी तरह काम और कन्या इन दोनों से

दोनों की रक्षा करनी चाहिये। तुम्हारी कामना को हम कन्यादान से पूर्ण करेंगे और हमारी कामना को तुम इस कन्या के साथ विवाह करके पूर्ण करो ।।४।।

आभास—स कामो विवाहात्मक एवेति वक्तुमन्यानि फलान्येव वचनादेव सिद्धानीति तानि गणयति–तव संदर्शनादेवेति त्रिभिः—

आभासार्थ—वह काम विवाहात्मक ही है इसके कहने से अन्य फल वचन से ही सिद्ध हो जाते हैं 'उन्हीं' को तीन श्लोकों से गिनाते हैं।

श्लोक—**तव संदर्शनादेव छिन्ना मे सर्वसंशयाः ।**
यत्स्वयं भगवान् प्रीत्या धर्ममाह रिरक्षिषोः ।।५।।

श्लोकार्थ—आपके दर्शन मात्र से ही मेरे सब सन्देह दूर हो गये क्योंकि आपने मेरी प्रशंसा के मिससे स्वयं ही प्रजापालन की इच्छा वाले राजाओं के धर्मों का बड़े प्रेम से निरूपण किया ।।५।।

सुबोधिनी-ब्राह्मणानां स्थाने राजादयो धर्मनिर्णयार्थमप्यागच्छन्ति; तदस्माकं प्रथमत एव जातम्। यतस्तव **संदर्शनादेव** सर्वे **संशयाः संछिन्नाः**। एवमेव तपः कार्यम्, भगवत्सेवा च। तथा सत्येवं प्रसन्ने भगवति सर्वं एव पुरुषार्थः सेत्स्यति नाऽन्यथेति। पूर्वं ये संदेहाः स्थिताः सर्वार्थेषु, ते सर्वे त्वद्दर्शनेनैव जातेन निश्चयेन छिन्ना इत्यर्थः। को धर्मो राज्ञामित्यपि संदेहो गत इत्याह-**यत्स्वयमिति**। यद्यस्माद्दर्शनानन्तरं **प्रीत्या रिरक्षिषोः** पालकस्य, पालनेच्छोर्वा; **भगवानेव धर्ममाह**। अतः क्षत्रियाणां धर्मः प्रजापालनं परमो धर्म इति। अतो वाक्यादेव धर्मसंदेहो गतः ।।५।।

व्याख्यार्थ—ब्राह्मणों के स्थान पर राजा आदि धर्म का निर्णय कराने के लिये भी आते हैं। वह तो हमारे लिये पहले से हो हो गया। क्योंकि आपके दर्शन से ही सब सन्देह मिट गये। जिस तरह आप तप और भगवत्सेवा करते हैं उसी तरह हम को तप तथा भगवत्सेवा करनी चाहिये। ऐसा करने से भगवान् प्रसन्न होते हैं और भगवान् के प्रसन्न होने पर सभी पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं; अन्यथा नहीं। पहले जो इन पुरुषार्थों के विषय में सन्देह थे वे सब सन्देह आपके दर्शन मात्र से ही निश्चयरूप से मिट गये। राजाओं का धर्म क्या है यह सन्देह भी चला गया इसके लिये 'यत्स्वयं' यह पद दिया है और आपने दर्शन के अनन्तर, प्रेमपूर्वक रक्षकों (राजाओं के धर्मों को) स्वयं आप (भगवान्) ने कहे। अतः क्षत्रियों का परम धर्म है प्रजा की रक्षा करना। इसलिये वाक्य से ही धर्म का संदेह चला गया ।।५।।

आभास–महापुरुषाणां दर्शनमेव स्वतन्त्रफलमिति चेत्; तदपि वचनव्यतिरेकेणैव जातमित्याह—

आभासार्थ—महापुरुषों का दर्शन ही स्वतन्त्र फल है ऐसा कहो तो वह बिना कहे ही हो गया।

श्लोक—दिष्टया मे भगवान् दृष्टो दुर्दर्शो योऽकृतात्मनाम् ।
दिष्टया पादरजः स्पृष्टं शीर्ष्णा मे भवतः शिवम् ।।६।।

श्लोकार्थ—जो अकृतात्मा (देह से अलग आत्मा को न जानने वाले) है उनके लिये आपका दर्शन बहुत दुर्लभ हे । मेरा बड़ा भाग्य है जो मुझे आपका दर्शन हुआ और मैं आपके चरणों की मङ्गलमय रज को अपने सिर पर चढा सका ।।६।।

सुबोधिनी-दिष्टयेति । भगवान् भवान् अकृतात्मनां दुर्दर्शोऽपि मे मया दिष्टया दृष्टः । यैः संघातात्पृथगात्मा न कृतः, भगवदर्थं वाऽन्तःकरणं न कृतम्; तेऽकृतात्मानः । आत्मयोग्यदेहार्थं वा यैर्भूतानि न संस्कृतानि तादृशस्य तव दर्शने परलोकोपयोगि सर्वमेव कार्यं सिद्धमिति परलोकसंदेहोऽपि गतः । पापक्षयार्थं प्रायश्चित्तमिति किमपि न प्रष्टव्यमित्याह-दिष्टयेति । ते पादरज एव शिवं कल्याणरूपं मे मया शीर्ष्णा स्पृष्टं मच्छिरसा वा । 'पुनन्तु मां ब्राह्मणपादपांसवः' इति सर्वप्रायश्चित्तापेक्षया इदमेव वरम् । किञ्च । न केवलं पापनिवर्त्तकं किन्तु कल्याणकरमपीति शिवमित्युक्तम् । शिरसा चेत्स्पृष्टमङ्गानामपि पापं गच्छत्येव, प्रधानत्वात् । दैवगत्या जातमिति दिष्टया ।।६।।

व्याख्यार्थ—भगवान् (आप), अकृतात्माओं को दर्शन नहीं देते परन्तु मैंने तो आपके दर्शन कर लिये यह बहुत प्रसन्नता की बात है । अकृतात्मा उन्हें कहते हैं जिनने देह से आत्मा को अलग नहीं किया है अर्थात् देह ही को आत्मा मानते हैं अथवा जिनका अन्तःकरण भगवान् के लिये नहीं हैं, उन्हें भी अकृतात्मा कहते हैं । जिनने देह से आत्मा को अलग नहीं किया है अर्थात् देह को ही आत्मा मानते हैं । अथवा जिनका अन्तःकरण भगवान् के लिये नहीं है उन्हें भी अकृतात्मा कहते हैं अथवा आत्मा के योग्य देह के लिये जिनने पञ्चभूतों को संस्कृत नहीं किया ऐसे लोगों का भी आपके दर्शन में सब कार्य सिद्ध हो गया इसलिये परलोक का सन्देह भी चला गया । अतः पापक्षय के लिये जो प्रायश्चित बताया है उसे भी कुछ पूछने की आवश्यकता तो नहीं है । यह दिष्ट्या से बताया है। आपके चरणों की रज ही कल्याण रूप है उसको मैंने शिरोधार्य किया है अथवा उस रज को मेरे सिर ने धारण किया है । सब प्रकार के प्रायश्चितों की अपेक्षा तो ब्राह्मण के चरण की रज का स्पर्श ही पवित्र करने वाला है । इसलिये कहा है 'पुनन्तु मां ब्राह्मण पादपांसवः' ब्राह्मणों की चरण की धूलि मुझे पवित्र करे । ब्राह्मणों की चरण की रज में यह विशेषता है कि वह केवल पाप का ही नाश नहीं करती किन्तु कल्याण भी करती है इसलिये पादरज का विशेषण 'शिवम्' पद दिया है । प्रायश्चित से पापनिवृत्ति तो होती है किन्तु कल्याण उससे नहीं होता है । धूल का सिर से स्पर्श इसलिये किया जाता है कि सब अङ्गों में सिर ही प्रधान है इसलिये शेष अङ्गों का पाप भी उस स्पर्श से निवृत्त हो जाता है । यह आप का दर्शन तथा आपकी चरण रज का स्पर्श मात्र से हो गया इसे बताने के लिये दिष्ट्या पद दिया है ।।६।।

आभास—ब्राह्मणो हि क्षत्रियमनुशास्ति । यथाऽऽचार्योऽन्तेवासिनं 'सत्यं वद' इत्यादिभिः । तदप्यवचनादेव जातमित्याह—

आभासार्थ—ब्राह्मण क्षत्रिय के ऊपर अनुशासन करता है। जैसे आचार्य शिष्य के ऊपर 'सच बोल' इत्यादि अनुशासन करता है। यह अनुशासन तो मेरे लिये बिना ही प्रश्न के हो गया।

श्लोक—**दिष्टया त्वयाऽनुशिष्टोऽहं कृतश्चानुग्रहो महान् ।**
अपावृतैः कर्णरन्ध्रैर्जुष्टा दिष्टयोशतीर्गिरः ॥७॥

श्लोकार्थ—मेरे भाग्योदय से ही आप ने मुझे राजधर्म की शिक्षा देकर मुझपर महान् अनुग्रह किया है और मेंने भी शुभ प्रारब्ध का उदय होने से ही आपकी पवित्र वाणी कान खोलकर सुनी है ॥७॥

सुबोधिनी-दिष्टचे ति । वचनव्यतिरेकेण प्रजापालनं कर्तव्यमिति धर्मोऽप्युपदिष्टः । **'तद्द्वयं निर्व्यलीकेन'** इति वाक्यात् **अनुग्रहश्च कृतः** । महतां मुखात् भगवद्गुणाः श्रोतव्या इत्यप्यस्माकं जातमित्याह-**अपावृतैरिति** । योऽर्केन्द्वग्नीन्द्रेति । एते हि भगवतः सर्वपालका गुणाः; तत्प्रतिपादका एव कमनीया **गिरः** ताः पुनः शब्दान्तरैरावरणरहितैः **कर्णरन्ध्रैः** अकस्माद् भाग्येनैव **जुष्टाः** सेविताः ॥७॥

व्याख्यार्थ—बिना हो प्रश्न के प्रजा का पालन करना चाहिये इस धर्म का आपने मुझे उपदेश दिया और 'तद्द्वयं निर्व्यलीकेन' इस वाक्य से अनुग्रह भी किया। महत् पुरुषों के मुख से भगवान् के गुणों को सुनना चाहिये यह भी मेरे लिये हो गया। इसे 'अपावृतैः कर्णरन्ध्रैः' से सूचित किया है। 'योऽर्केन्द्वग्नीन्द्रः' इत्यादि जो भगवान् के सर्वपालक गुण हैं उन्हीं की सुन्दर रूप से प्रतिपादन करने वाली वाणी है उन्हें अन्य किन्हीं शब्दों के आवरण से रहित ऐसे कानों के छिद्रों से अकस्मात् ही भाग्य से हो सुनने को मिली अर्थात् सेवन करने को मिली ॥७॥

आभास—एवं सद्दर्शनेन यावद्भाव्यं तावत्सर्वं जातम्। अतः परमन्यत् विज्ञापयामीत्याह—

आभासार्थ—इस तरह सज्जनों के दर्शन से जो होना चाहिये वह सब हो गया। अब इससे आगे मैं आपसे यह प्रार्थना करता हूँ।

श्लोक—**स भवान् दुहितृस्नेहपरिक्लिष्टात्मनो मम ।**
श्रोतुमर्हसि दीनस्य श्रावितं कृपया मुने ! ॥८॥

श्लोकार्थ—हे मुने ! इस कन्या के स्नेहवश मेरा चित्त बहुत चिन्तित हो रहा है अतः मुझ दीन की यह प्रार्थना आप कृपा पूर्वक सुने ॥८॥

सुबोधिनी–स भवानिति । सामान्यत इयं प्रार्थना । **स** महान् भवान् । '**कन्यापितृत्वं दुःखाय**' इति न्यायेन दुहितृस्नेहेन परितः क्लिष्ट आत्मा यस्य । न केवलं दुहितृमात्रं बाधकं किन्तु स्नेह इति तथोक्तम् । **ममेति** दीनतायामयोग्यता, अतः कृपाः । **मुन** इति प्रकृतार्थपरिज्ञानाय संबोधनम् । **श्रावितं** विज्ञापितम्, नारदादिद्वारा भगवता वा पूर्वं श्रावितम्, श्रवणार्थमुक्तं वा ॥८॥

व्याख्यार्थ—सामान्य रूप से यह प्रार्थना है—आप महान् हैं । कन्या का पिता होना महा–दुःखदायी है 'कन्यापितृत्वं दुःखाय' इस नीति से लड़की के स्नेह से हर तरह से जिसकी आत्मा दुःखी है । केवल लड़की के कारण से ही दुःख नहीं है किन्तु लड़की में स्नेह है इस कारण से यह कष्ट है । दीनता में मेरी अयोग्यता है अतः आप कृपा करके मेरी बात सुनें । 'मुने' यह सम्बोधन इसलिये दिया है कि मेरी इस परिस्थिति को आप सब प्रकार से जान सकते हैं । 'श्रावितम्' का अर्थ है आपने पहले नारद आदि के द्वारा कहलवाया था अथवा सुनने के लिये कहा था ॥८॥

आभास—एवं श्रोतव्यमित्युक्त्वा तद्वाक्यमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार हमारे विचार आपको सुनने चाहिये ऐसा कहकर उसके वाक्य को कहा ।

श्लोक—**प्रियव्रतोत्तानपदोः स्वसेयं दुहिता मम ।**
अन्विच्छति पतिं युक्तं वयःशीलगुणादिभिः ॥९॥

श्लोकार्थ—यह मेरी कन्या प्रियव्रत और उत्तानपाद की बहिन है, अवस्था शील और गुण आदि में अपने योग्य पति को प्राप्त करने की इच्छा रखती है ॥९॥

सुबोधिनी–प्रियव्रतेति । **यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वै पिता । नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥१॥** भ्रातुरभावे विवाह्या न भवतीति **प्रियव्रतोत्तानपदोः स्वसे**त्युक्तम् । उभयोश्च कीर्तनं '**नैकः पुत्रः पुत्रो भवति**' इति वाक्यात् । पिता प्रसिद्ध इति वक्तुं **दुहिता ममे**त्युक्तम् । अकामायाः कामनभयुक्तमित्यन्विच्छति पतिमिति । दोषाभावाय **युक्त**मिति । कामार्थं योगो मास्त्विति वक्तुं **वयःशीलगुणादिभि**रित्युक्तम् । वयः कामार्थम्, शीलं धर्मार्थम्, गुणा अर्थार्थाः । आदिशब्देन ज्ञानादयो मोक्षार्थाः ॥९॥

व्याख्यार्थ—जिसके भाई न हो और जिसके पिता का पता नहीं हो ऐसी कन्या के साथ बुद्धिमान विवाह न करे क्योंकि उसकी उसमें पुत्रिका धर्म की शंका होती है, भाई के अभाव में कन्या विवाह के योग्य नहीं होती इसलिये यहाँ प्रियव्रत और उत्तानपाद इनकी यह बहिन है । ऐसा कहा यहाँ एक भाई का नाम लेना ही पर्याप्त था, दो भाईयों का नाम क्यो लिया उसका कारण यह है कि 'एक पुत्र, पुत्र में नहीं है' ऐसा वाक्य है नैक ! पुत्रः पुत्रो भवति' इसका पिता भी प्रसिद्ध है इसको कहने के लिये मेरी यह लड़की है ऐसा कहा । यदि इस कन्या की इच्छा विवाह की न हो तो उसे कैसे स्वीकार किया जाय इसके लिये पतिम् अन्विच्छति पद दिया है । यह अपने लिये पति चाहती है । इसमें कोई दोष नहीं है । इसके लिये युक्तम् ऐसा पद दिया है । अब यह वयस्क भी है

इसे वय: शीलगुणादिभि: से प्रकट किया है इस की अवस्था भी काम के योग्य है, शील धर्म के योग्य है, गुण भी अर्थ के लिये हैं । 'आदि शब्द से मोक्ष में उपयोगी होने वाले ज्ञान आदि भी इसमें है ।।९।।

आभास—एवं चतुर्विधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं स्त्रियाः सर्वं पुरुषाधीनमिति तादृशं पतिं वाञ्छति । तादृशः कश्चिदन्यः तथा मनसा स्वीकृतः स्यात्, तथापि निषिद्धेति तन्निवृत्तिं वदन् त्वदग्रहणे नाऽस्त्येवास्याः पतिरित्यभिप्रायेणाऽऽह—

आभासार्थ—इस तरह चारों प्रकार के पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये स्त्री वैसा पति चाहती है जो चारों प्रकार के पुरुषार्थ को दे सकें क्योंकि स्त्री का सब पुरुष के ही अधीन है । यदि ऐसी आशंका हो कि उस प्रकार का पुरुष इसने मन से अन्य कोई स्वीकार कर लिया हो तो इसका स्वीकार निषिद्ध हो, किन्तु इसने इस प्रकार के किसी अन्य को स्वीकार नहीं किया है अत: यदि आप इसे स्वीकार न करेंगे तो यह किसी अन्य को अपना पति नहीं बनायेगी—

श्लोक—**यदा तु भवतः शीलश्रुतरूपवयोगुणान् ।**
अशृणोन्नारदादेषा त्वय्यासीत्कृतनिश्चया ।।१०।।

श्लोकार्थ—जब से इसने नारदजी के मुख से आपके शील, विद्या, रूप, आयु और गुणों का वर्णन सुना है तब से आपको अपना पति बनाने का निश्चय कर चुकी है ।।१०।।

सुबोधिनी—**यदा त्विति** । सर्वान् वरान् स्वयोग्यान् श्रोतुं प्रवृत्ता यदा तु भवतः शीलादिकं श्रुतवती ततः प्रभृति त्वय्येव **कृतनिश्चया आसीत्** । **शीलमाचारः**, **श्रुतं** विद्यादिजनितज्ञानम्, **रूपं** सौन्दर्यम्, **वयः** तारुण्यम्, **गुणा** औदार्यादयः । एतान् यदा **अशृणोत्** । नारदो हि देवकार्यकर्त्ता प्रसङ्गमुत्पाद्य वदति । **त्वय्येव कृतो निश्चयः** ममायमेव पतिरिति ।।१०।।

व्याख्यार्थ—जब इसने अपने योग्य वरों के नाम सुने तब आपके शील आदि को इसने सुना उसी दिन से इसने आपको ही अपना पति बनाना निश्चित किया था । शीलं (आचार), श्रुत (विद्या आदि से उत्पन्न ज्ञान), रूपं (सुन्दरता), वयः (युवावस्था), गुणाः (उदारता आदि) इनको जब इसने नारदजी से सुना क्योंकि नारदजी देवताओं का कार्य करने वाले हैं । ये प्रसङ्गः छेड़कर बात कहते हैं अतः तब से इसने यह निश्चय कर लिया है कि ये ही मेरे पति हैं ।।१०।।

आभास—एवमपि सति पित्रधीना कन्येति । पित्रा देया इति मया दीयमानां गृहाणेत्याह—

आभासार्थ—यद्यपि इसने तो आपको अपना पति बनाना निश्चित कर लिया है परन्तु कन्या

पिता के अधीन होती है पिता कन्या को देता है अतः मेरे द्वारा दी जाती हुई इसको आप ग्रहण करें ।

श्लोक—**तत्प्रतीच्छ द्विजाग्र्येमां श्रद्धयोपाहृतां मया ।**
सर्वात्मनानुरूपां ते गृहमेधेषु कर्मसु ।।११।।

श्लोकार्थ—हे द्विजश्रेष्ठ ! मैं श्रद्धा से आपको यह कन्या समर्पण करता हूं, आप इसे स्वीकार कीजिये । यह गृहस्थोचित कार्यों के लिए सब प्रकार से आपके योग्य है ।।११।।

सुबोधिनी- तत्प्रतीच्छेति । द्विजाग्र्येति ब्राह्मणानां पित्रादिदत्ताया एव विवाहो मुख्यः, न तु गान्धर्वादिरिति सूचितम् । **इमामिति** कालान्तरविवाहं व्यावर्तयति । रूपप्रदर्शनेन प्रलोभयति च '**श्रद्धया दत्तमनभिप्रेतमपि गृह्णीयात्**' इति ग्रहणार्थमाह—**श्रद्धयोपाहृतामिति** । **सर्वात्मनानुरूपामिति** भगवता त्वदर्थमेव निर्मितेति ज्ञापितम्, नतु साधारणी । न केवलं कामार्थमनुरूपा । किन्तु, **गृहमेधेषु कर्मसु** । गृहेषु मेधा बुद्धिर्यैः, यैश्च कर्मभिर्गार्हस्थ्यं सिद्ध्यतीत्यर्थः ।।११।।

व्याख्यार्थ—'द्विजाग्र्य'—यह सम्बोधन इस बात का सूचक है कि ब्राह्मणों को पिता आदि के द्वारा दी हुई कन्या के साथ ही विवाह करना मुख्य है, गान्धर्व आदि विवाह नहीं करना चाहिये कालान्तर में विवाह होगा ऐसा नहीं समझना यह 'इमाम् से बताया है । और 'इमां' का दूसरा अर्थ यह भी है कि इसको ऐसा संकेत होने से मुनि जब उसे देखता है तो रूप के प्रदर्शन से राजा उन्हें लुभाता है, 'अपने को अच्छी न लगने वाली भी वस्तु हो परन्तु उसे कोई श्रद्धा से देता है तो उसे ग्रहण करना चाहिये' इसलिये 'श्रद्धयोपाहृताम्' ऐसा पद दिया है । भगवान् ने इस कन्या का निर्माण आप ही के लिये किया है यह कोई सर्व साधारण नहीं है यह 'सर्वात्मनानुरूपाम्' से ज्ञात होता है यह केवल काम-पिपासा की शान्ति के लिये ही नहीं है किन्तु गृह कामों में भी इसकी बुद्धि है । जिन कामों से गृहस्थ की सिद्धि होती है वे सब इसमें है । ११।।

आभास—एवं कन्याविषयकं सर्वमुपपाद्य वरविषयकमुपपादयति—उद्यतस्येति त्रिभिः—

आभासार्थ—इस तरह कन्या के विषय की सब बातें बताकर अब वर के विषय की बातें बताते हैं—

श्लोक—**उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शस्यते ।**
अपि निर्मुक्तसङ्गस्य कामरक्तस्य किं पुनः ।।१२।।

श्लोकार्थ—जो भोग स्वतः प्राप्त हो जाय उसकी अवहेलना करना विराम पुरुष

के लिये भी उचित नहीं है, फिर विषयासक्त की तो बात ही क्या है ।।१२।।

सुबोधिनी-बहिर्गतो हि विषयः कामे सत्येव गृह्यते । उभयोर्योगसिद्धौ हि विश्लेषोऽशक्य एव **च** ।१। उभयोः कामकाम्ययोरेकपदेन निरूपण-मैक्यबोधाय । **उद्यतस्य** कार्योन्मुखस्य **प्रतिवादो** निराकरणं **न शक्यते** कर्तुम् । न शक्यत इत्यर्थात् । स एव वा शक्तिविषयो न भवति । उद्यतस्य स्वतः प्राप्तस्य कामस्य काम्यविषयस्य वा प्रतिवादो नास्ति । सङ्गत्यागेन कामः काम्यं वा निराकर्तुं शक्यत इत्याशङ्कयाह-**अपिनिर्मुक्तसङ्गस्येति** । कामेन रक्तस्य व्यापृतस्य प्रतिवादो दूरापास्त इति किं वक्तव्यमित्यर्थः ।।१२।।

व्याख्यार्थ—'बाह्य' विषय (भोग) कामना होने पर ही होता है जब काम्य (जिसकी इच्छा की जाती है) और काम इन दोनों का योग हो जाय तब उनका अलग होना बहुत कठिन है' काम और काम्य का एक पद से निरूपण इनकी एकता को बताने के लिये किया गया है । उद्यत् कर्योन्मुख (अपने सामने आया हुआ) का प्रतिवाद (निषेध) करना बहुत कठिन है । अर्थात् उसको मना कर ही नहीं सकते । अथवा वह मना करना अपनी शक्ति के बाहर है । स्वय प्राप्त भोग का निषेध कामी कभी कर नहीं सकते । यह शंका हो कि सङ्ग के परित्याग से काम और भोग का त्याग हो सकता है उसके लिये कहते हैं कि जो मुक्तसंग हैं वे भी इसे नहीं छोड़ सकते यह 'अपि नियुक्त संगस्य' इससे स्पष्ट है तो जो कामासक्त हैं वो उसे छोड़ दें यह तो कदापि नहीं हो सकता ।।१२।।

आभास—कामे उद्यतानङ्गीकारे बाधकमाह—

आभासार्थ—स्वतः प्राप्त भोगों को अंगीकार न करने में बाधक बताते हैं—

श्लोक—**य उद्यतमनादृत्य कीनाशमभियाचते ।**
क्षीयते तद्यशः स्फीतं मानश्चाऽवज्ञया हतः ।।१३।।

श्लोकार्थ—जो पुरुष स्वयं प्राप्त हुए भोग का आदर नहीं करता है और किसी कृपण के आगे हाथ फैलाता है उसका बहुत फैला हुआ यश भी नष्ट हो जाता है और दूसरों के तिरस्कार से मान भङ्ग भी होता है ।।१३।।

सुबोधिनी-य उद्यतमिति । उद्यतं स्वतः प्राप्तमनङ्गीकृत्य; अनुद्यतं **योऽभियाचते** तस्य स्फीतमपि यशः क्षीयते । **मानश्चाऽवज्ञया हतो** भवति । अनुद्यतमिति वक्तव्ये **कीनाश** कृपण-मिति वचनम् ; महतोऽप्यनुद्यतत्वसूचनार्थम् । कृपणगत एव विषयः सर्वेषामप्राप्यो भवति । कृपणो हि विषयमप्यदत्त्वा कीर्तिं च ख्यापयति स्वोत्कर्षार्थम् । अतस्तद्यशः **क्षीयते । स्फीतमपीति** कृपणजनिताकीर्तेः पुष्टत्वात् । एवं बहिर-पवादमुक्त्वाऽऽन्तरमप्युपचारमाह-**मानश्चे**ति । **'मानो हि महतां धनम्'** इति । अङ्गीकृतग्लानौ माननाशोऽसह्यः । हत इति पुनः प्ररोहाभावाय ।।१३।।

व्याख्यार्थ—स्वत: प्राप्त को स्वीकार न करके अप्राप्त को चाहता है उसका फैला हुआ यश नष्ट हो जाता है। सम्मान भी तिरस्कार के द्वारा नष्ट हो जाता है। 'य उद्यतमनादृत्य' इस श्लोक में अनुद्यतं योऽभियाचते ऐसा कहना उचित था वैसा न कह कर 'कीनाश', कृपण को कहते हैं। उस कृपण से चाहे वह कैसा भी महान् क्यों न हो (उस कृपण से) वह किसी वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकता इस बात को सूचित करने के लिये ही। कीनाशमभियाचते ऐसा दिया है। कृपण के पास की वस्तु को कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता है। कृपण भोग सामग्री अन्य को न देकर भी अपने उत्कर्ष (बडाई) के लिये अपनी कीर्ति को फैलाता है। अत: मांगने वाले का यश नष्ट हो जाता है मांगने वाले का यश इसलिए नष्ट हो जाता है कि कृपण पुरुष उस मांगने वाले की सर्वत्र अपकीर्ति करता है। इस तरह बाह्य अपवाद कहकर अन्तर उपचार को भी कहते हैं। मानश्चाऽवज्ञयाहत: अवज्ञा (तिरस्कार) उससे सम्मान भी नष्ट हो जाता है, सम्मान ही महापुरुषों का धन है 'मानोहि महतां धनम्' जब ग्लानि होती है तो मान नष्ट होता है और मान का नाश असह्य होता है। हत: यह पद इस बात को सूचित करता है कि मान जब नष्ट हो जाता है तो फिर उस पुरुष में मान का उदय कभी नहीं होता ।।१३।।

आभास-एवं काम्यनिराकरणे बाधकमुक्त्वा तस्मिन् कामनां साधयति—

आभासार्थ—इस तरह काम्य के निषेध करने में बाधक को कह कर उसमें कामना को सिद्ध करते हैं—

श्लोक—**अहं त्वाऽशृणवं विद्वन् ! विवाहार्थं समुद्यतम् ।**
अतस्त्वमुपकुर्वाणः प्रत्तां प्रतिगृहाण मे ।।१४।।

श्लोकार्थ—हे विद्वन् ! मैंने सुना है, आप विवाह करने के लिये उद्यत हैं। आप का ब्रह्मचर्य एक सीमा तक है, आप नैतिक ब्रह्मचारी तो है नहीं। अत: अब आप इस कन्या को स्वीकार कीजिये, मैं इसे आपको अर्पण करता हूं ।।१४।।

सुबोधिनी-**अहमिति**। **त्वां विवाहार्थं समुद्यतमिति** **अहमेव** साक्षादशृ**णवम्** । **विद्वन्निति** संबोधनमयुक्तनिराकरणाय । विवाहं कृत्वैव काम: पूरणीय इति। अतो विवाहेच्छुर्ब्रह्मचारी उपकुर्वाणो भवति। स एव पित्रादिभ्य उपकरोतीति सावधिब्रह्मचारी **उपकुर्वाणः**। **प्रत्तां** दत्तां प्रकर्षेण भार्यात्वेन गृहाण। **मे** मयेति ।।१४।।

व्याख्यार्थ:—आप विवाह करने के लिये तैयार हैं ऐसा मैंने स्वयं ने सुना है, आप विद्वान् हैं अत: अयुक्त नहीं कह सकते हैं। विवाह करके ही आपको काम की पूर्ति करनी चाहिये। जो विवाह की इच्छा रखता है वह ब्रह्मचारी उपकुर्वाण कहा जाता है। जो किसी अवधि तक ब्रह्मचारी होता है वह ही पिता आदि का उपकार करता है इसलिये सावधि ब्रह्मचारी उपकुर्वाण: कहलाता है। अत: आप मेरे से दी जाने वाली इस कन्या को भार्या के रूप में ग्रहण करें यहाँ मे' यह तृतिया अर्थ के में षष्ठी है ।।१४।।

आभास—भगवद्गुणा एवाऽत्राङ्गीकारे हेतुरिति षड्भिरङ्गीकारमाह–

आभासार्थ—भगवान् के गुण ही यहाँ अङ्गीकार में कारण हैं। इसलिये छ श्लोकों के द्वारा अङ्गीकार को कहते है।

कर्दम उवाच श्लोक—**बाढमुद्वोढुकामोऽहमप्रत्ता च तवाऽऽत्मजा।**
आवयोरनुरूपोऽसावाद्यो वैवाहिको विधिः ।।१५।।

श्लोकार्थ—श्री कर्दमजी ने कहा–ठीक है मैं विवाह करना चाहता हूँ और आप की कन्या का अभी किसी के साथ वाग्दान नहीं हुआ है। इसलिये हम दोनों का सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मविधि से विवाह होना ही उचित होगा ।।१५।।

कारिका—**इयं हि भगवद्दासी भगशब्दनिरूपिता।**
ऐश्वर्यादिप्रसिद्ध्यर्थमस्या वर्णनमुच्यते ।।१।।

अनङ्गीकरणे त्वस्याः स्वतः कामेन बाधनात्।
तुल्यत्वं चाभिलषितमत आद्यो निरूपितः ।।२।।

धर्मो वीर्यं द्वितीयेन विध्यादरणवर्णनात्।
यशो हि वर्ण्यते तस्या विश्वावसुनिरूपणात्।।३।।

कान्त्याधिक्यस्य कथनाल्लक्ष्म्याश्चैव निराकृतेः।
सोमसंबन्ध एवोक्तो गन्धर्वस्तु ततः स्फुट ।।४।।

लक्ष्मीवद्वर्णन तस्याः श्रियमिच्छेद्धुताशनात्।
इति वाक्याच्च तस्यापि सम्बन्धो विनिरूपितः ।।५।।

ज्ञानवैराग्ययोर्वाक्ये स्पष्ट एव निरूपिते।
अतोऽस्या वर्णनं तत्र न निषिद्धमिति स्थितिः ।।६।।

कारिकार्थ—यह कन्या भगवान् की दासी है इसलिए इसका भग (ऐश्वर्यादि) शब्दों से निरूपण किया है। ऐश्वर्य आदि की प्रसिद्धि के लिए ही इसका वर्णन किया जाता है ।।१।।

यदि इस कन्या को अङ्गीकार नहीं किया तो फिर स्वतः काम के द्वारा बाधा होगी। दोनों की अभिलाषा (इच्छा) भी समान है अतः आद्य (ब्राह्मविवाह) का निरूपण किया है।।२।।

द्वितीय श्लोक में विधि में आदर का वर्णन किया है इसलिए वीर्य धर्म रूप है। विश्वावसु के निरूपण से उसके यश का वर्णन किया है ।।३।।

यह कान्ति में अधिक है ऐसा वर्णन किया है अतः यह लक्ष्मी से भिन्न है। इसमें केवल

सोम ही का सम्बंध कहा है इसी से गान्धर्व संबन्ध भी आ जाता है ॥४॥

लक्ष्मी की तरह कन्या का वर्णन इसलिए किया है कि लक्ष्मी को अग्नि से प्राप्त किया जाता है। 'श्रियमिच्छेद्धुताशनात्' इस वाक्य से इस कन्या को भी अग्नि के सम्बंध से प्राप्त की जायगी ॥५॥

ज्ञान और वैराग्य के वाक्यों का निरूपण तो स्पष्ट ही है। इसलिए इसका निरूपण वहां निषिद्ध नहीं है अतः ऐसे एश्वर्य भगवान् के जो छ गुण हैं वे इसमें भो हे अतः इन लक्षणों से यह भगवद्दासी है ॥६॥

सुबोधिनो-बाढ़मिति वचनं विवाहे प्रसिद्धम्। **'बाढं वृणीध्वम्'** इति वचनात्। अव्ययमेतत्। यथासुखमित्यर्थे, सत्यार्थे वा। अहं तु वोढुकाम एव। तव चाऽऽत्मजा कन्या न कस्मैचिद्दत्ता।

व्याख्यार्थ—'वाढं वृणीढ्वम्' इस वचन से वाढम् ऐसा वचन विवाह में प्रसिद्ध है। वाढम् यह अव्यय है। जिसका अर्थ हैं जिस तरह सुख हो उस तरह अथवा अवश्यमेव। मैं तो विवाह करना ही चाहता हूँ और आपकी कन्या किसी को दी नहीं हैं।

कारिका—**दत्तायास्तु विवाहोऽत्र लौकिकः परिकीर्तितः**
अप्रत्ताया विवाहो हि ब्राह्म एव निरूपितः॥१॥

कारिकार्थ—'यदि किसी को देने के लिए वाग्दान कर दिया हो और पश्चात् उसका अन्य से विवाह किया जाय तो वह लौकिक विवाह कहा जाता है। जिसका वाग्दान नहीं हुआ हो उसका विवाह ब्राह्म विवाह कहलाता है ॥१॥

सुबोधिनी-उद्वोढुकाम इति वचनात् ममापि पूर्वं न विवाहः। अत आवयोरप्यमाद्यो **वैवाहिको विधिः** विवाह संबन्धी अपूर्वजनकः प्रकारः। **'दत्तामपि हरेत् कन्यां श्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत्**।

व्याख्यार्थ—कर्दमजी का उद्वोढुकामः यह वचन इस बात को सूचित करता है कि मेरा भी पहले विवाह नहीं हुआ है इसलिए हम दोनों की यह आद्य (ब्राह्म) विवाहिक विधि है। विवाह सम्बंधी अपूर्व जनक प्रकार है। आपत्ति में अन्य ब्राह्म के अतिरिक्त विवाह भी किया जाता है। जैसा कहा है 'यदि कोई श्रेष्ठ वर आ जाय तो पहले जिसको वाग्दान दिया है उसे कन्या न देकर उस श्रेष्ठ वर को कन्या दो।

कारिका—**नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते सति।**
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते' ॥२॥

कारिकार्थ—जब वाग्दान जिसको दिया है वह वर कहीं चला जाय जिसका पता न चले या मर जाय, संन्यासी हो जाय, नपुंसक निकल जाय, पतित हो जाय इन पांच आपत्तियों में अन्य पति का विधान है ॥२॥

सुबो.-इति वाक्यात्। आपदि विवाहः प्राजापत्यश्च सन्तत्यर्थं निरूपितः सोऽत्र निराक्रियते विधिर्भूयादिति ॥१५॥

व्याख्यार्थ—आपत्ति में विवाह और सन्तति के लिये प्रजापत्य का निरुपण किया है। उसका यहां निषेध है विधि का अर्थ है ही ॥१५॥

आभास—केवलमदृष्टजनकः शोभाकरो न भवतीति शोभाऽपि यथासुखं भवत्वित्याह—

आभासार्थ—यह वैवाहिक विधि केवल अदृष्टजनक है शोभाकर नहीं होती है ऐसा नहीं है किन्तु शोभा भी यथासुख हो इसे कहते हैं—

श्लोक—**कामः स भूयान्नरदेव तेऽस्याः पुत्र्याः समाम्नायविधौ प्रतीतः ।**
क एव ते तनयां नाद्रियेत स्वयैव कान्त्या क्षिपतीमिव श्रियम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! वह आपकी वैवाहिक विधि आपकी इच्छानुसार हो किन्तु जिस तरह पूर्व के सब लोगों ने की है उस तरह से हो, अथवा वैदिक विधि से हो । आपकी इस कन्या का आदर कौन नहीं करेगा जो कन्या अपने अङ्ग की कान्ति से लक्ष्मी से भी बढकर है ॥१६॥

सुबोधिनी—काम इति । स एव विधिः **कामो भूयात्** कामितप्रकारेण भवत्वित्यर्थः । तत्र हेतुः—**नरदेवेति** । राज्ञां हि न ब्राह्मणानामिव विवाहः शोभारहितः परं स न सर्वात्मना लौकिकः कर्तव्यः, किन्तु **समाम्नायविधौ प्रतीतः** कर्तव्यः। समाम्नायो नामाभ्यासः । यथा पूर्वं सर्वैः कृतः तादृशविधौ प्रतीतः । समाम्नायो वेद इति केचित् । ननु तदा कन्याया महत्त्वप्रतीतेः मात्सर्यादग्रहणं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—**क एवेति । कस्ते तनयां नाद्रियेत** । एवेत्यनादरे । तत्र हेतुः- स्वया असाधारण्या **कान्त्यैव श्रियमिव लक्ष्मीं क्षिपतीम्** । अस्यापि भगवच्छक्तित्वात् तथा कथनं न दोषाय । लक्ष्मीं क्षिपतीमिवेति भक्तिरूपताऽप्यस्याः सूचिता ॥१६॥

व्याख्यार्थ—वह वैवाहिक विधि आपकी चाही हुई रीति से हो । नरदेव यह सम्बोधन इसलिये दिया है कि राजाओं का विवाह ब्राह्मणों की तरह सादगी से नहीं होता है परन्तु इस बात का ध्यान रक्खा जाय कि वह विवाह सब तरह से लौकिक ही न हो किन्तु जिस तरह पूर्व के लोगों ने किया है उस तरह की विधि से हो । कुछ व्याख्याकार समाम्नाय का अर्थ वेद करते हैं अर्थात् विवाह वैदिक विधि से हो । शंका होगी कि राजा जब कन्या का विवाह राजसी ठाट से करेगा तो कन्या का महत्व बढ़ जायगा जिससे आपको मात्सर्य होगा और आप कन्या को स्वीकार नहीं करेंगे तो इसका उत्तर देते हैं कि आपकी कन्या का आदर कौन नहीं करेगा । जिसने अपनी असाधारण कान्ति से लक्ष्मी को भी मात कर दिया है । शंका हो सकती है कि लक्ष्मी को इस कन्या से न्यून बताना दोषजनक होगा उसके लिये कहते हैं कि यह कन्या भी भगवान् की शक्ति है इसलिये ऐसा कहना कोई दोषजनक नहीं है । लक्ष्मी से बढकर यह है ऐसे कथन से इस कन्या में भक्तिरूपता भी सूचित होती है ॥१६॥

आभास—तस्याः कीर्तिमाह—

आभासार्थ—कन्या की कीर्ति को कहते हैं—

श्लोक—**यां हर्म्यपृष्ठे क्वणदङ्घ्रिशोभां विक्रीडतीं कन्दुकविह्वलाक्षीम् ।**
विश्वावसुर्न्यपतत्स्वाद्विमानाद्विलोक्य संमोहविमूढचेताः ॥१७॥

श्लोकार्थ—एक समय यह यह अपने महल की छत पर गेंद खेल रही थी । गेंद के पीछे इधर उधर दौड़ने के कारण इसके नैत्र चञ्चल हो रहे थे तथा पैरों के पायजेब मधुर झनकार कर रहे थे । उस समय इसे देखकर विश्वावसु गन्धर्व मोह वश अचेत होकर अपने विमान से गिर पड़ा था ॥१७॥

सुबोधिनी-यां हर्म्यपृष्ठ इति । विश्वावसु-गन्धर्वो **यां** देवहूतिं **हर्म्यपृष्ठे** क्रीडन्तीं कन्दुकेन **विह्वले अक्षिणी** यस्याः । अप्सरसां सान्निध्येऽपि शोभया गृहीतचित्तः उपरि गच्छन् विमानात् तस्याः पुरतः पतित इति नारदादिवाक्यैर्ज्ञायते । हर्म्यपृष्ठेन व्यवधानम् । **क्वणदङ्घ्रिशोभामिति** उद्दीपनादयो निरूपिताः । **कन्दुकविह्वलाक्षीमिति** चाञ्चल्यम्, मुग्धभावश्च निरूपितः **सम्यक् मोहेनविमूढं चेतो यस्य । गन्धर्वत्वान्न दोषः** ॥१७॥

व्याख्यार्थ—विश्वावसु गन्धर्व जिस देवहूति को जो अपने महल की छत पर खेल रही थी उस समय उसके नैत्र चञ्चल हो रहे थे उसे देखकर अप्सराओं के सन्निध में भी इस (देवहूति) की शोभा से उसका मन इसकी ओर आकृष्ट हो गया ऊपर जाता हुआ वह विमान से इस कन्या के सामने गिर पड़ा । ऐसा नारदजी आदि के कहने से मैंने जाना महल को छत से इसका व्यबधान था । क्वणदङ्घ्रि शोभा पद से उद्दीपन आदि का निरूपण हुआ । कन्दुकविह्वलाक्षीम से चञ्चलता और मुग्ध भाव का निरूपण किया गया । 'संमोहविमूढचेताः' का अर्थ है अति मोह के कारण बेभान है चित्त जिसका । गन्धर्व होने से कोई दोष नहीं है क्योंकि गन्धर्वों में कामवासना अधिक होती है ।१७।

आभास—तस्याः श्रीत्वं वर्णयति—

आभासार्थ—देवहूति में श्रीत्व का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**तां प्रार्थयन्तीं ललनाललामामसेवितश्रीचरणैरदृष्टाम् ।**
वत्सां मनोरुच्चपदः स्वसारं को नाऽभिमन्येत बुधोऽभियाताम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—वही इस समय यहां स्वयं आकर प्रार्थना कर रही है ऐसी अवस्था में कौन समझदार पुरुष इसे स्वीकार नहीं करेगा । यह तो साक्षात् आप महाराज स्वायम्भुव मनुकी पुत्री है और उत्तानपाद की प्यारी बहिन है तथा यह रमणियों में रत्न के समान है । जिन लोगों ने कभी भगवान् के चरणों की उपासना नहीं की है उन्हें तो इसका दर्शन भी नहीं हो सकता ॥१८॥

सुबोधिनी—तां प्रार्थयन्तीमिति । प्रथमतः **प्रार्थयन्तीं स्वयमेव चाऽभियातां बुधः सन् को वा नाभिमन्येत** । प्रार्थयन्ती सर्वथा ग्राह्या, या काचित् । तत्रापि '**स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि**' इति न्यायेनाऽपि सा ग्राह्येत्याह-**ललनाललामामिति**। ललना स्त्री, तासां मध्ये ललामा श्रेष्ठा । भगवत्प्रसादरूपत्वाच्च सर्वथा ग्राह्येत्याह-न **सेवितौ** श्रीयुक्तौ भगवच्चरणौ यैः, तैरदृष्टाम् । ते तां द्रष्टुमपि न शक्नुवन्ति, अतः इयं भगवत्प्रसादरूपा । मनुर्धर्मरूपः । स चेत्फलं दोग्धि, तदेयं **वत्सा** प्रिया कन्येत्यर्थः । **उच्चपदः स्वसारमिति**। भ्रातृमती, प्रसिद्धकन्या च । **को वा सर्वशास्त्रा**र्थवेत्ता न मन्येत । एतादृशी स्त्री ब्रह्मविद्याया अप्यधिकेति । आभिमुख्येन यातेत्येतादृश्याः परित्यागे दोषश्रवणात् ॥१८॥

व्याख्यार्थ—सब प्रथम तो यह यहां आकर प्रार्थना कर रही है । समझदार होते हुए कौन इसे स्वीकार नहीं करेगा । जो प्रार्थना करती हो उसे सर्वथा ग्रहण करना ही चाहिए चाहे वह कोई भी हो । उसमें भी 'स्त्रीरत्न को दुष्कुल से भी ग्रहण करना चाहिए' इस नीति के अनुसार भी स्त्रियों में रत्न रूप होने से यह ग्राह्य है यह ललनाललामम् से स्पष्ट है । ललना का अर्थ है स्त्री उनमें यह ललाम है (श्रेष्ठ) है । भगवत्प्रसादरूप होने से भी सर्वथा ग्राह्य है यह असेवित श्री चरणैरदृष्टाम् से स्पष्ट है । जिन्होंने श्री से युक्त जो भगवान् के चरण हैं उनकी सेवा नहीं की उनके लिए तो इसका दर्शन ही दुर्लभ है । अर्थात् वे तो इसे देख भी नहीं सकते इसलिए यह भगवत्प्रसादरूपा है । मनु धर्मरूप है वे जब फल का दोहन करते हैं उस समय यह कन्या उनकी वत्सा (बछिया) प्यारी कन्या है । उच्चपदः स्वसारम् का तात्पर्य है कि इसके उत्तानपाद भाई है और यह प्रसिद्ध कन्या है । इसलिए सब शास्त्रार्थ जानने वाला कौन इसका सम्मान नहीं करेगा । ऐसी स्त्री ब्रह्मविद्या से भी अधिक है । जो सामने आई हुई है ऐसी के परित्याग में श्रुति ने दोष बताया है ॥१८॥

आभास—परमेको दोषोऽस्ति, तं चेत् स्वीकुर्यात्तदा भजिष्य इत्याह—

आभासार्थ—परन्तु एक दोष है उसको यह स्वीकार करे तो इसे स्वीकार करूंगा ।

श्लोक—**अतो भजिष्ये समयेन साध्वीं यावत्तेजो बिभृयादात्मनो मे ।**
अतो धर्मान्पारमहंस्यमुख्यान् शुक्लप्रोक्तान् बहु मन्येऽविहिंस्रान् ॥१९॥

श्लोकार्थ—मैं आपकी इस साध्वी कन्या को अवश्य स्वीकार करूंगा किन्तु इसके लिए एक शर्त है । जब तक इसके सन्तान न हो जायेगी तब तक मैं गृहस्थ धर्मानुसार इसके साथ रहूंगा तदन्तर भगवान् के बताये हुए संन्यासप्रधान हिंसारहित शमदम आदि धर्मों को ही मैं अधिक महत्व दूंगा ॥१९॥

सुबोधिनी—अतो भजिष्य इति । यस्मादेषा सर्वोत्कृष्टा, **अतो भजिष्ये** । परं **समयेन**, कालनियमेन । ननु प्रथमत एव किमित्येवं निर्बन्धः क्रियते यदैव वैराग्यम्, तदैव परं त्यक्तव्या । तत्राऽऽह-**साध्वीमिति** । एषा हि पतिव्रता । '**मृते म्रियेत या नारी सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता**'

इति मरणपर्यन्तं तस्या धर्मरक्षार्थं संग्राह्या स्यात्, अन्यथा शरणागताया धर्मो नश्येत्। अतः पूर्वमेव पणबन्धे परिग्रहसमये तया तथाव्रतं न गृहीतं स्यात्। समयमाह-**यावत्तेजो बिभृया-दात्मनो म इति**। मे तेजो बीजात्मकम्, ब्रह्मत्वात्। तावतैव तस्याः कृतार्थत्वायाऽऽह-**आत्मन इति**। अहमात्मा तस्या अपि आत्मतेजश्चेद्धृतं तदैव पातिव्रत्यं सिद्धम्, पतिः स्वस्मिन्नेव स्थित इति। तदनन्तरं पारमहंस्यधर्मानेव भजिष्य इत्याह-**अत इति**। परमहंस्ये आश्रमे मुख्यान्। प्रमाणमाह-**शुक्लप्रोक्तानिति**। शुक्लनारायणेन प्रोक्तान् तानेव **बहु मन्ये**। तेषां धर्माणां प्रमेय-तोऽप्युत्कर्षमाह **अविहिंस्रानिति**। गार्हस्थ्ये यज्ञा-दयो हिंस्राः ॥१९॥

व्याख्यार्थ—यह सर्वोत्कृष्ट है इसलिए इसे स्वीकार करूंगा। परन्तु समय के नियम से ही शंका होती है कि पहले ही ऐसा आग्रह (शर्त) क्यों करते हो जब वैराग्य हो जाय तब परित्याग कर देना। उसका उत्तर देते हैं यह साध्वी (पतिव्रता) है। पतिव्रता का लक्षण शास्त्रों में यह बताया है कि 'जो स्त्री पति के मरने पर मर जाय वह स्त्री पतिव्रता जाननी चाहिए। अतः मरणपर्यन्ता उसकी धर्म रक्षा के लिये ग्रहण करने योग्य होती है। अन्यथा शर-णागता का धर्म नष्ट हो जाता है। अतः पहले यह शर्त रख दी जाय तो वह विवाह के समय ऐसा व्रत ग्रहण न करें। उस शर्त को बताते हैं 'यावत्तेजो बिभृयादात्मनो म' मेरा तेज बीघात्मक है क्योंकि उसमें ब्रह्मत्व है। उसे जब यह धारण कर लेगी तब मैं संन्यास ग्रहण कर लूंगा। उतना होने पर ही वह कृतार्थ हो जायेगी यह आत्मनः १८ से स्पष्ट है। मैं उसका आत्मा हूँ। आत्मातेज को जब वह धारण कर लेगी तभी उसका पातिव्रत्य सिद्ध हो जायेगा। क्योंकि पति अपने में ही स्थित है। मेरे तेज का धारण करने के अनन्तर मैं पारमहंस्य धर्मों का ही सेवन करूंगा उन परमहंस के भी जो मुख्य धर्म हैं उनका सेवन करूंगा। "शुक्लप्रोक्तान्" से प्रमाण कहते हैं शुक्लनारायण के द्वारा कहे गये जो धर्म हैं उन्हें ही मैं अधिक महत्व दूंगा। वे धर्म प्रमेय से भी उत्कृष्ट हैं क्योंकि हिंसारहित हैं अतः अविहिंस्रान् यह कहा। गार्हस्थ्य में जो यज्ञ हैं वे हिंसा रहित नहीं हैं इसलिए पारमहंस्य धर्मों को महत्व दिया है ॥१९॥

आभास—ननु 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' इति श्रुतेः। 'इत एव ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' इति स्मृतेश्च गार्हस्थ्यानन्तरं न प्रव्राज इति चेत्तत्राऽऽह—

आभासार्थ—शंका होती है कि 'जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र करे' ऐसी श्रुति है और 'ब्रह्मचर्य के अनन्तर ही संन्यासी हो जाय' ऐसी स्मृति है तो गृहस्थाश्रम के अनन्तर संन्यास नहीं होना चाहिये इस पर कहते हैं—

श्लोक—**यतोऽभवद्विश्वमिदं विचित्रं संस्थास्यते यत्र च वाऽवतिष्ठते।**
प्रजापतीनां पतिरेष मह्यं परं प्रमाणं भगवाननन्तः ॥२०॥

श्लोकार्थ—जिनसे इस विचित्र जगत् की उत्पत्ति हुई है। जिनमें यह लीन हो जाता है और जिनके आश्रय से यह स्थित है। मुझे तो वे प्रजापतियों के भी पति भगवान् अनन्त ही सबसे अधिक मान्य है ॥२०॥

सुबोधिनी—यतोऽभवदिति । अस्मिन्नर्थे एष भगवानेव प्रमाणम् । **सर्वथाऽऽदरणीयो य: स प्रमाणमिहोच्यते । तत्संबन्धात्कृतिस्तस्य प्रमाणं वाक्यमेव च** ॥१॥ वेदानां प्रामाण्यं भगवद्वाक्यत्वात् । स ह्यनन्त:, अनन्तमूर्ति:, देशाद्यपरिच्छिन्नश्च । स हि तत्तदधिकारानुसारेण बहुधा शास्त्रार्थमाह । भक्तेभ्यश्च पृथक् पृथगाह । अतो यन्मां प्रत्याह विशेषाकारेण, तदेव प्रमाणम्; विशेषो बलवानिति । वेदास्स्वतन्त्रादपि भगवान् महानिति वक्तुं जगत्कर्तृत्वमाह-**यतो** भगवत: सकाशादिदं **विश्वमभवदुत्पन्नम्** । **विचित्रमित्य**लौकिककर्तृत्वं तस्य बोधितम् । **यत** इति कारणमविकृतम् । चिन्तामण्यादे: सकाशादुत्पादितानां घटादीनां न समवायादि किञ्चिदपि कारणमन्यद्दृश्यते । तथा यावदपेक्षितकारणानि भगवानेव, नान्यदित्यव्ययनिर्देश: । यत्रैव **संस्थाप्यते** लीनं भवति, **यत्र च वाऽवतिष्ठते** स्थितं भवति । एककारणत्वं गुणानां तदभिमानिनश्च सम्भवतीति त्रितयकीर्तनम् । नियामकत्वं चाऽऽह-**प्रजापतीनां पतिरिति । तत्राप्येष:**, इदानीमपि निकटे भासते । अनेनोल्लङ्घनमपि न शक्यमित्युक्तम् । अत एव वेदाद्यपेक्षयापि परं प्रमाणम् । **भगवानित्यविकृतं ब्रह्मेति । अनन्त** इति प्रामाण्ये हेतु:, **अन्यस्यानादरणीयत्वात्** ।२०।

व्याख्यार्थ—इस विषय में ये भगवान् ही प्रमाण है 'जो सब प्रकार से आदर का पात्र होता है । वह यहां प्रमाण कहा जाता है और जिसे हम प्रमाण मानते हैं 'उसकी कृति और उसका वचन प्रमाण माना जाता है ।' वेद प्रमाण इसलिए है कि वे भगवान् के वाक्य हैं । वह भगवान् अनन्तमूर्ति है; वह देश आदि से परिच्छिन्न (सीमित) नहीं है । उस भगवान् ने जिसका जैसा अधिकार था उसके अनुसार बहुत प्रकार से शास्त्र का अर्थ कहा है । भक्तों के लिए भी अलग अलग कहा । अत: मुझे जो विशेष रूप से कहा है वह ही मेरे लिए प्रमाण है । अर्थात् विशेष रूप से बलवान् (मान्य) है । वेद यद्यपि स्वतन्त्र हैं तथापि भगवान् उन वेदों से भी महान् हैं । इसे कहने के लिए भगवान् को जगत् का कर्त्ता बताते हैं । जिस भगवान् से यह सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ और इस जगत् को विचित्र इसलिए कहा कि इसको बनाने वाला वह (भगवान्) कर्त्ता अलौकिक है । 'यत:' यह पद इस बात को बताता है कि कार्य के होने पर कारण में विकार होता है किन्तु यहां तो इस विचित्र जगत् की उत्पति के अनन्तर भी उस भगवान् में कोई विकार नहीं हुआ । चिन्तामणि आदि से उत्पन्न होने वाले घट आदि के समवाय आदि कोई अन्य कारण दिखाई नहीं देते हैं । उसी तरह यहां जितने भी अपेक्षित कारण हैं वे सब कारण भगवान् ही हैं और कोई नहीं है इसलिए यहां "यत:" इस अव्यय का निर्देश किया है । जिस भगवान् में यह लीन होता है और जिस भगवान् में यह स्थित रहता है । यहां उत्पत्ति आदि तीनों का निर्देश इसलिए किया है कि केवल उत्पत्ति या केवल लय आदि एक एक कारणता तो गुणों में तथा गुणाभिमानियों (ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि) में भी सम्भावित होते हैं परन्तु ये तीनों तो भगवान् के अतिरिक्त कहीं नहीं होते इसलिए यहाँ तीनों का कथन किया है । वह भगवान् प्रजापतियों के भी पति हैं अर्थात् नियामक हैं । वे इस समय भी पास में भासित हो रहे हैं यह एष:' इससे ज्ञात होता है । अत: इनका उल्लंघन भी नहीं हो सकता है । इसलिए वेदादि की अपेक्षा भी यह परम प्रमाण है । भगवान् शब्द से यहाँ अविकृत ब्रह्म का ग्रहण है । भगवान् के प्रामाण्य में अनन्त होना ही कारण है, यहाँ आदर का पात्र अन्य नहीं हो सकता है ॥२०॥

आभास—एतावदुक्त्वा, चेदङ्गीकरिष्यन्ति, तदा विवाहं कारयिष्यामीति निश्चित्य तूष्णीं स्थित इत्याह—

आभासार्थ—इतना कह कर, यदि अङ्गीकार करेंगे तो विवाह करा लूंगा ऐसा निश्चय करके वह चुप हो गया ।

मैत्रेय उवाच–श्लोक—स उग्रधन्वन्नियदेवाऽऽबभाष आसीच्च तूष्णीमरविन्दनाभम् ।
धियोपगुह्य स्मितशोभितेन मुखेन चेतो लुलुभे देवहूत्याः ।।२१।।

श्लोकार्थ—श्री मैत्रेयजी कहते हैं–हे प्रचुर धनुर्धर विदुर ! कर्दमजी इतना ही कह सके फिर वे हृदय में भगवान् कमलनाभ का ध्यान करते हुए मौन हो गये । उस समय उनके मन्दहास्ययुक्त मुखकमल को देखकर देवहूति का चित्त लुभा गया ।।२१।।

सुबोधिनी–स इति । **उग्रधन्वन्निति** संबोधनमक्षोभाय । स्त्रिया भावितताया अपि क्षोभयितृत्वात् । **इयदेव** एतावदेवाऽऽ**बभाषे** । एतत्साधकमपि वक्तव्यं पक्षान्तरे वाऽन्यद्वक्तव्यमिति न तस्य हृदयमित्याह–**आसीच्च** तूष्णीमिति । पाक्षिकदोषस्य विद्यमानत्वात् तत्परिहारार्थ**मरविन्दनाभं धियोपगुह्ये**त्युक्तम् । स हि कमलनाभः, जगदेव भिन्नतया कर्तुं शक्तः, किमेतावन्मात्रे अशक्यमिति । तावतैव भगवता कश्चन उपायः कृत इत्याह–धिया उपगूहन्नेव । स्मितेन शोभितं यन्मुखम्, तेन **देवहूत्याश्चेतो लुलुभे** । २१।।

व्याख्यार्थ—'उग्रधन्वन्' यह संबोधन इसलिए दिया है कि उनको किसी प्रकार का क्षोभ नहीं है तथा होने वाली स्त्री क्षोभजनक हो सकती है इसके लिए भी यह संबोधन है इतना ही उनने कहा । अर्थात् इसके लिए कोई साधक युक्ति या पक्षान्तर या और कुछ कहें ऐसा उनके मन में नहीं था इसलिए वे चुप हो गये । पाक्षिक दोष के विद्यमान रहने से उसके परिहार के लिए उन्होंने अपने हृदय में कमलनाभः भगवान् का आलिङ्गन किया । भगवान् का 'अरविन्दनाभम्' यह नाम इस बात का सूचक है कि कमलनाभ भगवान् सृष्टि के करने वाले हैं तो वे अलग जगत् का भी निर्माण कर सकते हैं तो इतना सा कार्य उनके लिये क्या कठिन है । ज्यों ही ऋषि अपने अपने हृदय से अरविन्दनाभ भगवान् का ध्यान किया उतने ही से भगवान् ने कोई उपाय कर दिया वह कार्य क्या था ऋषि की मुस्कान, उस मुस्कान से ही देवहूति का चित्त उनमें (ऋषिय में) आसक्त हो गया (मुग्ध हो गया) ।।२१।।

आभास—न हि मायामोहितः वस्तुनि लुब्धो वा भाविगुणदोषान् पश्यति, अतो मनोः संदिग्धमपिः, मनः भार्याया हृदयं समीचीनो दुहितुः, पतिरिति, दुहितुश्च चित्तं ज्ञात्वा, निःसन्दिग्धं जातमिति तस्मै कन्यां दत्तवानित्याह—

आभासार्थ—जो माया से मोहित होता है या जो वस्तु का लोभी होता है वह उससे होने वाले गुण दोषों को नहीं देखता है । अतः मनु का मन संदिग्ध था । परन्तु जब मनु ने पत्नी के

हृदय की बात जानलो कि मेरी लड़की का पति अच्छा है और लड़की के चित्त को जानकर निःसंदिग्ध हो गया और उन ऋषि को अपनी कन्या दे दी।

श्लोक—**सोऽनुज्ञात्वा व्यवसितं महिष्या दुहितुःस्फुटम्।**
तस्मै गुणगणाढ्याय ददौ तुल्यां प्रहर्षितः ॥२२॥

श्लोकार्थ—मनु ने अपनी स्त्री तथा पुत्री का स्पष्ट निश्चय जानकर उन अत्यन्त गुणी महर्षि को उन्हीं के समान गुणवाली कन्या का प्रसन्नता पूर्वक दान कर दिया।२२।

सुबोधिनी-सोऽनुज्ञात्वेति। व्यवसायो निश्चयः, **स्फुटमिति** वचनादिभिः। अत एव **तस्मै ददौ**। स्वस्याऽनिवारणे हेतुः-**गुणगणाढ्यायेति**। बाधकं च साधकं ज्ञातवानित्याह-**तुल्यामिति**। इयमपि मुक्ता भविष्यतीत्यर्थः। भगवताऽन्यथा तुल्या नोत्पादिता स्यात्। अत एव **प्रहर्षितः**।२२।

व्याख्यार्थ—व्यवसाय कहते हैं निश्चय को वह निश्चय कहने आदि से स्पष्ट हो गया। अतएव उन (ऋषि) के लिये कन्या देदी। ऋषि गुण समुदाय से युक्त थे इसलिये मनु ने भी कन्या-दान के विषय में किसी प्रकार की रुकावट नहीं की। तुल्यां पद इसलिये दिया है कि जिसको वे बाधक समझते थे वह यहाँ साधक हो गया। अर्थात् जिस तरह ऋषि मुक्त हैं उसी तरह यह कन्या भी मुक्त हो जायगी। अन्यथा भगवान् उस कन्या को उन ऋषि के तुल्य उत्पन्न नहीं करते। उनको मेरी कन्या भी मुक्त हो जायेगी ऐसा ज्ञात हुआ इसलिए वे बहुत प्रसन्न हुए ॥२२॥

आभास—सङ्कल्प्याऽयं दत्तवान्, उत्सवं तु शतरूपा कृतवतीत्याह—

आभासार्थ—मनु ने तो संकल्प करके कन्या दे दी उत्सव तो शतरूपा ने किया।

श्लोक—**शतरूपा महाराज्ञी पारिबर्हान्महाधनान्।**
दम्पत्योः पर्यदात्प्रीत्या भूषावासःपरिच्छदान् ॥२३॥

श्लोकार्थ—महारानी शतरूपा ने अपनी पुत्री तथा दामाद को खूब प्रेमपूर्वक बहुत से बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण और गृहस्थोचित पात्र आदि दहेज में दिये ॥२३॥

सुबोधिनी-शतरूपेति। सामर्थ्यम्--**महाराज्ञीति**। **पारिबर्हान्** विवाहसमये दानयोग्यान्। **महाधनान**मूल्यान्। न केवलं दुहितुः, किन्तु **दम्पत्योः**। न संकल्पेन, नापि दयया, किन्तु **प्रीत्या**। **भूषा** अलङ्काराः कुण्डलादयः। **वासांसि** नानाविधानि। **परिच्छदा** उपकरणानि ॥२३॥

व्याख्यार्थ—महारानी पद शतरूपा में सामर्थ्य थी इसे बताने के लिए दिया है। विवाह के समय जो वस्तुएँ दी जाती है उन्हें "परिबर्ह" कहा जाता है। महाधनान् (बहुमूल्य) बहुमूल्य वस्तुएं केवल पुत्री को ही नहीं दी थी किन्तु पुत्री और दामाद दोनों को दी। ये वस्तुएं केवल संकल्प से या दया से नहीं दी किन्तु प्रेम से दी। 'भूषा' शब्द से कुण्डल आदि अलङ्कार लिए जाते

हैं। वासांसि यह बहुवचन इस बात को सूचित करता है कि वस्त्र भी अनेक प्रकार के दिये। 'परिच्छद' का अर्थ है। उपकरण (गृहस्थोचित पात्र आदि) ।।२३।।

आभास—कन्यां दत्वा गृहं गन्तुर्मनोः कृत्यमाह—

आभासार्थ—कन्यादान करके मनु जब घर लौटने लगे उस समय का कार्य कहते हैं—

श्लोक—**प्रत्तां दुहितरं सम्राट् सदृक्षाय गतव्यथः ।**
उपगुह्य च बाहुभ्यामौत्कण्ठ्योन्मथिताशयः ।।२४।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार सुयोग्यवर को अपनी कन्या देकर महाराज मनु निश्चिन्त हो गये। चलते समय उसका वियोग न सह सकने के कारण उन्होंने उत्कण्ठावश विह्वलचित्त होकर उसे अपनी दोनों भुजाओं से हृदय से लगा लिया ।।२४।।

सुबोधिनी-प्रत्तामिति । दत्तापि दुःखदा कन्या विसदृशाय; तदभावान्निश्चितो जात इत्याह-**सदृक्षाय गतव्यथ इति** । दत्त्वेति वक्तव्ये सिद्धत्वात्तदनुवादमकृत्वा, उपगूहने ईप्सितत्वात् **प्रत्तामिति** द्वितीयैवोक्ता । शीघ्रगमने हेतुः-**सम्राडिति** । **चकाराद्वाक्यान्यपि** तदानिन्तनानि योग्यानि सूचितानि । **उपगृह्येति** पाठे समीपे ग्रहणमात्रम् । उभयथापि शिरस एव ग्रहणम् । अतिस्नेहो द्विवचनेन ज्ञापितः । प्रेम्णा च विह्वलो जात इत्याह-**औत्कण्ठ्येति** । **उन्मथितो**ऽत्यन्तं क्षुभित **आशयो** यस्य ।।२४।।

व्याख्यार्थ—यदि कन्या किसी अयोग्य वर को देदी जाय तो वह कन्या दुःख देने वाली हो जाती है परन्तु यहां ऐसा न होने से मनु निश्चिन्त हो गये। उसे 'सदृक्षाय गतव्यथः' से सूचित किया है। सिद्ध होने से दत्वा ऐसा ही कहना चाहिए सो उसका अनुवाद (निन्दा) न करके आलिङ्गन में ईप्सित (इच्छित) होने से प्रत्ताम् ऐसी द्वितीया का प्रयोग किया। शीघ्र चले जाने का कारण यह था कि वे सम्राट् थे सम्राट् को अनेक कार्य रहते हैं चकारसे उस समय जो योग्य वचन उनने कहे उनका भी सूचन कर दिया। उपगूह्य की जगह उपगृह्य ऐसा भी पाठ है। उसका अर्थ हृदय से लगाना न होकर पास में उसको ग्रहण किया ऐसा होगा। दोनों ही पाठों में उसके सिर के ऊपर हाथ फेरना तो होता ही है। 'बाहुभ्यां' इस द्विवचन से पुत्री के प्रति राजा का अतिस्नेह जाना जाता हैं। प्रेम से विह्वल हो गये इस औत्कण्ठ्य पद से बताया है। उन्मथित अर्थात् अत्यन्त क्षुभित है आशय जिसका ऐसा अर्थ होता है ।।२४।।

आभास—गन्तुमप्यशक्तो जात इत्याह—

आभासार्थ—उसका जाना भी कठिन हो गया इसे कहते हैं—

श्लोक—**अशक्नुवंस्तद्विरहं मुञ्चन्बाष्पकलां मुहुः ।**
आसिञ्चन्नम्ब वत्सेति नेत्रोदैर्दुहितुः शिखाम् ।।२५।।

आमन्त्र्य तं मुनिवरमनुज्ञातः सहानुगः ।
प्रतस्थे रथमारुह्य सभार्यः स्वपुरं नृपः ॥२६॥

श्लोकार्थ—विरह को सहन करने में असमर्थ होते हुए बेटी ! बेटी ! ऐसा कह कर रोने लगे आंखों से आँसू बहने लगे उन आँसुओं से उन्हीं ने देवहूति के सिर के बालों के जूड़े को भिगो दिया फिर वे मुनिवर कर्दमजी से पूछकर उनकी आज्ञा ले रानी के सहित रथ पर बैठे और सेवकों के सहित अपने नगर की ओर प्रस्थान किया ॥२५-२६॥

सुबोधिनी—**अशक्नुवन्निति** । सोढुमित्यर्थात् । स्वस्मिन् संबद्ध एव हि विरहः शक्योऽशक्यो वा भवति । अत एव **बाष्पकलां मुञ्चन्** । अन्तस्तापेन हि मुखतो बाष्पनिर्गमनम् । बाष्पगतः शोभायमानत्वात् कलात्वम् । **मुहुरिति** प्रतिस्मरणं विरहाधिक्यं द्योतयति । नेत्रे च जलं बहु निर्गतमित्याह—**आसिञ्चन्निति** । तस्या अपि रोदने **अम्ब वत्सेति** सबोधनम् । मारोदीरित्यादि वक्तुमशक्तो नेत्रजैर्जलैर्**दुहितुः शिखामासिञ्चन्** । **मुनिवरं** चाऽऽमन्त्र्य तेनैवाऽ**नुज्ञातः सहानुगः सभार्यश्च रथमारुह्य स्वपुरं** प्रतस्थ इति श्लोकत्रयसंबन्धः । मुनिवरत्वादेव न विशेषतः समर्पणम् । **स्वपुरं** प्रति । **नृप** इति रक्षार्थं गमनमावश्यकं निरूपितम् ॥२५-२६॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि मूल में 'सोढु' पद नहीं दिया है परन्तु अर्थ मे वह आ जाता है अर्थात् उस (कन्या) के विरह को सहन करने में असमर्थ हुए । जब विरह अपने में सम्बद्ध हो जाता है तो वह शक्य अथवा अशक्य हो जाता है इसलिए तो मनुजी के आंसू बहने लगे । भीतर जब ताप (दुःख) होता है तो मुख से भाप निकलती है, भाप के अन्दर जो एक प्रकार की शोभा थी उसी को यहाँ वाष्पकला से कहा है । 'मुहुः' इस शब्द से प्रतिस्मरण (बारंबार याद) तथा विरह की अधिकता प्रकाशित होती है । नैत्रों से आँसू अत्यधिक निकले जिससे उसके सिर के बाल भीग गये उसके लिए 'आसिञ्चन्' पद दिया है । देवहूति के रोने में हे अम्ब ! यह संबोधन था और राजा के रोने में वत्स ! ऐसा संबोधन था । वे देवहूति से इतना भी न कह सके कि तू मत रो केवल आँसुओं से बच्ची के सिर के बालों को भिगो दिया । मुनिवर कर्दमजी से पूछकर और उन्हीं की आज्ञा लेकर अपने सेवकों के साथ अपनी पत्नी सहित रथ में बैठकर अपने नगर की ओर प्रस्थान किया इस तरह यहाँ तीन श्लोकों का सम्बंध है । कन्या का विशेष रूप से समर्पण इसलिए नहीं किया था कि कदमजी मुनि श्रेष्ठ थे इससे अधिक कुछ न कहना पड़ा । 'नृप' ऐसा सम्बोधन इसलिए दिया है कि जो मनुष्यों की रक्षा करे वह नृप कहा जाता है यदि राजा यहाँ अधिक समय तक ठहर जाय तो रक्षा का कार्य कौन करे इसलिए राजा का जाना आवश्यक था ॥२५-२६॥

आभास—दुहितुः सहवासो नास्तीत्यपि शङ्कां निवारयति—

आभासार्थ—लड़की (देवहूति) का सहवास भी नहीं था इस शंका का निवारण करते हैं—

श्लोक—**उभयोऋ्षिकुल्यायाः सरस्वत्याः सुरोधसोः ।**
ऋषीणामुपशान्तानां पश्यन्नाश्रमसंपदः ।।२७।।

श्लोकार्थ—ऋषिकुल से सेवित सरस्वती नदी के दोनों किनारों पर मुनियों के आश्रमों की शोभा देखते हुए अपनी राजधानी को चले गये ।।२७।।

सुबोधिनी-उभयोरिति । ऋषिकुलयोग्यायाः **सरस्वत्या उभयो रोधसोः** स्थितानाम**मुपशान्तानामृषीणां** पथि **आश्रमसंपदः पश्यन्** इति पूर्वेणैव संबन्धः । **उभयो रोधसोरिति**परस्परदर्शनार्थम् । ऋषिकुलयोग्यत्वात् सरस्वतत्याः प्रार्थनयाऽपि जामातुः स्वनिकटे गमनं निवारितम् । सृष्टयर्थं च सोपयुज्यत इति **सरस्वत्या इति** । उत्तमरोधस्त्वं सुव्यवहार्यत्वात् । कलहाभावायो**पशान्तानामिति । संपद इति** समृद्धिर्निरूपिता ।।२७।।

व्याख्यार्थ—ऋषिकुल के योग्य सरस्वती के दोनों तटों पर बैठे हुए शान्त मुनियों के आश्रम शोभा को मार्ग में देखते हुए अपने (नगर को गये) ऐसा पूर्वश्लोक से सम्बंध है । आमने सामने तट पर आश्रम इसलिए स्थित थे कि वे (मुनि) आपस में एक दूसरे को देख सकें । सरस्वती ऋषिकुल के योग्य थी इसलिये प्रार्थना करने पर भी जामाता (दामाद) का अपने (मनुजी के) पास जाना संभव नहीं था । सरस्वत्याः यह पद इस बात को सूचित करता है कि सृष्टि के लिये ही सरस्वती का उपयोग होता है । सुरोधसोः का अर्थ है उत्तम । दोनों तटों पर इससे तटों की अच्छी व्यवहार्यता बताई है । उन ऋषियों में परस्पर कभी कलह नहीं होता था यह अशान्तानाम् से स्पष्ट है जो शान्त होते हैं उनमें कलह होगा ही कैसे । आश्रमसंपदः से आश्रम की समृद्धि का निरूपण किया है ।।२७।।

आभास—एवमितो गमनमुक्त्वा तस्य स्वनगरे प्रवेशे संभ्रममाह—

आभासार्थ—इस तरह आश्रम से जाने को बताकर मनु का अपने नगर में प्रवेश के समय जो प्रजा का उत्साह था उसे बताते हैं—

श्लोक—**तमायान्तमभिप्रेत्य ब्रह्मावर्तात्प्रजापतिम् ।**
गीतसंस्तुतिवादित्रैः प्रत्युदीयुः प्रहर्षिताः ।।२८।।

श्लोकार्थ—ब्रह्मावर्त की प्रजा को यह समाचार मिला कि उसके स्वामी आ रहे हैं तो अत्यन्त आनन्दित होकर स्तुति, गीत एवं बाजे गाजे के साथ अगवानी करने के लिये (प्रजा) ब्रह्मावर्त की राजधानी से बाहर आई ।।२८।।

सुबोधिनी-तमायान्तमिति । ब्रह्मावर्तादिति । सरस्वतीतीरं सर्वमेव ब्रह्मावर्तत्वेनोच्यते । **ब्रह्मावर्तानिति** पाठः सुगमः । **प्रजापतिं** मनुम् । योगोऽत्र । **प्रजाः पतिमिति** पाठः । **प्रहर्षिताः प्रजा** गीतादिभिः **प्रत्युदीयु**राभिमुख्येन गता ।२८

व्याख्यार्थ—सरस्वती का सारा का सारा तट ब्रह्मवर्त कहा जाता है। 'ब्रह्मा वर्त्तान्' ऐसा पाठ हो तो अर्थ में सुगमता होती है। प्रजापति भू तथा प्रजाः पतिम् ऐसा भी पाठ है जब प्रजापति ऐसा पाठ है वहाँ प्रजापति से मनु का ग्रहण है और 'प्रजाः पतिम्' ऐसे पाठ में प्रजा ने अपने स्वामी को ऐसा अर्थ होता है। प्रसन्न होकर गीत आदि गाती हुई अगवानी के लिये आयी ।।२८।।

आभास—बिन्दुसरःपरित्यज्य स्थलान्तरे मनुः कथं गतः ? किमिति तत्रैव राजधानीं न कृतवानित्याशङ्क्य, मनुस्थितापि नगरी बिन्दुसरस्तुल्येति वक्तुं तामनुवर्णयति–**बर्हिष्मतीति त्रिभि**—

आभासार्थ—बिन्दुसर को छोड़कर दूसरी जगह मनु कैसे गये ? क्यों न वहीं पर उन्होंने राजधानी बनायी ऐसी आशंका करके कहते हैं कि मनु जहाँ रहते हैं वह नगरी बिन्दुसर के समान है ऐसा कहने के लिये उस नगरी का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**बर्हिष्मती नाम पुरी सर्वसंपत्समन्विता ।**
न्यपतन् यत्र रोमाणि यज्ञस्याऽङ्गं विधुन्वतः ।।२६।।

श्लोकार्थ—सब प्रकार की संपदाओं से युक्त बर्हिष्मती नगरी मनुजी की राजधानी थी। जहां पृथ्वी को रसातल से ले आने के अनन्तर बराह भगवान् ने अंगों को कँपाया उस समय, उनके शरीर से रोम झड़कर वहाँ गिर गये ।।२६।।

सुबोधिनी-यथेदं बिन्दुसरः, तथा सा **बर्हिष्मती नाम**। ननु तुल्यत्वेऽपि अत्रैव कथं नाऽवस्थानम्? तत्राऽऽह–**पुरीति**। पुर्यामेव हि राजानो-वसन्ति, न तु स्थानमात्रे। किञ्च, एषा **सर्वसंपत्समन्विता**। प्राणिनो हि पुरुषार्थचतुष्टयम्, तदपि बहुविधम्। सर्वप्रकाराणां सर्वा संपदस्यामस्त्यतो राज्ञः सर्वोपकारित्वादत्र स्थितिर्युक्ता। बर्हिष्मतीत्वं साधयति, **न्यपतन्निति**। बर्हिर्वर्तते यस्यामिति सा पुरी बर्हिष्मती। बर्हिश्च वैदिकं यज्ञावयवोत्पन्नम्, मन्त्रादिना कुशकाशादिषु तत्त्वमारोप्यते; यथा पितरो ब्राह्मणेषु। तद्धि देवानामासनम्, तद्यत्र, तत्रैव हि देवाः। यत्र पुनस्तत् स्वाभाविकम् तत्राऽऽवाहनापेक्षाऽपि नाऽस्ति। तच्च बर्हिस्तस्यामेव पुर्यामुत्पन्नमिति निरूपयितुं कथामाह–यज्ञवराहस्य **अङ्गं विधुन्वतो यत्र रोमाणि न्यपतन्**। स हि यज्ञात्मा, रोमाणि च बर्हिः ।।२६।।

व्याख्यार्थ—जैसा यह बिन्दुसर है वैसी ही वह बर्हिष्मती नगरी थी। यदि बर्हिष्मती और बिन्दुसर में कोई अन्तर नहीं था तो फिर बिन्दुसर में ही क्यों न रह गये इसके लिये पुरी शब्द दिया है राजा लोग पुरी में ही रहा करते हैं किसी स्थान मात्र में नहीं रहते और यह नगरी सब प्रकार की संपत्ति से युक्त थी। प्राणियों के चार पुरुषार्थ होते हैं, उन चार में अनेक प्रकार होते हैं। सब प्रकार की सब संपत्ति जिसमें हो उसे 'सर्वसंपत्यमन्विता' कहते हैं। राजा सबका उपकार करता है अतः उसे ऐसी नगरी में रहना ही उचित है। बर्हि (कुश) जिसमें हो उसे बर्हिष्मती कहते हैं, उस जगह यज्ञ वाराह ने अपने शरीर का धूनन किया था जिससे उनके

रोम वहाँ गिरे थे वे ही रोम वहाँ बर्हि के रूप में उत्पन्न हुए थे। बर्हि वैदिक है और वे यज्ञ वाराह के अवयव से उत्पन्न हुए थे। मन्त्र आदि के द्वारा कुश, काश आदि में यज्ञावयवत्व का आरोपण किया जाता है (माना जाता है) जैसे पितरों का आरोप ब्राह्मणों में करते हैं। बर्हि (कुश) देवताओं के आसन हैं अत: जहां वे कुश होंगे वहीं पर देवता होंगे। जहां देवता स्वाभाविक रूप से विद्यमान् होते हैं तो वहां उनका आह्वान करने की भी आवश्यकता नहीं है। वह बर्हि उसी नगरी में उत्पन्न हुए थे। इसके निरूपण की कथा कहते हैं। यज्ञ वाराह के अंग के धूनन से जहां बाल गिरे थे। वह वाराह यज्ञरूप है इसलिये उसके रोम बर्हि (कुश) रूप हैं ।।२९।।

श्लोक—**कुशाः काशास्त एवाऽऽसन् शश्वद्धरितवर्चसः ।**
ऋषयो यैः पराभाव्य यज्ञघ्नान् यज्ञमीजिरे ।।३०।।

श्लोकार्थ—वे रोम ही निरन्तर हरे भरे रहने वाले कुश और काश हुए. जिनके द्वारा मुनियों ने यज्ञ में विघ्न डालने वाले दैत्यों का तिरस्कार कर भगवान् यज्ञ पुरुष की यज्ञों द्वारा आराधना की है ।।३०।।

सुबोधिनी—त एव कुशकाशा अभवन्। तेषां यज्ञियत्वपरिज्ञानार्थमलौकिकं रूपमाह—**शश्वद्धरितवर्चस इति**। सर्वेष्वेव कालेषु कुशा उत्पद्यन्ते, हरितवर्णाश्च भवन्ति, नत्वन्ये व्रीहियवादयः। **अतस्त एवाऽऽसन्**। रोमाणि कुशकाशा एवाऽभवन्नित्यर्थः। ननु याज्ञियाः पश्वादयो बहव एव पदार्थाः, ते च सर्वत्रैव यथायथमुत्पद्यन्त इति कथं बर्हिष एवाऽऽधिक्यम्? कथं वा तेन बर्हिष्मत्या माहात्म्यमिति? तत्राऽऽह—**ऋषयो यैरिति**। **यैः** कुशकाशैः, **यज्ञघ्नान्** राक्षसान्, **पराभाव्य यज्ञमीजिरे**। कुशानां यज्ञप्रतिपक्षनाशकत्वं शाखान्तरेषु चिन्त्यम् ।।३०।।

व्याख्यार्थ—वाराह भगवान् के जो रोम गिरे थे वे ही कुश, काश हुए। वे कुश काश यज्ञ में उपयोगी हैं अतः उनका अलौकिक रूप बनाने के लिये 'शश्वद्धरितवर्चस' ऐसा कहा है। हर समय वहाँ कुश ही उत्पन्न होते हैं और वे हरे रंग के होते हैं वहाँ दूसरे कोई चाँवल, जौ आदि उत्पन्न ही नहीं होते। अतएव 'त एवाऽऽसन्' ऐसा कहा। अर्थात् वे रोम ही कुश काश हुए जो शंका होती है कि यज्ञ में उपयोगी तो पशु आदि बहुत से पदार्थ हैं वे भी तो सब जगह यथानुसार उत्पन्न होते ही हैं तो फिर बर्हि में ऐसी क्या अधिकता है और बर्हि के कारण से बर्हिष्मती का ऐसा क्या माहात्म्य है। उसका उत्तर देते हैं ऋषि लोग उन कुश, काश से यज्ञ को नष्ट करने वाले राक्षसों को पराजित करके यज्ञ करते थे। कुश यज्ञ विरोधियों का नाश करते हैं यह अन्य शाखाओं में बताया है उसे विचारना चाहिये ।।३०।।

आभास—एवं बर्हिष्मतीत्वमुपपाद्य, विशेषतस्तत्र स्थितौ प्रयोजनमाह—

आभासार्थ—इस तरह नगरी की बर्हिष्मतीत्व का उपपादन करके विशेष रूप से वहां रहने के प्रयोजन को कहते हैं—

श्लोक—**कुशकाशमयं बर्हिरास्तीर्य भगवान् मनुः ।**
अयजद्यज्ञपुरुषं लब्ध्वा स्थानं यतो भुवः ॥३१॥

श्लोकार्थ—महाराज मनु ने भी श्री वराह भगवान् से भूमिरूप निवास स्थान प्राप्त होने पर इसी स्थान में कुश और काश की बर्हि बिछा कर यज्ञ भगवान् की पूजा की थी ॥३१॥

सुबोधिनी-कुशकाशमयमिति । आश्ववालः काशः, स हि प्रस्तरो भवति पश्वादिष्वातिथ्यादिषु च । कुशकशप्रकृतिकं बर्हिरास्तीर्य स्वयं दीक्षितो भगवद्रूपो भूत्वा, **मनुर्यज्ञपुरुषमयजत्** । **यतो भुवः स्थानं** प्राप्तवान् । अधिकारित्वाविशेषेऽपि इन्द्रादयः स्वर्गाधिकारिणः, मनुस्तु भूमेः । सा च देवयजनरूपा । देवयजनं प्राप्याऽवश्यं यज्ञाः कर्तव्या इति **लब्ध्वाऽयजदिति** । लाभस्य यज्ञमात्रोपयोगित्वाय क्त्वा प्रत्ययः । **यतो** वा यज्ञात यज्ञवराहेणैव सा दत्ता, अतो यज्ञार्थमेव मया प्राप्तमित्ययजत् ॥३१॥

व्याख्यार्थ—काश आश्ववाल है । उसे पशु आदि के लिये तथा अतिथि सत्कार आदि के लिये बिछाते हैं । कुश, काश ही जिसकी प्रकृति है ऐसे बर्हि को बिछाकर स्वयं दीक्षित मनु ने भगवद्रूप होकर यज्ञ पुरुष का यजन किया था इसलिए उन्होंने पृथ्वी का स्थान प्राप्त किया था । इन्द्र और मनु समानरूप से ही अधिकारी हैं परन्तु इन्द्रादि स्वर्ग के अधिकारी हुए और मनु पृथ्वी का अधिकारी हुआ । वह पृथ्वी देवयजनरूपा है, देवयजन को प्राप्त करके अवश्य ही यज्ञ करने चाहिए यह लब्ध्वाऽयजत् से बताया । लाभ का यज्ञमात्र में ही उपयोग होना चाहिए इसलिए लभ् धातु से क्त्वा प्रत्यय हुआ है । अथवा यतः का अर्थ यज्ञ से ऐसा समझना । यज्ञ वाराह ने ही वह भूमि दी है, अतः यज्ञ के लिए मैंने इसे प्राप्त किया है इसलिये उसने यज्ञ किया ॥३१॥

आभास—एवं बर्हिष्मत्यां स्थितौ प्रयोजनमुक्त्वा तां प्रविष्ट इत्याह—

आभासार्थ—इस तरह बर्हिष्मती में रहने का प्रयोजन कह कर उसमें प्रवेश किया यह कहते हैं—

श्लोक—**बर्हिष्मतीं नाम विभुर्यां निर्विश्य समावसत् ।**
तस्यां प्रविष्टो भवनं तापत्रयविनाशनम् ॥३२॥
सभार्यः सप्रजः कामान् बुभुजेऽन्याविरोधतः ।
संगीयमानसत्कीर्तिः सस्त्रीभिः सुरगायकैः
प्रत्यूषेष्वनुबद्धेन हृदा शृण्वन् हरे कथाम् ॥३३॥

श्लोकार्थ—जिस बर्हिष्मती पुरी में मनु निवास करते थे उसमें पहुंच कर उन्होंने त्रिताप नाशक अपने भवन में प्रवेश किया ॥३२॥

वहाँ अपनी भार्या और सन्तति के सहित वे धर्म, अर्थ और मोक्ष के अनुकुल भोगों को भोगने लगे। प्रातःकाल होने पर गन्धर्वगण अपनी स्त्रियों के सहित उनका गुणगान करते थे। किन्तु मनुजी उसमें आसक्त न होकर प्रेमपूर्ण हृदय से श्री हरि की कथाएँ ही सुना करते थे ॥३३॥

सुबोधिनी—बर्हिष्मतीमिति । तादृसस्थाने स्थितिसामर्थ्याय **विभुरिति**। अत एवोत्तमाधारे शत्रूणां बाधाभावादेकत्रैव सर्वदा स्थित इत्याह-**यां निविश्य समावसदिति** । **बर्हिष्मती** प्रसिद्धां भुवः स्थानं लब्ध्वेति पूर्वेणैव संबन्धः । **यामि**त्यादि भिन्नम् । सम्य**गावसत्**। किञ्च, न केवलं पुर्येव सर्वोत्तमा, किन्तु तस्यां भवनमपि सर्वोत्तममिति । **तस्यां प्रविष्ट इति** तस्यां विद्यमानं **भवनं** प्रविष्टः । **तापत्रयविनाशन**मित्युत्कर्षः, स्थानस्य भक्तिजनकत्वात् ॥३२॥

तापत्रयाभावे हि बाह्याभ्यन्तरबाधाभावाद्यथाशास्त्रं पुरुषार्थाः साधयितुं शक्याः तदाह-**सभार्यः सप्रजः कामान्** विषयान् धर्माद्यविरोधेन **बुभुज** इति । बाधकत्वादेव भार्यापुत्रास्त्यज्यन्ते पुरुषार्थविरोधे । तथात्वे नियतं ज्ञापकमाह-**संगीयमान** इति । **सुरगायकै**र्गन्धर्वादिभिः स्त्रीसहितैः **संगीयमाना स्त्कीर्तिर्यस्य** । देवास्त्वसत्यं न गायन्ति, नाऽपि धर्मादिविरुद्धां कीर्तिं गायन्ति शृण्वन्ति वा । अस्याः कीर्तेः पुरुषार्थचतुष्टयरूपत्वं प्रतिपादयति । सम्यक्त्वं मोक्षपर्यवसानात्, औदार्यज्ज्ञानम्, **सदिति** धर्मः, **कीर्तिः** कामः । अतः कामजनकत्वात्स्त्रीभिः सह गानम् । सुरा हि धर्मफलाः, गायकाः कामार्थप्रधानाः, विशिष्टा मोक्षोपयोगिनश्चेति । पूर्वोक्तस्य सर्वस्य साधकमाह—**प्रत्यूषेष्विति** प्रातःकालेषु । **अनुबद्धेन हृदा हरेः कथां शृण्वन् बुभुज** इति पूर्वेणैव संबन्ध ।३३

व्याख्यार्थ—उस तरह के स्थान में रहने की उनकी सामर्थ्य थी इसे विभुः पद से बताया है। अतएव उत्तम आधार में शत्रुओं की कोई बाधा न होने से एक ही जगह सर्वदा स्थित रहे। बर्हिष्मती नगरी पृथ्वी का प्रसिद्ध स्थान था उसे प्राप्त कर इसका पूर्व से सम्बन्ध है। यां यह भिन्न पद है। समावसत् का अर्थ है अच्छी तरह रहने लगे। केवल वह नगरी ही सर्वोत्तम नहीं थी किन्तु उस नगरी में राजा के रहने का महल भी सर्वोत्तम था। उसने विद्यमान भवन में प्रवेश किया वह भवन त्रितापनाशक था यह उस भवन की उत्कृष्टता थी यह भवन का उत्कर्ष स्थान के भक्तिजनक होने से थी ॥३२॥

जब त्रिविद्यताप नहीं होते हैं तो बाह्य और आन्तर बाधा का अभाव होता है जिससे पुरुषार्थ सिद्ध किये जा सकते हैं। इसको सभार्यः सप्रजः कामान् बुभुजे से बताया है धर्म के अनुसार सब सुखों का उपभोग करते थे। पुरुषार्थ में यदि विरोधी हों तो स्त्री, पुत्र को भी छोड़ दिया जाता है परन्तु मनुजी के स्त्री, पुत्र सब अनुकुल थे अतः उनके साथ सब जगत् के सुखों का उन्होंने उपभोग किया। उनकी कीर्ति का गान देवताओं के गायक गन्धर्व आदि अपनी स्त्रियों के सहित करते थे। देवता कभी भी झूठी (असत्य) कीर्ति का गान नहीं करते और न धर्म आदि के विरुद्ध कीर्ति का गान करते हैं सुनते भी नहीं है। इन मनु की कीर्ति चारों पुरुषार्थरूप थी उसका प्रतिपादन करते हैं। उनकी कीर्ति सम्यग् होने से मोक्षरूप है। उसमें उद्धारता होने से ज्ञानरूप है। वह कीर्ति सत् है इसलिए धर्मरूप है। कीर्ति स्वयं काम रूप है ही। कीर्ति कामजनक होने से ही उसका गान गन्धर्वों ने स्त्रियों के साथ किया। देवता धर्मफल रूप हैं। गायक काम और अर्थ प्रधान है। विशिष्ट होने से वे मोक्षोपयोगी है। पूर्वोक्त सबका साधक प्रातःकाल था इसलिये

प्रत्यषेषु ऐसा कहा। भोगों में किसी प्रकार की आसक्ति न रखते हुए और भगवान् की कथा को सुनते हुए भोगों को भोगते थे इसका पूर्व के श्लोक से सम्बन्ध है ॥३३॥

आभास—प्रेम्णा भगवत्कथायाः श्रवणस्य सर्वपुरुषार्थसाधकत्वेन मध्ये निदर्शनमाह-

आभासार्थ—प्रेम से भगवान् की कथा का सुनना सब पुरुषार्थ का साधक होने से बीच में उसका निदर्शन देते हैं—

श्लोक—**निष्णातं योगमायासु मुनिं स्वायंभुवं मनुम् ।**
यदा भ्रंशयितुं भोगा न शेकुर्भगवत्परम् ॥३४॥
अयातयामास्तस्यासन् यामाः स्वान्तरयापनाः ।
शृण्वतो ध्यायतो विष्णोः कुर्वतो ब्रुवतः कथाः ॥३५॥

श्लोकार्थ—वे इच्छानुसार भोगों का भोग करने में कुशल थे किन्तु मननशील और भगवत्परायण होने के कारण भोग उन्हें जरा भी विचलित नहीं कर सके ।३४। भगवान् विष्णु की कथाओं का श्रवण, ध्यान, रचना और निरूपण करते रहने के कारण उनके मन्वन्तर को व्यतीत करने वाले क्षण कभी व्यर्थ नहीं जाते थे ॥३५॥

सुबोधिनी—निस्णातमिति । योगमायासु निष्णातं स्वायम्भुवं मनुं भोगा यदा भ्रंशयितुं न शेकुः, तदा अयातयामास्तस्य यामा आसन्नित्युत्तरेण संबन्धः। योगमाया नानाविधविषयभोगप्रकारा अणिमादयः, तत्र **निष्णातं** सर्वभोगभोक्तारम् मननशीलत्वाद्विद्यमानमोक्षम्। तेन मोक्षभयादपि न भोगनिवृत्तिः। परलोकभयं तु नास्त्येव, स्वयंभूपुत्रत्वात्। अत एव न ऋणनिवृत्त्यपेक्षा, नाऽपि परलोकभयम्। एवं सति निःशङ्को भोगो भवति। तथा च सति तदभिनिवेशात् भ्रंशः संभवति। परं ते **भ्रंशयितुं न** शक्ताः। तत्र हेतुः—**भगवत्परमिति**। कथाश्रवणादिना भगवत्परत्वम्। भगवत्परत्वे च विषयासक्त्यभावः। अनासक्तौ न भ्रंशः। मननं ब्रह्मसुतत्वादिकं वा योगमायानिष्णातत्वे हेतुः। विषयासक्त्यैव कालो व्यर्थो भवति, नाऽन्यथा। प्रकृते तदभावात्तस्य **यामाः** कालविशेषाः, **अयातयामा** अगतसारा एवाऽभवन्। संपूर्ण एव कालस्तादृशो जात इत्याह—**स्वान्तरयापना इति**। स्वमन्वन्तरस्य यापना। यापयन्ति समापयन्ति ये कालखण्डाः, ते सर्व एव अयातयामा इति। एकसप्ततियुगानि हि मन्वन्तरम्। भोगानां भ्रंशाजनकत्वमात्रेण नाऽयातयामत्वम्, किन्तु हेत्वन्तरमस्तीत्याह—**शृण्वत इति**। **विष्णोः कथाः शृण्वतः**। कथा एव **ध्यायतः**। योगबलेन भगवद्गुणान् ज्ञात्वा तन्निबन्धनेन **कथाः कुर्वतः**। गोष्ठ्यां वा राजसभायां वा तत्कथामेव कुर्वतः, श्रोतृणामर्थं **ब्रुवतश्च**। जागरणानन्तरं देहशुद्धेः पूर्वं कथानां श्रवणम्। ततो ध्यानमावश्यकसभापर्यन्तम्। तत्र च सद्भिः सह तत्कथाकरणम्। ततोऽनुशिक्षार्थमाप्रस्वापं भगवत्कथाकथनमित्येवं प्रत्यहम् ॥३४-३५॥

व्याख्यार्थ—योगमाया के सब भोगों को भोगने वाले स्वायम्भुव मनु को वे भोग जब विचचित नहीं कर सके तब उनके क्षण कभी व्यर्थ नहीं जाते थे ऐसा पैंतीसवे श्लोक से इसका सम्बन्ध

है। योगमाया का अर्थ है नाना प्रकार के विषय भोगों के प्रकार अणिमा आदि उन में निष्णात अर्थात् सब भोगों के भोगने वाले मननशील होने से मोक्ष तो उनके लिये विद्यमान ही था। इसलिए मोक्ष के भय से उनकी भोगों से निवृत्ति नहीं हुई। परलोक भय भी उनको नहीं था क्योंकि वे स्वयम्भू के पुत्र थे। अत एव पितृ ऋण आदि से निवृत्ति की अपेक्षा भी नहीं थी। परलोक भय भी नहीं था। ऐसा होने पर निःशंक भोग होता है और भोगो में आसक्ति होने से पतन होता है। परन्तु वे भोग उनका पतन करने में समर्थ नहीं हुए। क्योंकि वे मनु तो भगवत्परायण थे भगवत्परायणता कथा श्रवण आदि से होती है और जब भगवत्परायणता होती है तो विषयों में आसक्ति का अभाव होता है। जब आसक्ति नहीं होती है तो पतन भी नहीं होता है। योगमाया में निष्णात होने में कारण तो उनका मनन तथा ब्रह्मपुत्रत्व ही था। जो विषयों में आसक्त होता है उसीका समय व्यर्थ जाता है अन्यथा नहीं उन मनु में तो आसक्ति का अभाव था इसलिये उनके समय विशेष सारयुक्त ही रहे निःसार नहीं बीते। पूरा का पूरा उनका मन्वन्तर सारयुक्त ही बीता। यापयन्ति=समाप्त करते हैं ऐसे जो काल खण्ड हैं वे सब ही अयातयाम हुए। मन्वन्तर इकहत्तर युग का होता है। भोग मनु को भ्रष्ट न कर सके इतने मात्र से ही अयातयामता (अगतसारता) ही नहीं थी किन्तु दूसरे हेतु भी थे वे थे भगवान् विष्णु की कथा का श्रवण एवं कथा का ध्यान। योगबल से भगवान् के गुणों को जानकर उन गुणों से युक्त कथाओं को करते हुए गोष्ठी में अथवा राजसभा में भी उन्हीं का (भगवान् की) कथाओं को करते हुए श्रोताओं के लिये बोलते हुए, जगने के अनन्तर देहशुद्धि से पहले कथा सुनना, तदन्तर आवश्यक जो सभा है उसके पूर्व तक ध्यान करना, सभा में भी सज्जनों के साथ भगवान् की ही कथा को करना। उसके अनन्तर भी उसकी शिक्षा के लिये जब तक सोये नहीं तब तक भगवत्कथा को कहना इस तरह का उनका प्रति दिन का काम था ॥३४-३५॥

आभास—ततः किं जातमित्यत आह—

आभासार्थ—उससे क्या हुआ उसके लिये कहते हैं—

श्लोक—**स एव स्वातन्त्रं निन्ये युगानामेकसप्ततिम् ।**
वासुदेवप्रसङ्गेन परिभूतगतित्रयः ॥३६॥

श्लोकार्थ—**इस तरह उन्होंने अपनी ऊर्ध्वगति, मध्यगति और अधोगति जो तीन गुणों से होती है उनको अभिभूत करके भगवान् वासुदेव के कथा प्रसङ्ग में अपने मन्वन्तर के इकहत्तर चतुर्युग पूरे कर दिये ॥३६॥**

सुबोधिनी-स एवेति । मनुरेव तत्र प्रथममन्वन्तरे राजा जातः । स्वाधिकारकालेऽन्यस्तथाधर्मं न पालयिष्यतीति **स एव स्वान्तरमेवं**प्रकारेण **निन्ये,** नीतवान् । प्रियव्रतस्य राज्यकथा कल्पान्तरीया । उत्तानपदस्तु मन्वन्तरान्तरे । प्रियव्रतपुत्राणामेव मन्वन्तराधिपतित्वात्कल्पान्तरे वा । मनोर्बहुकल्पजीवित्वमनेन ज्ञापितम् । कालो न बाधक इति च । भगवद्दत्ताधिकारे ह्यधिकारकालो नाऽऽयुर्गणनायां प्रविशति । अतोऽधिकाराभावासमय एव शतायुष्ट्वम् । पितृदेवमनुष्येषु वा नाऽस्य प्रवेशः । मन्वन्तरस्य परिमाणमाह-**युगानामिति** । सहस्रकल्पेषु चतु-

दशधा विभागे नवशतं चतुनवतिश्च युगानां भवति । षट् युगानि च समसङ्ख्यया नायान्तीति न गणितानि । अस्य सृष्टचन्तरत्वाद्भगवद्गुणानामुपभोगार्थे षड्गुणानि वा । ततः किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह-**वासुदेवप्रसङ्गेनेति**। वासुदेव एव मानसो वाचिकः कायिकश्च यः **सङ्गो** ध्यानकीर्तनपरिचर्यादिरूपः, तेनैव, **परिभूतं** तिरस्कृतं **गतित्रयं** येन । ऊर्ध्वाधोमध्येगतयो गुणत्रयसाध्याः ते त्रयोऽपि गताः । अतो भगवत्येव गतिश्चाऽवशिष्यते । न हि मोक्षदातुरेवंसङ्गे धर्मार्थकामरूपा गतिर्भवति ।।३६।।

व्याख्यार्थ—वहाँ प्रथम मन्वन्तर में मनु ही राजा हुवे थे । अपने अधिकार काल में दूसरा उस तरह धर्म का पालन नहीं करेगा इसलिये उन्हीं ने अपने मन्वन्तर को इस तरह बिताया । प्रियव्रत का राज्य कथा तो अन्य कल्प की है । उत्तानपाद तो अन्य मन्वन्तर में हुए । अथवा प्रियव्रत के पुत्र ही मन्वन्तर के अधिपति थे इसलिये वे भी अन्य कल्प में हुए । इससे मनु बहुत कल्पतरूजीवित रहे ऐसा ज्ञात होता है और इससे यह भी ज्ञात होता है कि काल उनके लिये बाधक नहीं हुआ था । भगवान् के दिये हुए अधिकार में अधिकार का समय आयु की गणना में प्रविष्ट नहीं होता (नहीं लिया जाता है) अतः अधिकार के समय को छोड़कर बाकी के समय में ही सौ वर्ष की आयु होती है । अथवा मनु की पितरों, देवताओं तथा मनुष्यों में गिनती नहीं है । युगानामेकसप्ततिम् से मन्वन्तर का परिणाम बताया है अर्थात् मन्वन्तर इकहत्तर युग का होता है । हजार कल्पों में चौदह विभाग करने पर नौ सौ चोरानवे युग होते हैं छः युग समसंख्या में नहीं आते हैं इसलिये नहीं गिने गये हैं भगवद्गुणों के उपभोग के लिये यह सृष्टयन्तर है । अथवा ये छः गुण है । इससे क्या हुआ उसे वासुदेवप्रसङ्गेन परिभूत गतित्रयः से बताते हैं । वासुदेव का ही जिनके मन में, वाणी में और वचन में सम्बन्ध रहता है अर्थात् मन में, वाणी में कीर्त्तन और शरीर से सेवा इन्हीं के द्वारा जिन्होंने तीन प्रकार की गति को पराजित करा दिया है । अर्थात् ऊर्ध्वगति, मध्यगति और अधोगति ये तीनों ही गति उनकी चली गई है (नष्ट हो गयी है) अतः केवल भगवान् में गति बचती है । अर्थात् भगवान् में ही उनकी गति है । जब मोक्षदाता (भगवान्) के साथ इस तरह का संग (सम्बन्ध) हो जाता है तो उनकी धर्म, अर्थ और कामरूप गति नहीं होती है ।।३६।।

आभास—ननु निरन्तरं कथं भगवत्कथादि सिद्ध्येत् ? क्लेशादीनां बाधकत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—शंका होती है कि निरन्तर भगवत्कथा आदि कैसे सिद्ध होंगे क्योंकि क्लेश आदि उसमें बाधक हो जायंगे इस पर कहते हैं—

श्लोक—**शारीरा मानसा दिव्या वैयासे ! ये च मानुषाः ।**
भौतिकाश्च कथं क्लेशा बाधन्ते हरिसंश्रयम् ।।३७।।

श्लोकार्थ—हे व्यास पुत्र विदुरजी जो पुरुष श्री हरि के आश्रित रहता है, उसे

शारीरिक, मानसिक, दैविक, मनुष्य सम्बन्धी अथवा भौतिक दुःख किस प्रकार कष्ट पहुंचा सकते हैं ।।३७।।

सुबोधिन-शारीरा इति । शारीरा व्याधिरूपाः **मानसा** आधिरूपाः, **दिव्या** अशनिवृष्टयादिजनिताः । विश्वासार्थं **वैयासे** इति । संबोधनम् । व्यासो हि तस्य चरित्रं बहुधा आह । **मानुषा** आज्ञातिक्रमादयः । यद्यपि शारीरमानसमध्ये सर्वस्याऽप्यनुप्रवेशः, तथापि परदृष्टया धनाद्यभावे आज्ञाद्यकरणे, प्रजानां भूताद्युपद्रवे च राजा क्लिष्ट इति लोका मन्यन्ते । राजत्वाच्च तन्निराकरणार्थं यत्नकरणाच्च । अतः **क्लेशाः** दुःखानि अहङ्काराज्ञानादीनि च कथं बाधन्ते ? तत्र हेतुः-हर**संश्रयमिति** । उक्तोऽपि हेतुर्बहुधोच्यते ।।३७।।

व्याख्यार्थ—शारीराः=व्याधिरूप, मानसः=मानसिक चिन्तारूपा, दिव्याः=बिजली का गिरना, वृष्टि आदि से उत्पन्न कष्ट, विश्वास के लिये विदुरजी को वैयासे से संबोधित किया है क्योंकि व्यासजी ने मनु के चरित्र को अनेक प्रकार से कहा था । मानुषाः=आज्ञा के उल्लंघन आदि से होने वाले दुःख । यद्यपि शारीर और मानस कष्टों में सबका समावेश हो जाता है तथापि अन्य लोगों की दृष्टि से धन आदि के अभाव में, आज्ञा आदि के अतिक्रमण में प्रजाओं के भूतादि उपद्रव में राजा को दुःख होता है ऐसा लोग मानते हैं । जब वह राजा है तो उसके निराकरण के लिये उसे यत्न करना पड़ता है । अतः अहङ्कार ,अज्ञान आदि दुःख उसे कैसे कष्ट पहुंचा सकते हैं । क्योंकि उसको तो भगवान् का सहारा है । इस हेतु को यद्यपि पहले भी कहा है किन्तु अनेक प्रकार से यह कहा जा रहा है ।।३७।।

आभास—प्रासङ्गिकत्वाभावाय तस्य भगवदाश्रयत्वं निःसन्दिग्धं फलतः साधयति—

आभासार्थ—भगवान् का आश्रय प्रासङ्गिक नहीं था किन्तु निःसंग्दिध था उसको फल से सिद्ध करते हैं—

श्लोक—**यः पृष्टो मुनिभिः प्राह धर्मान्नानाविधान् शुभान् ।**
नृणां वर्णाश्रमाणां च सर्वभूतहितः सदा ।।३८।।

श्लोकार्थ—मनुजी निरन्तर समस्त प्राणियों के हित में लगे रहते थे । मुनियों के पूछने पर उन्होंने मनुष्यों के तथा समस्त वर्ण और आश्रमों के अनेक प्रकार के मङ्गलमय धर्मों का भी वर्णन किया ।।३८।।

सुबोधिनी-यः पृष्ट इति । भगवद्भक्ता एव हि गुह्यं धर्मं विदुः । अतो **मुनिभिरयं** भक्त इति ज्ञात्वा **धर्मान् पृष्टः** । अतो मुनिभ्यो धर्मानाह । एकविधधर्मकथने स्वभावगुणभिन्नानां सर्वेषां विशेषान् गणयति-**नृणां** मनुष्याणाम्, वर्णानामाश्रमाणां च । एतत्कथनं न लाभपूजाख्यात्यर्थम्, किन्तु **सर्वभूतहितः** सन्नाह । राज्ञा हि सर्वभूतहितं कर्त्तव्यमित्येवाऽभिसन्धाय तथाऽऽह ।

सुबोधिनी-यः पृष्ट इति । भगवद्भक्ता एव हि गुह्यं धर्मं विदुः । अतो **मुनिभिरयं** भक्त इति ज्ञात्वा **धर्मान् पृष्टः** । अतो मुनिभ्यो धर्मानाह । एकविधधर्मकथने स्वभावगुणभिन्नानां सर्वेषां संग्रहो न भवतीति ततो नानाविधानाह । सर्वे एव च कल्याणकराः । विशेषधर्मानप्युक्तवानिति विशेषान् गणयति-**नृणां** मनुष्याणाम्, वर्णानामाश्रमाणां **च** । एतत्कथनं न लाभपूजाख्यात्यर्थम्, किन्तु **सर्वभूतहितः** सन्नाह । राज्ञा हि सर्वभूतहितं कर्त्तव्यमित्येवाऽभिसन्धाय तथाऽऽह । सर्वदा वाऽयं तथा ॥३८॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के भक्त ही गुप्त धर्म को जानते हैं अतः मुनियों ने यह भक्त है ऐसा जानकर धर्मों का प्रश्न किया । इसलिए मुनियों के लिये धर्म कहे । एक प्रकार के धर्म कहने में स्वभाव तथा गुणों से भिन्न सब लोगों का समाधान नहीं होता इसलिए नाना प्रकार के धर्म कहे । वे सब धर्म कल्याणकारी थे । विशेष धर्म भी उन्होंने जो कहे उन्हें गिनाते हैं । मनुष्यों के वर्ण तथा आश्रमों के धर्मों को कहे । ऐसा कहना किसी लाभ के लिये या अपनी पूजा अथवा प्रसिद्धि के लिए नहीं था किन्तु सर्वभूतहितः सब प्राणियों के हित के लिये धर्म कथन किया था । राजा को सब प्राणियों का हित करना चाहिये ऐसा समझ कर ही वैसा कहा । अथवा सर्वदा ही यह वैसा था ॥३८॥

आभास—एवं मनुचरित्रमुक्त्वोपसंहरति—

आभासार्थ—इस तरह मनु के चरित्र को कहकर उसका उपसंहार करते हैं—

श्लोक—**एतत्त आदिराजस्य मनोश्चरितमद्भुतम् ।**
वर्णितं वर्णनीयस्य तदपत्योदयं शृणु ॥३९॥

श्लोकार्थ—जगत् के सर्व प्रथम सम्राट् महाराज मनु वास्तव में कीर्त्तन के योग्य थे । यह मैंने उनके अद्भुत चरित्र का वर्णन किया, अब उनकी कन्या देवहूति का प्रभाव सुनो ॥३९॥

सुबोधिनी-एतत्त इति । आदिराजस्येति राज्ञामग्रे महत्त्वम् । **मनोरिति** ब्राह्मणानाम् । **अद्भुतमिति** विषयभोगः, भक्तिः, वैराग्यं च त्रितयमेकस्मिन् स्थितमिति । तेन मनोरेव चरित्रं पृष्टवानिति । **वर्णितमिति** तस्यैवोपसंहारः । न केवलं प्रश्नानुरोधेन वर्णितम्, किन्तु **वर्णनीयस्येति** । तस्य ही चरित्रं वर्णनीयमेव, भगवच्चरित्राश्रयत्वात् । अग्रे प्रश्नान्तरव्यावृत्त्यर्थमाह-**तदपत्योदयं शृण्विति** । तस्याऽपत्यानि पञ्च । तत्र प्रकृता देवहूतिः, तस्या **उदयः** । कन्यादीनामुत्पत्तिविवाहौ, तस्याश्च मुक्तिः, सर्वमुदयत्वेनोच्यते । तत्राऽऽदरार्थं **शृण्विति** विधिः ॥३९॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
तृतीयस्कन्धे द्वाविंशाध्यायविवरणम् ।

* पृष्ठ २५२ के अन्त में अपूर्ण के स्थान पर यह शुद्ध पाठ पढ़ें ।

व्याख्यार्थ—आदिराजस्य का तात्पर्य यह है कि राजाओं में उसका ऐसा महत्व था और मनोः इससे ब्राह्मणों से भी उसमें महत्व कहा। अद्‌भुतम् का तात्पर्य यह है कि उस राजा में सुख-भोग, भगवान् की भक्ति और वैराग्य ये तीनों ही एक में स्थित थे। इसलिये तो मुनियों ने मनु ही का चरित्र पूछा। वर्णितम् इससे उनके चरित्र का उपसंहार हुआ। मुनियों ने प्रश्न किया था इसलिये प्रश्न के अनुरोध से मनु के चरित्र का वर्णन नहीं किया किन्तु भगवच्चरित्र का आश्रय होने से उसका चरित्र वर्णन करने के योग्य था इसलिये वर्णन किया। आगे कोई प्रश्न नहीं था इसलिए कहा कि उसके अपत्य (संतान) का उदय (प्रभाव) सुनो। उनके पांच संतान थी। उनमें यहां देवहूति का प्रकरण चल रहा है इसलिए उसी के उदय की बात को सुनो। कन्या आदि की उत्पत्ति और विवाह तो हुए थे किन्तु देवहूति की तो मुक्ति हुई थी यह सब उदय रूप से कहे हैं। यहाँ शृणु ऐसी जो विधि है वह आदर के लिये है ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के बाईसवें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत) टीका हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

महाराजा मनुजी का चरित्र भगवदाश्रय को सिद्ध करने वाला है जिस आश्रय के लिए भक्तराज सूरदासजी भगवान् को निम्न पद में प्रार्थना करते हैं—

राग विहाग

अब मोहे सरन राखियै नाथ।
कृपा करी जो गुरुजन पठए, बह्यौ जात गह्यौ हाथ।
अहंभाव तैं तुम बिसराए, इतनेहिं छूटचौ साथ।
भवसागर में परचौ प्रकृति-बस, बाँध्यौ फिरचौं अनाथ।
कामित भयौ जैसे मृग चितवत, देखि देखि भ्रम-पाथ।
जन्म न लख्यौं संत की संगति, कह्यौ-सुन्यौ गुन गाथ।
कर्म, धर्म तीरथ बिनु आराधन, ह्वै गए सकल अकाथ।
अभयदान दै, अपनौ कर धरि, सूरदास कै माथ ॥२॥

।। श्री कृष्णाय नमः ।।

।। श्री गोपीजन वल्लभाय नमः ।।

।। श्री वाक्पति चरण कमलेभ्यो: नमः ।।

श्रीमद्भागवत महापुराण

श्रीमद्वल्लभाचार्य - विरचित सुबोधिनी संस्कृत टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

मुक्त सृष्टि (तत्व मुक्ति) प्रकरण

तृतीय स्कन्ध

तेवीसवां अध्याय

योग द्वारा तैयार किये हुए विमान में कर्दमजी के दाम्पत्य जीवन का वर्णन–

कारिका—कर्दमस्य हि कामोऽत्र स्वीकृतत्वात्तदिच्छया ।
त्रयोविंशतिमेऽध्याये वैराग्यावधिरुच्यते ।।१।।
भगवद्भोगसृष्टौ हि पूर्वं मात्रा निरूपिताः ।
तद्ग्राहकाणीन्द्रियाणि निरूप्यन्तेऽधुना स्फुटम् ।।२।।
भगवत्कृतभोगो हि नाल्पसत्त्वेन भुज्यते ।
अतस्तस्या योग्यतायै पतिसेवा निरूप्यते ।।३।।
ततः प्रसादो विज्ञप्तिर्भोग्यसाधननिर्मितिः ।
अन्तःस्थितहरेर्ज्ञप्त्या तथात्वज्ञापनं तथा ।।४।।
भोगो नानाविधश्चैव सर्वभावेन चैव हि ।
भार्येच्छया कन्यकानां जननं चाऽपि वर्ण्यते ।
वैराग्यमुभयोश्चैव कामस्तेनैव पूर्यते ।।५।।

कारिकार्थ—इस तेवीसवें अध्याय में कर्दमजी का काम उनकी इच्छा से ही स्वीकृत होने से वैराग्य की अवधि तक वह कहा जायेगा ।।१।।

भगवद् भोग की सृष्टि में पहले मात्राओं का निरूपण किया था। उन भोगों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियों का निरूपण अब स्पष्ट रूप से किया जाता है ।।२।।

भगवान् के द्वारा निर्मित किया हुआ भोग सामान्य नहीं भोग सकता अतः उसकी योग्यता के लिये पति सेवा का निरूपण है ।।३।।

तदन्तर भगवान् की कृपा, विज्ञप्ति और भोग्य साधनों का निर्माण। अन्तःकरण में स्थित भगवान् की प्रार्थना से यह सब भगवत्कृत है इसकी समझ होना ।।४।।

भोग नाना प्रकार के थे और वे भोग भी सर्वभाव से थे। अपनी भार्या की इच्छा से कन्याओं की उत्पत्ति का भी वर्णन है। दोनों पति पत्नी को वैराग्य हो जाने से उसी से काम की पूर्त्ति हो गयी ॥५॥

आभास—तत्र प्रथमं तस्याः पतिसेवामाह—

आभासार्थ—उसमें पहले पति सेवा को कहते हैं—

मैत्रेय उवाच-श्लोक—**पितृभ्यां प्रस्थिते साध्वी पतिमिङ्गितकोविदा ।
नित्यं पर्यचरत् प्रीत्या भवानीव भवं प्रभुम् ॥१॥**

श्लोकार्थ-श्री मैत्रेयजी ने कहा—विदुरजी ! माता पिता के चले जाने पर पति के अभिप्राय को समझ लेने में कुशल साध्वी देवहुति कर्दमजी की प्रति दिन प्रेम-पूर्वक सेवा करने लगी। जैसे पार्वती भगवान् शिवजी की सेवा करती है ॥१॥

सुबोधिनी-पितृभ्यामिति । मातापितृभ्यां प्रस्थाने कृते सति, दीनाऽपि सती, खेदमकृत्वा **पतिं पर्यचरत्** । पतिसंबन्धपर्यन्तमेव पित्रोः संबन्धः, यतः **साध्वी** । पतिव्रतायाः स एव धर्मः । सेवा सैव, या भर्तु रोचते । रुचिश्च महान् न वदतीति, तदिङ्गितैर्ज्ञातव्येति । तज्ज्ञानं च पातिव्रत्यादेव जातमित्याह-**इङ्गितकोविदेति** । इङ्गिते कोविदा पण्डिता । दीर्घकालादरनैरन्तर्यसेवा फलदा भवतीति तदाह-**नित्यं प्रीत्येति** । **नित्यमिति** दीर्घनैरन्तर्ये । **प्रीतिरा**दरः स्नेहश्च सेव्यवश्यत्वहेतुः । निष्कामकामनायामावश्यकत्वे च दृष्टान्तः-**भवानीव भवमिति** । विवाहात्पूर्वं प्रभुत्वेनैव पार्वत्या सेवितः । केवलं मनसा पतिरिति जानाति, पूर्वसंस्काराच्च । तद्वदियमपि संबन्धरहिता काम्यालङ्कारादिकामनारहिता चावश्यकत्वेनैव सेवां कृतवतीत्यर्थः ॥१॥

व्याख्यार्थ—माता पिता के चले जाने पर उदास होती हुई भी देवहूति खेद न करके पति की सेवा करने लगी। जब तक उसका विवाह नहीं हुआ था तब तक माता पिता का सम्बन्ध था। क्योंकि वह साध्वी है पतिव्रता है पतिव्रता का तो यही धर्म है। सेवा भी वैसी करती थी जो पति को रुचिकर होती थी। जो महान् होते हैं वे अपनी रुचि को कहते नहीं है। किन्तु उस रुचि को उनके अभिप्राय से जान लेनी चाहिये। उस अभिप्राय को जानना पतिव्रत्य से ही होता है इसको "इंगित कोविदा" से बताया है वह अभिप्राय को समझने में पण्डित थी। दीर्घकाल तक (बहुत समय तक) आदर के साथ की हुई निरन्तर सेवा फल देने वाली होती है। 'नित्यम्' पद से दीर्घकाल और नैरन्तर्य (बीच में सेवा टूटे नहीं) दोनों आ जाते हैं और 'प्रीत्या' से आदर और स्नेह का ग्रहण होता है। आदर और स्नेह ही तो सेव्य (जिसकी सेवा की जाती है) को वश में कर सकते हैं। सेवा में निष्कामता की कामना होनी चाहिये उसके लिये 'भवानीव भवं प्रभुम्' यह दृष्टान्त दिया है। विवाह के पहले पार्वती ने शिवजी की सेवा प्रभु रूप से ही की थी। केवल मन से ही मेरे पति हैं ऐसा जानती थी। क्योंकि पूर्वजन्म का संस्कार था इसी तरह यह भी सम्बन्ध

रहित चाहे जाने वाले अलङ्कारों की इच्छा न रखती हुई सेवा करना आवश्यक है इस तरह सेवा करती थी ।।१।।

आभास—सेवायां गुणान् दोषाभावांश्चाह द्वयेन । गुणानाह—

आभासार्थ—सेवा में गुणों को और दोषाभावों को दो श्लोकों से कहते हैं। उनमें से यहां गुणों को कहते हैं –

श्लोक—**विश्रम्भेणाऽऽत्मशौचेन गौरवेण दमेन च ।**
शुश्रूषया सौहृदेन वाचा मधुरया च भोः ।।२।।

श्लोकार्थ—उसने विश्वास, पवित्रता, गौरव, संयम, शुश्रूषा, प्रेम और मधुर भाषण से (पति को संतुष्ट किया) ।।२।।

सुबोधिनी–विश्रम्भेणेति । विश्रम्भेण विश्वासेन; अनेन मम सर्वपुरुषार्थः सेत्स्यतीति । **आत्मनो** देहस्याऽन्तःकरणस्य **शौचेन** शुद्ध्या । सन्तः शुद्ध्यैव प्रसीदन्ति । विश्वासः सर्वत्राऽङ्गम् । पुत्रपित्रादिष्विव न सेवा, किन्तु देववदित्याह **गौरवेणेति । गौरवमादरविशेषो** महत्त्वपूर्वकः, यथा गुरौ क्रियते । **दम** इन्द्रियनिग्रहः । इन्द्रियचाञ्चल्ये सेवा न फलतीति लोकवेदसिद्धम् । **शुश्रूषा** चरणसंवाहनाद्यन्तरङ्गसेवा । **सौहृदं** सुहृदो भावः । सर्वैरेव मित्रधर्मैरित्यर्थः । गुह्यगूहनगुणप्रकटीकरणादिभिः मधुरा च वाणी पूर्वोक्तसर्वगुणेषु प्राणभूता । **'सद्यस्त्वप्रियवादिनीम्'** इति तद्विरोधिनस्त्यागहेतुत्वात् चकारादन्येऽपि शमादयः । **भो** इति केवलं संबोधनं सावधानार्थं ।।२।।

व्याख्यार्थ—इन ऋषि से ही मेरा जब पुरुषार्थ सिद्ध हो जायगा इस विश्वास से 'आत्म शौचेन' (देह तथा अन्तःकरण) की पवित्रता से सेवा की । संत पवित्रता से ही प्रसन्न होते हैं । विश्वास ही सबका अङ्ग है । पुत्र जैसे पिता की सेवा करता है वैसे नहीं, किन्तु देवता की तरह सेवा की यह 'गौरवेण' से स्पष्ट है । गौरव महत्वपूर्वक आदर विशेष को कहते हैं जैसे गुरु में गौरव होता हैं : 'दम', इन्द्रियनिग्रह को कहते हैं । इन्द्रियां जब चञ्चल होती हैं तो सेवा सफल नहीं होती यह बात लोकवेद से सिद्ध है । शुश्रूषा (चरण दबाना आदि) अन्तरङ्ग सेवा । सौहृदम् (मित्रभाव सब प्रकार के मित्र धर्मों से) मित्र का काम है गुप्त बात को प्रकट न करना और गुणों को प्रकट करना, मधुर वाणी तो ऊपर बताये गये सब गुणों की प्राणरूप है । 'सद्यस्त्व प्रियवादिनीम्', शास्त्रों में कहा है कि अप्रिय बोलने वाली स्त्री का तत्काल ही परित्याग कर देना चाहिये । 'च' से और भी शम दम आदि गुण उसमें थे । 'भो': यह सावधान करने के लिये केवल सम्बोधन है ।।२।।

आभास—दोषाभावानाह—

आभासार्थ—दोषों के अभाव को कहते हैं—

श्लोक—**विसृज्य कामं दम्भं च द्वेषं लोभमघं मदम् ।**
अप्रमत्तोद्यता नित्यं तेजीयांसमतोषयत् ॥३॥

श्लोकार्थ—उसने कामवासना, दम्भ, द्वेष, लोभ अपराध, मद इनका परित्याग करके सदा सावधानी और लगन के साथ अपने अत्यन्त तेजस्वी पति को संतुष्ट कर लिया ॥३॥

सुबोधिनी-विसृज्येति । कामादयः षट् दोषाः, पापापराधौ चाऽधिकौ । तत्र काम आद्यः, कामपूरणार्थमेव कामिनीव भजते । **मानमिति** पाठे अहङ्कारो राजपुत्र्यहमिति कामस्थानीयः । **दम्भो** लोभात्मकः, धनकीर्त्यादिलोभाभावे । दम्भं न कुर्यात् । अत्र तु तदीयं सर्वं तस्या एवेति साक्षाल्लोभो न सम्भवतीति राजपुत्र्यास्तदग्रे पश्चाच्च नैकरूपता सेवायां सम्भवतीति दम्भो निर्दिष्टः । चकारादपराधो निवारितः । **द्वेषो** मत्सरात्मकः, क्रोधश्च संगृहीतः । लोभः स्पष्टः । **अघम**पराधः । **मदो** गर्वः । एवमष्टाऽपि निवारिताः । **अप्रमत्ता** चासावुद्यता च । नित्योद्यमः प्रमादाभावश्चाऽन्तरङ्गौ । एवं कृते यज्जातं तदाह—**तेजीयांसमतोषयदिति** । अतितेजस्विनं दुर्धर्षमप्यतोषयदित्यर्थः ॥३॥

व्याख्यार्थ—काम, दम्भ, द्वेष, लोभ, अघ और मद ये छ दोष हैं । पाप और अपराध से अधिक हैं । इन छ दोषों में काम पहला है इस काम की पूर्त्ति के लिये ही कामिनी की तरह सेवा करती है । काम की जगह मान ऐसा भी पाठ है वहाँ मान का अर्थ होगा अहङ्कार, मैं राजा की लड़की हूँ ऐसा अहङ्कार होना यह काम की जगह दोषों में गिना जायगा । दम्भ लोभ रूप होता है धन कीर्ति आदि का लोभ न हो तो, दंभ (ढोंग) क्यों करेगा । यहाँ तो कर्दमजी का जो भी कुछ है वह सब उसी (देवहूति) का ही है तो फिर साक्षात् लोभ की तो सम्भावना ही नहीं है । राजपुत्री की उनके सामने या पीछे सेवा में एकरूपता सम्भव नहीं है इसलिये दम्भ का निर्देश किया । 'च' से अपराध लिया जाता है वह भी उसमें नहीं था । द्वेष मात्सर्यरूप है द्वेष से क्रोध भी लिया जाता है । लोभ को तो सब जानते ही हैं । अघ का अर्थ है अपराध । मद से घमण्ड लिया गया है । इस तरह ये आठों ही दोष उसमें नहीं थे । प्रमाद का अभाव और नित्य उद्यम ये दोनों अन्तरङ्ग हैं । ऐसा करने पर जो हुआ उसे कहते हैं 'तेजीयांसमतोषयत्' अति तेजस्वी जो कभी किसी से दबते नहीं उनको प्रसन्न कर लिया ॥३॥

आभास—तुष्टस्य प्रसादं वक्तुं तस्याऽधीनत्वमतिप्रसादाय तद्दृष्टं निरूपयति—**स वै** इति द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—प्रसन्न हुए मुनि की प्रसन्नता को कहने के लिये ऋषि की अधिनता उनके अत्यन्त प्रसन्नता के लिये होती है । उसे जो देखा उसका निरूपण दो श्लोकों से करते है—

श्लोक—**स वै देवर्षिवर्यस्तां मानवीं समनुव्रताम् ।**
दैवाद्गरीयसःपत्युराशासानां महाशिषः ॥४॥

श्लोकार्थ—उन देवर्षिवर्य ने उस मनु की पुत्री को अपना अनुवर्तन करने वाली तथा दैव से भी बढ़कर पति से महती आशा रखने वाली समझा ।।४।।

सुबोधिनी-महत्त्वं हि दैन्यसामानाधिकरण्यं दयाहेतुर्भवतीति प्रथमं महत्त्वमाह-**मानवी**मित्यादि विशेषणत्रयेण । तथाज्ञाने हेतुः-**देवर्षिवर्य इति** । देवा हि हृदयस्थं जानन्ति, ऋषयोऽलौकिकम्, ततोऽप्युत्तमः । बाह्यमाभ्यन्तरमलौकिकं जानाति । तत्र-**मानवी**मिति बाह्योत्कर्षः । **सम्यगनुव्रता**मिति यथा स्वस्याऽनुभावादिः, अन्तःकरणबाह्यधर्मा वा । **दैव**मदृष्टं कालो वा, ततोऽपि गरीयान् पतिः । दैवमप्यन्यथाकर्तुं शक्त इत्यर्थः । ततो **महाशिष आशासानाम्**, दुर्लभामपि कामनां पूरयिष्यतीति । आभ्यन्तरमेतत् ।४।

व्याख्यार्थ—महत्व और दीनता दोनों का एक ही आधार जब होता है तब उनके ऊपर दया होती है इसलिये पहले देवहूति में विशेषणों से महत्व बताते हैं वे तीन विशेषण हैं (१) मानवी (२) समनुव्रताम् (३) महाशिषः आशासानाम् । ऋषि देवर्षिवर्य थे अतः उसकी सब बात जानते थे । देवता हृदय की बात जानते हैं, ऋषि अलौकिक जानते हैं वे तो देवता और ऋषि से भी उत्तम थे अर्थात् वे बाह्य, अलौकिक और आभ्यन्तर सबको जानते हैं । मानवी से उसका बाह्य उत्कर्ष बताया अर्थात् यह मनु की लड़की है इससे सर्व साधारण उसका महत्व समझते हैं । जिस प्रकार अपना अनुभाव आदि हो उस तरह अथवा अन्तःकरण और बाह्य धर्म इनसे सब प्रकार से ऋषि का अनुसरण करती थी । दैव का अर्थ है अदृष्ट (भाग्य) अथवा काल इससे भी पति श्रेष्ठ थे इससे 'देवाद्गरीयसः पत्युः' इससे बताया है । ऋषि तो दैव (भाग्य) को भी बदल सकते हैं अतः उन महर्षि से आशिषः आशासानाम् (दुर्लभ) कामनाओं की आशा रखती थी । मुनि मेरी दुर्लभ कामनाओं को भी पूरा कर देंगे । यह आभ्यन्तर उत्कर्ष है ।।४।।

आभास—दैन्ये हेतुद्वयमाह—

आभासार्थ—दैन्य में दो हेतु देते हैं—

श्लोक—**कालेन भूयसा क्षामां कर्शितां व्रतचर्यया ।**
प्रेमगद्गदया वाचा पीडितः कृपयाऽब्रवीत् ।।५।।

श्लोकार्थ—इस तरह बहुत काल से व्रतचर्या के कारण कृशता को प्राप्त हुई उसे देख दयावश खिन्न हुए ऋषि ने प्रेम गद् गद् वाणी से कहा ।।५।।

सुबोधिनी—कालेनेति । महता **कालेन** विषयरहितेन **क्षामां** दुर्बलाम् । **व्रतचर्यया च कर्शिताम्** । यथा पतिर्महातपसि तिष्ठति, तथा पतिव्रतेयं स्थितेति क्लिष्टा परमखेदं प्राप्तवती । एतादृशीं दृष्ट्वा **कृपया पीडितः**, तद्गत**प्रेम्णा**, **गद्गदया वाचा**, अग्रे वक्ष्यमाणं प्रसादरूपं वाक्यमब्रवीदित्यर्थः ।।५।।

व्याख्यार्थ—सुख भोगों से रहित बहुत काल बीत जाने से वह अत्यन्त दुर्बल हो गयी और व्रतचर्या से कृश हो गयी थी उसके पति जिस तरह कठिन तपस्या में स्थित थे उसी तरह वह पतिव्रता भी स्थित थी वह अत्यन्त खेद से युक्त थी ऐसी उसे देखकर दया के कारण खेदयुक्त होकर देवहूति में प्रेम रखने वाले मुनि ने गद् गद् वाणी से आगे कहे जाने वाले प्रसाद रूप (प्रसन्नतारूप) वाक्य कहे ।।५।।

आभास—तान्येव वाक्यान्याह त्रिभिः-तुष्टोऽहमद्येत्यादिभिः—

आभासार्थ—प्रसादरूप उन वाक्यों को तीन श्लोकों से कहते हैं—

कर्दम उवाच-श्लोक—**तुष्टोऽहमद्य तव मानवि ! मानदायाः शुश्रूषया परमया परया च भक्त्या**
यो देहिनामयमतीव सुहृत् स्वदेहो नाऽवेक्षितः समुचितः क्षपितुं मदर्थे ।।६।।

श्लोकार्थ—कर्दमजी बोले हे मनु पुत्री ! तुमने मेरा बहुत आदर किया है । मैं तुम्हारी उत्तम सेवा और परम भक्ति से बहुत प्रसन्न हूँ । सब देहधारियों को अपना शरीर बहुत प्यारा होता है किन्तु तुमने मेरी सेवा के लिये उसके क्षीण होने की परवाह नहीं की ।।६।।

सुबोधिनी-संतोषः सर्वदानं च दुर्लभत्वं च तस्य वै । त्रयं भगवता देयं नाऽन्येनेति निरूप्यते ।१। प्रथमं तोषमाह—**तुष्टोऽहमिति । सुहृ**-त्प्रियः । **मदर्थे क्षपितुं नाऽवेक्षितः**, न गणितः । **समुचितः** श्लाघ्योऽपि । मत्सेवाऽऽशया उपेक्षित इत्यर्थः । हे **मानवि**, महतः पुत्रि, अद्य तवाऽहं तुष्टः । न केवलं पितृमातृमाहात्म्यात्तवापि स्वतो महात्म्यादित्याह—**मानदायाः** यो हि निरन्तरं मानं सन्माननां प्रयच्छति, स हि पात्रे दानात्स्वयमपि मानं प्राप्नोति । एवमाधारगतं गुणद्वयं तोषे हेतुः । करणद्वयमाह—**शुश्रूषया परमया परया च भक्त्येति** । परमा लोकोत्तरा **शुश्रूषा** अन्तरङ्गसेवा । इदं बाह्यं करणम् । **परा** माहात्म्यज्ञानपूर्विका उत्कृष्टा **भक्तिः** प्रीतिः, अन्तरङ्गं करणम् । किञ्च, न केवलं करणद्वयेनैव कार्यं सिद्ध्यति, आजन्मभजनाभावात् । किन्त्वाजन्मैतद्द्वयं यत्र व्यापृतम्, तस्यापि तदर्थं क्षपणमपेक्षत इति । तदाह—**यो देहिनामिति** । तत्र पूर्वोक्तं करणद्वयं सर्वथा व्यापृतमिति वक्तुं-**मयं देहो देहिनां** देहाभिमानिनाम**तीव सुहृन्**मित्र-मात्मभूतमित्ररूपम् , सोऽपि **मदर्थं क्षपितुं** क्षपयितुम् । कर्तृद्वयस्याऽप्येकत्वादन्तर्भावितणिच्प्रयोगः । स्वार्थमनुपयुक्तस्य लोकोपकारार्थं क्षपणं दृष्टमिति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—**समुचित इति** । सम्यगुचितः, स्वस्य सर्वपुरुषार्थसाधकः । अतो गुणत्रयस्य पूर्णप्रसादहेतोर्जातत्वात् । **अहं तुष्टः** ।।६।।

व्याख्यार्थ—संतोष, सर्वदान और उसकी दुर्लभता । ये तीनों ही भगवान् के द्वारा ही दिये जाते हैं अन्य के द्वारा नहीं, इसलिए उसका निरूपण किया जाता है । पहले संतोष को कहते हैं तुष्टोऽहम् । सुहृत् प्रिय इस देह की मेरे लिये क्षीण होने की कोई परवाह नहीं की । यह तुम्हारी देह समुचितः (प्रशंसनीय) है तथापि मेरी सेवा की आशा से इसकी तुमने उपेक्षा की । हे मानवि !

यह सम्बोधन इस बात को बताता है कि तुम बड़ों की लड़की हो आज मैं तुम्हारे ऊपर संतुष्ट हुआ हूँ। केवल मैं तुम्हारे पिता या तुम्हारी माता के माहात्म्य से संतुष्ट नहीं हूँ किन्तु तुम्हारा भी स्वतः माहात्म्य है क्योंकि तुम मानदा हो मान देने योग्य हो! जो निरन्तर किसी पात्र को सम्मान देता है वह सम्मान देने के कारण स्वयं भी सम्मान पाता है। इस तरह आधारगत दो गुण हैं उसी तरह करण भी दो हैं। परमशुश्रूषा और परमभक्ति, परम अर्थात् लोकोत्तर जो शुश्रूषा (अतरङ्ग सेवा) यह बाह्यकरण है। परम अर्थात् माहात्म्यज्ञान पूर्वक जो भक्ति (प्रीति) यह अन्तरङ्गकरण है। केवल बाह्य और अन्तरङ्ग इन दो करणों से ही कार्य सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि इनसे जन्म से ही भजन नहीं होता। किन्तु उसके लिये जन्म से ही इन दोनों को जहाँ लगाया है वहाँ से हटाना चाहिये उसी को कहते हैं 'योदेहिनां' पूर्वोक्त जो दो करण हैं उनको जिसने लगा रक्खा था अर्थात् लोकोत्तर शुश्रूषा और लोकोत्तर भक्ति जिस देह में थी उस देह को जो देह देहधारियों का अत्यन्त मित्र है आत्मभूत है उस देह को तुमने मेरे लिए क्षीण होने की कोई परवाह नहीं की। यहां क्षपितुं में अन्तर्भावितणिच् का प्रयोग है यहाँ नियोज्य और नियोजक कर्त्ता अलग अलग नहीं है किन्तु एक ही है अर्थात् क्षपितुं का अर्थ है क्षपयितुम्। लोक में ऐसा देखा जाता है जिसका अपने लिये कोई उपयोग न हो उसका क्षय लोकोपकार के लिये किया जाता है किन्तु यहाँ ऐसा नहीं है। देवहूति की देह तो समुचित है अनुपयुक्त नहीं है किन्तु सर्वपुरुषार्थ का साधक है अतः पूर्व में बताये गये जो तीन गुण हैं उनसे युक्त होने के कारण मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ। ६॥

आभास—तुष्टस्य कृत्यमाह—

आभासार्थ—प्रसन्न होकर उन्होंने क्या किया उसी को कहते हैं—

श्लोक—ये मे स्वधर्मनिरतस्य तपःसमाधिविद्यात्मयोगविजिता भगवत्प्रसादाः।
तानेव ते मदनुसेवनयावरुद्धान् दृष्टिं प्रपश्य वितराम्यभयानशोकान्॥७॥

श्लोकार्थ—अपने धर्म का पालन करते हुए मुझे तप, समाधि, उपासना और योग के द्वारा जो भय और शोक से रहित भगवत्प्रसादरूप विभूतियां प्राप्त हुई हैं, उन पर मेरी सेवा के प्रभाव से अब तुम्हारा भी अधिकार हो गया है। मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूँ उसके द्वारा तुम उन्हें देखो॥७॥

सुबोधिनी—ये म इति। मे मम ये भगवतः प्रसादा भगवता मह्यं दत्ताः, तानेव ते तुभ्यं वितरामि। प्रसन्नो हि सर्वस्वम् यद्वोत्कृष्टम् तत्प्रयच्छति। मम तु सर्वस्वमुत्कृष्टं च सर्व एव भगवत्प्रसादाः, तेऽपि प्रसिद्धाः, तत्वप्रयोजकाः। तत्र हेतुः—**स्वधर्मनिरतस्येति।** **स्वधर्मो** भगवद्धर्मः तत्र **निरतः** प्रतिष्ठितः। ते चेदयथा प्राप्ताः स्युः, तदाऽन्यस्मै दीयमाना न कार्यक्षमा भवेयुः। अतस्तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—**तपःसमाधिविद्यात्मयोगविजिता इति।** **तपो** धर्मरूपम्, धर्मेण ये केचन प्रसादाः सिद्ध्यन्ति ते तेन विजिताः। **समाधिर्यो**गोत्कर्षः, तेन सिद्धा अणिमादयोऽर्थाः, तद्रूपा अपि भगवत्प्रसादाः तेन जिताः। **विद्या** भक्तिः, उपासना वा वानप्रस्थसाध्या; तत्साध्या अपि भगवत्प्रसादा ज्ञानादिरूपाः, तेऽपि विजिताः। **आत्मयोगो** यतिधर्मो मोक्षसाध्यः, तेनाऽपि

विजितास्तथा । **तानेव वितरामि ।** एवकारो नाऽन्यव्यवच्छेदकः, किन्त्वर्थविशेषे अदेयत्वेन ते सिद्धा इति तेषामुत्कर्षवाचकः । ननु भगवत्प्रसादाः स्वतन्त्राः, दीयमाना अपि कथं मयि समायास्यन्तीत्याशङ्क्याह–**मदनुसेवनयाऽवरुद्धा-निति ।** मम या अनुसेवा, सा मामेव गृहीतवती, कः सन्देहः परिकरगुणेषु । अवरुद्धाश्च स्वाधीना भवन्ति । अलौकिके विश्वासार्थमाह–**दृष्टिं प्रपश्येति ।** दृष्टिं वितरामि तद्दर्शनार्थम् , अतः प्रपश्येत्यर्थः । प्रथमतस्तेषां दानम् पश्चात् दृष्टेर्दानम् आत्मगामित्वात्फलस्य । प्रसादानामपि विषयत्वादौत्पत्तिकदोषसहिता एव भविष्यन्तीत्याशङ्क्य दोषद्वयं परिहरति–**अभयान्** इहामुत्र भयरहितान् । **अशोकांश्च** । स्वापगमेन शोकं च न जनयन्तीत्यर्थः ।।७।।

व्याख्यार्थ— जो भगवत्प्रसादरूप भगवान् ने मुझे दिये हैं उन्हीं को मैं तेरे को देता हूँ । जो प्रसन्न होता है वह अपना सर्वस्व दे देता है अथवा उत्कृष्ट जो होता है उसको दे देता है । मेरे लिए तो भगवत्प्रसाद ही सर्वस्व तथा उत्कृष्ट हैं । भगवत्प्रसाद जो प्रसिद्ध है अनुपयुक्त नहीं है उनको मैं देता हूँ । वे भगवत्प्रसाद कैसे प्राप्त हुए उनको स्वधर्मनिरत आदि पदों से बताते हैं । स्वधर्म 'भगवद्धर्म' उनमें निरत (प्रतिष्ठित) होने से मैंने उन्हें प्राप्त किया है, उनको मैं यदि दया से प्राप्त करता तो दूसरों को देने पर वे कार्य करने में समर्थ नहीं होते । अतः वे भगवत्प्रसाद मुझे दया से प्राप्त नहीं हुए हैं किन्तु तप, समाधि, विद्या (भक्ति) आत्मयोग इनके द्वारा उनको जीता है, तप धर्म रूप है धर्म के द्वारा जो भगवत्प्रसाद सिद्ध होते हैं वे तप से जीते हुए कहे जाते हैं । समाधि का अर्थ है योग का उत्कर्ष उससे सिद्ध जो अणिमा आदि आठ सिद्धियां तद्रूपा भगवत्प्रसाद है उनको मैंने समाधि से जीता हैं । विद्या कहते हैं भक्ति अथवा उपासना में वानप्रस्थ आश्रम द्वारा साध्य है और उसके द्वारा साध्य जो भगवत्प्रसाद ज्ञानादि रूप हैं उसको भी मैंने जीत लिया है । आत्मयोग है यतिधर्म जो मोक्षसाध्य है उनसे भी मैंने भगवत्प्रसाद प्राप्त किया है। 'तानेव वितरामि' उन्हीं को मैं तुझे देता हूँ । यहाँ का एवकार अन्य योग व्यवच्छेदक नहीं है किन्तु अर्थ विशेष में देने के योग्य नहीं है ऐसे सिद्ध जो भगवत्प्रसाद हैं उनको मैं तुझे देता हूँ इस तरह यह एवकार उन प्रसाद का उत्कर्ष बताया है । यदि कोई शंका करे कि भगवत्प्रसाद तो स्वतन्त्र हैं उनको यदि आप मुझे दे भी देंगे तो भी वो मुझे कैसे प्राप्त हो जायेंगे । इसका उत्तर 'मदनुसेवनयाऽवरुद्धान्' से दिया है । मेरी जो अनुसेवा है उस सेवा ने मुझे ही ग्रहण कर लिया है (अधीन कर लिया है) तो फिर मेरे परिकर गुण भी गृहीत हों इसमें कौन सा सन्देह है ? मेरी अनुसेवा से वे सब गुण अवरुद्ध हो गये हैं जो अवरुद्ध होते हैं वे अपने अधीन हो जाते हैं । अर्थात् जैसे किसी कामकाज आदि से रोक दिया जाता है तो वह रुका हुवा व्यक्ति रोकने वाले के अधीन हो जाता है । ये भगवत्प्रसाद अलौकिक हैं इनमें तुम्हारा विश्वास हो इसके लिये मैं उनको देखने की दृष्टि देता हूँ उस दृष्टि से तुम इन्हें देखो । पहले तो उन प्रसाद का दान किया और उसके अनन्तर दृष्टि का दान किया क्योंकि इनका फल आत्मगामी होने ऐसा क्रम रक्खा है । शंका हो सकती है कि भगवत्प्रसाद भी तो विषय (उपभोग के साधन) रूप हैं अतः ये भी औत्पत्तिक दोषों से युक्त होंगे इसका उत्तर 'अभयान्' 'अशोकान्' इन दो पदों से दिया है तथा इन्हीं दो पदों से दो दोषों का भी परिहार किया है । ये प्रसाद इस लोक में और परलोक में भय से रहित है तथा अशोक है अर्थात् ये चले भी जायं तो शोक को उत्पन्न नहीं करते हैं ।।७।।

आभास—राजकन्यात्वात् राज्यविषयकानेव तान् बहु मन्यते नत्वलौकिकानित्या-शङ्क्यपूर्वं भोग्यत्वेनैव ज्ञातान् विषयान् निन्दति—

आभासार्थ—राजकन्या होने में राज्यविषयक भोगों को ही अधिक चाहेगी अलौकिक भोगों को वह नहीं चाहेगी ऐसी आशंका करके पहले तो भोग्यरूप से जाने गये विषयों की निन्दा करते हैं —

श्लोक—**अन्ये पुनर्भगवतो भ्रुव उद्विजृम्भविभ्रंशितार्थरचनाः किमुरुक्रमस्य ।**
सिद्धाऽसि भुङ्क्ष्व विभवान्निजधर्मदोहान् दिव्यान्नरैर्दुरधिगान्नृपविक्रियाभि ॥८॥

श्लोकार्थ—अन्य जितने भी भोग हैं वे तो भगवान् श्रीहरि के भ्रकुटिविलास मात्र से नष्ट हो जाते हैं, अतः वे इनके आगे कुछ नहीं हैं। तुम मेरी सेवा से ही कृतार्थ हो गयी हो, अपने पतिव्रत धर्म का पालन करने से तुम्हें ये दिव्य भोग प्राप्त हो गये हैं तुम इन्हें भोग सकती हो। हम राजा हैं हमें सब कुछ सुलभ है इस प्रकार का जो अभिमान आदि विकार है उनके रहते हुए मनुष्यों को इन दिव्य भोगों की प्राप्ति होनी कठिन है ॥८॥

सुबोधिनी-अन्ये पुनरिति। **अन्ये** राज्यादयः, स्वर्गादयो वा **किम्** न किञ्चिदित्यर्थः तत्र हेतुमाह-**उरुक्रमस्य** भगवतः, **भ्रुव उद्विजृम्भविभ्रंशितार्थरचनाः** ।**भगवत** इति सामर्थ्यम्। **उरुक्रमे**त्यद्भुतकर्मत्वम्, अन्यथा स्वदत्तं स्वयमेव कथं हन्यात्? कथं वाऽपकारि भवेत्! आत्मा वा भूत्वा कथमेवं कुर्यादिति। अनेन सर्वे दोषाः परिहृताः, चिकीर्षितापरिज्ञाने हेतुश्चोक्तः। अतएव तस्य **भ्रुवः** कालस्य, या **उद्विजृम्भा** आलस्येनापि ग्रहणम्, तेनैव **विभ्रंशिता** अर्थरचना येषां राज्यादीनाम्। स्वरूपतोऽपि नश्यन्ति अर्थं यद क्रियन्ते तदपि न संपादयन्ति। **अर्थार्थं रचना** निर्माणम्। नन्वहमपि तादृश्येवेति यथायोग्यं फलं भवत्विति चेत्तत्राऽऽह**सिद्धाऽसीति**। नत्वमसिद्धा, पूर्ववत्। अतः पूर्वसिद्धविषयभोगे पातित्यं भवति। न केवलं पूर्वनिषेधः क्रियते, किन्तु **विभवान् भुङ्क्ष्व**। विगतो भवो जन्म येभ्यः। विषयत्वेऽपि मोक्षसाधकान्। नाऽप्येते धर्मफलरूपाः, अन्यथा कृतो धर्मः क्षीयेत। प्रत्युत निजधर्मपाति व्रत्यादिकं दुहन्तीति-निजधर्माणां दोहो येभ्य इति। न केवलं फलत एवोत्कृष्टाः, स्वरूपतोऽपीत्याह-**नरैर्दुरधिगानिति**। वयं नृपा इति विक्रिया सन्निपातकार्यम्, तैःकरणैः, मनुष्या उपभोक्तारः, तान् विषयान् ग्रहीतुं न शक्नुवन्तीत्यर्थः ॥८॥

व्याख्यार्थ—अन्य राज्य आदि अथवा स्वर्ग आदि क्या है कुछ नहीं। उसका कारण यह है कि उरुक्रमस्य भगवान् की भ्रुकुटि विलास मात्र से ही वे नष्ट हो जाते हैं। भगवतः' से भगवान् की सामर्थ्य बतायी है। भगवान् में अद्भुतकर्मता है यह 'उरुक्रम' से बताई है। यदि भगवान् अद्भुतकर्मा न होते तो अपने द्वारा दिए हुए भोगों को स्वयं वे ही क्यों नष्ट करते, अथवा कैसे अपकारी होते हैं सबकी आत्मा होते हुए ऐसा क्यों करते हैं। परन्तु अद्भुतकर्मा होने से सब दोषों का परिहार हो गया और भगवान् जो करते हैं उसको कोई समझ नहीं सकता है इसमें हेतु भी

कह दिया। इसलिए तो उस भगवान् के भ्रुव (कालकी) जो उद्विजृम्भ (आलस्य) से भी ग्रहण (अवलोकन करना) उसी से ही विभ्रंशितार्थ रचना: (अर्थ के लिये जिनकी रचना) हैं ऐसे राज्य आदि स्वरूप से भी नष्ट हो जाते हैं। जिनके लिये अर्थ रचना की जाती है उनका संपादन भी वे नहीं करतीं। अर्थ रचना का अर्थ है अर्थ के लिये निर्माण। शंका होती है कि मैं भी तो वैसी ही हूं इसलिये यथायोग्यफल मेरे लिए हो। इसका उत्तर देते हैं कि तुम वैसी नहीं हो किन्तु सिद्धा हो अर्थात् तुम पूर्व की तरह असिद्धा नहीं हो। पूर्व सिद्ध विषयों के भोगों में तो पतन होता है। यहाँ पूर्व भोगों का निषेध ही केवल नहीं किया गया है किन्तु वैभव का उपभोग करो, यह भी कहा गया है। यहाँ विभ्रमान् भुङ्क्ष्व में जो विभवपद है उसका अर्थ है चला गया है जन्म जिनसे अर्थात् ये विषयरूप होते हुए भी मोक्षसाधक हैं अतः इनका उपभोग तू कर। ये भगवत् प्रसादरूप विषय धर्मफलरूप नहीं है क्योंकि अन्यथा किया हुआ धर्मक्षय को प्राप्त होता है। इनसे तो और निजधर्म जो पातिव्रत्य आदि है उनका दोहन अर्थात् पातिव्रत्य आदि धर्म इस द्वारा प्राप्त होता है ऐसे ये भी भगवत्प्रसाद रूप भोग हैं। ये केवल फल से ही उत्कृष्ट हो ऐसा नहीं है किन्तु स्वरूप से भी ये उत्कृष्ट है। इसे 'नरदुर्धिगान्' से बताया है। हम राजा हैं इस प्रकार का विकार सन्निपात का कार्य है। उन करणों (इन्द्रिय) से उपभोग करने वाले मनुष्य उन विषयों को ग्रहण नहीं कर सकते हैं ॥८॥

आभास—एवं वरे दत्ते सहसा तद्धृदये सर्वं न समागतमिति पूर्वविचारितमिव किञ्चित्प्रार्थयितुमारभत इत्याह—

आभासार्थ—ऐसा वर देने पर सहसा उसके हृदय में सब नहीं आया इसलिये पूर्वविचारित (पहले न विचारे हुए) की तरह उसने कुछ प्रार्थना करनी आरम्भ किया—

मैत्रेय उवाच

श्लोक—एवं ब्रुवाणमबलाऽखिलयोगमायाविद्याविचक्षणमवेक्ष्य गताधिरासीत् ।
संप्रश्रयप्रणयविह्वलया गिरेषद्व्रीडावलोकविकसद्धसिताननाऽऽह ॥९॥

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी ने कहा—कर्दमजी के इस प्रकार कहने से अपने पतिदेव को सम्पूर्ण योगमाया और विद्या में कुशल जानकर उस अबला की सारी चिन्ता जाती रही। उसका मुख कुछ संकोच भरी चितवन और मधुर मुस्कान से खिल उठा वह विनय एवं प्रेम से गद् गद् वाणी से इस प्रकार बोली ॥९॥

सुबोधिनी—एवं ब्रुवाणमिति। आदौ तस्याः खेदनिवृत्तिमाह-एवं ब्रुवाणमवेक्ष्य गताधिरासीत्। केवलमाहात्म्यार्थं न वचनम्, स्त्रीष्वनृतं न दोषायेति। तन्निवृत्त्यर्थमाह-**अखिलयोगमायाविद्याविचक्षणमिति।** अखिला या **योगमाया** नानाविधसर्वविषयरूपा, तस्या वशीकरणमन्त्रादिरूपा **विद्या**, तत्र **विचक्षणोऽ**तिनिपुणः। अतस्तादृशं ज्ञात्वा। तादृशं च वक्तारम्, विचक्ष्य विचारेण सत्यं वदतीति ज्ञात्वा, **गताधिरासीत्।** प्रार्थयितुमाह—**संप्रश्रयेति।** **प्रश्रयो** विनयः,

प्रणयः स्नेह । प्रश्रितेति पाठे सम्यक् प्रकर्षेण योऽयमाश्रितः, तस्य यः प्रणयः, तेन विह्वला गीः । विनयोऽपि वर्णोद्गमप्रतिबन्धकः, स्नेहोऽपि । वाच्यार्थस्मरणेन ईषत् यत् स्मितम् कुलवधूत्वात्; तेन व्रीड़पूर्वको योऽयमवलोको भावितार्थसूचकः, तेन विकसद्धसितानना सती वक्ष्यमाणमाह ॥९॥

व्याख्यार्थ—'एवं ब्रुवाणमवेक्ष्य गताधिरा सीत्' सबसे पहले तो इस प्रकार से बोलते हुए अपने पति को देखकर उसकी मानसिक चिन्ता दूर हो गयी । केवल माहात्म्य के लिये ऐसा नहीं कहा यद्यपि स्त्रियों के सामने झूठ बोलना भी दोष नहीं है । ऐसा झूठा वचन भी कर्दमजी का नहीं था । उसमें हेतु देते हैं कि कर्दमजी अखिल योगमाया विद्या विचक्षण थे सबकी सब जो योगमाया है अर्थात् अनेक प्रकार की सब विषयरूपा माया उसकी वशीकरण मन्त्रादिरूपा जो विद्या है उसमें वे अति निपुण थे ऐसा जब देवहूति ने जाना और वक्ता भी वे वैसे ही हैं सत्य ही बोलेंगे ऐसा विचार के द्वारा जानकर चिन्ता मुक्त हो गयी । अब उसकी प्रार्थना को बताते हैं 'संप्रश्रय प्रणय विह्वलया गिरा, प्रश्रय का अर्थ है, विनय और प्रणय का अर्थ है स्नेह इनके द्वारा विह्वल वाणी से (बोली) संप्रश्रय की जगह संप्रश्रित ऐसा भी पाठ मिलता है वहाँ सप्रश्रय का अर्थ है उत्तम रूप से जो यह आश्रित है उसका जो प्रणय (स्नेह) उससे विह्वल वाणी से (बोली) मुख से बोलने के समय जो वर्ण निकलते हैं उनको विनय रोक देता है तथा स्नेह भी रोकता है अतः वाच्य का अर्थ है उसकी याद आ जाने से मुख पर मुस्कुराहट आ गई क्योंकि वह एक अच्छे कुल की बहू थी अतः लज्जापूर्वक जो अवलोकन है उससे और मुख के विकास के समय हास्यपूर्वक आगे कही जाने वाली बात को उसने कहा । लज्जापूर्वक अवलोकन भावित अर्थ का सूचक है ॥९॥

आभास— अभिप्रेतं ससाधनमाह द्वाभ्याम्—

आभासार्थ— दो श्लोकों से साधन सहित अपने अभिप्रेत को कहती है—

देवहूतिरुवाच ।

श्लोक— राद्धं बत ! द्विजवृषैतदमोघयोगमायाधिपे त्वयि विभो! तदवैमि भर्तः! ।
यस्तेऽभ्यधायि समयः सकृदङ्गसङ्गो भूयाद्गरीयसि गुणप्रसवः सतीनाम् ॥१०॥

श्लोकार्थ— देवहूति ने कहा—हे द्विजश्रेष्ठ । हे स्वामिन् । मैं यह जानती हूँ कि कभी निष्फल न होने वाली योगशक्ति और त्रिगुणात्मिका माया पर अधिकार रखने वाले आपको ये सब ऐश्वर्य प्राप्त है किन्तु हे विभो ! आपने विवाह के समय जो प्रतिज्ञा की थी कि गर्भाधान होने तक मैं तुम्हारे साथ गृहस्थ सुख का उपभोग करूँगा उसकी पूर्ति अब होनी चाहिये । क्योंकि श्रेष्ठ पति के द्वारा सन्तान प्राप्त होना पतिव्रता स्त्री के लिये महान् लाभ है ॥१०॥

सुबोधिनी-राद्धमिति । यद्यपि भर्त्रा भगवत्प्रसादा इत्युक्तम्, तथापीयं भगवत्त्वेनैव तं सेवितवतीति तदुक्तानां धर्माणां तस्मिन् स्वाभाविकत्वमनूद्य तस्मिन् स्वज्ञानं प्रमाणीकरोति

हे **द्विजवृष** ! **एतत्** त्वदुक्तम् **त्वयि राद्धं** सिद्धमेव । **बतेति** हर्षे । द्विजानां मध्ये ये श्रेष्ठा ब्रह्मविदः, तेषामेतत्सर्वं सिद्धमिति ज्ञापनार्थं संबोधनम्, कामपूर्त्यर्थं वा, पशव्यो हि कामः । अमोघा या योगमाया, तस्या अधिपे त्वयि सर्वं सिद्धमेव । काचिद्योगमाया प्रदर्शनार्थेऽपि भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थ**ममोघोक्ता** । तादृशस्यैव तथावचनं सत्यं भवतीति **तथाऽनुवादः** । **तदवैमीति** प्रमाणम् । **विभो** इति संबोधनं च तत्साधकम् । **भर्तरिति संबोधनं** स्वस्य तथाज्ञाने सामर्थ्यजननाय, भर्तु रेव धर्मेण भार्यायाः सामर्थ्यं भवतीति । विवाहे पणस्य कृतत्वात्तदतिरिक्तयाचने स्वधर्मः क्षीयत इति पूर्वोक्तमेव स्मारयति-**यस्तेऽभ्यधायीति** । **सकृदङ्गसङ्ग** इति । यस्त्वया पूर्वमुक्तः '**यावत्तेजो बिभृयात्**' इति, स एकान्तः सङ्गः । अमोघवीर्यश्च भवान्, अतोऽर्थात् सकृदेवाङ्गसङ्गोऽभ्यधायि । स च **समयः** । समयबन्ध उभयोरनुल्लङ्घनार्थः । **स भूयादिति** प्रार्थना । ततः किं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह-स एव सकृदङ्गसङ्गः **सतीनां गुणप्रसवः** । पतिव्रतास्तु न कामुक्यः पतिव्रतमेव च व्रतं तासाम् । अतस्तावदेवाऽपेक्षितम् । तद्गताश्च गुणा आनन्दादयस्तदैव भर्त्रेऽभिव्यक्ता भवन्ति । अग्रे च पुत्रद्वारा प्रकर्षेण सूयन्ते, तदैव च तासां जन्मसाफल्यमिति ।।१०।।

व्याख्यार्थ—यद्यपि भर्त्ता ने कहा था कि भगवत्प्रसाद में तुम्हें देता हूँ तथापि यह देवहूति तो मुनि को भगवान् के रूप में समझ कर ही सेवा करती थी इसलिए ऋषि के कहे हुए धर्म ऋषि में स्वाभाविक रूप से हैं इसका अनुवाद करके 'उन गुणों को मैं जानती हूँ' इसको प्रमाणित करने के लिये हे द्विजवृष ! एतत्त्वयि राद्धम् हे द्विजश्रेष्ठ ! वे जो आपने कहे हैं ये सब आप में सिद्ध हैं। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है । द्विजों में जो श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता होते हैं उनको यह सब सिद्ध होता है इसे बताने के लिये हे द्विजवृष ! ऐसा सम्बोधन दिया है । अथवा कामपूर्ति के लिये ऐसा सम्बोधन है । कहा भी है 'पशव्योहिकामः' और भी कहती है अमोघ जो योगमाया है उसके आप अधिपति हैं इसलिये आप में ये सब सिद्ध है । कोई योगमाया केवल प्रदर्शन के लिए होती है किन्तु यह योगमाया तो अमोघ है । जो अमोघ माया के अधिपति होते हैं उनका ही वैसा कथन सत्य होता है । इसलिए वैसा अनुवाद किया और तदवैमि' उसको मैं जानती हूँ ऐसा प्रमाण भी बताया । उस प्रमाण का साधक, हे विभो ! ऐसा सम्बोधन भी दिया । हे भर्त्तः ! यह सम्बोधन यह सूचित करता है कि मैं सब जानती हूँ मुझ में भी ऐसी सामर्थ्य है यह सब सामर्थ्य भर्त्ता के द्वारा ही प्राप्त हुई है, भर्त्ता के धर्म से ही भार्या की सामर्थ्य होती है । विवाह के समय जो प्रण हो चुका है उसके अतिरिक्त अन्य यदि मांगा जाय तो स्वधर्म का क्षय होता है अतः विवाह के समय की शर्त को ही वह स्मरण कराती है । 'यस्तेऽभ्यधायि सकृदङ्गसङ्ग' आपने जो पहले कहा था कि 'जब मेरे तेज (गर्भ) को धारण कर लेगी' वह एकान्तसङ्ग होवे, आप अमोघ वीर्य हैं अतः एक बार ही उसने अंगसंग की प्रार्थना की । वह प्रतिज्ञा तो दोनों के लिए उल्लङ्घन करने की नहीं है । स भूयात् से प्रार्थना का ग्रहण है । उस एक बार के अङ्गसङ्ग से क्या होगा इस शंका का उत्तर देती है 'सतीनां गुण प्रसवः' वह एक बार का अंग संग ही सतियों के लिए गुण-प्रसव होता है । पतिव्रता कामुकी (कामवासना वाली) नहीं होती किन्तु पतिव्रत ही उनका व्रत होता है । अतः उतना ही उसे अपेक्षित था । एक बार के अङ्ग सङ्ग से होने वाले जो आनन्द आदि गुण हैं वे तब ही पति में अभिव्यक्त (प्रकट) होते हैं और उसके आगे पुत्र के द्वारा वे ही आनन्दादि गुण श्रेष्ठ रूप से उत्पन्न होते हैं तभी उन स्त्रियों का जन्म सफल होता है ।।१०।।

आभास—साधनमाह—

आभासार्थ—साधन कहते हैं—

श्लोक—**तत्रेतिकृत्यमुपशिक्ष यथोपदेशं येनैष मे कर्शितोऽतिरिरंसयात्मा ।
सिद्धयेत ते कृतमनोभवधर्षिताया दीनस्तदीश ! भवनं सदृशं विचक्ष्व ।११।**

श्लोकार्थ—हम दोनों के संग के लिये शास्त्र के अनुसार जो कर्त्तव्य हो उसका आप उपदेश दीजिये और समागम के योग्य उपयोगी सामग्रियाँ भी उपस्थित कर दीजिये जिससे मिलन की इच्छा से अत्यन्त दीन, दुर्बल हुआ यह मेरा शरीर आपके अंगसंग के योग्य हो जाय, क्योंकि आपकी ही बढ़ाई हुई कामवेदना से मैं पीड़ित हो रही हूँ । हे स्वामिन् ! इस कार्य के लिये एक उपयुक्त भवन तैयार हो जाय, इसका भी विचार कीजिये ।।११।।

सुबोधिनी-तत्रेतिकृत्यमिति । **तत्र इतिकृत्यमुपशिक्ष** । स चेद्रसात्मक एव भवति सङ्गः, सपुरुषार्थो भवति । सकृद्धोक्तैव ससामग्रीको भवेत् । रसश्च विभावानुभावव्यभिचारिभिरुत्पद्यते ते सर्वे विस्तरेणोक्ताः कामशास्त्रे । तन्निकट एव ज्ञानदार्ढ्यार्थं द्रष्टव्यमिति भावः । अत एव **यथोपदेश**मित्युक्तम् । **'इन्दुर्मन्दिरमिन्दिरा मृगमदः'** इत्यादिः । उद्गतो रागो नान्यथा निवर्तत इत्याह-**येनेति** । **एष मे आत्मा रिरंसयाऽतिकर्शितः** क्लिष्टः । **एष आत्मेति** । देहोऽन्तःकरणं च । न कामशास्त्रव्यतिरेकेणाऽयं रसयोग्यो भविष्यति । एतादृशोऽप्यात्मा रिरंसया क्लिष्टो येनैव सिद्ध्येत्, स एवोपायः कर्तव्य इत्यर्थः । किञ्च, ते त्वया कृतो यो मनोभवः, तेन धर्षितायाः । मनोभवेन निर्भर्त्सिताऽहम्, तत्पराभवोऽपि दूरीकर्तव्यः । अयं च देहः स्वाधीनः । विज्ञापनान्तरमाह-**हे ईश ! सदृशं भवनं विचक्ष्वेति** ।।११।।

व्याख्यार्थ—उस अङ्ग सङ्ग के लिए जो कर्त्तव्य हो उसका उपदेश दीजिए, जिससे वह एक बार का अङ्ग सङ्ग भी रसात्मक हो । रसात्मक अंग संग हो पुरुषार्थ रूप होता है । एक बार उसका भोक्ता सब सामग्रियों से युक्त होना चाहिए और रस तो विभाव-अनुभाव-व्यभिचारीभाव आदि से उत्पन्न होता है वे सब कामशास्त्र में विस्तार से कहे गये हैं, अर्थात् अपने ज्ञान को दृढ़ करने के लिए कामशास्त्र को देखना चाहिए । अतएव 'यथोपदेशम्' ऐसा कहा है । जैसे कामशास्त्र में इन्दु (चन्द्रमा) मन्दिर (कामोपभोग सामग्रियों से युक्त भवन) इन्दिरा (लक्ष्मी) मृगमद (कस्तूरी) ये सब रसोत्पत्ति में सहायक होते हैं । अन्यथा वृद्धि को प्राप्त हुआ राग निवृत्त नहीं होता 'येनएष मे आत्मा रिरंसया अतिकर्षितः' जिससे इस आत्मा को मैंने रमण की इच्छा से अत्यन्त कृष कर दिया है । यहाँ आत्मा से देह और अन्तःकरण लिया जाता है । यह देह बिना कामशास्त्र के इसके योग्य नहीं होती ऐसा यह आत्मा (देह) रिरंसा (रमण की इच्छा से) दुःखित उसी के (कामशास्त्र के) द्वारा सिद्ध होता है । वह ही उपाय करना चाहिए । आपने मेरे में काम को उत्पन्न किया है । उस काम से मैं पीड़ित हो रही हूँ अतः काम के द्वारा होने वाले मेरे पराजय

को भी आप दूर करें। यह देह आपके अधीन है। दूसरी प्रार्थना और करती है 'हे ईश ! सदृश भवनं विचक्ष्व' अङ्गसङ्ग के अनुकूल भवन का निर्माण करे ॥११॥

आभास—तदा कर्दमो विचारितवान्। नेयं संबन्धमात्रमपेक्षते, किन्तु वैभवसहितम्। अतस्तथैव कर्तव्यमित्यभिप्रेत्य भगवद्दत्तयोगसामर्थ्येन तथैव कृतवानित्याह—

आभासार्थ—तब कर्दमजी ने विचारा कि यह संबन्ध मात्र ही नहीं चाहती है। किन्तु संबन्ध को वैभव के साथ चाहती है अतः वैसा ही करना चाहिए ऐसा विचार कर भगवान् के द्वारा दिए गए योग की सामर्थ्य से वैसा ही उन्होंने किया—

मैत्रेय उवाच—**श्लोक—प्रियायाः प्रियमन्विच्छन् कर्दमो योगमास्थितः।**
विमानं कामगं क्षत्तस्तर्ह्येवाऽऽविरचीकरत् ॥१२॥

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! कर्दम मुनि ने अपनी प्यारी भार्या की इच्छा पूर्ण करने के लिये उसी समय योग में स्थित होकर एक विमान का आविष्कार किया जो इच्छानुसार सर्वत्र जा सकता था ॥१२॥

सुबोधिनी—**प्रियाया इति।** प्रेमविषया भार्या प्रिया, तस्याः प्रीतिं वाञ्छन् कर्दमो भगवद्दत्तं **योगमास्थितः।** योगबलेन **कामगं विमानमाविरचीकरत्** आविष्कारं कृतवान्। योगे सर्वं स्थितमेवेच्छया प्रादुर्भवति। गृहात्मकमपि तत् कामगम्। **क्षत्तरिति** संबोधनमन्तःपुरवैभवसाक्षित्वाय ॥१२॥

व्याख्यार्थ—प्रेम विषयक जो भार्या है उसे प्रिया कहते हैं उस प्रिया की प्रीति को चाहते हुए कर्दमजी ने भगवान् के द्वारा दी हुई योगमाया का आश्रय लिया, योगबल के द्वारा इच्छानुसार चलने वाले विमान की रचना की, अर्थात् विमान का आविष्कार किया। योग में सब स्थित ही है केवल वह इच्छा से प्रकट होता है। घर जैसा होते हुए भी वह विमान इच्छानुसार चलता था। 'क्षत' ऐसा सम्बोधन इसलिए दिया है कि अन्तःपुर (जनाना) के वैभव को तुमने प्रत्यक्ष देखा है ॥१२॥

आभास—तद्विमानमनुवर्णयति भावनवकेन नवविधक्रीडार्थं नवभिः श्लोकैः—

आभासार्थ—नौ प्रकार के भाव तथा नौ प्रकार की क्रीड़ा के लिए नौ श्लोकों से उस विमान का वर्णन करते हैं—

श्लोक—सर्वकामदुघं दिव्यं सर्वरत्नसमन्वितम्।
सर्वर्द्धयुपचयोदर्कं मणिस्तम्भैरुपस्कृतम् ॥१३॥

श्लोकार्थ—यह विमान सब प्रकार के इच्छित भोग सुख प्रदान करने वाला,

अत्यन्त सुन्दर, सब प्रकार के रत्नों से युक्त सब सम्पत्तियों की उत्तरोत्तर वृद्धि से सम्पन्न तथा मणिमय खंभों से सुशोभित था ।।१३।।

सुबोधिनी – सर्वकामदुघमिति । सर्वानेव कामान् दोग्धीति **दिव्यमलौकिकम्** । **सर्वरत्नसमन्वितं** स्पष्टम् । सर्वा **ऋद्धयः** सम्पत्तयः, तासा**मुपचय** आधिक्यम्, तदेव उदर्को यस्य । तस्मिन् गृहे ऋद्धीनामुपभोगेन उपचय एव भवति नाऽपचयः । उत्तरफलं लोके सर्वत्राऽपचयः । मणिमयैः स्तम्भैरुपस्कृतम् । यथा शोभातिशयो भवति तथा रचितम् ।।१३।।

व्याख्यार्थ—सब कामनाओं को पूर्ण करने वाला है अतः यह दिव्य है, अलौकिक है । 'सर्वरत्नसमन्वितं' का अर्थ तो स्पष्ट ही है । सब प्रकार की ऋद्धयः (सम्पत्तियां) उनका जो उपचय (आधिक्य) वह ही है उदक (अग्रिमफल) जिसका । उस घर (विमान) में ऋद्धियों के उपभोग से ऋद्धियाँ और बढ़ती रहती हैं उसमें उपभोग से कमी कभी नहीं होती । लोक में तो हम देखते हैं कि उपभोग से सम्पत्तियों में कमी होती रहती है । मणिमय खम्भों से वह युक्त था जिस तरह शोभा की वृद्धि हो वैसा उसका निर्माण था ।।१३।।

श्लोक—दिव्योपकरणोपेतं सर्वकालसुखावहम् ।
पट्टिकाभिः पताकाभिर्विचित्राभिरलङ्कृतम् ।।१४।।

श्लोकार्थ—वह सब ऋतुओं में सुखदायक था और उसमें यत्र तत्र सब प्रकार की दिव्य-सामग्रियाँ रक्खी हुई थीं तथा उसे चित्र विचित्र ध्वजा और पताकाओं से खूब सजाया गया था ।।१४।।

सुबोधिनी—दिव्यानि यान्युपकरणानि वस्त्रपीठादीनि, तैरुपेतम्, शीतादिसर्वकालेषु सुखकरम् । बहिः शोभातिशयमाह–**पट्टिकाभिरिति** । **पट्टिका** लम्बायमानपट्टवस्त्रनिर्मिताः **पताका** जयपत्राङ्किताः । सर्वा एव विचित्राः । ताभिरलंकृतम् ।।१४।।

व्याख्यार्थ—दिव्य जो उपकरण हैं-वस्त्र, पीठों आदि उनसे युक्त, शीत, उष्ण आदि सब कालों में सुख देने वाला था । अब वाह्य (बाहर की) शोभा को कहते हैं वह विमान विचित्र ध्वजा पताकाओं से सजाया गया था पट्टिका का अर्थ है लम्बी और पट्ट वस्त्र से निर्मित और जयपत्र से अंकित होने वाली पताका कही जाती है वे सभी विचित्र थीं उनसे वह अलंकृत था ।।१४।।

श्लोक—स्रग्भिर्विचित्रमाल्याभिर्मञ्जुसिञ्जत्षडङ्घ्रिभिः ।
दुकूलक्षौमकौशेयैर्नानावस्त्रैर्विराजितम् ।।१५।।

श्लोकार्थ—जिन पर भ्रमरगण, मधुर गुञ्जार कर रहे थे ऐसे रंग विरंगे पुष्पों की मालाओं से तथा अनेक प्रकार के सूती और रेशमी तथा ऊन के वस्त्रों से वह अत्यन्त शोभायमान था ।।१५।।

सुबोधिनी-स्रग्भिरिति । स्रग्भिर्मालाभि: । विचित्राणि **माल्यानि** पुष्पाणि यत्र । सर्वदाऽम्लानत्वाय, आमोदमकरन्दसहितत्वाय च मञ्जु सिञ्जन्त: **डषड्घ्रयो** भ्रमरा यत्र । **दुकूलक्षौमकौशेया:** पट्टाम्बरविशेषा:, कीटजा:, तृणजा, वल्कलजाश्च । नानाविधानि च वस्त्राणि, तैर्यथायोग्यं **विराजितम्** ।।१५।।

व्याख्यार्थ—विचित्र है माल्य (पुष्प जिनमें ऐसी मालाओं) से वह युक्त था वे माला के पुष्प कभी मुरझाते नहीं थे और उनमें आमोद (अत्यन्त सुगन्ध) तथा पुष्परस सदा रहता था जिससे सुन्दर गुँजार करते हुए भौंरे उन पर मंडराते रहते थे । दुकूल, क्षौम और कोशय पट्टाम्बर विशेषों से वह शोभायमान था । कीट (कीड़ों) में उत्पन्न (रेशमी) और सूती तथा छाल के सनके अनेक प्रकार के वस्त्र थे उन्हीं से यथायोग्य शोभायमान था ।।१५।।

श्लोक—**उपर्युपरि विन्यस्तनिलयेषु पृथक् पृथक् ।**
क्षिप्तै: कशिपुभि: कान्तं पर्यङ्कव्यजनासनै: ।।१६।।

श्लोकार्थ—एक के ऊपर एक बनाये हुए कमरों में अलग अलग रक्खी हुई शय्या, पलंग, पंखे और आसनों के कारण वह बहुत सुन्दर जान पड़ता था ।।१६।।

सुबोधिनी-उपर्युपरि च गृहा उत्तरोत्तरं विरचितास्तत्र शतश: सन्ति । सर्वेष्वेव गृहेषु पृथक् पृथक् क्लृप्तै: **कशिपुभि**रुत्तमशय्याभि: **कान्तं** रमणीयम्, न तु गृहान्तरस्थिता: शय्या पुनरन्यत्र नेतव्या: । **पर्यङ्का:** खट्वाविशेषा:, व्यजनविशेषा, आसनविशेषाश्च; तै: सर्वैरेव कान्तं रमणीयम् ।।१६।।

व्याख्यार्थ—एक के ऊपर एक इस तरह के उत्तरोत्तर बने हुए वहाँ सैकड़ों ही घर थे । सभी कमरे अलग अलग नियमित उत्तम शय्याओं से रमणीय थे । पृथक् पृथक् 'कशिपुभि:कान्तं' इसके कहने का तात्पर्य यह है कि अलग अलग कमरों में सब में शय्या थी इसलिए किसी अन्य कमरे की शय्या को अन्य कमरे में नहीं ले जाना पड़ता था । 'कशिपु' और 'पर्यङ्क' में यह अन्तर है कि कशिपु उत्तम शय्या का वाचक है और पर्यङ्क एक विशेष रूप की खाट (चारपाई) का वाचक है । विशेष प्रकार व्यजनों (पंखों) और विशेष प्रकार के आसनों से सभी से वह बड़ा सुन्दर था ।।१६।।

आभास—कामशास्त्रानुसारेण सर्वबन्धबोधकानि चित्राणि तत्र वर्णयति—

आभासार्थ—कामशास्त्र के अनुसार सब प्रकार के बन्धनों के बोधक चित्रों का उसमें वर्णन करते हैं—

श्लोक—**तत्र तत्र विनिक्षिप्तनानाशिल्पोपशोभितम् ।**
महामरकतस्थल्या जुष्टं विद्रुमवेदिभि: ।।१७।।

श्लोकार्थ—जहाँ तहाँ दीवारों में की हुई शिल्परचना से उसकी अपूर्व शोभा

हो रही थी। उसमें पन्ने का फर्श था और बैठने के लिये मूँगे की वेदियाँ बनाई गयी थी ॥१७॥

सुबोधिनी–तत्र तत्रेति। विशेषण निक्षिप्तानि यानि नानाशिल्पानि, तैरुपशोभितम्। **तत्र तत्र** गृहेषु महामरकतमणिभिः कृता स्थली भवति, तया च जुष्टम्। **विद्रुमाः** प्रवालाः, तैश्च वेदयो निर्मिता भवन्ति। वेदिरत्रोच्चोपवेशनभूमिः ।१७।

व्याख्यार्थ—विशेष रूप से निर्मित जो नानाशिल्प की रचना उन्हीं से वह (शोभित था) जहाँ तहाँ उन कमरों में महामरकत मणि (पन्ने) का बना आंगन (फर्श) था उस फर्श से युक्त वह विमान था। विद्रुम (मूँगे) की उसमें वेदियां बनाई गयी थी। बैठने की ऊँची जगह को यहाँ वेदी नाम से कहा गया है ॥१७॥

श्लोक—**द्वाःसु विद्रुमदेहल्या भातं वज्रकपाटवत्।**
शिखरेष्विन्द्रनीलेषु हेमकुम्भैरधिश्रितम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—द्वारों के मूँगे की बनी हुई देहलियाँ थीं और द्वारों में हीरे के किवाड़ थे तथा इन्द्र नीलमणि के शिखरों पर सोने के कलश रक्खे हुए थे ॥१८॥

सुबोधिनी–द्वाःसु। द्वारेषु, विद्रुमाणामेव देहली भवति, तयाऽपि **भातं** प्रकाशमानम्। वज्रमयकपाटयुक्तं च। **शिखरेषु** गृहाणां शिरोभागेष्विन्द्रनीलमणिविरचितेषु स्थापितैः सुवर्णकुम्भैरधिश्रितम्। हेमकुम्भास्तमाश्रित्यैव तिष्ठन्ति, तेषामपि तत एव शोभा ॥१८॥

व्याख्यार्थ- द्वारों के मूँगे की ही देहली होती है उससे भी वह शोभायमान था। हीरे के किवाड़ थे। शिखर से यहाँ कमरों का ऊपर का भाग लिया जाता है उन कमरों के ऊपर के भाग जो इन्द्र नीलमणि से बनाये गये थे उनके ऊपर सोने के कलश रक्खे गए थे। स्वर्ण कलश इन्द्र नीलमणि की सहायता से स्थित थे अतः उनकी भी उसी से शोभा थी ॥१८॥

श्लोक—**चक्षुष्मत्पद्मरागाग्र्यैर्वज्रभित्तिषु निर्मितैः।**
जुष्टं विचित्रवैतानैः सहारैर्हेमतोरणैः ॥१९॥

श्लोकार्थ—उस विमान की हीरे की दीवारों में उत्तम पद्मराग (लाल) जड़े हुए थे। जो ऐसे ज्ञात होते थे मानो उस विमान की आँखे हो, तथा उसे रंग बिरंगे चंदोवो से और मोतियों के हार सहित सोने के तोरण से सजाया गया था ॥१९॥

सुबोधिनी–चक्षुष्मन्तस्तेजस्वन्तः पश्यन्तीव प्रतीयमानाः पद्मरागश्रेष्ठाः, वज्रमयीषु भित्तिषु निर्मिताः, तैरपि जुष्टम्। विचित्राणि **वैतानानि** चन्द्रातपाः, मुक्ताहारसहिताः, पत्राकारसुवर्णैस्तोरणरूपैः सहिताः। तैरपि जुष्टम् ॥१९॥

व्याख्यार्थ– अत्यन्त तेजस्वी नेत्रों से (जैसे) देखते हों इस तरह प्रतीयमान श्रेष्ठ पद्मराग थे वे वज्र (हीरे) मयीभित्ति (भींत) में जड़े हुए थे उनसे भी वह शोभायमान था। रंगविरंगे चंदोवों से और मोतियों के हारों से युक्त पत्राकार सोने के तोरणों से सजाया गया था ।।१९।।

श्लोक—**हंसपारावतव्रातैस्तत्र तत्र निकूजितम् ।**
कृतिमान् मन्यमानैः स्वानधिरुह्याधिरुह्य च ।।२०।।

श्लोकार्थ—उस विमान में जहाँ तहाँ बनावटी हंस और कबूतर आदि पक्षी बनाये गये थे, बराबर सजीव (जिन्दे) से मालूम पड़ते थे, उन्हें अपना सजातीय समझकर बहुत से हँस कबूतर उनके पास बैठ बैठ कर अपनी बोली बोलते थे ।।२०।।

सुबोधिनी–हंसादयः पक्षिविशेषाः, तेषां समूहैस्तत्र तत्र कूजितम् । चित्रपटेष्वपि ते हंसादयो विरचिताः। एते सत्याः । **कृत्रिमान्** चित्रगतान् **स्वान**कृत्रिमानेव मन्यमानैः कूजितमिति पूर्वेणैव संबन्धः । **अधिरुह्याऽधिरुह्येति** काष्ठपाषाणनिर्मिता अपि हंसादयः सकृदधिरुह्यापि मुह्यन्तीति । **अधिरुह्याऽधिरुह्येति** बहुवारमप्यधिरुह्य मुह्यन्तीति शिल्पनैपुण्यम् ।।२०।

व्याख्यार्थ—हंस आदि पक्षी विशेषों का समूह वहां कूजन कर रहा था। चित्रपटों (चित्र के पड़दों) में वे हंस आदि बने हुए थे, उनको यह सत्य है (ऐसा समझते थे) चित्र में बने हुए हंस पारावत को अपने समान सत्य मान वे हंस पारावल कूजन करते थे इसका पूर्व से सम्बन्ध है। लकड़ी और पत्थर के बने हुए हंस आदि के पास वे सत्य हंस आदि एक बार पास बैठकर भी उनको बनावटी नहीं समझते थे। यहां तक कि बार बार पास में बैठकर भी उनको सत्य मानते थे ऐसा शिल्प (कारीगरी) का चातुर्य था ।।२०।।

श्लोक—**विहारस्थानविश्रामसंवेशप्राङ्गणाजिरैः ।**
यथोपजोषं रचितैर्विस्मापनमिवात्मनः ।।२१।।

श्लोकार्थ—क्रीडास्थली, विश्राम स्थान, सुखपूर्वक, बैठने का स्थान, आँगन और चौक ये सब उसमें यथा स्थान बने हुए थे। इनके कारण वह विमान स्वयं कर्दमजी को भी विस्मितसा कर रहा था ।।२१।।

सुबोधिनी–विहारस्थानं क्रीडास्थानम् । **विश्रामस्थानं** बाहुयुद्धादिकं कृत्वा श्रमापनोदनार्थमुपवेशस्थानम् । **संवेशनं** सुखोपवेशनस्थानम् । **प्राङ्गणं** कोष्ठाद्बहिरङ्गणम् । **अजिरमङ्गणम्**, तै**र्यथोपजोषं रचितैः** यथायोग्यं निर्मितैः, **आत्मनो** योगाधीशस्य कर्दमस्याऽपि **विस्मापनमिव** । यद्यपि योगमायावैभवं जानाति, तथापि तादृक् कदापि न दृष्टमिति **विस्मापनमिवे**त्युक्तम् ।२१।

व्याख्यार्थ—विहार स्थान (क्रीडा का स्थान) विश्राम स्थान, नियुद्ध (कुश्ती) करके उसकी थकान को दूर करने के लिए बैठने का स्थान, संवेशनं (सुखपूर्वक बैठने का स्थान) प्राङ्गणम् कमरे

के बाहर आँगन) अजिरम् (आँगन) में ये सब यथा स्थान बने हुए थे जिससे योगाधीश कर्दमजी को बड़ा आश्चर्य हुआ । यद्यपि वे कर्दमजी योगमाया के वैभव को जानते थे परन्तु वैसा उन्होंने कभी नहीं देखा था इसलिए उनको भी यह विमान आश्चर्यजनक जैसा लगा ।।२१।।

आभास—अभिलषितगृहे दृष्टेऽपि स्वस्य शरीरं न तथा योग्यमिति तस्या अनुशयं मत्वा तस्याऽपि तथात्वाय तामुपदिशतीत्याह—

आभासार्थ—उस अभिलषित गृह को देखकर भी मेरा शरीर तो इसके योग्य नहीं है ऐसे देवहूति के अभिप्राय को समझकर उसको भी उसके योग्य बनाने के लिए उसे उपदेश देते हैं—

श्लोक—**ईदृग्गृहं तत्पश्यन्तीं नातिप्रीतेन चेतसा ।**
सर्वभूताशयाभिज्ञः प्रावोचत् कर्दमः स्वयम् ।।२२।।

श्लोकार्थ—ऐसे सुन्दर घर को भी जब देवहूति ने बहुत प्रसन्न चित्त से नहीं देखा तो सब के आन्तरिक भाव को समझने वाले कर्दमजी ने स्वयं ही कहा ।।२२।।

सुबोधिनी-ईदृग्गृहमिति । पूर्वोक्तरूपं गृहं नाऽतिप्रीतेन चेतसा पश्यन्तीं स्वयोगबलेन सर्वभूतहृदयाभिज्ञः तूष्णीमेव स्थितां तां स्वयमेव कर्दमोऽवोचत् ।।२२।।

व्याख्यार्थ—पूर्वोक्त घर को अत्यन्त प्रसन्न चित्त से नहीं देखती हुई देवहूति को अपने योग बल से सब के हृदय की बात को जानने वाले मुनि ने चुपचाप खड़ी हुई से इस प्रकार कहा ।।२२।।

आभास—तद्वचनमाह—

आभासार्थ— मुनि के वचन को कहते हैं—

श्लोक—**निमज्ज्याऽस्मिन्ह्रदे भीरु ! विमानमिदमारुह ।**
इदं शुक्लकृतं तीर्थमाशिषां यापकं नृणाम् ।।२३।।

श्लोकार्थ—हे भीरु ! तुम इस बिन्दुसरोवर में स्नान करके विमान पर चढ जाओ । यह विष्णु भगवान् का रचा हुआ तीर्थ मनुष्यों की सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाला है ।।२३।।

सुबोधिनी–निमज्ज्येति । हे **भीरु** उत्तमे, भयं च न कर्तव्यम् ज्ञात्वैव भीरुत्वं यत. स्नानार्थं प्रेष्यत इति । **अस्मिन् ह्रदे निमज्ज्य इदं विमानमारुह** किं शीतोदके असंस्कृताया मज्जनेनेत्याशङ्कयाऽऽह–**इदं शुक्लकृतं तीर्थमिति** । शुक्लनारायणेन निर्मितं तीर्थं सर्वेषा**माशिषां** कामनानां प्रापकम् । अस्मिन् प्रविष्टे यथा तव मनोरथः, तादृशं तव शरीरं भविष्तीति भावः । नित्यं स्नाने च महतां तथाऽभ्यनुज्ञा नाऽस्तीति न पूर्वं सिद्धि ।।२३।।

व्याख्यार्थ—हे उत्तमे ! तुम डरो मत ! डरी हुई को देखकर ही मुनि ने स्नान के लिये भेजा। इस हृद (होज) में डुबकी लगाकर इस विमान में बैठ जा। विना ही किसी संस्कार के ठंडे जल में नहाने से क्या होगा इस आशंका का उत्तर देते हैं 'इदं शुक्लकृतंतीर्थम्' यह शुक्लनारायण का बनाया हुआ तीर्थ है यह सब कामनाओं को पूर्ण करने वाला है। इस तीर्थ में स्नान करने से जैसा तेरा मनोरथ होगा वैसा तेरा शरीर हो जायगा। यद्यपि उस तीर्थ में वह नित्य स्नान करती थी परन्तु बड़ों की आज्ञा नहीं थी इसलिए पहले सिद्धि नहीं हुई ।।२३।।

आभास—तथैव कृतवतीत्याह—**सा तद्भर्तु** रिति द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—उसने वैसा ही किया इसे सा तद्भर्तुः इन दो श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—सा तद्भर्तुः समादाय वचः कुवलयेक्षणा ।
सरजं बिभ्रती वासो वेणीभूतांश्च मूर्धजान् ।।२४।।
अङ्गं च मलपङ्केन संछन्नं शबलस्तनम् ।
आविवेश सरस्वत्याः सरः शिवजलाशयम् ।।२५।।

श्लोकार्थ—कमल नयना देवहूति ने अपने पति की बात मानकर सरस्वती के पवित्र जल से भरे हुए उस सरोवर में प्रवेश किया उस समय वह बड़ी मैली कुचैली साड़ी पहने हुए थी उसके सिर के बाल चिपक जाने से उनमें लटें पड़ गई थी शरीर में मैल जम गया था तथा कान्तिहीन स्तन से युक्त उसका शरीर था ।।२४-२५।।

सुबोधिनी—सा देवहूतिः, **भर्तुर्वाक्यं** समादाय, **सरजं वासो वेणीभूतांश्च मूर्द्धजान् मलपङ्केन छन्नमङ्गं बिभ्रती सरस्वत्याः सर आविवेश**। वाक्यग्रहणे हेतुः—**भर्तु** रिति। सर्वो हि भारस्तस्यैव। सम्यगादानं देहसिद्धाविदमेव साधनमिति ज्ञानपूर्वकं ग्रहणम्। **कुवलयेक्षणा** उत्पलदलायताक्षी अनेन क्रोधेर्श्याखेदादयो भावा निवारिताः। वाक्यविश्वासादेव नेत्रप्रसादः, न तु सामग्री तादृशीति वक्तुं विपरीतां सामग्रीं वर्णयति—रजःसहितं मलिनं वस्त्रम्। बाह्य साधनमावश्यकमसमीचीनमिति सूचितम्। वेणीभूता मूर्द्धजा बहिरङ्गभूताः, अङ्गं च। प्रत्यहं जायमानं। मलं जलसंबद्धं पङ्कप्रायं जातम्, अतस्तदुद्धारः कठिन इत्यर्थः। **शबलौ** विवर्णौ स्तनौ यस्येत्यङ्गविशेषणम्। उपभोग्यावयवानां सुतरामयोग्यत्वं सूचितम्। सरस्वती सृष्टिहेतुः, अतोऽनया नूतनं संभविष्यतीति तत्र प्रवेशः। **शिवं** कल्याणकरम् स्नानेऽपि नापकारं जनयतीति उपकारस्तु वाक्यात् भविष्यत्येव, अपकारस्तु न भविष्यत्येवेत्यर्थः ।।२४-२५।।

व्याख्यार्थ—उस देवहूति ने भर्त्ता की बात को मानकर मैली कुचैली साड़ी को पहने हुए, बालों में जिसके लटें (बाल आपस में चिपक गये थे) पड़ गयी थीं मैल शरीर पर जमा हुआ था ऐसी स्थिति में उसने सरस्वती के सरोवर में प्रवेश किया। ऋषि भर्ता है अतः उनकी बात माननी ही चाहिए। सारा ही भार तो ऋषि पर ही था। देह की सिद्धि के लिए ये ही साधन हैं ऐसा समझते हुए ऋषि के वचन को ग्रहण किया यह 'समादाय' का अर्थ है। 'कुवलयेक्षणा' का अर्थ

है कमल दल के समान लम्बे जिसके नेत्र हैं ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि उसमें क्रोध, ईर्ष्या, खेद आदि का भाव सर्वथा नहीं था। वचन के ऊपर विश्वास होने से ही तो नेत्रों में प्रसन्नता का भाव था। उसके पास वैसी कोई सामग्री थी नहीं जिससे उसे प्रसन्नता हो उसके पास तो विपरीत सामग्री थी जिसका वर्णन करते हैं मैले कुचैले तो वस्त्र थे जिससे बाह्य सामग्री उसके पास ठीक नहीं थी यह सूचित होता है। जिनमें लटें पड़ रही हैं ऐसे सिर के बाल थे ये बहिरङ्ग (बाहरी साधन थे। अङ्ग भी प्रति दिन जमने वाले मैल से जल का संबन्ध होने से कीचड़ जैसा हो रहा था। अतः उस मैल का साफ होना भी बड़ा कठिन था। कान्तिहीन स्तन जिसमें है ऐसा शरीर था, इससे उपभोग्य जितने भी अवयव थे वे सब सर्वथा अयोग्य थे यह सूचित हुआ। सरस्वती सृष्टि करने वाली है अतः इसमें स्नान करने से अङ्ग आदि नये हो जायेंगे इसलिए उसने सरस्वती में प्रवेश किया 'शिवम्' का अर्थ है कल्याण करने वाला स्नान करने पर ये अपकार तो करेगी नहीं उपकार तो ऋषि के वाक्य से होगा ही अपकार तो कदापि होगा ही नहीं यह उसका अर्थ है ॥२४-२५॥

आभास—ततः किमासीत्तदाह—

आभासार्थ—तदन्तर क्या हुआ उसे कहते हैं—

श्लोक—**साऽन्तःसरसि वेश्मस्थाः शतानि दश कन्यकाः ।**
सर्वाः किशोरवयसो ददर्शोत्पलगन्धयः ॥२६॥

श्लोकार्थ—सरोवर में गोता लगाने पर उसने उसके भीतर एक महल में एक हजार कन्यायें देखीं। वे सभी किशोर अवस्था की थी और उनके शरीर से कमल की सुगन्ध आती थी ॥२६॥

सुबोधिनी—साऽन्तःसरसीति । स्वस्याऽऽनन्दांशो देवहूतिः, तस्यास्तत्त्वमितस्तिरोहितं योगं निमित्तीकृत्य सहस्रस्त्रीरूपेण जातम् । अतो न ताभिः काचित्क्षतिः । सरोमध्ये गृहमेकमद्भुतम्; इदं तु भगवत्कृतमेव, ऋषिणा निर्मितमित्यवचनात् । स्वनिर्मितस्त्रीणामुपभोगे दोषो देवहूतिविवाहश्च व्यर्थः स्यात् । तद्गतोऽप्यानन्दः पुनरस्यामेव संक्रमिष्यति । बहिरुपचारास्तु सेत्स्यन्ति । ताः पुनर्भगवदीया इति देवहूतिदेहस्थितिपर्यन्तं स्थित्वा पुनर्भगवद्योगमायायामेव प्रवेक्ष्यन्ति । तस्मिन् गेहे विद्यमाना **दशशतानि कन्यका ददर्श** । सर्वासामेकवयस्त्वं भगवत्कृतमेवेति ज्ञापयितुमाह—**सर्वाः किशोरवयस इति** । सहस्रसङ्ख्या कामशास्त्रानुसारेण तत्रत्योत्कर्षप्रतिपादनार्था । लोहितोत्पले स्त्रीस्वभावे रागासक्तिः सूचिता । गन्धनिरूपणमन्यत्र सङ्क्रमणार्थम् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—ऋषि का आनन्दांश देवहूति थी उस आनन्द का तत्व इधर तिरोहित था अतः योग को निमित्त करके हजार स्त्रियों के रूप में वह हो गया। अतः उन स्त्रियों से कोई क्षति नहीं हुई। सरोवर के अन्दर एक अद्भुत घर था। ऋषि ने निर्माण किया था यह तो बिना ही कहे

सिद्ध है। अपने द्वारा निर्मित स्त्रियों से उपभोग करने में दोष होता है और देवहूति के साथ किया हुआ विवाह भी व्यर्थ हो जाता है। उन स्त्रियों से होने वाला आनन्द पुनः इस (देवहूति) में ही संक्रमित हो जायगा। बाह्य उपचार तो सिद्ध होंगे; वे उत्पन्न हुई स्त्रियाँ भगवत्सम्बन्धिनी थीं इसलिए देवहूति के देह की स्थिति पर्यन्त ही रहकर फिर वे भगवन् योगमाया में प्रविष्ट हो जायेगी। उस घर में विद्यमान एक हजार कन्याओं को देखा। सबकी एक सी अवस्था थी वह अवस्था भगवत्कृत थी उसको 'सर्वाः किशोरवयसः' से बताया है। सहस्त्रसंख्या (एक हजार संख्या) कामशास्त्र के अनुसार वहाँ के उत्कर्ष को प्रतिपादन करने के लिए रक्त कमल (उत्पल) कहा है उनमें गन्ध का निरूपण अन्यत्र संक्रमण के लिए कहा है ॥२६॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह—

आभासार्थ—इसके अनन्तर जो हुआ उसे कहते हैं—

श्लोक—**तां दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रोचुः प्राञ्जलयः स्त्रियः ।**
वयं कर्मकरीस्तुभ्यं शाधि नः करवाम किम् ॥२७॥

श्लोकार्थ—देवहूति को देखकर वे स्त्रियाँ सेवा के लिये और विश्वास के लिये हाथ जोड़कर कहने लगी 'हम आपकी दासियाँ है हमें आज्ञा दीजिये आपकी क्या सेवा करें' ॥२७॥

सुबोधिनी—तां दृष्ट्वेति । देवहूतिं दृष्ट्वा ताः स्त्रियः परिचर्यार्थं विश्वासार्थं च प्राञ्जलयो भूत्वा प्रोचुः । तासां वचनमाह—**वयमिति** । **कर्मकरीस्तुभ्यम्**, त्वत्सेवार्थं वयं **कर्मक**रीर्दासीः अत एव **शाधि** आज्ञापय-ते **किं करवामेति** । अभीप्सितार्थो वक्तव्यः शरीरसंस्कारस्त्वस्माकं स्वधर्म एवेति स चेन्न वक्तव्य इति भावः ॥२७॥

व्याख्यार्थ—देवहूति को देखकर वे स्त्रियाँ सेवा के लिए और विश्वास के लिए हाथ जोड़ कर बोली। उनके वचन को कहते हैं हम आपकी सेवा करने के लिये दासियाँ हैं हमें आज्ञा दीजिए हम क्या सेवा करें। आप जो चाहती हो वो हमें कहो। आपके शरीर का संस्कार तो हमारा स्वधर्म ही है उसके लिये तो कहने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥२७॥

आभास—अतस्तथैव सेवां कृतवत्य इत्याह—स्नानेनेति द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—उन्होंने जैसा कहा था उसी तरह सेवा की उसे 'स्नानेन' आदि दो श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**स्नानेन तां महार्हेण स्नापयित्वा मनस्विनीम् ।**
दुकूले निर्मले नूत्ने ददुरस्यै च मानदाः ॥२८॥

श्लोक—भूषणानि परार्ध्यानि वरीयांसि द्युमन्ति च ।
अन्नं सर्वगुणोपेतं पानं चैवामृतासवम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—तब स्वामिनी को सम्मान देने वाली उन स्त्रियों ने बहुत मूल्य पदार्थों तथा गन्ध आदि से मिश्रित जल के द्वारा स्वाभिमानी देवहूति को स्नान कराया तथा उसे दो नवीन और निर्मल वस्त्र पहनने को दिये फिर उन्होंने बहुमूल्य सुन्दर और कान्तिमान् आभूषण सर्वगुण सम्पन्न भोजन और पीने के लिये अमृत के समान आसव प्रस्तुत किया ॥२८-२९॥

सुबोधिनी—आदौ अमूल्येन स्नानेन स्नापयित्वा । मलापकर्षणं स्नानमादौ । सुखकरमङ्गमर्दादिस्नानं द्वितीयम् । कर्पूराद्यमूल्यद्रव्यैः स्नानं तृतीयम् । **स्नान**शब्दः क्रियावाची तद्द्रव्येष्वपि वर्तते, अग्निहोत्रशब्दवत् । अतः स्नानेन स्नापयित्वेत्युक्तम् । **मनस्विनीं** मानवतीम् । मनोः पुत्रीं वा, **मानवीमि**ति पाठे । **चकारा**दुद्वर्तनादि सर्वे संस्काराः अन्तःपरिधानार्थमुपरिवस्त्रार्थं च **दुकूले** । **निर्मले इति** नूतनयोरौत्पत्तिकमलसम्भवात् । पक्षान्तरव्यावृत्त्यर्थमाह—**नूत्ने इति । अस्यै च ददुरिति** । तस्याः संमाननार्थं पुरतो बहून्येव दुकूलानि स्थापितानि, सर्वाभ्यः सखीभ्यो दत्त्वा परिधेहीति । तथा सति तस्याःसंमाननं भवति । यत एता **मानदाः** । **भूषणानि** नानाविधानि च दत्तवत्यः । **परार्ध्यानि** अमूल्यानि । गुणतोऽप्यमूल्यानि भवन्तीति **वरीयांसी**त्युक्तम् । अतिसुन्दराणि कान्तियुक्तानि च । **अन्नं** भोजनार्थम् । सर्वे गुणा व्यञ्जनादयः । **पानं** च पानकादि, अमृतरूपमासवरूपं च । मादकानि हि द्रव्याणि कामशास्त्रे रसोत्पत्त्यर्थमुक्तान्यनिषिद्धानि जातीफलादीनि, न तु मदिरादीनि निषिद्धानि । अन्यथा भर्त्रा सह स्मरसङ्ग्रामो न स्यात् ॥२८-२९॥

व्याख्यार्थ—पहले तो अमूल्य स्नान से स्नान कराकर आदि में तो मलापकर्षण स्नान कराया । सुखकर ऐसे अङ्ग मर्दन आदि से दूसरा स्नान कराया । कपूर आदि अमूल्य द्रव्यों से तीसरा स्नान कराया । स्नान शब्द स्नान क्रिया का वाचक है और स्नान कराने के द्रव्यों में भी स्नान शब्द है जैसे अग्निहोत्र शब्द क्रिया एवं द्रव्य दोनों में ही है । इसलिए स्नान से (स्नान के द्रव्यों से) उसे स्नान कराया ऐसा कहा । मनस्विना का अर्थ मानवती होता है । जहां मानवी ऐसा पाठ हो वहाँ मनु की पुत्री को ऐसा अर्थ समझना । 'च' से उबटन आदि सब संस्कार लिए जाते हैं । अन्दर पहरने का तथा ऊपर ओढ़ने का दुकूल जो निर्मल (स्वच्छ) था । यदि दोनों वस्त्र नये हों तो उसमें औत्पत्तिक (नव निर्माण के कारण) मल की संभावना रहती है इसलिए निर्मल पद दिया वे दोनों वस्त्र स्वच्छ थे वे पुराने नहीं थे इसे बताने के लिए 'नूत्ने' पद दिया, नये वस्त्र इसे दिये । उस देवहूति के सम्मान के लिये बहुत से दुकूल उसके सामने रक्खे सब सखियों को देकर फिर उसने पहिरे । ऐसा करने से उसका सम्मान होता है । क्योंकि ये सब स्त्रियाँ देवहूति को सम्मानित करती थीं । नाना प्रकार के आभूषण दिये जिनका कोई मूल्य तक नहीं कर सकता था, वे गुण से भी अमूल्य थे इसके लिये 'वरीयांसि' ऐसा कहा । वे आभूषण अति सुन्दर और कान्तियुक्त थे, भोजन के लिए अन्न और सब गुण वाले व्यञ्जन आदि (उपस्थित किये) यहाँ 'पान' से पानक (पोने की वस्तु) उपस्थत की अमृत रूप

और आसव रूप मादक (नशीले) द्रव्य कामशास्त्र में रसोत्पत्ति के लिये कहे गये हैं यहाँ आसव से जिनका शास्त्रों में निषेध नहीं है वैसे जायफल आदि लेने चाहिये निषिद्ध मदिरा आदि नहीं लिये जाते हैं। यदि आसव का पान न किया जाय तो भर्ता के साथ स्मर (काम) संग्राम नहीं हो सकता है ॥२८-२९॥

आभास—दर्पणं दर्शनार्थं दत्तवत्य:। प्रमाणार्थं तद्दृष्टमेव तस्या रूपं वर्णयति—अथेति चतुर्भि:, कामपृतनारूपायास्तस्याश्चतुरङ्गत्वात्—

आभासार्थ—देखने के लिए उन्होंने दर्पण दिया। प्रमाण के लिए उस (देवहूति) के देखे हुए रूप का ही चार श्लोकों में वो वर्णन करती है, चार श्लोकों से वर्णन इसलिए किया है कि वह देवहूति काम की सेनारूप है सेना चतुरङ्ग (चार अङ्गवाली) होती है—

श्लोक—**अथाऽऽदर्शे स्वमात्मानं स्रग्विणं विरजाम्बरम्।**
विरजं कृतस्वस्त्ययनं कन्याभिर्बहुमानितम् ॥३०॥
स्नातं कृतशिर:स्नानं सर्वाभरणभूषितम्।
निष्कग्रीवं वलयिनं कूजत्काञ्चननूपुरम् ॥३१॥
श्रोण्योरध्यस्तया काञ्च्या काञ्चन्या बहुरत्नया।
हारेण च महार्हेण रुचकेन च भूषितम् ॥३२॥
सुदता सुभ्रुवा श्लक्ष्णस्निग्धापाङ्गेन चक्षुषा।
पद्मकोशस्पृधा नीलैरलकैश्चोपशोभितम् ॥३३॥

श्लोकार्थ—जब देवहूति ने दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखा तो उसे ज्ञात हुआ कि वह भाँति भाँति के सुगन्धित फूलों के हारों से विभूषित है स्वच्छ वस्त्र पहने हुए हैं उसका शरीर भी निर्मल और कान्तिमान् हो गया है। उन कन्याओं ने बड़े आदर पूर्वक उसका माङ्गलिक शृंगार किया है। उसे सिर से स्नान कराया गया है स्नान के पश्चात् अङ्ग अङ्ग में सब प्रकार के आभूषण सजाये गये हैं तथा उसके गले में हार-हमेल हाथों में कंकण और पैरों में छमछमाते हुए सोने के पायजेब शोभित है। कमर में पड़ी हुई सोने की रत्न जटित करधनी बहुमूल्य मणियों के हार से और अंग अंग में लगे हुए कुंकुम आदि मंगल द्रव्यों से उसकी अपूर्व शोभा हो रही है। उसका मुख सुन्दर दंतपंक्ति मनोहर भौंहें कमल की कली से स्पर्धा करने वाले प्रेमकटाक्षमय सुन्दर नैत्र और निर्वली अलकावली से बहुत ही सुन्दर जान पड़ता था ॥३०-३१-३२-३३॥

सुबोधिनी-सर्वालङ्करणानन्तरमथ भिन्नप्रक्रमेण। स्वरुच्यनुसारेण विरचनार्थमथेत्याह। **आत्मानं** देहम्, **स्वं** स्वकीयम्। सखिष्वप्यात्मभावो जात इति तद्व्यावृत्यर्थं **स्वपदप्रयोग**:। **स्रग्विणं** मालायुक्तम्। विरजानि अम्बराणि यस्या:। देहोऽपि विरज:। कृतं **स्वस्त्ययनं** शुश्रूषणं यस्य। प्रतिबिम्बेऽपि कन्यानां सान्निध्यात्कन्याभिर्बहुमानितम्। **स्नातम्**। पुन: कृतं शिर:स्नानं येन। अनेन स्त्रीणां सर्वदा न शिर:, स्नानम्, स्नानद्वयं च सूचितं भिन्नप्रकारेण। सर्वाभरणानि नित्यान्यावश्यकानि। **निष्कं** पदकं ग्रीवायां यस्य। **वलयिनमिति** स्वाभाविकाभरणाद्यतिरिक्तो वलय:। कूजती शब्दायमाने काञ्चननिर्मिते नूपुरे यस्य **श्रोण्योरध्यस्ता** या काञ्ची सुवर्णमयी बहुरत्नयुक्ता हारश्च मुक्तानाममूल्य:। **रुचक:** कुङ्कुमबिन्दु: चकारात्सर्वाण्येवानुक्तानि। तै: सर्वैरेव भूषितम्। **पद्मकोशस्पृधा मुखेन** उपशोभितम्। **लसन्मुखमिति** पाठेऽपि वक्रेण पद्मकोशस्पृधा लसत् संपूर्णमेव मुखम्। **सुदतेति** वक्त्रविशेषणम्। शोभना दन्ता यस्मिन्निति। शोभना या भ्रू:। श्लक्ष्ण: स्निग्धोऽपाङ्गो यस्मिन् तादृशचक्षुषा नीलैरलकैश्च मुखस्थै पार्श्ववर्तिभि: सर्वैरेव लसत् मुखं यस्य ।।३०-३१-३२-३३।।

व्याख्यार्थ—सब अलङ्कार पहर लिए उसके बाद एसा किया इस भिन्न क्रम को बताने के लिए अथ शब्द दिया है, "अथाऽऽदर्शे"। अपनी रुचि के अनुसार शरीर की रचना के लिए 'अथाऽऽदर्शे' श्लोक है। आत्मा शब्द से यहाँ देह का ग्रहण है। स्व का अर्थ है स्वकीय (अपना) सखियों में भी आत्मभाव हो गया था इसलिए उनका ग्रहण यहाँ न हो इसके लिए 'स्व' पद का प्रयोग किया है। स्रग्विणम् (माला से युक्त) रज: (मैल) से रहित है वस्त्र जिसके, देह भी मैल से रहित थी। सुश्रूषा के अनन्तर दर्पण को देखा प्रतिविम्ब के समय भी कन्यायें वहाँ पास में थीं उन्होंने उसका बहुत सम्मान किया। स्नान किया और स्नान के अनन्तर पुन: सिर से स्नान किया। इससे यह सूचित होता है कि स्त्रियाँ सर्वदा सिर स्नान नहीं करती हैं। इस तरह भिन्नक्रम से दो स्नान सूचित हुए। सब आभरण जो नित्य के पहनने के थे और आवश्यक थे उन्हें पहना गले में पदक पहना। स्वाभाविक आभरणों के सिवाय वलय चूड़ियां पहनीं। घुघरियों की झनकार जिनमें हो रही है ऐसे सोने के बने हुए नूपुर (पायजेब) पहने। कटि के ऊपर धारण की गई जो स्वर्ण की कांची (करधनी) जिनमें रत्न जड़े हुए थे तथा मोतियों का अमूल्य हार एवं कुंकुम (केसर) की बिन्दुएं 'च' से जिनको यहाँ नहीं गिनाया गया है वे सब यहाँ ले लेना उन सबसे भूषित शरीर से युक्त, कमल की कली से स्पर्धा करने वाले मुख से शोभित। यदि 'अलकैश्चोपशोभित' की जगह 'अलकैश्चलसन्मुखं' ऐसा पाठ हो तो कमल की कली से स्पर्धा करने वाला है सम्पूर्ण मुख जिसका, ऐसा अर्थ होगा। सुदता सुन्दर दाँत यह मुख का विशेषण है। सुदता का 'शोभना दन्तायस्मिन्' इस तरह का विग्रह वाक्य है। सुन्दर भौंहें। श्लक्ष्णम् और स्निग्ध है अपाङ्ग (नेत्रों का अन्तिम कोना) जिनमें ऐसे नेत्रों से नीली अलकावली जो मुख के ऊपर स्थित है तथा अगल बगल में स्थित है उससे मुख की शोभा और बढ़ गयी है। ऐसी वह देवहूति शोभा को प्राप्त कर रही है ।।३०-३१-३२-३३।।

आभास—एवमात्मनं दृष्ट्वा तस्य भोग्यतां मत्वा भोक्तारं सस्मारेत्याह—

—**आभासार्थं**—इस तरह अपने शरीर को देखकर अब यह शरीर भोग्य हो गया है ऐसा मानकर उसके भोगने वाले को याद किया—

श्लोक—**यदा सस्मार ऋषभमृषीणां दयितं पतिम् ।**
तत्र चाऽऽस्ते सह स्त्रीभिर्यत्राऽऽस्ते स प्रजापतिः ॥३४॥

श्लोकार्थ—जब देवहूति ने ऋषियों में श्रेष्ठ अपने प्रिय पतिदेव का स्मरण किया तो देवहूति ने अपनी सखियों के सहित अपने आपको वहीं पाया जहाँ प्रजापति कर्दमजी विराजमान थे ॥३४॥

सुबोधिनी—यदा सस्मारेति । आत्मनः **पतिम्**, **दयितं** परमप्रेमास्पदम्. **ऋषीणामृषभम्** । स्वधर्मेण लौकिकधर्मेण वैदिकधर्मेण च भजनीयः कर्दमो भवतीति विशेषणत्रयम् । सिद्धस्थानत्वात् मनःसिद्धिर्जातेत्याह–**तत्रचाऽऽस्त इति** । पूर्वं यत्र प्रजापतिरास्ते तत्रैव स्त्रीभिः सह स्वयमप्यास्ते ॥३४॥

व्याख्यार्थ—पतिम् (अपने पति) दयितं (परम प्रेमास्पद) ऋषियों में श्रेष्ठ यहां कर्दमजी के लिए पति, दयितं, ऋषिणा मृषभम् इस तरह तीन विशेषण दिये हैं उसका तात्पर्य यह है कि कर्दमजी तीन तरह से अर्थात् (१) स्वधर्म से (२) लौकिक धर्म से (३) वैदिक धर्म से भजनीय (सेवा करने योग्य) हैं । वह सिद्ध स्थान था इसलिए उसके मन की सिद्धि हो गयी । पहले जहां प्रजापति कर्दमजी थे वहीं पर स्त्रियों के साथ अपने को उपस्थित पाया ॥३४॥

आभासा—एवं स्वानुभूतं वैभवं दृष्ट्वा भर्तुर्माहात्म्ये परमाश्चर्यं प्राप्तवतीत्याह–

आभासार्थ—इस तरह स्वयं अनुभव किये गये वैभव को देखकर भर्त्ता के माहात्म्य में परम आश्चर्य हुआ—

श्लोक—**भर्तुः पुरस्तादात्मानं स्त्रीसहस्रवृतं तदा ।**
निशाम्य तद्योगगतिं संशयं प्रत्यपद्यत ॥३५॥

श्लोकार्थ—उस समय अपने को सहस्त्रों स्त्रियों के सहित अपने प्राणनाथ के सामने देखकर इसे उनके योग का प्रभाव समझ कर देवहूति को बहुत विस्मय हुआ ॥३५॥

सुबोधिनी—भर्तुरिति । भर्तुरग्रे स्वात्मानं स्त्रीसहस्त्रयुतं यदा अपश्यत् तदा तस्य योगगतिं दृष्ट्वा साधनापरिज्ञानात् परमं संशयमापद्यत, निर्द्धारणे प्रमाणाभावात् । संशयकार्यमाश्चर्यं वाऽऽपद्यत ॥३५॥

व्याख्यार्थ—देवहूति ने जब सहस्त्रों स्त्रियों के सहित अपने को भर्त्ता के सामने देखा तो उनकी योग गति को देखकर इस तरह के कार्य करने में कौनसा साधन है इसका जब पता न लगा तो उसको अत्यन्त आश्चर्य हुआ । क्योंकि उसको निर्धारण में कोई प्रमाण नहीं दिखाई दिया अथवा संशय कार्य जो आश्चर्य है वह उसे हुआ ॥३५॥

आभास—स्वमाहात्म्ये ज्ञाते पश्चात्तया सह सङ्गं कृतवानित्याह—

आभासार्थ–देवहूति को इस तरह जब ऋषि के माहात्म्य का ज्ञान हो गया तब उसके साथ ऋषि ने संग किया—

श्लोक—**स तां कृतमलस्नानां विभ्राजन्तीमपूर्ववत् ।**
आत्मनो बिभ्रतीं रूपं संवीतरुचिरस्तनीम् ॥३६॥

श्लोकार्थ—ऋषि कर्दमजी ने देखा कि देवहूति का शरीर स्नान करने से अत्यन्त निर्मल हो गया है और विवाह काल से पूर्व उसका जैसा रूप था उसी रूप को प्राप्त हो गयी है । उसका सुन्दर वक्षःस्थल चोली से ढका हुआ है ॥३६॥

सुबोधिनी-स तामिति । कृतं मलस्नानं ययेति बाह्यशुद्धिरुक्ता । **तामित्यान्तरी** । **अपूर्ववत्** नूतनवद्विभ्राजन्तीमिति नूतनरसोत्पादनार्थमुक्तम् । एतावताऽप्यलंकारेण विवाहकालरूपमेव प्राप्तवती, न त्वलौकिकं किञ्चिज्जातमिति बदन् तस्याः स्वभावसौन्दर्यं वर्णयति–**आत्मनो बिभ्रतीं रूपमिति** । सम्यक् **वीतौ** कञ्चूकादिना वेष्टितौ रुचिरौ स्तनौ यस्याः ॥३६॥

व्याख्यार्थ—किया है मलस्नान जिसने इससे उसकी बाह्यशुद्धि कही गई । 'ता' पद से आन्तर शुद्धि बतायी गई है । अपूर्ववत् यह पद नवीन की तरह दिखायी दे रहो थी इस अर्थ को सूचित करता है ऐसा अर्थ नूतनरस के उत्पादन के लिए कहा गया है ।

इससे यह ज्ञात होता है कि इन अलंकारों के पहनने से वह विवाह के समय के रूप को प्राप्त हो गयी थी उसमें उन आभूषणादि से कोई अलौकिकता नहीं हुई इसे कहते हुए उसके स्वाभाविक सौन्दर्य का वर्णन करते हैं । 'आत्मनो बिभ्रतींरूपम्' विवाह के समय उसका रूप था, वैसे रूप को वह प्राप्त हो गयी 'संवीतरुचिर स्तनीम्' का अर्थ है ठीक तरह से चोली आदि से वेष्टित (आच्छादित) हैं सुन्दरस्तन जिसके ॥३६॥

आभास—स्वदत्तं वैभवमधिकमाह—

आभासार्थ—अपने द्वारा दिए हुए वैभव को अधिक कहते हैं—

श्लोक—**विद्याधरीसहस्रेण सेव्यमानां सुवासम् ।**
जातभावो विमानं तदारोहयदमित्रहन् ! ॥३७॥

श्लोकार्थ—हे अमित्रहन् ! हजारों विद्याधरियाँ उसकी सेवा में लगी हुई थी तथा उसके शरीर पर उत्तम उत्तम वस्त्र शोभा पा रहे थे तब उन्होंने बड़े प्रेम से उसे विमान पर चढ़ाया ॥३७॥

सुबोधिनी–**विद्याधरीसस्त्रेणेति** । ता भगवदीया विद्याधर्यः, '**सिद्धा विद्याधराश्चैव योग एव प्रतिष्ठिताः**' इति । सुवाससमिति कामभावे उद्दीपनार्थम् । तथा वर्णनायाः फलमाह–**जातभाव इति** । जातो **भावः** कन्दर्पो यस्य । तद्विमानं तामारोहयत् । **अमित्रहन्निति** श्रोतुः कामाभावार्थम् । अन्यकामलीलाश्रवणेन जायमानः कामः दुष्टो भवतीत्यमित्रत्वम् ।।३७।।

व्याख्यार्थ—वे भगवदीय विद्याधरियाँ 'सिद्ध' विद्याधर से योग में हो 'प्रतिष्ठित' है सुन्दर वस्त्र काम भाव में उद्दीपन के लिये होते हैं । इस प्रकार के वर्णन का फल कहते हैं उनकी इस प्रकार की सजावट को देखकर मुनि में काम भाव उत्पन्न हो गया । उस विमान पर उसे बिठा लिया । 'अमित्रहन्' सम्बोधन श्रोता को काम भाव न हो इसके लिये है । दूसरे को कामलीला को सुनने से होने वाला काम दुष्ट होता है अतः वह काम अमित्र है उस काम को तुम नष्ट करने वाले हो ।।३७।।

आभास—तस्य कामलीलामाह–**तस्मिन्निति चतुर्भि**—

आभासार्थ—उन ऋषि की कामलीला को चार श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**तस्मिन्नलुप्तमहिमा प्रिययाऽनुरक्तो विद्याधरीभिरुपचीर्णवपुर्विमाने ।**
बभ्राज उत्कचकुमुद्गणवानपीच्यस्ताराभिरावृत इवोडुपतिर्नभःस्थः ।।३८।।

श्लोकार्थ—उस समय अपनी प्रिया में अनुरक्त होते हुए भी कर्दमजी की महिमा कम नहीं हुई । विद्याधरियाँ उनके शरीर की सेवा कर रही थी । विकसित कुमुद के फूलों से शृङ्गार करके अत्यन्त सुन्दर बने हुए वे विमान पर इस प्रकार शोभा पा रहे थे मानों आकाश में तारागणों से घिरे हुए चन्द्रमा विराजमान हो ।।३८।।

सुबोधिनी–रागो हि महत्वनाशको भवतीति दृष्टादृष्टविभेदेन तदभावार्थमाह–**अलुप्तमहिमेति** । स्वयमपि विद्याधरीभिरुपचीर्णवपुः । रञ्जव द्रव्येणैव प्रियया अनुरक्तः, प्रियागतरागेण प्रियात्वाद्रक्त इत्यर्थः, । **उत्कचकुमुद्गणवान्** विकसितकुमुद्गणयुक्तश्चन्द्रः । उद्गताः कचा यासाम्, कौ मुदं (?) याभ्यः; केशवत्यः सुखदायिन्यो याः स्त्रियः तद्गणावृतः । **अपीच्यः** स्त्रीणां प्रियः । सौन्दर्यं गुणसूचकम् । रसालम्बनत्वं स्त्रीरुच्या । तासामपि रसविकाशकत्वं तच्छास्त्राभिज्ञत्वं बोधयति । **स्त्रीभिश्च** सेवितवपुः, तत्कार्योपयोगिकोमलत्वापादिका हि ताः । तासु रागाभावार्थं तया रञ्जनमुक्तम् । **तास्मिन्** प्रसिद्धे विमाने च बभ्राजे । राजकन्या हि वैभवमपेक्षते, अतः प्रथमतः **शोभातिशयो** वर्णितः । सर्वलोकप्रसिद्धाश्च ते जाता इति दृष्टान्तेन स्पष्टयति–**ताराभिरावृतइवोडुपतिर्नभस्थ इति** । आकाशवद्विमानस्य विशालता च सूचिता । प्रदेशान्तरे । यथा तारा अन्या एवावरका भवन्ति, तथाऽत्रापीति । यथा शय्यादि-पदार्थास्तत्र तत्र, तथा स्त्रियोऽपीति ज्ञापितम् ।३८।

व्याख्यार्थ—राग महत्व को नष्ट कर देता है दृष्ट तथा अदृष्ट इस भेद से भी वह राग

उनकी महिमा को नष्ट नहीं कर सका। स्वयं कर्दमजी भी उन विद्याधरियों से सेवित थे। अर्थात् विद्याधरियाँ उनके शरीर की सेवा कर रही थी, अर्थात् अनुराग को उत्पन्न करने वाले द्रव्य से ही वे प्रिया में अनुरक्त थे। देवहूति उनको प्रिय थी इसलिए प्रिया होने के कारण ही उसमें अनुरक्त थे। विकसित कुमुद् गणों से युक्त तो चन्द्र था और कर्दमजी लम्बे लम्बे बालों वाली और रात्रि में जिनके द्वारा सुख प्राप्त होता है ऐसी स्त्रियों के समुदाय से युक्त थे, अर्थात् लम्बे लम्बे सुन्दर बालों वाली और सुख पहुँचाने वाली स्त्रियों के समुदाय से युक्त थे। कर्दमजो अपीच्य थे अर्थात् स्त्रीगणों के लिए अति प्रिय थे। प्रियनालगन सौन्दर्यगुण का सूचक है, स्त्री की रुचि से इसका आलम्बन होता है। वे स्त्रियाँ भी रस को विकसित करने वाली तथा रस शास्त्र की जानकार थी। यह सब अपीच्यः से बोधित होता है, कर्दमजी का शरीर स्त्रियों के द्वारा सेवित था क्योंकि स्त्रियां ही उस कार्य के उपयोगी शरीर को कोमल बना सकती हैं। केवल वे स्त्रियां कर्दमजी के शरोर को परिचर्या ही करती थी। कर्दमजी का उनमें कोई अनुराग नहीं था। इस तरह उस प्रसिद्ध विमान में कर्दमजी शोभित हो रहे थे। राज कन्यायें वैभव चाहती हैं इसलिए सबसे पहिले शोभातिशय का वर्णन किया। वे सर्वलोक प्रसिद्ध हो गये इसको 'ताराभिरावृत इवोडुपातिर्नभस्थः' इस दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं। आकाश में रहने वाला चन्द्रमा जैसे ताराओं से घिरा रहता है उसी तरह मुनि उन स्त्रियों से घिरे हुए थे। इस कथन से विमान की विशालता आकाश के समान सूचित होती है। अन्य स्थान में रहने वाले तारा ही आवरक (घेरने वाले) होते हैं उसी तरह यहां भो समझना जिस तरह प्रत्येक कमरे में शय्या आदि पदार्थ थे उसी तरह स्त्रियां भी प्रत्येक कमरे में थीं यह इससे ज्ञापित होता है ॥३८।

आभास—विहारमाह—

आभासार्थ—विहार को कहते हैं—

श्लोक—**तेनाऽष्टलोकपविहारकुलाचलेन्द्रद्रोणीष्वनङ्गसखमारुतसौभगासु ।**
सिद्धैर्नुतो द्युधुनिपातशिवस्वनासु रेमे चिरं धनदवल्ललनावरूथी ॥३९॥

श्लोकार्थ—उस विमान पर निवासकर उन्होंने दीर्घकाल तक कुबेर के समान मेरु पर्वत की घाटियों में विहार किया। ये घाटियाँ आठों लोकपालों की विहार भूमि है। इसमें कामदेव को बढाने वाली शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु चलकर इनकी सुन्दर शोभा का विस्तार करती है तथा गङ्गाजी के स्वर्गलोक से गिरने की मङ्गलमय ध्वनि सर्वदा गूँजती रहती है। उस समय भी दिव्य विद्याधरियों का समुदाय उनकी सेवा में उपस्थित था और सिद्धगण वन्दना किया करते थे ॥३९॥

सुबोधिनी-तेनेति । अष्ट ये लोकपालाः, तेषां विहारस्थानभूताः **कुलाचलेन्द्रस्य** मेरोः द्रोण्यः तासु रेम इति संबन्धः ! यथा धर्मे देशादयोऽङ्गभूताः, एवं कामेऽपि । अक्षयो हि स रसस्तत्रतत्राऽभिव्यज्यते, यथाऽऽकरेष्वर्थः। तस्य देशस्य रसोत्पादने अनुभावसान्निध्यमाह-**अनङ्ग**-

सखमारुतो दाक्षिणात्यो वातः, कामजनकोऽन्यो वा। रमणे वा तस्याऽत्यन्तापेक्षा। अतस्तेन सौभगासु। सिद्धानां स्तोत्राणि च प्रोत्साहकानि, अन्यथा वैराग्यादिभी रस उपहन्येत। **द्युधुनी** गङ्गा, तस्याः पाताः सीतादयः प्रवाहाः पतितानां वातैः शिवः स्वनो यासु। अशुद्धं हि भौतिकानि पापानि सङ्क्रान्तानि भवन्ति, तदभावार्थमुक्तम्। **धनदवदिति** द्रव्यक्षत्यभावः। **ललना** स्त्री तत्समूहयुक्तः। परितः स्त्रीणां दर्शनम्॥३९॥

व्याख्यार्थ—आठ जो लोकपाल हैं उनके विहार के स्थान में स्थित जो कुलाचलेन्द्र (सुमेरु) पर्वत की द्रोणियां (घाटियाँ) हैं उनमें रमण किया ऐसा सम्बन्ध है। जिस तरह धर्म के अङ्गभूत देशकाल आदि होते हैं, काम में भी उसी तरह देश आदि अङ्गभूत होते हैं। वह अक्षय रस उन्हीं उन्हीं देशों में अभिव्यक्त (प्रकट) होता है जैसे खानों से अर्थ (स्वर्ण आदि) प्रकट होता है। उस देश में रसोत्पादन में (रस को उत्पन्न करने में) अनुभान का सान्निध्य है उसे कहते हैं 'अनङ्गसखमारुतसाभगासु' काम का मित्र दक्षिणवात है अथवा काम को उत्पन्न करने वाला और कोई हो क्योंकि रमण में उसकी अत्यन्त आवश्यकता है। इसलिये उससे सुन्दर जो घाटियां हैं। सिद्धों की स्तुति भी काम को प्रोत्साहन देती है अन्यथा वैराग्य से रस दब जायगा। द्युधुनी का अर्थ है गङ्गा उसका पतन (गिरना) तथा (बहना) गङ्गा जब ऊपर से गिरती है उस समय वायु के कारण जो शब्द (ध्वनि) होती है वह कल्याण करने वाली है। अशुद्ध में भौतिक पापों से संक्रमण होता है इसलिए उसका अभाव गङ्गा की ध्वनि से होता है। धनदवत्' का अर्थ है कुबेर के समान धन अर्थात् धन के क्षय का अभाव है। ललनावरूपी स्त्रियों के समूह से युक्त थे तथा जिधर देखो उधर स्त्रियें ही दिखाई देती थीं॥३९॥

आभास—न केवलं तानि स्थानानि दृष्टानि, किन्तु तत्र रमणमपि कृतवानित्याह—

आभासार्थ—केवल वे रमणीय स्थान नहीं देखे किन्तु वहां रमण भी किया उसे कहते हैं—

श्लोक—**वैश्रम्भके सुरसने नन्दने पुष्पभद्रके।**
मानसे चैत्ररथ्ये च स रेमे रामया रतः॥४०॥

श्लोकार्थ—उन्होंने अपनी प्रिया देवहूति के साथ वैश्रम्भक, सुरसन, नन्दन, पुष्पभद्र, चैत्ररथ आदि अनेकों देवोद्यानों में तथा मानसरोवर में अनुरागपूर्वक रमण किया॥४०॥

सुबोधिनी-वैश्रम्भके सुरसन इति। वैश्रम्भकादीनि दिक्पालकानां भोगोपवनानि षट्स्थानानि गणितानि भगवद्दत्तानीति ज्ञापयितुम्। सा हि रामात्वं प्राप्ता। बन्धादिकरणात् स्वयमपि तया रतः॥४०॥

व्याख्यार्थ—वैश्रम्भक आदि छ दिक्पालों के भोगोपवन गिनाये गये हैं वे सब भगवान् ने ही दिये हैं इस बात को समझाने के लिए बताया है। वह रामापन को हो गयी थी अर्थात् क्रीड़ा के योग्य हो गयी थी और कर्दमजी भी बन्ध आदि के करने से उसमें अनुराग वाले हो गये॥४०॥

आभास—एवमलौकिकोत्कर्षमुक्त्वा तत्रत्यसजातीयेभ्य उत्कर्षमाह—

आभासार्थ—इस तरह अलौकिक उत्कर्ष कहकर वहां के जो सजातीय हैं उनसे उत्कर्ष कहते हैं—

श्लोक—**भ्राजिष्णुना विमानेन कामगेन महीयसा ।**
वैमानिकानत्यशेत चरँल्लोकान् यथाऽनिलः ।।४१।।

श्लोकार्थ—उस कान्तिमान् और इच्छानुसार चलने वाले श्रेष्ठ विमान पर बैठ कर वायु के समान सभी लोकों में विचरते हुए कर्दमजी विमान विहारी देवताओं से भी आगे बढ गये थे ।।४१।।

सुबोधिनी—**भ्राजिष्णुनेति । वैमानिकानत्यशेत** सर्वप्रकारेण तानतिक्रम्य स्थितः । तेषां विमानानि न स्वप्रकाशभूतानि, तेषां च मर्यादा विमानस्य, न हि ते भूमौ समायान्ति, नापि सिद्धपदादग्रे गच्छन्ति, इदं तु कामगम्, अपरिमितं चैतत् । अतश्चतुर्भिर्गुणैरत्यशेत । क्रिययाऽप्यतिक्रममाह—**चरँल्लोकानिति** । लोकाल्लोकान्तरं गच्छन् अनिल इव, तानत्यशेतेत्यर्थः ।।४१।।

व्याख्यार्थ—विमान में विचरण करने वाले देवताओं का भी उन्होंने सब प्रकार से अतिक्रमण कर लिया था । उन देवताओं के विमान स्वयंप्रकाश नहीं थे तथा उनके विमान की मर्यादा है उनके विमान पृथ्वी पर नहीं आ सकते हैं और न सिद्ध पद के आगे जा सकते हैं । यह विमान तो इच्छानुसार चलता है और अपरिमित (बहुत ही बड़ा जिसका कोई नाप नहीं) है । इसलिए चार गुणों से देवों के विमान से यह अधिक श्रेष्ठ है । क्रिया से भी उनसे यह श्रेष्ठ है इसे चरँल्लोकान् बताया है यह एक लोक से दूसरे लोक में जाता हुआ हवा की तरह गति करता है अतः उनसे श्रेष्ठ है ।।४१।।

आभास—एवं भोगमुपपाद्य यत एतावत्त्वं तदाह—

आभासार्थ—इस तरह भोग का उपपादन (सिद्ध) करके जिससे इतना भोग प्राप्त हुआ उसे कहते हैं—

श्लोक—**किं दुरापादनं तेषां पुंसामुद्दामचेतसाम् ।**
यैराश्रितस्तीर्थपदश्चरणो व्यसनात्ययः ।।४२।।

श्लोकार्थ—जिन्होंने संसार के दुःखों को दूर करने वाले भगवान् के पवित्र चरणों का सहारा लिया है उन वीर पुरुषों के लिये कौनसी वस्तु दुर्लभ है ।।४२।।

सुबोधिनी—**किं दुरापादनमिति** । प्रतिनियतभोगा यस्य कस्यापि न भवन्ति, तथा सति मर्यादाभङ्गः स्यात् । सर्वं च भवति तेन सह । तत्राऽपि मर्यादा । अतोऽस्य कथमेतज्जातमित्या-

शङ्क्य तदुपपादयति–**येराश्रितस्तीर्थपदश्चरणः** । **'चरणं पवित्रं विततं पुराणम्'** इति श्रुत्या चरणस्य व्यापकत्वं, सनातनत्वम्, अपहतपाप्मत्वं च । आश्रितानामपि तथात्वसंपादकत्वं च । अतः सर्वगतो भोगः चरणाश्रये न विरुध्यते । तारतम्यं च पापात्, तदप्यहतपाप्मत्वान्न भवति । पुराणत्वाच्च न तत्र कालस्य प्रतिबन्धकत्वम् । अतः स्वभावत एव सर्वे भोगाश्चरणाश्रये भवन्ति । किञ्च, काभिता अपि भवन्ति । तीर्थानि कामितदानार्थे क्लृप्तानि, तान्यपि चरणे सन्तीत्याह-तीर्थानि पादे यस्येति । सर्वाणि च फलानि विचित्रव्यसने संसारे भोक्तुमशक्यानि, व्यसनानां बाधकत्वात् । तान्यपि चरणो दूरीकरोतीत्याह–**व्यसनात्यय इति** । व्यसनानामत्ययो यस्मात्; **'अतिपाप्मानमराति तरेम'** इति वाक्याच्चरणस्य व्यसननाशकत्वं सिद्धम् । तस्याश्रयणं च न सर्वेषां भवति, किन्तु केषांचिदेवेति । तदर्थं देहान्तःकरणयोर्गुणद्वयमाह–**पुंसामिति** स्वातन्त्र्यम् **तेषामिति** प्रसिद्धिः, तदुभयधर्मवत्त्वेन । केचनैव लोकादिभ्यः स्वतन्त्रता भवन्ति । अन्तःकरणधर्ममाह––**उद्गतं दाम** चित्ते येषाम् । बन्धकं हि दाम, अपरिमितश्चरणः; न हि बद्धे परिच्छिन्ने स्थापयितुं शक्यते । अतोऽन्तःकरणस्य देहस्याऽपि प्रतिबन्धकत्वाभावादुभयोपभोग्यः । तेषां न कोऽपि दुरापः । दुःखे**नापादनं** यस्येति परिच्छिन्नस्यैव भवन्ति ।।४२।।

व्याख्यार्थ—प्रत्येक में जो नियत भोग हैं वे हर एक को प्राप्त नहीं हो सकते हैं। यदि ऐसा हो जाय तो मर्यादा भङ्ग हो जायगी। भगवान् के साथ में सब भोग होते हैं परन्तु उसमें भी मर्यादा है। अतः इन कर्दमजी को ऐसा कैसे हुआ उसका उपपादन (सिद्ध) करते हैं येराश्रितस्तीर्थपदश्चरणः स्वः जिन्होंने तीर्थरूप भगवान् के चरण का सहारा लिया है (उनके लिए कोई दुर्लभ नहीं है) 'चरणं पवित्र विततं पुराणम्' इस श्रुति में चरण को व्यापक, सनातन और निष्पाप बताया है। अतः जो उस चरण का सहारा लेते हैं उनको भी ये चरण अपने समान बना देते हैं। अतः सर्वगत भोग चरण का आश्रय लेने पर प्राप्त हो जाते हैं इसमें किसी प्रकार का प्रतिबन्ध (रुकावट) नहीं होता है। अधिक तथा कम ऐसा भेद तो पाप के कारण होता है किन्तु चरण का सहारा लेने पर वो स्वयं निष्पाप हो जाता है तो भोग में तारम्य नहीं होता है। यह चरण पुराण (प्राचीनतम) हैं अतः काल का प्रतिबन्ध भी इसमें नहीं होता है। इसलिए सभी भोग स्वभाव से ही चरणारबिन्द का सहारा लेने पर प्राप्त होते हैं और चाहे हुए भोग भी प्राप्त होते हैं। क्योकि तीर्थ इच्छित भोगों को देने के लिए निर्धारित हैं वे तीर्थ भी चरणारविन्द में हैं यह तीर्थपदः से जाना जाता है। इसका तीर्थानि पादे यस्य ऐसा विग्रह है उसका अर्थ है तीर्थ है चरण में जिसके। सभी फल विचित्र व्यसन वाले संसार में भोगे नहीं जा सकते हैं क्योंकि व्यसन उसमें बाधक हो जाता है। उन व्यसनों को भी भगवान् का चरणारविन्द दूर कर देता है यह व्यसनात्ययः से बताया है। व्यसनों (दुःखों) का अत्याय (नाश) हैं। जिसमें 'अतिपाप्मानमरातितरेम' इस वाक्य से चरण को व्यसन का नाश करने वाला बताया है। उन चरणों का सहारा सबों को प्राप्त नहीं होता किन्तु किन्हीं को ही वह सहारा प्राप्त होता है। चरणारविन्द का सहारा प्राप्त करने के लिए देह और अन्तःकरण इनके दो गुण होने चाहिए उन्हें कहते हैं पुंसां और उद्दामचेतसाम् पुंसाम् से स्वातन्त्र्य लिया जाता है अर्थात् पुरुष स्वतन्त्र होता है दोनों धर्मों वाला होने से उसकी ऐसी प्रसिद्धि है। लोक आदि से कुछ ही लोग स्वतन्त्र होते हैं। अन्तःकरण के धर्म को कहते हैं 'उद्गतं दाम' है चित्त में जिन्हों के दाम (रस्सी आदि) बांधने वाली होती है परन्तु चरण तो अपरिमित है अर्थात् चरण का आदि तथा अन्त ही नहीं है तो वह चरण बँधे हुए में अथवा परिमित स्थान में

कैसे रक्खा जा सकता है। अतः अन्तकरण और देह के प्रतिबन्धक न होने से दोनों से ही वह उपभोग्य होता है। उनके लिए कोई अप्राप्य नहीं है, कठिनता से है प्राप्ति जिसकी यह तो परिच्छिन्न (सीमित) की ही होती है। अपरिच्छिन्न की नहीं होती ॥४२॥

आभास—एवं सोपपत्तिकं भोगमुक्त्वोपसंहरति—

आभासार्थ—इस तरह युक्ति से भोगों को कहकर उसका उपसंहार करते हैं—

श्लोक—**प्रेक्षयित्वा भुवो गोलं पत्न्यै यावान् स्वसंस्थया ।**
बह्वाश्चर्यं महायोगी स्वाश्रमाय न्यवर्तत ॥४३॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार महायोगी कर्दमजी यह सम्पूर्ण भूमण्डल जो द्वीप वर्ष आदि की विचित्र रचना के कारण बड़ा आश्चर्यमय प्रतीत होता है अपनी प्रिया को दिखाकर अपने आश्रम को लौट आये ॥४३॥

सुबोधिनी-प्रेक्षयित्वेति । तस्याः कामपूरणे पत्नीत्वमेव साधकम् । योगबलेन नैकत्र प्रदर्शनम्, किंतु **स्वसंस्थया यावान्** । यो यत्र यावान् वर्तते, तां तत्रैव नीत्वा प्रदर्शितवान् । बहून्याश्चर्याणि यत्र, अन्यथा न पश्येत् । तथा दर्शने सामर्थ्यम्—**महायोगीति** । **स्वाश्रमः** सिद्धक्षेत्रम् ॥४३॥

व्याख्यार्थ—उस देवहुति का मनोरथ इसलिए पूरा किया कि वह उनकी पत्नी थी। ऋषि ने अपने योगबल से एक ही जगह उन सबको नहीं दिखाया किन्तु उन उन स्थानों में उसको ले जाकर जैसा वह था उसे दिखाया। यदि ऐसा न होता तो बहुत से आश्चर्यों को वह न देख सकती, महायोगी होने के कारण वैसा दिखाने में उनकी सामर्थ्य थी। स्वाश्रम का अर्थ है सिद्धक्षेत्र ॥४३॥

आभास—अन्तरिक्षे अपत्यजनने रुद्रदैवत्यो भवतीति ऋषीणामुत्पत्तिसिद्ध्यर्थं भूमावागत्य प्रजामुत्पादितवानित्याह—

आभासार्थ—अन्तरिक्ष (आकाश) में संतान उत्पन्न होती है तो उसका देवता रुद्र होता है अतः ऋषि की उत्पत्ति की सिद्धि के लिए पृथ्वी पर आकर संतान को उत्पन्न किया यह कहते हैं—

श्लोक—**विभज्य नवधाऽऽत्मानं मानवीं सुरतोत्सुकाम् ।**
रामां निरमयन् रेमे वर्षपूगान् मुहूर्तवत् ॥४४॥

श्लोकार्थ—फिर उन्होंने अपने को नौ रूपों में विभक्त कर रतिसुख के लिये अत्यन्त उत्सुक मनुकुमारी देवहूति को आनन्दित करते हुए उसके साथ बहुत वर्षों तक विहार किया किन्तु इतना अधिक समय भी एक मुहूर्त के समान बीत गया ॥४४॥

सुबोधिनी-विभज्येति । **नवधा आत्मानं विभज्य**, भिन्नभावेन नवरूपाणि कृत्वा, तस्यास्तथा सहने सामर्थ्यम्, **मानवीमिति** । बहुधा करणे हेतुः—**सुरतोत्सुकामिति** । भिन्नभावे वैल-

क्षण्ये ज्ञानेऽपि तस्याः शङ्काभावायाऽऽह—**रामामिति**। रामायां हि लज्जा, भयं च नोत्पद्यते, तथाभावादेव तस्या रामात्वम् । अतस्तां नितरां **रमयन्**, स्वयं च **वर्षपूगान्मुहूर्तवद्रेमे** । कालस्य गणनायां हि वर्षा भवन्ति, आनन्दानुभवाभावे च गणना । अतः सुरतान्तकालः सुखानुभवहेतुर्मुहूर्तमात्रमिति तथैव सर्वं कालं मेने ।।४४।।

व्याख्यार्थ—नवधा आत्मान विभाज्य भिन्न भाव से नौ रूप करके (रमण किया) वह मनु की पुत्री थी इसलिए उसकी ऋषि के नौ रूपों के सहन करने की शक्ति थी। अनेक रूप करने में कारण यह था कि वह रतिसुख को प्राप्त करने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित थी। भिन्न भाव से विलक्षणता का ज्ञान होने पर भी उसको शङ्का नहीं हुई क्योंकि वह रामा थी रामा (रमणशीला) में लज्जा तथा भय उत्पन्न नहीं होता ऐसा होने के कारण ही उसमें रामापन था। अतएव कर्दमजी ने उसको खूब रमण कराया और स्वयं ने भी अनेक वर्षों के रमण को एक मुहूर्त (दो कच्चीघड़ी) के समान ही समझा। काल की यदि गिनती की जाय तब तो वर्ष होता है वह गणना तो आनन्द के अनुभव के अभाव में होती है। अतः सुरत (विहार) के अन्त के समय को सुख के अनुभव का हेतु होने से इतने वर्षों के रमण को उन्होंने एक मुहूर्त मात्र ही माना ।।४४।।

आभास—तस्या अपि कालज्ञानाभावमाह—

आभासार्थ—देवहूति को भी समय का ज्ञान नहीं हुआ—

श्लोक—**तस्मिन्विमान उत्कृष्टां शय्यां रतिकरीं श्रिता ।**
न चाऽबुध्यत तं कालं पत्याऽपीच्येन संगता ।।४५।।

श्लोकार्थ—उस विमान में रतिसुख को बढाने वाली बड़ी सुन्दर शय्या का आश्रय ले अपने परमरूपवान् प्रियतम के साथ रहती हुई देवहूति को इतना काल कुछ भी न जान पड़ा ।।४५।।

सुबोधिनी-तस्मिन्निति । आश्रयधर्मादेव प्रकाशमानात्सूर्यादिगत्या कालाज्ञानम् । शय्या च निद्रादिजननात् मोहिका । तत्रापि सा रतिकरा, अन्तःस्थितमानन्दं प्रकटयति । अतो भोगकालो यावान् जातः, तं च नाऽबुध्यत । आत्मानं पूर्वावस्थां च । पतिश्च परमसुन्दरः, तत्कालगुणेष्वनुकूल ।।४५।।

व्याख्यार्थ—प्रकाशमान आश्रय जो विमान उसका विगतमान लक्षण जो धर्म है उसको प्राप्त करके सूर्य आदि की गति से काल का ज्ञान न हो सका और शय्या तो नींद को उत्पन्न करने वाली होने से मोह (ज्ञानशून्यता) को करने वाली होती ही है। उसमें भी वह शय्या रति करने वाली थी अतः अन्दर रहने वाले आनन्द को वह प्रकट करती है। इसलिये तो जितना भोग का समय हुआ उसका उसे ज्ञान न हो सका। उसे अपना और पहले की अवस्था का भी ज्ञान न रहा। क्योंकि पति अत्यन्त सुन्दर थे और उस काल के गुणों के अनुकूल भी थे ।।४५।।

आभास—उभयोः कालाज्ञानेऽपि स्वयं भोगकालमाह—

आभासार्थ—यद्यपि दोनों को समय का ज्ञान नहीं था परन्तु स्वयं भोग के काल को कहते हैं—

श्लोक—**एवं योगानुभावेन दंपत्यो रममाणयोः ।**
शतं व्यतीयुः शरदः कामलालसयोर्मनाक् ॥४६॥

श्लोकार्थ—इस तरह उन कामासक्त दम्पत्ति को अपने योगबल से सो वर्षों तक विहार करते हुए भी वह काल बहुत थोड़े समय के समान बीत गया ॥४६॥

सुबोधिनी-एवमिति । योगानुभावेन दम्पत्योः रममाणयोः सतोः शतं शरदो व्यतीयुः । शतं वर्षा जाताः । भोगे शरत्काल उत्तम इति शरत्प्रयोगः । तथापि कामे न तृप्तिः, अनलत्वात्तस्य । अतस्तावानपि कालो मनागेव जातः । अतिसूक्ष्मकालो **मनाक्** ॥४६॥

व्याख्यार्थ - योग के बल से उन दम्पत्ति को रमण करते हुए सौ वर्ष बोत गये (सौ वर्ष हो गये) भोग में शरद्काल उत्तम होता है अतः वर्ष शब्द का प्रयोग न करके शरद् शब्द का प्रयोग किया है । काम अग्निरूप है इसलिए इतना समय होने पर भी काम में तृप्ति नहीं हुई । अतः इतना भोग का समय भी थोड़ा ही रहा अत्यन्त सूक्ष्मकाल को मनाक् कहते हैं ॥४६॥

आभास—एवं रमणान्ते तस्यां बीजाधानं कृतवानित्याह—

आभासार्थ—इस तरह रमण के अन्त में देवहूति में बीज का आधान किया उसे कहते हैं—

श्लोक—**तस्यामाधत्त रेतस्तां भावयन्नात्मनाऽऽत्मवित् ।**
नोधा विधाय रूपं स्वं सर्वसंकल्पविद्विभुः ॥४७॥

श्लोकार्थ—आत्मज्ञानी कर्दमजी सब प्रकार के संकल्पों को जानते थे देवहूति को सन्तान प्राप्ति के लिये उत्सुक देख तथा भगवान् के आदेश को स्मरण कर उन्होंने अपने स्वरूप के नौ विभाग किये तथा कन्याओं की उत्पत्ति के लिये एकाग्रचित्त से अर्धाङ्गरूप में अपनी पत्नी की भावना करते हुए उसके गर्भ में वीर्य स्थापित किया ॥४७॥

सुबोधिनी-तस्यामिति । **तामेव भावयन्निति** स्त्र्यपत्यर्थसिद्धर्थमुक्तम् । न हि भावनामात्रेण तथा भवतीत्याशङ्कयाऽऽह-**आत्मविदिति** । स ह्यात्मानं जानाति, अतः सर्वज्ञत्वात्तथाकरणं च । एतच्च स्वत एव, नत्वन्योपदेशात् । तदाह-**आत्मनेति** स्वरूपं च नवधा विधाय । अन्यथा एकैव कन्या, एकरूपा वास्युः । अतः **नोधा विधाय** । नवधेत्यत्र परोक्षकथनार्थं कृतसंप्रसार-

णस्य प्रयोगः। स्वमेव रूपं कृतमिति न दूषणम्। **सर्वेषां** मरीच्यादीनां **संकल्पो** भार्याप्राप्त्यर्थः, तं जानातीति । तथा करणे हेतुः । **विभुरिति** सामर्थ्यम् ॥४७॥

व्याख्यार्थ—कन्या सन्तान हो इसकी सिद्धि के लिए उन्होंने अपनी पत्नी की ही भावना की। केवल भावना मात्र से ही वैसा नहीं हो सकता है ऐसी आशंका कदाचित् हो उसके लिए आत्मविद् पद दिया है। मुनि आत्मा को जानते हैं इसलिए सर्वज्ञ होने से ही वैसा उन्होंने किया। ऐसी भावना उन्होंने स्वतः हों की ऐसा करने के लिये किसी का उपदेश नहीं था। इसको स्पस्ट करने के लिए आत्मना पद दिया है। उन्होंने अपने स्वरूप को नौ प्रकार का करके ऐसी भावना की। यदि ऐसा न करते तो एक ही कन्या होती अथवा सब कन्याएँ एक ही रूप की हो जाती। इसलिए नौ प्रकार के रूप किये। यहाँ नवधा शब्द का प्रयोग न करके जो संप्रसारण किये हुए नोधा का प्रयोग किया है वह परोक्षकथन के लिये है। अपने ही रूप को नौ प्रकार का किया इसलिए कोई दोष नहीं है नौ रूप करने का कारण तो यह था कि मरीचि आदि सभी का भार्या प्राप्ति का संकल्प था उसे कर्दमजी जानते हैं। ऐसी सामर्थ्य उनमें विभु (व्यापक) होने के कारण थी ॥४७॥

आभास—एवं पितृत उत्पत्तिमुक्त्वा मातृत आह—

आभासार्थ—इस तरह पिता से उत्पत्ति कहकर माता से उत्पत्ति को कहते हैं—

श्लोक—**अतः सा सुषुवे सद्यो देवहूतिः स्त्रियः प्रजाः।**
सर्वास्ताश्चारुसर्वाङ्ग्यो लोहितोत्पलगन्धयः ॥४८॥

श्लोकार्थ—इससे देवहूति के एक ही साथ नौ कन्याएं उत्पन्न हुई। वे सब सर्वाङ्ग सुन्दरी थीं और उनके शरीर से लाल कमल की सी सुगन्ध निकलती थी ॥४८॥

सुबोधिनी–अत इति। सद्य एव सुषुवे, न तु दशमासानन्तरम्। देहनिष्पत्तिस्तु आधानकर्तृविभुत्वात्।। **तत्त्वमतः** शब्देनोक्तम्। प्रकर्षेण जाता अपि स्त्रिय एव सुषुवे। यतः सा देवहूतिर्देवप्रकृतिकैव। ता वर्णयति–**सर्वास्ता इति**। **चारुसर्वाङ्ग्य इति** अङ्गवैकल्याभावः सौन्दर्य्यातिशयश्चोक्तः। जातिस्त्रियश्च जाता इत्याह–**लोहितोत्पलगन्धय इति**। रागार्थं भोगसमय एव गन्धप्राकट्यार्थं च लोहितोत्पलपदम् ॥४८॥

व्याख्यार्थ—उसने शीघ्र ही कन्याओं को उत्पन्न किया दस महीने के अनन्तर नहीं। गर्भाधान करने वाले विभु थे इसलिए उन कन्याओं के देह का निर्माण भी सद्य ही हो गया। कर्दमजी के विभुत्व को 'अतः' इस शब्द से बताया है। 'प्रकर्षेण जाताः प्रजाः' यद्यपि वे उत्कृष्ट रूप से उत्पन्न हुई थी किन्तु वे प्रजा (संन्तान) स्त्री ही हुई अर्थात् कन्या सन्तति हुई। क्योंकि वह देवहूति (देवप्रकृतिवाली) थी। जो कन्याएं उत्पन्न हुई उनका वर्णन करते हैं। सर्वास्ताच्चारु सर्वाङ्ग्यः वे सब सुन्दर अङ्गवाली थीं उनके अङ्ग में किसी प्रकार की विकलता नहीं थी अतः अतिशय सौन्दर्य उनमें था। वे स्त्री जाति थी इसलिये उनमें रक्त कमल के समान गन्ध थी भोगसमय में अनुराग तथा गन्ध प्राकट्य होने के लिए ऐसा कहा है ॥४८॥

आभास—एवं कृत्वा कर्दमश्चलितुमारम्भं कृतवान् । तदा तस्याः तज्ज्ञानं जातमित्याह—

आभासार्थ—ऐसा करके कर्दमजी ने जाने का उपक्रम किया तब देवहूति को वह ज्ञान हुआ—

श्लोक—**पतिं सा प्रव्रजिष्यन्तं तदाऽऽलक्ष्योशती सती ।**
स्मयमाना विक्लवेन हृदयेन विदूयता ।।४६।।
लिखन्त्यधोमुखी भूमिं पदा नखमणिश्रिया ।
उवाच ललितां वाचं निरुध्याऽश्रुकलां शनैः ।।५०।।

श्लोकार्थ—इसी समय शुद्ध स्वभाव वाली सती देवहूति ने देखा कि पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार उसके पतिदेव संन्यास ग्रहण करके वन को जाना चाहते हैं तो उसने अपने आंसुओं को रोककर ऊपर से मुस्कुराते हुए व्याकुल एवं सन्तप्त हृदय से धीरे-धीरे अति मधुर वाणी में कहा । उस समय वह सिर नीचा किये हुए अपने मणि के समान नखों की कान्ति वाले चरण कमल से पृथ्वी को कुरेद रही थी ।।४६–५०।।

सुबोधिनी—**पतिमिति । लिखन्तीति । प्रव्रजिष्यन्तं** संन्यासप्रकारेण गमने कृतनिश्चयम् । तद्गमन**मालक्ष्य** इङ्गितैर्ज्ञात्वा, कमनीया सती, प्रतिबन्धमकृत्वा विज्ञापनामेव कृतवतीत्याह । **उवाच ललितां वाच**मिति द्वितीयश्लोके संबन्धः । **विक्लव**श्चित्तखेदः, स्वस्यैव तथा दोषो जात इति । **स्मयमाना** काष्ठहास्यं कुर्वाणा । **हृदयेन** च विशेषेण **दूयता** दुःखं प्रापयता उपलक्षिता । स्वचिन्तां ख्यापयितु**मधोमुखी** भूत्वा **भूमिं लिखन्ती** । देहकान्तिसहितैव तथा वदतीति ज्ञापयितुम्—**नखमणिश्रिया पदेति** । लेखने करणमुक्तम् । **नखा** एव **मणयः**, तेषां च तथैव श्रियो यत्र । **ललितां** मनोहराम् । रोदने न हि कार्यं सेत्स्यती**त्यश्रुकलां निरुद्ध्य** । **शनैरिति** पूर्वभावापगमः सूचितः ।।४६–५०।।

व्याख्यार्थ— प्रव्रजिष्यन्त का अर्थ है संन्यास के प्रकार से जाने का जिन्होंने निश्चय कर लिया है । चेष्टाओं के द्वारा उनके जाने को जानकर उस सती ने उनके जाने में किसी प्रकार की रुकावट न डालते हुए केवल विज्ञापना ही की इसे उवाच ललितां वाचम् से बताया है । विक्लव का अर्थ है चित्तखेद अपना ही कोई ऐसा दोष हो गया है इसलिए ऊपर की हँसी से हँसती हुई और हृदय से विशेष दुःख को प्राप्त होती हुई अपनी चिन्ता को प्रकट करने के लिये नीचा मुँह करके भूमि को कुरेदती हुई (बोली) देह की कान्ति के सहित ही उस तरह बोलती है इसको बताने के लिए 'नखमणिश्रिया पदो' यह पद दिया है नख ही है मणियां जिनमें उनकी शोभा से युक्त चरणों से (भूमि को कुरेदती हुई) ललित (मनोहर वाणी बोली) रोने से काम सिद्ध नहीं होगा इसलिए आंसुओं को रोककर धीरे धीरे (कहा) शनैः इस पद से पहले का उसका भाव चला गया यह सूचित हुआ ।।४६–५०।।

आभास—सप्तभिस्तस्या वाक्यान्याह—**सर्वं तदित्यादिभिः**—

आभासार्थ—सात श्लोकों से देवहूति के वाक्यों को कहते हैं—

देवहूतिरुवाच—श्लोक—**सर्वं तद्भगवान् मह्यमुपोवाह प्रतिश्रुतम् ।**
अथापि मे प्रपन्नाया अभयं दातुमर्हसि ॥५१॥

श्लोकार्थ—देवहूति ने कहा भगवान् आपने जो कुछ प्रतिज्ञा की थी वह सब तो पूर्ण रूप से निभाई परन्तु मैं आपकी शरणागत हूँ, अतः आप मुझे अभयदान और दीजिये ॥५१॥

सुबोधिनी-**परलोकार्थविज्ञप्तिर्विवाहः कन्यकासु च । भोगाभावस्य कथनं सत्सङ्गश्च प्रसङ्गतः ॥१॥ फलमावश्यकं तस्य सर्वं व्यर्थं ततोऽन्यथा । स्वदोषाभावकथनं कृपासिद्ध्यै निरूपितम् ॥२॥** यथा पूर्वं सुरतं प्रार्थितम्, एवमिदानीमभयं प्रार्थयते । सतां हि सकृदेव प्रार्थनोचिता, तथापि स्वदैन्यात् पुनः प्रार्थनमिति ज्ञापयितुं पूर्वप्रार्थिते शेषो नास्तीत्याह-**सर्वमिति** । यत्प्रतिश्रुतं तत्सर्वमेव भगवान् मह्यमुपोवाह समीपे उद्वासमानीय दत्तम् । तथा च न दातव्यमवशिष्यते । **अथापि** शरणागताया **अभयं दातुमर्हसि** यथा शरणागतस्य वाक्यं प्रार्थितं क्रियते, तथा शरणागतिसिद्ध्यर्थमभयमपि देयम्, अन्यथा प्रपन्नः पालितो न भवेदिति । अनेन मम परलोकार्थमुपायः कर्तव्य इति विज्ञापितम् ।५१।

व्याख्यार्थ—(१) परलोक के लिए प्रार्थना (२) कन्याओं का विवाह (३) भोग के अभाव का कथन (४) प्रसंग से सत्संग हुआ (५) उसका फल अवश्य होना (६) बिना उसके सब व्यर्थ है (७) कृपा की सिद्धि के लिए अपने दोषों के अभाव का कथन देवहूति ने जैसे पहले सुख (रमण) की प्रार्थना की थी उसी तरह अब अभय होने की प्रार्थना करती है । सज्जनों की प्रार्थना तो एक बार ही होना चाहिये तथापि अपनी दीनता से फिर प्रार्थना की इस बात को बताने के लिये मैंने जो पहले प्रार्थना की थी वह आपने पूर्ण करदी उसमें किसी प्रकार की कोई कमी नहीं रही यह 'सर्व' इस शब्द से स्पष्ट होती है आपने जो प्रतिज्ञा की थी वह सब आपने मेरे को समीप में बुला कर दिया अब कोई देने की बात तो बाकी नहीं है तथापि मैं शरणागत हूँ अतः आप मुझे अभयदान दीजिये क्योंकि आप अभयदान देने के योग्य हैं । शरणागत के द्वारा की जाने वाली प्रार्थना को जिस तरह पूरी की जाती है, उसी तरह शरणागति की सिद्धि के लिये अभय भी देना चाहिए अन्यथा शरणागत सुरक्षित नहीं होता है । इससे मुझे परलोक में सिद्धि मिले इसका उपाय आपको करना चाहिये यह बात ऋषि को जताई ॥५१॥

आभास—दुहितॄणां च विवाहः कर्तव्य इत्याह—

आभासार्थ—और लड़कियों का विवाह भी आपको करना चाहिए इसे कहती है—

श्लोक—**ब्रह्मन् दुहितृभिस्तुभ्यं विमृग्याः पतयः समाः ।**
कश्चित् स्यान्मे विशोकाय त्वयि प्रव्रजिते वनम् ॥५२॥

श्लोकार्थ—ब्रह्मन् ! इन कन्याओं के लिये योग्य वर ढूँढने पड़ेंगे और आपके वन को चले जाने के अनन्तर मेरे शोक को दूर करने के लिये भी कोई होना चाहिये ॥५२॥

सुबोधिनी—ब्रह्मन्निति । दुहितृभिः पतयो विमृग्याः स्वासमाः । **तुभ्यं** तव । दैन्यमुक्तमिति केचित् । **कन्यानां पतिसंबन्धस्त्वन्मनोरथसिद्धये । तथापि संशयो भावी तस्मात्त्वं ताः प्रयच्छ हि ।१।** प्रार्थनान्तरमाह-**त्वयि वन प्रव्रजिते मे विशोकाय कश्चित् स्यादिति** । कन्यास्तु गमिष्यन्ति, पुत्रो देय इत्यर्थ; ॥५२॥

व्याख्यार्थ—लड़कियों के लिये उनके ही समान पति ढूँढने होंगे । यह कार्य आपको ही करना होगा यह 'तुभ्यं' का अर्थ है । कोई तुभ्यं का अर्थ दीनता ऐसा करते हैं अर्थात् देवहूति ने ऋषि से दीनता की । कन्याओं का पति सम्बन्ध आपके मनोरथ की सिद्धि के लिए होगा । तथापि उसमें संशय की संभावना है इसलिए आप ही उन कन्याओं को दीजिये । एक प्रार्थना तो उनसे यह की और दूसरी प्रार्थना को कहती है कि आप तो वन को चले जायेंगे उस समय मेरे शोक को करने दूर के लिये कोई होना चाहिये अर्थात् कन्यायें तो अपनी ससुराल चली जायगी अतः पुत्र दीजिए ।५२।

आभास—नन्वेतन्मिषेण पुनर्भोगं याचस इत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—आपको कन्याओं के विवाह के लिये घर में रहना चाहिये इस मिष से पुनः वह भोग मांग रही है ऐसी आशंका हो सकती है इस पर कहते हैं—

श्लोक—**एतावताऽलं कालेन व्यतिक्रान्तेन मे प्रभो ! ।**
इन्द्रियार्थप्रसङ्गेन परित्यक्तपरात्मनः ॥५३॥

श्लोकार्थ—हे प्रभो ! अब तक परमात्मा से विमुख रहकर मेरा जो समय इन्द्रिय सुख भोगने में बीता है वह तो निरर्थक ही गया ॥५३॥

सुबोधिनी—एतावताऽलमिति । एतावतैव व्यर्थं **व्यतिक्रान्तेन कालेनालम्** । अतः परमविशिष्टे काले पुरुषार्थाः साधनीय इत्यभिप्रायः । गतकालस्य दोषमाह-**इन्द्रियार्थप्रसङ्गेनेति** । इन्द्रियार्थेषु प्रकृष्टः सङ्गो यस्मात्, तादृशेन कालेन कृत्वा **परित्यक्तः परो** भगवान् **आत्मा** येन । तादृशस्य स्वार्थनाशकस्य एतावतैवाऽलम् ॥५३॥

व्याख्यार्थ—इतना काल जो व्यर्थ चला गया वह ही बहुत है अब इसके आगे का काल जो बच गया है उसमे पुरुषार्थ साधन करना चाहिये ऐसा अभिप्राय है । बीते हुए काल के दोष को कहती है 'इन्द्रियार्थ प्रसङ्गेन' इन्द्रियों के जो अर्थ (उपभोग के साधन) हैं उनमें जो अधिक

आसक्ति है जिससे इस तरह के काल से जिसने परमात्मा का परित्याग कर दिया ऐसे स्वार्थ को नष्ट करने वाला काल इतना ही पर्याप्त है ।।५३।।

आभास—तर्हि किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह—

आभासार्थ—तब क्या करना चाहिये ऐसी आशंका हो सकती है इस पर कहते हैं—

श्लोक—**इन्द्रियार्थेषु सज्जन्त्या प्रसङ्गस्त्वयि मे कृतः ।**
अजानन्त्या परं भावं तथाप्यस्त्वभयाय मे ।।५४।।

श्लोकार्थ—आपके परम प्रभाव को न जानने के कारण ही मैंने इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहकर आपसे अनुराग किया । तथापि वह भी मेरे संसार भय को दूर करने वाला होना चाहिये ।।५४।।

सुबोधिनी—इन्द्रियार्थेष्विति । साधनं तु सत्सङ्गः, तन्मय प्रसङ्गादेव जातम् । यथा कस्यचिद्भोगार्थं भक्षिता शर्करा औषधं भवति, तथा **इन्द्रियार्थेषु** विषयभोगेषु **सज्जन्त्या** मया **त्वयि** प्रकृष्टः सङ्गः **कृतः**, तथापि सत्सङ्गो भवत्येव । यद्यपि सत्त्वेन ज्ञानं न वृत्तं सत्प्रकारकश्च सङ्गो न भवति । तथापि वस्तुतः सत्सङ्गो भवतीति फलिष्यतीत्याह—**अजानन्त्येति** । **ते परमो भावोऽ**तिसामर्थ्यं यद्यपि न ज्ञातम् । सेवादिषु सत्प्रकारेणाऽपि सङ्गोऽस्ति, पतिव्रतात्वात् । न सेवाया भोगोपयोगः, भोगश्चाऽनिषिद्धः परं माहात्म्यज्ञानमेवावशिष्यते । अज्ञानेऽपि तत्सफलमस्त्विति प्रार्थना—तथापि मे अभयायाऽस्त्विति ।।५४।।

व्याख्यार्थ—साधन तो सत्संग है वह तो मुझे प्रसङ्ग अनायास से ही हो गया है जैसे भोग स्वाद के लिए खाई गई शक्कर किसी के लिये औषध हो जाती है उसी तरह इन्द्रियों के अर्थ जो विषय भोग हैं उनमें आसक्ति होने से मैंने आपका खूब सङ्ग किया था तथापि वह बिषय भोगों के लिए किया गया भी सङ्ग सत्संग ही है । यद्यपि सत्वरूप से ज्ञान नहीं हुआ अतः यह आपका सङ्ग सत्प्रकारक नहीं होता है तथापि वास्तव में यह सत्संग होता है उसका फल वैसा ही होगा उसे 'अजानन्त्या परंभावं' से कहते हैं आपको जो अत्यन्त सामर्थ्य है । उसे यद्यपि मैंने नहीं जानी थी । पतिव्रता होने से सेवा आदि में सत्प्रकार से भी सङ्ग होता है । सेवा के भोग में उपयोग नहीं होता है और भोगों का यद्यपि निषेध नहीं है परन्तु माहात्मय ज्ञान नहीं था देवहूति की प्रार्थना इसीलिये तो है कि मैंने आपके माहात्म्य को न जानकर जो सङ्ग किया वह सफल होना चाहिए परलोक के भय का निवत्तक होना चाहिए ।।५४।।

आभास—ननु क्रियातः फलम्, न तु द्रव्यतः । सताऽपि द्रव्येण असत्कार्यकरणे असदेव फलम्, असताऽपि सत्कार्यकरणे सदेवेति । तस्मात् कुतो न सत्सङ्ग इति चेत्तत्राऽऽह—

आभासार्थ—शंका होती है कि फल तो क्रिया से होता है, द्रव्य से नहीं होता है । द्रव्य के सत् होने पर भी असत् कार्य के करने पर फल भी उसका असत् ही होता है । सत्कार्य करने पर असत् से भी सतफल ही होता है इसलिये सत्सङ्ग क्यों नहीं है इस पर कहते हैं

श्लोक—सङ्गो यः संसृतेर्हेतुरसत्सु विहितो धिया ।
स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय कल्पते ।।५५।।

श्लोकार्थ—बुद्धिपूर्वक असत्पुरुषों के साथ किया हुआ जो संग वह संसार बन्धन का कारण होता है । वही सङ्ग सत्पुरुषों के साथ किये जाने पर असङ्गता प्रदान करता है ।।५५।।

सुबोधिनी—सङ्ग इति । भवेदेतदेवम्, यदि कार्यं सदसतोर्भिन्नं भवेत् । द्रव्यसामर्थ्यादेव कार्यस्य सत्त्वम्, अन्यथा त्वसत्त्वमेव; यतः सर्व एव **सङ्गो धिया विहितः संसृतेर्हेतुर्भवति** । अर्थात्तदसत्सु भवति, अतः सङ्गो न समीचीनः स्वतः । स एव साधुषु चेत् क्रियते, तदा **निःसङ्गत्वाय कल्पते** । साधवो हि स्वसंबन्धात् क्रियात्वमेव निवारयन्ति, फले का चिन्ता ? अतः सतां बलिष्ठत्वान्न क्रिया फलवती । अतो मम सत्सङ्गोऽस्त्विति सिद्धम् ।।५५।।

व्याख्यार्थ—यदि सत् और असत् इनसे कार्य अलग हो तब तो संग संसार का अथवा निःसंगता का कारण हो सकता है । द्रव्य की सामर्थ्य से ही कार्य का सत्व और द्रव्य की सामर्थ्य के अभाव में तो कार्य का असत्व ही होगा । क्योंकि सब सङ्ग बुद्धि से ही किया जाता हैं इसलिए वह संसार का कारण बनता है । अर्थात् असत्पुरुषों के साथ किया जाने वाला संग संसार का कारण बनता है अतः स्वतः सङ्ग अच्छा नहीं है । यदि वही संग सत्पुरुषों के साथ किया जाता है तो वह संग निःसंग में कल्पित होता है । सज्जनों का संग जो करते हैं उनकी क्रिया का क्रियात्व सज्जन दूर कर देते है अतः जब क्रिया ही नहीं रहती तो उसका फल ही नहीं होगा तो फल के विषय में चिन्ता ही क्या है । अतः सज्जनों के बलिष्ठ होने से क्रिया सफल नहीं होती । इसलिये मेरे लिए सत्संग हो यह सिद्ध हुआ ।।५५।।

आभास—तर्ह्येताद्दशोऽपि किमपेक्ष्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—तो फिर ऐसा संग किस लिये चाहा जाता है—

श्लोक—नेह यत्कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते ।
न तीर्थपदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः ।।५६।।

श्लोकार्थ—इस लोक में जिस पुरुष के कर्मों से न तो धर्म का संपादन होता है न वैराग्य उत्पन्न होता है और न भगवान् की सेवा ही सम्पन्न होती है वह पुरुष जीता हुआ ही मृतक (मरे हुए) के समान है ।।५६।।

सुबोधिनी—नेह यत्कर्मेति । त्रिविधकर्मण एव सफलत्वम्, येन कर्मणा धर्मो भवति, वैराग्यं, भक्तिर्वा । यस्तु न ताद्दशकर्मकर्ता स जीवन्नपि मृत एव । जीवतो मृताद्वैलक्षण्यं कर्मकरणम् । तच्च कर्म स्वार्थं, स्वाम्यर्थम् इष्टार्थं वा चेद्भवेत्तदा सफलम्, रोचनार्थं चेद्विपरीतं फलम्, तैर्मरणस्याऽऽवश्यकत्वात् । अतो मृत एवेत्युक्तम् ।।५६।।

व्याख्यार्थ—तीन प्रकार के कर्म की ही सफलता बताई गई है। जिस कर्म से धर्म, वैराग्य अथवा भक्ति हो। जो इस तरह के कर्म को नहीं करता है वह तो जीवित रहते हुए भी मृत है। जीवित को मृत से विलक्षणता यही है कि जीवित कर्म करता है और मृत कर्म नहीं करता। परन्तु वह कर्म यदि अपने लिये या स्वामी के लिये अथवा इष्ट (चाही हुई) वस्तु की प्राप्ति के लिये होता है तब तो वह कर्म सफल है। यदि रोचनार्थ कर्म किया जाता है तो उसका फल विपरीत होता है अर्थात् जो कर्म धर्म वैराग्य और भगवत्सेवा का साधक न हो उससे मृत्यु अवश्यभावी है अतः उसे मृतुः इस शब्द से कहा है ।।५६।।

आभास—तादृशं च मया कृतमित्याह—

आभासार्थ—मैंने वैसा किया है उसे कहती है—

श्लोक—**साऽहं भगवतो नूनं वञ्चिता मायया दृढम् ।**
यत्त्वां विमुक्तिदं प्राप्य न मुमुक्षेय बन्धनात् ।।५७।।

श्लोकार्थ—अवश्य ही मैं भगवान् की माया से बहुत ठगी गई हूँ जो आप जैसे मुक्तिदाता पतिदेव को पाकर भी मैंने सँसार बन्धन से छूटने की इच्छा नहीं की ।५७।

सुबोधिनी—साऽहमिति। तथा करणे त्वन्मायामोहितत्वमेव हेतुः। तदाह—**सा** एतादृश्यप्यहं विवेकवती, मत्तोऽप्यधिकस्य तद **भगवतो मायया नूनं वञ्चिता**। कार्यवशादवसीयते, अन्यथा **त्वां विमुक्तिदं प्राप्य** संसारबन्धनादपि कथं न **मुमुक्षेय**, न मुक्ता जाताऽस्मि ः सत्त्वात् मोक्षदातृत्वम्। **बन्धनं** कामादिः, **विमुक्तिः** कालान्मुक्तिः। तस्मान्न केवलं स्वदोषादहमेव जाता, किन्तु त्वया मोहितेति त्वयैवोद्धारः कर्तव्य इति भावः ।।५७।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे त्रयोविंशाध्यायविवरणम् ।

व्याख्यार्थ—वैसा करने में आपकी माया से मोहित हो जाना ही तो कारण है उसी को वह कहती है साऽहं वही मैं जो इस तरह के विवेक वाली हूँ उसे मुझ से भी अधिक आपकी माया ने मुझे ठग लिया है। कार्यवश से ऐसा निश्चय होता है। अन्यथा मुक्ति को देने वाले आपको प्राप्त करके संसार के बन्धन से भी कैसे मुक्त न हो सकी, अर्थात् मैं मुक्त नहीं हुई। सत्वगुण के कारण आप मोक्ष के दाता हैं। कामादि बन्धन हैं, काल से मुक्त होना विमुक्ति है। इसलिये अपने दोष के कारण ही मैं मुक्त न हुई ऐसा नहीं है किन्तु आपकी माया ने मुझे मोहित कर दिया था अतः आप ही मेरा उद्धार करें ऐसा भाव है ।।५७।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के तेवीसवें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत) टीका हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजन वल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पति चरण कमलेभ्यो: नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

श्रीमद्वल्लभाचार्य - विरचित सुबोधिनी संस्कृत टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

मुक्त सृष्टि (पुम्मुक्ति) प्रकरण

तृतीय स्कन्ध

चौबीसवां अध्याय

श्री कपिलदेवजी का प्राकट्य एवं कर्दमजी का बन गमन

कारिका—**चतुर्विंशे तथाऽध्याम् मोक्षो बुद्धिश्च वर्ण्यते**
कपिलो हि हरिर्बुद्धिरुपदेशो भजिस्तथा ।
ऋणत्रयपरित्यागो मोक्षार्थं तस्य वर्ण्यते ॥१॥

कारिकार्थ—चौबीसवें अध्याय में मोक्ष और बुद्धि का वर्णन किया जाता है कपिलजी भगवान् हैं बुद्धि, उपदेश और भक्ति भी उसी प्रकार की है। तीन प्रकार के ऋणों का परित्याग मोक्ष के लिये है उसका वर्णन है ॥१॥

आभास—पूर्वाऽध्याये देवहूतेर्वैराग्यं प्रार्थना चोक्ता, अन्ते चाऽऽशाभावः सूचितः । तत्र प्रथममाशाभावं निराकरोतीत्याह—

आभासार्थ—तेवींसवें अध्याय में देवहूति का वैराग्य और देवहूति की प्रार्थना कही और अन्त में आशा के अभाव को सूचित किया। उसमें सबसे पहले आशा के अभाव का निराकरण करते हैं—

मैत्रेय उवाच । श्लोक—**निर्वेदवादिनीमेवं मनोर्दुहितरं मुनिः ।**
दयालुः शालिनीमाह शुक्लाभिव्याहृतं स्मरन् ॥१॥

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी कहते हैं, उत्तम गुणों से सुशोभित मनुकुमारी देवहूति ने जब ऐसी वैराग्य युक्त बातें कहीं तब कृपालु कर्दम मुनि को भगवान् विष्णु के कथन का स्मरण हुआ और उन्होंने उससे कहा ॥१॥

सुबोधिनी-निर्वेदवादिनीमिति । **निर्वेदो** वैराग्यम् । विषयभोगेन निर्विण्णा सा । स्वस्य तावत्पर्यन्तमेव पतित्वमिति संकेतात् मनोरेषा दुहितेत्युक्तम् **मुनिरिति** भाव्यर्थज्ञानम् । सान्त्वने हेतुः-**दयालुरिति** । **शालिनीं** विनीतां मनोहरां वा । यद्यपि देवगुह्यं न वक्तव्यम्, तथाप्येषा विरक्ता, सत्कुलप्रसूता, विनीता चेति गुह्यकथनम् । किञ्च, **शुक्लाभिव्याहृतं स्मरन्** । शुक्लनारायणेन '**अथाहं स्वांशकलया**' **इति** पुत्रो भविष्यामीत्युक्तम्, तदपि स्मरन् सतामपि मोक्षसाधकत्वं भगवत्संबन्धजननात् ।।१।।

व्याख्यार्थ—निर्वेद का अर्थ है वैराग्य, विषय भोगों से वह (देवहूति) विरक्त हो गयी थी। कर्दमजी का पतिपना उतने समय तक ही रहा इसको संकेत से सूचित करने के लिए देवहूति को कर्दम पत्नी न कहकर मनु की दुहिता (पुत्री) ऐसा कहा। भावि अर्थ का कर्दमजी को ज्ञान था अतः उनके लिए मुनि शब्द दिया। कर्दमजी ने देवहूति को सान्त्वना दी क्योंकि मुनि दयालु थे और वह शालिनी नम्र अथवा मनोहर थी अतः सान्त्वना दी। जो देवगुह्य (देवताओं से अज्ञेय) है उसे नहीं कहना चाहिये तथापि यह विरक्त थी अच्छे कुल में उत्पन्न हुई थी, नम्र थी इसलिए मुनि ने गुप्त बात भी उसे कह दी। शुक्लनारायण ने इन्हें कहा था कि मैं अपनी 'अंश कला से' तुम्हारा पुत्र होऊँगा इसका स्मरण करके देवहुति से कहा। भगवान् का सम्बन्ध होने से सन्त भी मोक्ष के साधक होते हैं ।।१।।

आभास—मोक्षदस्तु भगवानेव । स चेत्पुत्रो भविष्यति, तदा सर्वमेव कार्यं सेत्स्यतीति तां तथा बोधयन्नाश्वासयति—

आभासार्थ—मोक्ष तो भगवान् ही देते हैं। वे भगवान् यदि तेरे पुत्र होंगे तब तो सब कार्य सिद्ध हो जायेगा। उस देवहूति को इस तरह समझाते हुए आश्वासन दिया—

ऋषिरुवाच । श्लोक—**मा खिदो राजपुत्रीत्थमात्मानं प्रत्यनिन्दिते ।**
भगवांस्तेऽक्षरो गर्भमदूरात्संप्रपत्स्यते ।।२।।

श्लोकार्थ—कर्दमजी बोले हे दोषरहित राजकुमारी तुम अपने लिये इस प्रकार खेद न करो। तुम्हारे गर्भ में अविनाशी भगवान् विष्णु शीघ्र ही पधारेंगे ।।२।।

सुबोधिनी-मा खिद इति । इत्थं स्वजन्मवैफल्यादिवचनैः, हे **राजपुत्रि** त्वं **मा खिदः** । **आत्मानं** स्वात्मानं मां वा लक्ष्यीकृत्य; कृतस्य कर्मणो नाशकत्वाभावात्, अन्यथा अन्ते वैराग्यं न स्यात् । तदाह-हे **अनिन्दित इति** । अनिन्दितत्वस्य निदर्शनमाह-**भगवांस्ते गर्भमदूरात्संप्रपत्स्यत इति** । **अक्षर** इति ज्ञानरूपः, अन्तर्याम्यधिकरूपश्च । **अदूरादिति** मद्गमनात्पूर्वमेव । **गर्भमिति** पुत्रो भविष्यति । यदि स्वच्छन्दक्रिडया काऽप्युपहतिर्भवेत्, तदा भगवान् पुत्रत्वेन नाऽऽविर्भवेत् । आविर्भावावश्यकत्वञ्च भगवद्वाक्यान्निश्चितमिति भावः ।।२।।

व्याख्यार्थ—इस तरह अपने जन्म को निष्फल बताकर हे राजपुत्री ! तुम खेद न करो। स्वयं को या मुझे लक्ष्य करके तुम्हें ऐसा न कहना चाहिए क्योंकि यह किया हुआ कर्म नाश करने

वाला नहीं है यदि ऐसा (नाश करने वाला) होता तो अन्त में तुझे वैराग्य नहीं होता। उसी को कहते हैं हे अविन्दिते ! हे भाग्यशालिनी ! देवहूति भाग्यशालिनी कैसे है उसके लिए 'भगवांस्तेऽक्षरोगर्भमदूरात्संप्रपत्स्यते' ऐसा कहा अक्षर भगवान् जो ज्ञान रूप हैं अन्तर्यामी से अधिक रूप हैं वे अदूरात मेरे जाने के पहले ही पुत्र होंगे। यदि स्वच्छन्द क्रीडा से कोई बाधा होती तो भगवान् पुत्र रूप से कभी प्रकट नहीं होते। प्राविर्भाव आवश्यक है यह तो भगवान् के वाक्य से ही निश्चित हो चुका है ॥२॥

आभास—तर्हि साधनं न कर्तव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—तब तो फिर कोई साधन नहीं करना चाहिए—

श्लोक—धृतव्रताऽसि भद्रं ते दमेन नियमेन च ।
तपोद्रविणदानैश्च श्रद्धया चेश्वरं भज ॥३॥

श्लोकार्थ—हे प्रिये ! तुमने अनेक प्रकार के व्रतों का पालन किया है अतः तुम्हारा कल्याण होगा। अब तुम संयम, नियम, तप और दानादि करती हुई श्रद्धापूर्वक भगवान् का भजन करो ॥३॥

सुबोधिनी-धृतव्रतेति । साधनानि सिद्धे भगवति प्रवर्तन्ते। यदा भगवान् स्वयमेवागमिष्यामीति मन्यते, तदा साधनानि कृतानि भगवन्तं बोधयन्ति, प्राप्नुवन्ति, वशीकुर्वन्ति, उत्पादयन्ति। यथा लोके स्वभावतो भोक्तारमतिथिनिमन्त्रणादिना वशीकृत्य भोजयन्ति, न त्वभोक्तारमुपायशतैरपि। यतो भगवान् स्वयं समागन्ता, अतः साधनानि कर्तव्यानि। तत्र कानिचिद्देहशुद्ध्यर्थमादौ कर्तव्यानि तानि तव न कर्तव्यानीत्याह-**धृतव्रताऽसीति**। पातिव्रत्यव्रतं धृतमेव त्वया वर्तते। अतः परं त्वयि गते गमिष्यतीति चेत्तत्राऽऽह-**भद्रं त इति** । ते भद्रमस्तु। अस्मद्वाक्यादेव व्रताकरणेऽपि व्रतिन इव तव फलं भविष्यतीत्याशीः। सिद्धे व्रते भगवत्प्रसादार्थं पञ्च साधनानि कर्तव्यानीत्याह। **दम** इन्द्रियनिग्रहः कर्तव्यः। नियमो भगवदीयैरेव धर्मैर्व्यवहर्तव्यमिति। नियमाः स्नानादयो वा देहस्य; तदा चकारेण प्रथमा ग्राह्याः। **तपः** प्रसिद्धं कृच्छ्रादि रूपम्। **द्रविणानि** द्रव्याणि सुवर्णादीनि भगवदर्थं कर्तव्यानीत्येकं साधनम्। द्रविणदानं चाऽन्यत् दानमेव वा। अन्यथा अवान्तरबहुत्वे बहुवचनं व्यर्थं स्यात्, '**प्रयतात्मनः**' इति वाक्यात्। दमो नियतः। व्रतानां हरितोषजनकत्वादाविर्भावे तेऽपि प्रयोजकाः। '**यज्ञो दानं तपश्चैव**' इति। भगवदुक्तशास्त्रार्थकरणे भगवान् परितुष्यतीति तपःप्रभृतीनां ग्रहणम्। द्रविणपदेन च यज्ञा भगवन्मखरूपा उक्ताः। श्रद्धाऽत्र सर्वागम्। ननु सिद्धे किमित्येतावन्ति साधनानि ? तत्राऽऽह-**ईश्वरमिति** । स न येन केनापि वियम्यः, अतोऽसिद्धवदेव साधनानि कर्तव्यानीत्यर्थः ॥३॥

व्याख्यार्थ—जब भगवान् सिद्ध होते हैं तो उनमें साधनों का उपयोग होता है। जब भगवान्

होते हैं, भगवान् को वश में करते हैं और भगवान् का उत्पादन करते हैं। जैसे लोक में भी देखते है कि जो भोजन करना चाहता है ऐसे अतिथि को निमन्त्रण आदि से अपने वश में करके उसे भोजन कराते हैं किन्तु जो भोजन नहीं करना चाहता उसे तो सैकड़ों उपायों सेभी भोजन नहीं करा सकते। जबकि भगवान् स्वयं आयेंगे अत: साधन करने चाहिए। उन साधनों में कुछ साधन तो पहले देहशुद्धि के लिए करने के होते हैं उन साधनों को तो तुझे नहीं करना है क्योंकि तुम तो पहले से ही धृतव्रत हो तुमने पतिव्रत्यव्रत धारण कर ही रक्खा है वो व्रत (साधन) तेरे पास है ही जब आप वन में चले जायेंगे तब मेरा पतिव्रत्य भी चला जाएगा, इसका उत्तर कर्दमजी 'भद्रंते' से देते हैं तेरा कल्याण हो अर्थात् हमारे वाक्य से ही तेरे व्रत न करने पर भी व्रत करने वाले की तरह तुझे फल होगा ऐसा आशीर्वाद दिया। तेरा व्रत जब सिद्ध हो जाएगा तब भगवान् की कृपा से प्राप्ति के लिए तुझे पाँच साधन होंगे उन्हें कहते हैं (१) दम (इन्द्रिय निग्रह करना) (२) भगवत्संबन्धी धर्मों से ही व्यवहार करना नियम है, अथवा स्नान आदि देह के नियम है 'च' से पहले के नियम ग्रहण किये जाते है (३) तप कृच्छ्चान्द्रायण आदि प्रसिद्ध ही है (४) द्रविणदान, द्रविण से सुवर्ण आदि लिये जाते हैं उनको भगवान् के लिए काम में लेने चाहिए यह भी एक साधन है (५) सुवर्ण आदि का दान करना यह भी अन्य साधन है अथवा दान करना। यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि द्रविण पद का दान में अन्वय कर दिया जाय तो क्या दोष है ऐसी व्याख्या क्यों की गई है। इसका उत्तर देते हैं द्रविण पद को दान का विशेषण मानने पर मूल में जो बहुवचन दिया है उसे अवान्तर परत्व मानना पड़ेगा परन्तु फिर भी द्रविण और दान में ही मुख्यता होने से द्रविणदान इन दोनों से ही अवान्तर विशेषता का लाभ हो जायेगा इसमें कोई बाधक भी नहीं है तो फिर द्रविणदानयी: ऐसा द्विवचन प्राप्त होगा अर्थात् बहुवचन व्यर्थ हो जायगा। श्री भागवत्, गीता का ही विस्तृत रूप हैं अत: गीता के प्रयतात्मन: इस वाक्य से दम आदि पाँचों की आवश्यकता सिद्ध की गई है। दम तो नियत है। व्रत आदि भगवान् को प्रसन्न करने वाले होने से भगवान् के आविर्भाव में वे भी प्रयोजक हैं। 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' इस प्रकार भगवान् के गीता में वाक्य है अत: इसके अनुसार करने से भगवान् प्रसन्न होते हैं। इसीलिए तप: प्रभृति का ग्रहण है। यहाँ द्रविण पद से भगवन्मखरूप यज्ञ का कथन है श्रद्धा तो पांचों साधनों का अङ्ग है। जब व्रत सिद्ध हो जाता है तब इतने साधनों की क्या आवश्यकता रहती है। इसके लिए ईश्वरं पद दिया है जो ईश्वर है वह किसी के अधीन नहीं रहता है इसलिए सिद्ध की तरह सब साधन करने चाहिए ॥३॥

आभास—ततः किं भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—इससे क्या होगा इस आशंका पर कहते हैं—

श्लोक—**स त्वयाऽऽराधितः शुक्लो वितन्वन् मामकं यशः।**
छेत्ता ते हृदयग्रन्थिमौदर्यो ब्रह्मभावनः ॥४॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार आराधना करने पर श्री हरि तुम्हारे गर्भ से अवतीर्ण होकर मेरा यश बढ़ावेंगे और ब्रह्मज्ञान का उपदेश करके तुम्हारे हृदय की अहङ्कारमयी ग्रन्थी को काटेंगे ॥४॥

सुबोधिनी—स त्वयेति । मया आराधितोऽपि त्वया चेदेवमाराधितः । स हि **शुक्लः**, निर्दोषपूर्णगुणविग्रहो **मामकं यशो वितन्वन्** लोके कर्दमस्य पुत्रो जात इति कीर्ति विन्तन्वन् **ते हृदयग्रन्थि** भेत्स्यति । अदोषार्थे, आवश्यकार्थे, विश्वासार्थे चाऽऽह—**औदर्य इति** । उदरे भव औदर्यः । ननु तस्य मत्पुत्रस्य कथं मदज्ञानदूरीकरणसामर्थ्यम् ? तत्राऽऽह—**ब्रह्मभावन इति** । ब्रह्म भावयत्यनुभावयति स्वस्मिन् अन्यस्मिश्चेति । अतस्त्वय्यपि ब्रह्माऽऽविर्भाव्य **हृदयग्रन्थि छेत्ता** । एवमाश्वासनमुक्तवान् ॥४॥

व्याख्यार्थ—शुक्लनारायण की मैंने आराधना की है, तू भी उसी तरह उनकी आराधना करना । वे शुक्लनारायण निर्दोष पूर्णगुण विग्रह है वे लोक में कर्दम के पुत्र हुए हैं इस तरह मेरे यश को बढायेंगे और तेरे हृदय की ग्रन्थी का भेदन करेंगे । निर्दोषता, आवश्यकता और विश्वास के लिये उनको 'औदर्य' शब्द से कहा । वे तेरे उदर से प्रकट होंगे. देवहूति को यह आशंका हो कि वे मेरे पुत्र होकर मेरे अज्ञान को दूर करेंगे ऐसी सामर्थ्य उनमें कैसे होगी उसका उत्तर ब्रह्मभावनः से दिया है । वे अपने में भी ब्रह्म का अनुभव करेंगे और दूसरे को भी ब्रह्म का अनुभव करायेंगे । अतः वे तेरे में ब्रह्म का अविर्भाव करके तेरे हृदय की ग्रन्थी को काटेंगे । इस तरह का उसे आश्वासन दिया ॥४॥

आभास—भर्तृवाक्यात्तथैव कृतवतीत्याह—

आभासार्थ—पति ने जैसा कहा था वैसा ही उसने किया—

मैत्रेय उवाच । श्लोक—**देवहूत्यपि संदेशं गौरवेण प्रजापतेः ।**
सम्यक् श्रद्धाय पुरुषं कूटस्थमभजद्गुरुम् ॥५॥

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी कहते हैं हे विदुरजी ! प्रजापति कर्दम के आदेश में गौरव बुद्धि होने से देवहूति ने उस पर पूर्ण विश्वास किया और वह निर्विकार जगद्गुरु भगवान् श्री पुरुषोत्तम की आराधना करने लगी ॥५॥

सुबोधिनी—देवहूत्यपीति । मध्ये कर्दमोऽपि ध्यानारूढ इति ज्ञातव्यम् । **देवहूत्यपि प्रजापतेः-संदेशम**त्यादरेण **सम्यक् श्रद्धाय**, तद्वाक्ये विश्वासं कृत्वा, तमेव **पुरुषं** शुक्लनारायणरूपं **कूटस्थम**न्तर्यामिणमविकृतं वा, ज्ञानमार्गेऽपि भगवत्त्वेन **गुरुमभजत्** । उक्तेनैव प्रकारेणेति ज्ञातव्यम् ॥५॥

व्याख्यार्थ—बीच में कर्दमजी भी ध्यानारूढ हो गये ऐसा समझना । देवहूति ने भी प्रजापति के सन्देश को अत्यन्त आदर से तथा उसमें पूर्ण विश्वास रखकर उन्हीं शुक्लनारायण रूप कूटस्थ अन्तर्यामी की अथवा अविकृत ब्रह्म की जो ज्ञानमाग में भगवद्रूप से सेव्य है उन गुरु की उपासना की । जैसा प्रकार बताया था उसी प्रकार से भजन किया यह समझना चाहिए ॥५॥

आभास—तदा भगवानाविर्भूत इत्याह—

आभासार्थ— तब भगवान् का आविर्भाव हुआ उसे कहते हैं—

श्लोक—**तस्यां बहुतिथे काले भगवान् मधुसूदनः ।**
कार्दमं वीर्यमापन्नो जज्ञेऽग्निरिव दारुणि ।।६।।

श्लोकार्थ—इस तरह बहुत समय बीत जाने पर भगवान् मधुसूदन कर्दमजी के वीर्य का आश्रय ले उसके गर्भ से इस प्रकार प्रकट हुए जैसे काष्ठ में से अग्नि ।।६।।

सुबोधिनी–तस्यामिति : बहुकालं तया भजने क्रियमाणे **तस्यां भगवान् जज्ञे** आविर्भूतः तस्यां वा बहुकालं स्थित्वा भगवान् बहिराविर्भूत इत्याद्य एवार्थः । कोऽयमाविर्भूत इत्यंशव्यावृत्त्यर्थं **भगवान्मधुसूदन** इत्युक्तम् । यो हि योगनिद्रानिमीलिताक्षः स मधुसूदनः, स एवाऽयमिति । पुत्रप्रकारेण चाविर्भविष्यतीत्याह–**कार्दमं वीर्यमापन्न इति** । ते न हि गुरुणा भाव्यम्, अतो मर्यादारक्षार्थं प्रथमं कर्दमवीर्ये आविर्भूतः पश्चादाविर्भविष्यति । नचैवं सति प्राकृतत्वं शङ्कनीयमित्याह–**अग्निरिव दारुणीति** । काष्ठं गोमयपिण्डं वा प्राप्य आविर्भवन्, उच्चावचत्वं, वृद्धिक्षयौ च प्राप्नुवन्नाऽग्निः प्राकृतो भवति, जायते वा किन्त्वाविर्भाव एव । तत्रैव स्थितस्तत्रैवाऽऽविर्भवतीति ज्ञापयितुं दारुणीत्युक्तम् ।६।

व्याख्यार्थ—बहुत काल तक उसके भजन करने पर उसमें भगवान् का आविर्भाव हुआ अथवा उसमें बहुत काल तक रहकर भगवान् बाहर प्रकट हुए इस तरह का पूर्व जैसा ही अर्थ है । ये कौन प्रकट हुए, क्या ये अंशावतार थे ? नहीं, भगवान् मधुसूदनः जो योगनिद्रा से नैत्र बन्द करते हैं वे ही मधुसूदन ये हैं । 'कार्दमं वीर्यमापन्नः' का अर्थ है पुत्र प्रकार से प्रकट होंगे । वे शुक्लनारायण ही होंगे । अतः मर्यादा रक्षा के लिए पहले कर्दमजी के वीर्य में आविर्भूत हुए उसके पश्चात् प्रकट होंगे । तब तो भगवान् के आविर्भाव में भी प्राकृतता हो जायेगी ऐसी आशंका करके कहते हैं, 'जज्ञेऽग्निरिव दारुणि' लकड़ी अथवा गोमय पिण्ड में आविर्भूत होती हुई अग्नि उच्चनीच भाव को तथा वृद्धि, क्षय को प्राप्त होती हुई भी वह प्राकृत नहीं होती और न वह उत्पन्न होती है किन्तु उसका तो आविर्भाव होता है । अग्नि लकड़ी में अथवा कण्डे में रहती है और उसी में से आविर्भूत होती है इस बात को जताने के लिए दारुणि ऐसा कहा ।।६।।

आभास—भगवदवतारो जात इति ज्ञापनार्थं तदभिज्ञानान्याह–**अवादयन्नित्यादिभिः** । भगवतः समागमनमेकम्, देवानां वाद्यादिवादनानि च बहूनि; तान्याह–द्वयेन–

आभासार्थ—भगवान् का अवतार हुआ इसको जताने के लिये उसके लक्षणों को 'अवादयन्' इत्यादि श्लोकों से कहते हैं भगवान् का समागमन तो एक है और देवताओं के वाधवादन आदि तो बहुत हैं उन्हें दो श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**अवादयंस्तदा व्योम्नि वादित्राणि घनाघनाः ।**
गायन्ति तं स्म गन्धर्वा नृत्यन्त्यप्सरसो मुदा ।।७।।

श्लोकार्थ—उस समय आकाश में घने बादल गरज-गरज कर बाजे बजाने लगे गन्धर्वगण गान करने लगे और अप्सराएं आनन्दित होकर नाचने लगी ॥७॥

सुबोधिनी-व्योम्नि घनाघना निबिडमेघाः, **वादित्राणि** मेघरूपाण्येव, **अवादयन्**। **गन्धर्वाश्च गायन्ति स्म**। **अप्सरसश्च नृत्यन्ति स्म**। उत्सवे यथाऽन्यत्राऽन्यप्रेरिता न तथेत्याह-**मुदेति** ॥७॥

व्याख्यार्थ—घनाघनाः=घने बादल मेघरूप वादित्रों को (बाजों को) बजाने लगे। गन्धर्वों ने गान किया, अप्सराओं ने नृत्य किया। उत्सव में अन्यत्र जैसे किसी अन्य की प्रेरणा से वाद्य गान और नृत्य होता है उस तरह नहीं हुआ किन्तु इन सबने प्रसन्न होकर स्वयं ही वाद्य गान एवं नृत्य किया ॥७॥

आभास—पुष्पवृष्टिश्च जातेत्याह—

आभासार्थ—पुष्प वृष्टि भी हुई उसे कहते हैं—

श्लोक—**पेतुः सुमनसो दिव्याः खेचरैरपवर्जिताः।**
प्रसेदुश्च दिशः सर्वा अम्भांसि च मनांसिच ॥८॥

श्लोकार्थ—आकाश से देवताओं के बरसाये हुए दिव्य पुष्पों की वर्षा होने लगी, सब दिशाओं में आनन्द छा गया, जलाशयों का जल निर्मल हो गया और सभी जीवों के मन प्रसन्न हो गये ॥८॥

सुबोधिनी-पेतुरिति। अन्यकृतव्यावृत्त्यर्थम्-**दिव्या इति**। **खेचरैर्देवैः**, द्रष्टुकामैरागतैरपव-**र्जितास्त्यक्ताः**। वृष्टिकरणे प्रेम्णा विकला अपि ते इति सूचितम्। **दिशः प्रसेदुः**, **अम्भांसि** च, प्राणिनां **मनांसि च** त्रितयप्रसादोऽलौकिक आधिदैविकरूपः, वादित्रादीन्याधिभौतिकानि ।८।

व्याख्यार्थ—वे पुष्प अन्यकृत नहीं थे किन्तु दिव्य थे। भगवान् को देखने के लिए आये हुए देवताओं ने उनकी पुष्पों से वर्षा की थी। पुष्पों को वर्षा करने से ऐसा सूचित होता है कि वे प्रेम से विकल भी हो गए थे। दिशाएँ, जल और प्राणियों के मन ये सब स्वच्छ हो गए इन तीनों का स्वच्छ होना अलौकिक आधिदैविक रूप है, वादित्र (बाजे) आधिभौतिक हैं ॥८॥

आभास—ब्रह्मणः समागमनमाधिदैविकम्। तदाह–तत्कर्दमाश्रमपदामिति **त्रिभि**–

आभासार्थ—ब्रह्माजी का आगमन आधिदैविक है उसे तीन श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**तत्कर्दमाश्रमपदं सरस्वत्या परिश्रितम्।**
स्वयम्भूः साकमृषिभिर्मरीच्यादिभिरभ्ययात् ॥९॥

श्लोकार्थ—सरस्वती नदी से घिरे हुए कर्दमजी के उस आश्रम में मरीचि आदि मुनियों के सहित श्री ब्रह्माजी आये ॥९॥

सुबोधिनी–तद् बिन्दुसरोरूपं कर्दमस्याश्रमपदम् । **सरस्वत्या परिश्रितमिति** ब्रह्मणो निःशङ्कागमने हेतुः । तस्याऽलौकिकं ज्ञानमस्तीति ज्ञापयितुम्–**स्वयम्भूरित्युक्तम्** । **ऋषिभिः** सनकादिभिर्मरीच्यादिभिश्च सह **अभ्ययात्** ॥९॥

व्याख्यार्थ—बिन्दु सरोवर रूप कर्दमजी के उस आश्रम पर – वह आश्रम सरस्वती नदी से घिरा हुआ था अतः ब्रह्माजी को वहां आने में कोई शंका नहीं थी । ब्रह्माजी को अलौकिक ज्ञान था इसे 'स्वयम्भू' पद से जताया है । 'ऋषिभिः' से सनकादि और मरीचि आदि का ग्रहण है अर्थात् ब्रह्माजी सनकादिक और मरीचि आदि ऋषियों के सहित कर्दमजी के आश्रम पर आये ॥९॥

आभास—न केवलं कर्दमदर्शनार्थम्, किन्तु भगवावाविर्भूत इति ज्ञात्वेत्याह—

आभासार्थ—केवल कर्दमजी के दर्शन के लिए नहीं आये किन्तु भगवान् का आविर्भाव हुआ है ऐसा जानकर आये—

श्लोक—**भगवन्तं परं ब्रह्म सत्त्वेनांऽशेन शत्रुहन् ।**
तत्त्वसंख्यानविज्ञप्त्यै जातं विद्वानजः स्वराट् ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे शत्रु दमन विदुरजी ! स्वतः सिद्ध ज्ञान से सम्पन्न ब्रह्माजी को यह ज्ञात हो गया था कि साक्षात् अजन्मा परब्रह्म भगवान् विष्णु सांख्य शास्त्र का उपदेश करने के लिये अपने विशुद्ध सत्वमय अंश से अवतीर्ण हुए हैं ॥१०॥

सुबोधिनी–**भगवन्तमिति** । भगवान् स्वयं परब्रह्मभूत एव । सत्त्वेन स्वांशेन सत्त्वं गृहीत्वा, ज्ञानकलया, **तत्त्वानांसङ्ख्यानं** साङ्ख्यशास्त्रम्, तस्य वितप्त्यै ज्ञापनार्थ**मज** एव स्वयं **जात** इति **विद्वान्** । यतोऽयं **स्वराट्**, स्वस्मिन्नेव राजते ।१०

व्याख्यार्थ—स्वयं परब्रह्म भूत ही भगवान् । सत्व जो भगवान् का अंश है उससे सत्व को लेकर ज्ञान कला से तत्वों की जिसमें संख्या है ऐसा सांख्यशास्त्र है उसका उपदेश देने के लिए अजन्मा ही स्वयं अवतीर्ण हुए हैं ऐसा जानते हुए कि ये भगवान् स्वराट् है अपने में शोभित होते हैं ॥१०॥

आभास—आगत्य प्रथमं कर्दमं सभाजितवानित्याह—

आभासार्थ—आकर पहले उन्होंने कर्दमजी को सम्मानित किया—

श्लोक—**सभाजयन् विशुद्धेन चेतसा तच्चिकीर्षितम् ।**
प्रहृष्यमाणैरसुभिः कर्दमं चेदमभ्यधात् ॥११॥

श्लोकार्थ—भगवान् जिस कार्य को करना चाहते थे उसका उन्होंने विशुद्ध चित्त से अनुमोदन एवं आदर किया और अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों से प्रसन्नता प्रकट करते हुए कर्दमजी से इस प्रकार कहा ।।११।।

सुबोधिनी—सभाजयन्निति । यावत्तेन कृतम्, तत्सर्वं **विशुद्धेन चेतसा सभाजयन्**, साध्वेव कृतमित्यङ्गीकुर्वन्, **चिकीर्षितं** प्रव्रज्यादिकं च सभाजयन् । **प्रहृष्यमाणैरसुभिरिन्द्रियैः**, प्राणैरेव वोत्फुल्लैः, वक्ष्यमाणं कर्दमं प्रत्यभ्यधात् ।।११।

व्याख्यार्थ—जितना उन कर्दमजी ने किया उस सबको विशुद्ध चित्त से तुमने जो कुछ किया है वह ठीक ही किया है ऐसा अङ्गीकार करते हुए और प्रव्रज्या (संन्यास ग्रहण) का भी अनुमोदन करते हुए । इन्द्रियों से प्रसन्नता प्रकट करते हुए अथवा हर्ष से फूले हुए प्राणों से, आगे कही जाने वाली बात कर्दमजी से कही ।।११।।

आभास—तेन हि पूर्वं ऋणत्रयापाकरणं कृतम् । तत्र पितृ ऋणे ब्रह्मा पिता, तदभीष्टं कर्तव्यम्; तत् कृतमित्याह—

आभासार्थ—उन कर्दमजी ने पहले तीनों ऋणों से मुक्ति प्राप्त की, उसमें ब्रह्माजी पिता हैं अतः उनके मन की बात पूरी की उसे कहते हैं—

ब्रह्मोवाच । श्लोक—त्वया मेऽपचितिस्तात ! कल्पिता निर्व्यलीकतः ।
यन्मे संजगृहे वाक्यं भवान् मानद ! मानयन् ।।१२।।

श्लोकार्थ—श्री ब्रह्माजी ने कहा ! प्रिय कर्दम ! तुम दूसरों को मान देने वाले हो । तुमने मेरा सम्मान करते हुए जो मेरी आज्ञा का पालन किया है इससे तुम्हारे द्वारा निष्कपट भाव से मेरी पूजा सम्पन्न हुई है ।।१२।।

सुबोधिनी—त्वयेति । जाता मम बहवः पुत्राः, त्वयैव मे पर**मपचितिः** प्रत्युपकारलक्षणपूजा कृता । तत्रापि—**निर्व्यलीकतः** । भगवति प्रसन्ने, शास्त्रार्थे च ज्ञाते, उत्कटे च कामेऽसति, यो मद्वाक्यानुरोधेन विपरीत इवाऽपकर्षमपि सोढ्वा, महता कष्टेन आज्ञां कृतवान् । ततेवाऽऽह—**यन्मे संजगृहे वाक्यम्** । एतदेव सम्यग्ग्रहणम्, अन्तः करणपूर्वकं ग्रहणान्**मानयन्** । **मानदेति** संबोधनं वैपरीत्येऽपि ब्रह्मणा महानुपकारः कृत इति हृदये संमाननम् । वाक्यकरणम्, स्वस्मिन् रागाभावे सति करणम्, तस्मिन् दोषाननारोप्य करणम्, तदुपकारित्वेनाऽकरणम् सोपकारत्वेन करणं चेति । एवं पञ्चाऽङ्गीकरण सर्वोत्कृष्टम् ।।१२।।

व्याख्यार्थ—ब्रह्माजी ने कहा-मेरे पुत्र तो बहुत हुए परन्तु तेने ही मेरी प्रत्युपकार रूप परम पूजा की है और वह पूजा भी निर्व्यलीकतः निष्कपट भाव से की । भगवान् के प्रसन्न होने पर और शास्त्रार्थ का ज्ञान हो जाने पर तथा उत्कट (अधिक) काम के न होने पर जो मेरे वाक्य के अनु-

रोध से विपरीत की तरह अपकर्ष (अनौचित्य) को सहन करके बड़े कष्ट से तुमने मेरी आज्ञा का पालन किया। इसे 'यन्मे संजगृहे वाक्यम्' से बताया है संजगृहे का अर्थ है अच्छे प्रकार से ग्रहण करना यही तो अच्छे प्रकार से ग्रहण करना है कि अन्तःकरण पूर्वक सम्मान सहित मेरे वाक्य को तुमने माना। मानद यह सम्बोधन है, तुम्हारी इच्छा के विपरीत होते हुए भी ब्रह्माजो ने मेरे ऊपर महान् उपकार किया हैं इस तरह ब्रह्माजो के वाक्य को तुमने हृदय में संम्मान दिया है (१) वाक्य का करना (२) अपने में राग का अभाव होते हुए भी करना (३) उसमें दोषों का आरोप न करके करना (४) वे मेरे महान् उपकारी हैं ऐसा समझ कर करना (५) इसका करना मेरे लिए हितकर है इस तरह पांच प्रकार से अङ्गीकार करना ही सर्वोत्कृष्टता (सबसे उत्तमता) है॥१२॥

आभास—एतावदेव करणमित्याह—

आभासार्थ—इतना ही तो करण (करने योग्य) हैं—

श्लोक—**एतावत्येव शुश्रूषा कार्या पितरि पुत्रकैः।**
बाढमित्यनुमन्येत गौरवेण गुरोर्वचः॥१३॥

श्लोकार्थ—पुत्रों को अपने पिता की सबसे बड़ी सेवा यही करनी चाहिये कि 'जो आज्ञा' ऐसा कहकर आदर पूर्वक उनके आदेश को स्वीकार करें॥१३॥

सुबोधिनी—एतावतीति। पितरि पुत्रकैरेतावत्येव शुश्रूषा कर्तव्या। कायिकसेवायाः साऽनुरोधाल्लौकिकी। अतः पितृत्वेन गुरुत्वेन च यत् करणम्, तदलौकिकमेव कर्तव्यम्। तद्वाक्यमेव। मनस्तु तत्रैवैतस्येति निश्चीयते, पूर्वरूपत्वात्। **पुत्रकैरिति** बहुवचनं सर्वैः सम्भूय वा कर्तव्यं प्रत्येकाशक्ताविति ज्ञापितम्। **गुरोर्वचो बाढमित्यनुमन्येत। गौरवेणेति** स्वकृतार्थता। **बाढमिति** मत्सराभावः। **अनुमननं** तथैव करणम्। **गुरोरिति** तस्मिन् दोषाभावः, पश्चादेव वचनात् स्वस्मिन् रागाभावश्च। प्रजाः सम्यक् सृष्टा इति तात्पर्यम्॥१३॥

व्याख्यार्थ—पिता की सेवा पुत्रों को इतनी करनी चाहिए। कायिक सेवा का अनुरोध होने से तो वह सेवा लौकिक होती है। अतः पितृत्व से अथवा गुरुत्व से जो सेवा की जाती है वह तो अलौकिक ही करनी चाहिए, अर्थात् उनके वाक्य का पालन करना। इसका मन तो उसी में था ऐसा पूर्व रूप से निश्चित होता है 'पुत्र केः' इस वचन का तात्पर्य यह है कि एक एक यदि उसमें अशक्त हो तो सभी को मिलकर शुश्रूषा करनी चाहिए। गुरु के वचन को 'जो आज्ञा' ऐसा कहकर आदर पूर्वक स्वीकार करना, पिता में गौरव बुद्धि से अपनो कृतार्थता होती है। यहाँ 'बाढम्' का अर्थ मात्सर्य का अभाव तथा 'अनुमनन' का अर्थ यथावत् करना। गुरोः पद से गुरु में कोई दोष नहीं होता है ऐसा समझना। एतावत्ये यहाँ पीछे 'एव' को कहा है उससे उनमें कोई राग नहीं था, अर्थात् प्रजा का सृष्टि ठीक तरह से की, यह इसका तात्पर्य है॥१३॥

आभास—तस्य विनियोगमाह—

आभासार्थ—उसका विनियोग कहते हैं—

श्लोक—**इमा दुहितरः सभ्य ! तव वत्स सुमध्यमाः ।**
सर्गमेतं प्रभावैः स्वैर्बृंहयिष्यन्त्यनेकधा ॥१४॥

श्लोकार्थ—हे बेटा तुम सभ्य हो तुम्हारी ये सुन्दर कन्यायें अपने वंशों द्वारा इस सृष्टि को अनेक प्रकार से बढावेंगी ॥१४॥

सुबोधिनी—इमा दुहितर इति । सभ्येति तस्य स्वतो रागाभावो द्योतितः **वत्सेत्यादरे । सुमध्यमा** इति सौन्दर्येण गुणा उक्ताः । अत एव **स्वैरेव प्रभावैः**, स्वस्मिन् भर्तृग्रहणधर्मैः, **एतं सर्गमनेकधा बृंहयिष्यन्ति ।** अतः कन्याभिरेव जगत्पूर्यंत इति नातः परं किञ्चित्कर्तव्यम् ॥१४॥

व्याख्यार्थ—सभ्य ऐसा इसलिए कहा कि कर्दमजी में किसी प्रकार का राग नहीं था यह इससे विदित हुआ । वत्स (हे बेटा) यह आदर वाचक है । सुमध्यमा इस पद से सौन्दर्य के द्वारा उन कन्याओं के गुण कहे गये अतएव अपने ही प्रभाव से अर्थात् अपने में भर्ता के ग्रहण रूप धर्मों से इस सृष्टि को अनेक प्रकार से बढावेंगी ये कन्या ही जगत् को पूर्ण कर देंगी इससे अधिक तुम्हें कुछ नहीं करना है ॥१४॥

आभास—अतस्तदर्थमृषिभ्यः प्रयच्छेत्याह—

आभासार्थ—इसलिये सृष्टि की वृद्धि के लिए इन्हें ऋषियों को दे दो—

श्लोक—**अतस्त्वमृषिमुख्येभ्यो यथाशीलं यथारुचि ।**
आत्मजाः परिदेह्यद्य विस्तृणीहि यशो भुवि ॥१५॥

श्लोकार्थ—अब तुम इन मरीचि आदि मुनिवरों को इनके स्वभाव और रुचि के अनुसार अपनी कन्यायें आज ही समर्पण करो और पृथ्वी पर अपने यश को फैलाओ ॥१५॥

सुबोधिनी—अतस्त्वमिति । ऋषिमुख्येभ्यो मरीच्यादिभ्यः । **यथाशीलं यथारुचीति** भगवत्कृतसबन्धं स्वाभाविकं च संबन्धमनतिक्रम्य । **अद्येति** विशिष्टः कालः । यद्यपि भगवत्कृतत्वात्सहजत्वाच्च संबन्धस्य न त्वत्कृतिरपेक्ष्यते, तथापि स्वयं दानेन भुवि यशो विस्तारय ॥१५॥

व्याख्यार्थ—मरीचि आदि जो ऋषियों में मुख्य हैं इनके लिए इनके स्वभाव और रुचि के अनुसार कन्याएँ दे दो भगवत्कृत सम्बन्ध स्वाभाविक होता है 'अद्य' इसलिए कहा कि यह समय बहुत अच्छा है । यद्यपि यह सम्बन्ध भगवत्कृत है और सहज है अतः इसमें तुम्हें कुछ करने की आवश्यकता नहीं है तथापि तुम इन कन्याओं का स्वयं दान करागे तो पृथ्वी पर तुम्हारा यश फैलेगा ॥१५॥

आभास—एवमग्रिमाज्ञां दत्वा कपिलं भगवानयमिति ज्ञापयति—

आभासार्थ—इस तरह अग्रिम आज्ञा देकर कपिलजी को ये भगवान् ही हैं ऐसा जताते हैं—

श्लोक—**वेदाहमाद्यं पुरुषमवतीर्णं स्वमायया ।**
भूतानां शेवधिं देहं बिभ्राणं कपिलं मुनिम् ।।१६।।

श्लोकार्थ—मुने ! मैं जानता हूँ जो सम्पूर्ण प्राणियों के निधि हैं उनके अभीष्ट मनोरथ को पूर्ण करने वाले हैं वे आदि पुरुष नारायण ही अपनी योगमाया से कपिल के रूप में अवतीर्ण हुए हैं ।।१६।।

सुबोधिनी–**वेदाऽहमिति । अहं वेदेति** प्रमाणम् । आद्यः पुरुषो भगवान्, स्वमायया स्वेच्छापूरिकया, लोकानामन्यथात्वं ज्ञापयन्त्या, तादृश्या प्राणिनां निधिरूपं देहं बिभर्ति । **कपिल** इति लोके प्रसिद्धः । अनेन पुत्रगताः सर्वे गुणा उक्ताः । **मुनिमिति** तस्मिंस्तव न किञ्चित्कर्तव्यमिति सूचितम् ।।१६।।

व्याख्यार्थ—ब्रह्माजी ने जब कहा कि मैं जानता हूँ अतः अहं वेद यह प्रमाण है । आद्यपुरुष भगवान् अपनी माया से जो अपनी इच्छा को पूर्ण करने वाली है तथा लोगों को कुछ दिखाती है ऐसी माया के सहित प्राणियों के निधि (कोष, खजाना) रूप देह को धारण करते हैं । लोक में कपिल नाम से प्रसिद्ध हैं । इससे पुत्र के जो जो गुण हैं उन्हें कह दिया । कपिलजी को मुनि बताने से यह सूचित होता है कि उन कपिलजी के लिए तुमको कुछ नहीं करना है ।।१६।।

आभास—स्वस्वरूपमुक्त्वा कार्यमाह—

आभासार्थ—अपना स्वरूप कहकर अब कार्य को कहते हैं—

श्लोक—**ज्ञानविज्ञानयोगेन कर्मणामुद्धरन् जटाः ।**
हिरण्यकेशः पद्माक्षः पद्ममुद्रापदाम्बुजः ।।१७।।

श्लोकार्थ—जिन कपिलजी के सुनहरे बाल, कमल जैसे विशाल नैत्र और कमल के चिह्न से अङ्कित चरण कमल हैं और जो ज्ञान, विज्ञान, योग से कर्मों की वासनाओं का मूलोच्छेदन करने के लिये (प्रकट होंगे) ।।१७।।

सुबोधिनी–**ज्ञानेति** । स हि ज्ञानम्, विज्ञानम्, योगं च प्रकटयिष्यति । ज्ञानं साङ्ख्यम्, **विज्ञानं** ससाधनमनुभवः, **योगोऽष्टाङ्गः** । यानि कर्माण्याधिभौतिकानि तानि साङ्ख्येनोन्मूलितानि भवन्ति; यान्याध्यात्मिकानि तान्यनुभवेन; यान्याधिदैविकानि तानि योगेनेति त्रिभिः कृत्वा कर्मणां परस्परमिश्रणेन या जटाः, ता **उद्धरन्** ऊर्ध्वमुत्पाटयन् । भविष्यतीत्यर्थात् । त्रितय-

प्रवर्त्तकत्वाय लक्षणान्याह-**हिरण्यकेश इति** । सुवर्णवर्णाः केशाः साङ्ख्यसिद्धिहेतवः । पद्मसदृशे ईक्षणे यस्य । अनुभवलक्षणमेतत् । पद्ममुद्रा पदाम्बुजे यस्य । एतद्योगलक्षणम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ—वह कपिल ज्ञान, विज्ञान और योग को प्रकट करेंगे । ज्ञान से सांख्य, विज्ञान से साधन के सहित अनुभव योग से अष्टाङ्ग योग लिया जाता है । जितने भी आधिभौतिक कर्म हैं उनका सांख्य से मूलोच्छेदन किया जाता है और जो आध्यात्मिक कम हैं उनका मूलोच्छेदन अनुभव से होता है और जो आधिदैविक कर्म हैं उनका मूलोच्छेदन योग से होता है इस तरह इन तीनों से आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक कर्मों के आपस में मिल जाने से जो जटा (जड़ें) जम जाती है उन जड़ों को ये मूल से उखाड़ने के लिए अवतार लेंगे । ज्ञान, विज्ञान और योग के ये प्रवर्त्तक होंगे इसके लक्षण बताते हैं । सुवर्ण के समान वर्ण वाले बाल होंगे ये सांख्य की सिद्धि के हेतु हैं । कमल के समान दोनों नैत्र ये अनुभव का लक्षण है और कमल की मुद्रा (चिन्ह) दोनों चरणों में होगी यह योग का लक्षण है ॥१७॥

आभास—एवं कर्दममुक्त्वा देवहूतिमाश्वासयति—

आभासार्थ—इस तरह कर्दमजी से कहकर देवहूति को आश्वासन देते हैं—

श्लोक—**एष मानवि ! ते गर्भं प्रविष्टः कैटभार्दनः ।**
अविद्यासंशयग्रन्थि छित्त्वा गां विचरिष्यति ॥१८॥

श्लोकार्थ—फिर देवहूति से बोले हे राजकुमारी ! कैटभासुर को मारने वाले साक्षात् श्री हरि ने तेरे गर्भ में प्रवेश किया है । ये अविद्या जनित संशय की ग्रन्थो को काटकर पृथ्वो पर स्वच्छन्द विचरण करेंगे ॥१८॥

सुबोधिनी—एष मानवीति । मनोः पुत्रीति संबोधनात् स्ववंशे भगवदाविर्भावो न दोषाय । **कैटभार्दन** इति मूलपुरुष उक्तः । क्रियापरो मधुसूदनः ज्ञानपरः कैटभार्दन इति उभयोः प्रतिबन्धकयोर्नाशात् । अत एवाऽविद्याकृतं संशयग्रन्थिम्, सर्वशास्त्रार्थश्रवणेऽपि हृदये संशयापादकं मोहग्रन्थिम्, **छित्त्वा** स्वयमपि लोके तत्प्रचारं कुर्वन्, **गां विचरिष्यति** ॥१८॥

व्याख्यार्थ—हे मनु की पुत्री इस सम्बोधन से अपने वंश में भगवान् का आविर्भाव दोष जनक नहीं है । कैटभार्दन से मूलपुरुष ही कहा गया है । क्रिया परक भगवान् मधुसूदन कहलाता है और ज्ञानपरक भगवान् कैटभार्दन कहलाता है ये दोनों क्रिया एवं ज्ञान के प्रतिबन्धकों का नाश करने वाले हैं इसलिए अविद्याजनित ग्रन्थी को सब शास्त्रों के सुनने पर भी हृदय में जो मोह की गांठ पड़ जाती है उसे काट कर स्वयं भी लोक में उसका प्रचार करते हुए पृथ्वी पर विचरेंगे ।१८।

आभास—किञ्च । अयं च महान् भविष्यति परमार्थतः, लौकिकालौकिकप्रसिद्धिभ्यां च महान् भविष्यति । तत्र परमार्थोत्कर्षमाह—

आभासार्थ—और भी परमार्थत:(वास्तव में)ये महान् होंगे लौकिक और अलौकिक प्रसिद्धि से भी महान् होंगे । उसमें परमार्थ उत्कर्ष को कहते हैं—

श्लोक—**अयं सिद्धगणाधीशः साङ्ख्याचार्यैरभिष्टुतः ।**
लोके कपिल इत्याख्यां गन्ता ते कीर्तिवर्द्धनः ।।१९।।

श्लोकार्थ—ये सिद्धगणों के स्वामी और सांख्याचार्यों के भी माननीय होंगे । लोक में तेरी कीर्ति का विस्तार करेंगे और कपिल नाम से प्रसिद्ध होंगे ।।१९।।

सुबोधिनी–अयं सिद्धगणाधीश इति । सिद्धा योगादिना: तेषां नियामको य:, परमार्थत एव सिद्धो भवति । **साङ्ख्यचार्या** ये साङ्ख्यस्य प्रवर्तका:, **तैरभिष्टुत** इत्यलौकिकोत्कर्षः । **लोके** च **कपिल इत्याख्यां गमिष्यति** । एवंविधोऽपि **ते कीर्तिवर्द्धनो** भविष्यति, देवहूत्याः पुत्रः कपिल इति ।।१९ ।

व्याख्यार्थ—योग आदि से जो सिद्ध होते हैं उनका जो नियामक होता है वह वास्तव में सिद्ध होता है । जो सांख्य शास्त्र के प्रवर्तक हैं वे सांख्याचार्य कहे जाते हैं वे भी जिनकी स्तुति करेंगे यह उनका अलौकिक उत्कर्ष है । लोक में कपिल इस नाम से प्रसिद्ध होंगे और ऐसा होते हुए भी ये देवहूति का पुत्र कपिल है इस तरह तेरी कीर्ति को बढायेंगे ।।१९।।

आभास—एवमाश्वासनं कृत्वा, अग्रिमकार्यसिद्ध्यर्थं ततो गत इत्याह—

आभासार्थ—इस तरह देवहूति और कर्दमजी को आश्वासन देकर अग्रिम कार्य की सिद्धि के लिए वहाँ से गये—

मैत्रेय उवाच । श्लोक—**तावाश्वास्य जगत्स्रष्टा कुमारैः सहनारदः ।**
हंसो हंसेन यानेन त्रिधाम परमं ययो ।।२०।।

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी कहते हैं, हे विदुरजी ! जगत् की सृष्टि करने वाले ब्रह्माजी उन दोनों को इस प्रकार आश्वासन देकर नारदजी और सनकादि को साथ ले हंस पर चढ़कर ब्रह्मलोक को चले गये ।।२०।।

सुबोधिनी–तावाश्वास्येति । नन्वल्पे कार्ये कथं स्वयमागतो गतश्चेति ? तत्राऽऽह–**जगत्स्रष्टेति** । यस्मिन् कार्ये क्रियमाणे जगत्सृष्टेरभिवृद्धिर्भवति तदेव कर्तव्यमतो गमनम्, कार्यान्तरार्थं चाऽऽगमनमिति । **कुमारैः** सनकादिभि:सह, **सहनारदश्च** । एतेषां विवहे उपयोगाभावात् । **हंस** इति क्षीरनीरविवेककर्ता । अतोऽयं मरीच्यादीन्,अन्यांश्च स्थापयित्वा, गृहीत्वा गत:। हंस एव यानम्, तेन; प्रसङ्गादन्यत्र गमनाभावः । **त्रिधाम** त्रयाणां लोकानां धाम तेजोरूपम् । गुणानां वा साम्यस्थानम् । ब्रह्मणो बहूनि स्थानानि सन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थम्–**परममिति** सत्यलोकं ययौ ।।२०।

व्याख्यार्थ—शंका हो सकती है कि इस छोटे से काम के लिए ब्रह्माजी कैसे स्वयं आये और गये इस पर कहते हैं कि ब्रह्माजी जगत् की सृष्टि करने वाले हैं अतः जिस काम के करने पर जगत् की सृष्टि बढती वही तो उन्हें करना था इसलिए गये और अन्य कार्य के लिए आये। सनकादि कुमार और नारदजी इनके साथ ब्रह्माजी गये। क्योंकि विवाह में सनकादिकों का और नारदजी का कोई उपयोग नहीं था। हंस दूध और जल को अलग करने वाला है अतः ब्रह्माजी मरीचि आदि ऋषियों को वहीं छोड़कर और अन्यों को लेकर चले गये। ब्रह्माजी का यान (सवारी) हंस ही था इसलिए प्रसंग से अन्य जगह न गये किन्तु त्रिधाम जो तीनों लोकों का तेजो रूप है अथवा गुणों की समानता का स्थान है वहाँ गये। ब्रह्माजी के बहुत से स्थान हैं वहाँ नहीं गये किन्तु सत्य लोक को ही गये यह 'परं' पद से जाना जाता है ।।२०।।

श्लोक—**गते शतधृतौ क्षत्तः कर्दमस्तेन चोदितः ।**
यथोदितं स्वदुहितृः प्रादाद्विश्वसृजां ततः ।।२१।।

श्लोकार्थ—ब्रह्माजी के चले जाने पर कर्दमजी ने उनकी आज्ञानुसार मरीचि आदि प्रजापतियों के साथ अपनी कन्याओं का विधिपूर्वक विवाह कर दिया ।।२१।।

सुबोधिनी—**गत इति** । ततः **शतधृतौ** ब्रह्मणि गते ब्रह्मणा प्रेरितः, यथा ब्रह्मणा उदितम् तथा सादृश्यरुची विचार्य, विश्वसृजां मध्ये एकैकस्मै एकैकां प्रादात् । ब्रह्मणो गाम्भीर्यकथनाय शतधृतिप्रयोगः शत धृतयो यस्येति ।।२१।।

व्याख्यार्थ—ब्रह्माजी के चले जाने के बाद में ब्रह्माजी की प्रेरणा से जैसा ब्रह्माजी ने कहा था उसी के अनुसार सादृश्य रुचि का विचार करके प्रजापतियों में एक एक को एक एक कन्या दे दी। ब्रह्माजी के गाम्भीर्य को बताने के लिये यहाँ ब्रह्माजी को 'शतधृति' शब्द से कहा है। अर्थात् सौ प्रकार का है धैर्य जिसमें ।।२१।।

आभास—विवाहानाह—**मरीचय इति** सार्द्धाभ्याम्—

आभासार्थ—मरीचि आदि के विवाह को ढाई श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**मरीचये कलां प्रादादनसूयामथाऽत्रये ।**
श्रद्धामङ्गिरसेऽयच्छत्पुलस्त्याय हविर्भुवम् ।।२२।।
पुलहाय गतिं युक्तां क्रतवे च क्रियां सतीम् ।
ख्यातिं च भृगवेऽयच्छद्वसिष्ठायाऽप्यरुन्धतीम् ।।२३।।
अथर्वणेऽददाच्छान्ति यया यज्ञो वितन्यते ।
विप्रर्षभान् कृतोद्वाहान् सदारान् समलालयत् ।।२४।।

श्लोकार्थ—उन्होंने अपनी कलानाम की कन्या मरीचि को, अनसूया अत्रि को,

श्रद्धा अङ्गिरा को, हविर्भू पुलस्त्य को समर्पण की, पुलह को उनके अनुरूप गति नाम की कन्या दी. क्रतु के लिए साध्वी कन्या क्रिया को दी, भृगुजी को ख्याति और वसिष्ठजी को 'अरुन्धति' समर्पित की ।। अथर्वा के लिए शान्ति को दिया जिससे यज्ञ कर्म का विस्तार किया जाता है । कर्दमजी ने उन विवाहित ऋषियों का पत्नियों के सहित खूब सत्कार किया ।।२२-२३-२४।।

सुबोधिनी-हविर्भू रिति कन्या । **गतिरिति** नाम । **युक्तां** यथायोग्याम्, अन्यथा पुलहपुलस्त्यौ राक्षस प्रकृतिकौ । **क्रियेति** नाम । क्रतोर्दक्षिणाया एव तुल्यत्वेऽपि सत्यक्रियाया अपि तुल्यत्वमिति, **सतीं क्रियामित्युक्तम्।** **अथर्वा** वेदाभिमानी देवः, अथर्वाङ्गिरसां ब्रह्मप्रतिपादकत्वात्, तद्भार्या शान्तिः । सोऽपि ब्रह्मपुत्र एवेति ज्ञातव्यम् । नन्वस्य निवृत्तिपरत्वात् किं भार्यया कर्तव्यमित्याशङ्क्याऽऽह-**यया यज्ञो वितन्यत इति** । यथा ब्रह्मप्रतिपादकत्वम्,तथा यज्ञोपयोगित्वमपि । तथा सति **यया** शान्त्या यज्ञविस्तारः क्रियते सेयमित्यर्थः । तेभ्यः कन्या दत्वा भूषणादिभिरुपलालयदित्याह-**विप्रर्षभानिति** । ते ब्राह्मणाः स्वस्वमतानुसारेण विवाहं कृतवन्तः । अतः स्वतन्त्रविवाहे सामर्थ्यम्-**विप्रर्षभानिति** । स्वकन्या अपि तेषु स्त्रीभावमेव प्राप्ता इति सदारान् सस्त्रीकान् सम्यगलालयत् ।।२२-२३-२४।।

व्याख्यार्थ— 'हविर्भू' यह कन्या का नाम है और 'गति' भी कन्या का नाम है । 'युक्तां' का अर्थ है यथा योग्य क्योंकि पुलह और पुलस्त्य ये दोनों राक्षस प्रकृति के थे अतः इन्हें इन्हीं के स्वभाव के अनुसार कन्या दी । 'क्रिया' भी कन्या का नाम है क्रतु के तो 'दक्षिणा' नाम की पत्नी ही उसके तुल्य है तथापि सत्य क्रिया भी उसके तुल्य है अतः सती क्रिया उसे दी । 'अथर्वा' वेदाभिमानी देवता है. अथर्वा और अङ्गिरा ये दोनों ब्रह्म के प्रतिपादक हैं अतः अथर्वा की भार्या शान्ति हुई । अथर्वा भी ब्रह्माजी का ही पुत्र है ऐसा जानना । कदाचित् शंका हो कि अथर्वा तो निवृत्तिमार्ग में प्रवृत्त हैं वे स्त्री को क्या करेंगे उसके लिये यहाँ 'यया यज्ञो वितन्यत' जिस तरह ब्रह्म का प्रतिपादन कर्त्तव्य है उसी तरह यज्ञ में उपयोगी का ग्रहण भी आवश्यक है ऐसा होने से वे अथर्वा जिस शान्ति से यज्ञ का विस्तार करेंगे वह यह शान्ति है । उन मुनियों को कन्यादान करके भूषण आदि के दान से भी उन (मुनियों) को प्रसन्न किया 'विप्रर्षभान्' ऐसा इसलिए कहा कि ब्राह्मण थे अतः उन्होंने अपनी अपनो समझ के अनुसार ही विवाह किया और उन्हों का स्वतन्त्र विवाह करने में सामर्थ्य थी । उन कन्याओं का भी उन मुनियों में स्त्री भाव ही था इसलिए 'सदारान् सम्यगलालयत्' उन मुनियों का उनकी स्त्रियों के साथ सत्कार किया ।।।२२-२३-२४।।

श्लोक—ततस्त ऋषयः क्षत्तः ! कृतदारा निमन्त्र्य तम् ।
प्रातिष्ठन्नन्दिमापन्नाः स्वं स्वमाश्रममण्डलम् ।।२५।।

श्लोकार्थ—हे विदुरजी ! इस प्रकार विवाह हो जाने पर वे सब ऋषि कर्दमजी की आज्ञा ले अत्यन्त प्रसन्न होते हुए अपने अपने आश्रम को चले गये ।।२५।।

सुबोधिनी–तत इति । ततस्ते सर्व एव मन्त्रद्रष्टारः, अलौकिकं ज्ञात्वा, तासु सृष्टिं चिकीर्षवः **कृतदारास्तासु** कन्यासु कृतं दारत्वं यैरिति । धर्मधर्मिणोरभेदात् कृतदारा इत्युक्तम् । तं श्वशुरम्, **निमन्त्र्य** गच्छामीत्युक्त्वा, **नन्दि** परमां मुदमापन्नाः तत एव प्रत्येकं विभक्ताः, **स्वं स्वमाश्रममण्डलं** प्रति **प्रातिष्ठन्** ।।२५।।

व्याख्यार्थ—विवाह के अनन्तर वे सब मन्त्र द्रष्टा ऋषि अलौकिक को जानकर उन कन्याओं में सृष्टि करने की इच्छा से उन्हें अपनी पत्नी बनाया धर्म और धर्मी में अभेद होने से कृत दारा ऐसा कहा❀ अर्थात् दारा तो है धर्मी उनमें रहने वाला दारत्व धर्म है अतः दारत्व और दारा में कोई भेद नहीं है । (इसके अनन्तर) उनने श्वशुर को 'हम जाते है' ऐसा कह कहकर अत्यन्त प्रसन्न होकर और सबने अलग अलग अपने अपने आश्रम मण्डल की ओर प्रस्थान किया ।।२५।।

आभास—एवमैहिकं सर्वं समाप्य तस्य मुक्तिमाह यावदध्यायपरिसमाप्ति–**स चावतीर्णमित्यादिना—**

आभासार्थ—उक्त वर्णन में मुनि के ऐहिक (लौकिक) कर्म को समाप्त करके अब अध्याय की समाप्ति तक उन (कर्दमजी) की मुक्ति को कहते हैं—

कारिका—**आज्ञां भगवतो लब्ध्वा तस्यैवाज्ञानुसारतः ।**
यदा सर्वं परित्यज्य विचरेत्स हि मुच्यते ।।१।।

कारिकार्थ—भगवान् की आज्ञा पाकर उसी आज्ञा के अनुसार सबका परित्याग करके जब विचरण करता है तब मुक्त होता है ।।१।।

आभास—भगवन्तं ज्ञात्वा, स्तुत्वा, पश्चात्प्रार्थनीयमिति नियमादादौ ज्ञानमिति वक्तुं तस्य पुत्रे प्रतिपत्तिमाह—

आभासार्थ—पहले भगवान् को जानकर उनकी स्तुति करके, पीछे प्रार्थना करनी चाहिये ऐसा नियम होने से आरम्भ में उन्हें ज्ञान हुआ इसे कहने के लिए उनकी पुत्र प्रतिपत्ति (सम्मान) कहते हैं—

श्लोक—**स चाऽवतीर्णं त्रियुगमाज्ञाय विबुधर्षभम् ।**
विविक्त उपसङ्गम्य प्रणम्य समभाषत ।।२६।।

श्लोकार्थ—कर्दमजी ने देखा कि उनके यहाँ साक्षात् देवाधिदेव श्री हरि ने ही

❀ कर्दमजी की उन कन्याओं में उन मन्त्रद्रष्टा मरीचि आदि ऋषियों ने दारत्व किया दारा तो वे थीं हो फिर उनको दारा कैसे किया उसका आशय यह है कि दारा तो थी परन्तु उनमें दारत्व (धर्म) उनने किया तो फिर धर्म दारत्व और धर्मी दारा इसमें भेद होगा इसके समाधान के लिये धर्म और धर्मी में कोई भेद नहीं होता अतः कृतदारा ऐसा कहा—

अवतार लिया है तो वे एकान्त में उनके पास जाकर पैरों को छूकर प्रणाम करके इस प्रकार स्तुति करने लगे ।।२६।।

सुबोधिनी—स चाऽवतीर्णमिति । त्रियुगो धर्मो यज्ञात्मको भगवान् । यथा सृष्टौ क्रियात्मा वराहः, तथा ज्ञानात्मकः कपिल इति; अन्यथा सृष्टिरनन्ता स्यात्ः भगवल्लीलात्वात् । **वबुधर्षभं** देवोत्तमं विष्णुम् । सैव हि परमा देवतेति वैदिके मार्गे देवतैव सर्वोत्तमा । ब्रह्माऽपि देवतैव, तथा आत्मा । अतो विबुधश्रेष्टत्वमुक्तम् । प्रतिवासिषु ऋषिषु परिज्ञानाभावार्थं भार्यायाश्च दुःखाभावार्थम्, **विविक्ते** एकान्ते **उपसङ्गम्य** निकटे गत्वा, पादौ स्पृष्ट्वा, **प्रणम्य** भगवानिति निश्चित्य, सम्यक स्तोत्ररूप वाक्यम**भाषत** ।२६।

व्याख्यार्थ—त्रियुग का अर्थ है धर्म यज्ञात्मक भगवान् जैसे सृष्टि के आरम्भ में क्रियात्मा वाराह का अवतार हुआ था उसी तरह ज्ञानात्मक कपिल का अवतार है ऐसा न होता तो भगवत्-लीला होने से सृष्टि का अन्त न होता । 'विबुधर्षभ' से देवोत्तम विष्णु लिये जाते हैं क्योंकि विष्णु ही परम देवता है वैदिक मार्ग में देवता ही सर्वोत्तम है । ब्रह्मा भी देवता ही हैं और आत्मा भी देवता है । अतः देवताओं में उनकी श्रेष्ठता कही गई है । पड़ौसी (पास के रहने वाले) ऋषियों को खबर न पड़े और भार्या को भी दुःख न हो इसलिये एकान्त में पास में जाकर पैरों को छूकर प्रमाण करके ये भगवान् है ऐसा निश्चय करके स्तोत्र रूप वाक्य बोले ।।२६।।

श्लोक—**अहो ! पापच्यमानानां निरये स्वैरमङ्गलैः ।**
कालेय भूयसा नूनं प्रसीदन्तीह देवताः ।।२७।।

श्लोकार्थ—अहो ! अपने पाप कर्मों के कारण इस दुःखमय संसार में नाना प्रकार से पीड़ित होते हुए पुरुषों पर देवगण भी बहुत काल बीतने पर प्रसन्न होते हैं ।।२७।।

सुबोधिनी—अहो इति । स्वगृहे भगवदवतारो न स्वधर्मसाध्यः, तादृशधर्माभावात् । किन्तु सर्वदेवानां प्रसादसाध्यः, यतस्ते भगवदवयवाः । प्रसादेऽपि नोऽस्माकं धर्मोऽस्ति, किन्तु बहुकालदुःखानुभावे दीनत्वे सति दयया प्रसादः । शास्त्रे तु देवतानां न दयया प्रसादः, किन्तु कर्मणवेति विपरीतदर्शनादहो इत्याश्चर्यम् । **स्वैरमङ्गलैः** पापैरनन्यभोग्यैः, अत्यन्तं पच्यमानानां महता **कालेन देवताः प्रसीदन्ति नूनम्** सात्त्विकस्वभावत्वात् । अस्य च निस्तारोपायाज्ञानात् प्रसाद आवश्यकः ।।२७।।

व्याख्यार्थ—अपने घर में भगवान् का होना अपने धर्म से साध्य नहीं हैं, क्योंकि वैसा धर्म तो है नहीं जिससे भगवान् का अवतार हो किन्तु भगवदवतार सब देवताओं की कृपा हो तो साध्य होता है क्योंकि देवता भगवान् के अवयव (अङ्ग) हैं । देवता प्रसन्न हों ऐसा भी हमारा धर्म नहीं किन्तु बहुत काल तक दुःख के अनुभव के कारण दीनता होती है और दीनता को देखकर दया आने के कारण वे कृपा करते हैं । शास्त्र में तो देवताओं की दया से प्रसाद (कृपा) नहीं होता

किन्तु कर्म से देवताओं का प्रसाद होता है ऐसी विपरीत बात देखी जाती है अत: अहो ! से आश्चर्य को प्रकट किया है । स्वैरमङ्गलैः का अर्थ है अपने पाप जो अपने को ही भोगने पड़ते हैं अन्य को नहीं भोगने पड़ते हैं । उन पापों से जब अत्यन्त पीड़ित होते हैं तब कहीं बहुत काल में देवता प्रसन्न होते हैं यह निश्चित् है । सात्विक स्वभाव होने से इसे निस्तार के उपाय की समझ नहीं है अत. इसके ऊपर दया आवश्यक है ।।२७।।

आभास—ननु किमेतद्दुर्लभम् ? यत्तः प्रसादफलत्वेन वर्ण्यते । तत्राऽह—

आभासार्थ—यह इतना दुर्लभ क्यों है, जिसको देवताओं के प्रसाद का फल बताया है—

श्लोक—**बहुजन्मविपक्वेन सम्यग्योगसमाधिना ।**
द्रष्टुं यतन्ते यतयः शून्यागारेषु यत्पदम् ।।२८।।

श्लोकार्थ—किन्तु जिनके स्वरूप को योगिजन अनेकों जन्मों के साधन से सिद्ध हुई सुदृढ समाधि के द्वारा एकान्त में देखने का प्रयत्न करते हैं ।।२८।।

सुबोधिनी–बहुजन्मेति । बहुभिरेव जन्मभिः साधितो योगः पक्वश्चेद्भवति, तदा चित्तं निर्मलं भवति । तदा भगवतिदिदृक्षा जायते, न तु दर्शनम् । एवं दुर्लभदर्शनश्चेद्गृहे अवतरति, तदा किं भाग्यं वर्णनीयम् । योगेन यः समाधिः, नतु चिन्तनादिना । **शून्यागारेष्विति** प्रव्रज्या, तद्धर्मनिरतत्वम्, निर्भयं चोक्तम् । **यत्पद** हृदये स्फुरितम् ।।२८।।

व्याख्यार्थ—अनेक जन्मों में सिद्ध किया हुआ योग परिपक्व हो जाता है तब चित्त निर्मल होता हैं और चित्त के निर्मल होने पर भगवान् को देखने की इच्छा उत्पन्न होती है किन्तु भगवान् के दर्शन नहीं होते । ऐसे दुर्लभ दर्शन वाले भगवान् यदि घर में अवतार लेते हैं तब उस भाग्य का क्या वर्णन किया जाय । योग से जो समाधि है उसका यहाँ ग्रहण है चिन्ता आदि से होने वाली समाधि का यहां ग्रहण नहीं है । शून्यागारेषु का अर्थ है प्रव्रज्या (संन्यास) एवं संन्यास के धर्म में निरत होना । इससे उसको निर्भयता बताई है भगवत्स्वरूप जो हृदय में स्फुरित होता है उसे 'यत्पदम्' से बताया है ।।२८।।

आभास—तर्हि नाऽयं स भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—तो फिर भगवान् नहीं होंगे इस आशंका का समाधान करते हैं—

श्लोक—**स एव भगवानद्य हेलनं वगणय्य नः ।**
गृहेषु जातो ग्राम्याणां यः स्वानां पक्षपोषणः ।।२९।।

श्लोकार्थ—अपने भक्तों की रक्षा करने वाले वे ही भगवान् हम विषय लोलुपों के द्वारा होने वाली अपनी अवज्ञा का भी विचार न करके आज हमारे घर में अवतीर्ण हुए हैं ।।२९।।

सुबोधिनी—स एवेति । स एवाऽयं भगवान् । ब्रह्मवाक्यात्, स्वानुभवात्, भगवद्वाक्याच्चाऽवसीयते । ननु पुरुषोत्तमः कथमपमाननं सोढ्वा ग्राम्येष्ववतरिष्यति ? न हि बाधितमर्थं वेदोऽपि बोधयति । स हि सर्वतो मानपात्रम्, अत आह-**अद्य नो हेलनमवगण्य** । इतः पूर्वमेव मर्यादा स्थिता, अद्यैवैवं जातम् । अत एव ग्राम्याणां गृहेषुजातः । कस्यचित्पुत्रः, कस्यचिद्भ्राता, श्यालको, मातुल इति बहुधा सम्जन्धोत्पत्तेर्**गृहेष्विति** बहुवचनम् । अद्य तथा करणे हेतुः-**यः स्वानां पक्षपोषण इति ।** पूर्वं भगवान् सर्वत्र समः, इदानीं भक्तिमार्गमुत्पाद्य विषमो जात इति **स्वानां** भक्तानां **पक्षस्य पोषणं यस्मात्** ।२६

व्याख्यार्थ—ब्रह्माजी के वचन से, अपने अनुभव से और भगवान् के वचन से निश्चय होता है कि ये वे ही भगवान् हैं । शंका होवे कि जो **पुरुषोत्तम हैं वे** अपने अपमान को सहन करके ग्रामीण लोगों में कैसे अवतार लेंगे । बाधित अर्थ को वेद ने भी नहीं बताया है । वह (भगवान्) तो सन्मान का पात्र है अतः ग्रामीणों में उनका अवतार कैसे हुआ इस आशंका का उत्तर 'अध नो हेलनयगण्य' से दिया है आज के पहले तो बराबर मर्यादा थी किन्तु आज ही उस मर्यादा का भग हुआ है अतएव आप ग्रामीणों के घर में जन्मे है । 'गृहेषु' घरों में कहने का तात्पर्य यह है कि किसी के आप पुत्र हैं, किसी के भाई हैं किसी के साले हैं और किसी के मामा हैं इसीलिये यहां बहुवचन दिया है । आज आपने ऐसा क्यों किया उसका उत्तर 'यः स्वानां पक्षपोषणः' से दिया है । पहले तो भगवान् सर्वत्र समभाव वाले थे । इस समय तो भक्ति मार्ग को उत्पन्न करके विषम हो गये हैं । भक्त के पक्ष का पोषण जिस (भगवान्) से होता है ।।२६।।

आभास—किञ्च, यथा वेदाः प्रमाणं तथैव भगवद्वाक्यमिति '**अथाहं स्वांशकलया**' इति वाक्यादवतीर्ण इत्याह—

आभासार्थ—और भी जिस तरह वेद प्रमाण हैं उसी तरह भगवान् के वचन भी प्रमाण हैं क्योंकि भगवान् ने कहा था मैं अपनी कला और अंशों के साथ तुम्हारे यहां अवतार लूंगा 'अथाहं-स्वाशकलया, इस पर कहते हैं—

श्लोक—**स्वीयं वाक्यमृतं कर्तुमवतीर्णोऽसि मे गृहे ।**
चिकिर्षुर्भगवान् ज्ञानं भक्तानां मानवर्धनः ।।३०।।

श्लोकार्थ—आप अपने भक्तों का मान बढाने वाले हैं । आपने अपने वचनों को सत्य करने के लिये और सांख्ययोग का उपदेश देने के लिये ही मेरे घर में अवतार लिया है ।।३०।।

सुबोधिनी-स्वीयं वाक्यमिति । अवतीर्णस्तु लोके ज्ञानप्रचारणार्थम्, भक्तानां मानं च वर्द्धयितुं काष्ठवृक्षादिकं परित्यज्य मे गृहऽवतीर्णोसि, न तु स्वभाग्येन वा, कारणान्तरेण वेति ।३०।

व्याख्यार्थ—आपने अवतार तो लोक में ज्ञान प्रचार के लिये लिया है तथा भक्तों का मान

बढ़ाने के लिये काष्ठ, वृक्ष आदि को छोड़कर मेरे घर में अवतार लिया है मेरे भाग्य से या अन्य किसी कारण से अवतार नहीं लिया है ॥३०॥

आभास—ननु तथापि हीनभावः कथं भगवत उपपद्यते ? तत्रोपपत्तिमाह—

आभासार्थ—शंका होती है कि तथापि भगवान् की हीनभावना कैसे युक्तिसंगत होती है उसमें युक्ति देते हैं—

श्लोक—**तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव ।**
यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः ॥३१॥

श्लोकार्थ—भगवन् ! आप प्राकृत रूप से रहित हैं आपके जो चतुर्भुज आदि अलौकिक रूप हैं वे ही आपके योग्य हैं तथा जो मनुष्य सदृश रूप आपके भक्तों को प्रिय लगते हैं वे भी आपको रुचिकर प्रतीत होते हैं ॥३१॥

सुबोधिनी—तान्येवेति । पुरुषोत्तमस्य हीनभावो नोचितः । न चाऽयं हीनभावः, उभयविधानि भगवतो रूपाण्युचितानि ! यानि सर्ववेदप्रसिद्धान्यानन्दमयानि, यानि च भक्तानां रोचन्ते । एतावताऽपि भगवानरूप एव । तान्येवाऽऽनन्दमयानि रूपाणि **हे भगवंस्तेऽ**भिरूपाणि, योग्यानि, यानि च भक्तानां रोचन्ते । नराकृतीनि तानि च भगवतोऽभिरूपाणि । यथा पूर्वं यानि रूपाणि कृतवांस्तानि भगवतो वेद आह । यानि पश्चात् भक्तानुरोधेन कृतवांस्तान्यप्यनुरूपाण्येव, सामग्र्याम्तुल्यत्वात् । अवचनं त्विदानीन्तनत्वात् । एतावत्त्वं निषेधश्च नाऽस्त्येव । अन्यथाभानं तु बुद्धिदोषादन्येषाम्, भक्तानां तु तदानन्दरूपमेव, अन्यथा रुचिर्न स्यात् ॥३१॥

व्याख्यार्थ—पुरुषोत्तम का हीनभाव उचित नहीं है किन्तु यह हीन भाव नहीं है । भगवान् के दोनों ही प्रकार के रूप उचित हैं (१) वे जो सर्ववेद प्रसिद्ध आनन्दमय हैं और (२) वे जो भक्तों को रुचिकर होते हैं इतना होने पर भी भगवान् अरूप है । हे भगवान् ! वे आनन्दमयरूप ही आपके योग्य हैं अर्थात् मनुष्याकार जो रूप हैं वे भी भगवान् के अनुरूप (योग्य) हैं जिस तरह के पहले के जितने रूप भगवान् ने किये थे उन सबको वेद कहता है और भक्तों के अनुरोध से जो बाद में भगवान् ने रूप (धारण) किये थे वे भी भगवान् के अनुरूप ही हैं क्योंकि सामग्री दोनों ही में बराबर है । अब यह जो आपका रूप 'इदानीन्तन' (इस समय का) है उसका कथन नहीं है । परन्तु इतना अवश्य है कि उसका निषेध नहीं है अन्यथा मान तो अन्य लोगों को होता है इसमें उनकी बुद्धि का दोष है । भक्तों के लिए तो भगवान् आनन्दरूप ही हैं यदि आनन्दरूप न होते तो उन भगवान् में रुचि कैसे होती ॥३१॥

आभास—एवं भगवदवतारं समर्थयित्वा तं नमस्यति—

आभासार्थ—इस तरह कपिलजी भगवान् के अवतार हैं इसका समर्थन करके उनको नमस्कार करते हैं—

श्लोक—**तं सूरिभिस्तत्त्वबुभुत्सयाऽद्धा सदाभिवादार्हणपादपीठम् ।**
ऐश्वर्यवैराग्ययशोऽवबोधवीर्यश्रियां पूर्तमहं प्रपद्ये ।।३२।।

श्लोकार्थ—आपका पादपीठ तत्व ज्ञान की इच्छा से विद्वानों द्वारा सर्वदा वन्दनीय है तथा आप ऐश्वर्य, वैराग्य, यश, ज्ञान, वीर्य और श्री इन छहों ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं, मैं आपकी शरण में हूँ ।।३२।।

सुबोधिनी–तमिति । तमहं प्रपद्ये फलद्वयसाधकम् । तत्र मोक्षसाधकत्वमाह–**सूरिभिस्तत्त्वबुभुत्सया** तत्त्व ज्ञानेच्छया तत्त्वज्ञानार्थं सदा अभिवादनयोग्य पादपीठं यस्य । ज्ञानेन मोक्षः, तद्गुरुणा, सोऽपि सेवितो ज्ञानं प्रयच्छति । अतोऽभिवादार्हणमभिवादयोग्यं भवत्येव चरणपीठम् । ऐहिकं च तस्मादेव सिद्धचतीत्याह–**ऐश्वर्येति** । ऐश्वर्यादयः षड्गुणाः, तेषां पूर्तम्; तैः पूर्णमित्यर्थः । विद्यमानमेव हि कश्चित्प्रयच्छति नत्वत्यन्तं दाताऽप्यविद्यमानम् । अतो भगवानैहिकार्थमपि सेव्यः ।।३२।।

व्याख्यार्थ—ऐहिक (लौकिक) और पारलौकिक दोनों फलों के साधक आप हैं अतः मैं आपकी शरण में हूँ । दोनों फलों में मोक्ष रूप जो फल है उसके आप साधक हैं उसे कहते हैं 'सूरिभिस्तत्वबुभुत्सया' तत्वज्ञान की इच्छा से सदा अभिवादन करने योग्य हैं पादपीठ जिसका । ज्ञान से मोक्ष होता है वह ज्ञान होता है गुरु से वह गुरु भी सेवा करने पर ज्ञान देता है इसलिये आपका चरणपीठ अभिवादन के योग्य होता ही है । ऐहिक फल भी उसी से सिद्ध होता है उसे ऐश्वर्य वैराग्य आदि से बताया है ऐश्वर्य आदि छ गुण हैं उनसे आप पूर्ण हैं इसलिए मांगने वाले को आप इनका दान करते हैं क्योंकि कोई भो अपने पास विद्यमान का हो दान कर सकता है (दे सकता है) चाहे कैसा ही महान् दाता क्यों न हो अविद्यमान का दान नहीं कर सकता इसलिए ऐहिक (लौकिक) कार्य के लिए भी भगवान् की ही सेवा करनी चाहिये ।।३२।।

आभास—भगवतः फलरूपत्वं फलसाधकत्वं चोपपाद्य सर्वरूपत्वमुपपादयति ब्रह्मत्वाय—

आभासार्थ—भगवान् फलरूप भी है और फल साधक भी है इसका प्रतिपादन करके ब्रह्मत्व प्रतिपादन करने के लिये भगवान् की सर्वरूपता का प्रतिपादन करते हैं—

श्लोक—**परं प्रधानं पुरुषं महान्तं कालं कविं त्रिवृतं लोकपालम् ।**
आत्मानुभूत्याऽनुगतप्रपञ्चं स्वच्छन्दशक्तिं कपिलं प्रपद्ये ।।३३।।

श्लोकार्थ—हे भगवान् ! आप परब्रह्म हैं, सब शक्तियाँ आपके अधीन हैं, प्रकृति, पुरुष, महत्तत्व, काल, त्रिविध अहङ्कार समस्त लोक एवं लोकपालों के रूप में आप ही प्रकट हैं तथा आप सर्वज्ञ परमात्मा ही इस सारे प्रपञ्च को चेतना शक्ति के द्वारा

अपने में लीन करते हैं अतः इन सबसे परे भी आप ही हैं। मैं आपकी (कपिल की) शरण ग्रहण करता हूँ ।।३३।।

सुबोधिनी—परमिति । सर्वरूपं कपिलं प्रपद्ये । तानि रूपाणि गणयति **परमक्षरम्; प्रधानं** प्रकृतिः; **पुरुषस्तदधिष्ठाता; महान्** मुख्यः पुत्रः; **कालो** गुणक्षोभकः; **कविर्महतोऽभिमानी**, मूलब्रह्मा, सूत्रात्मको वा; **त्रिवृदहङ्कारः; लोकपालाः** सर्व एव देवाः । एवं कारणरूपत्वमुक्त्वा कार्यरूपत्वमाह-**आत्मानुभूत्येति** । अनुगतः स्वस्मिन् लीनः, स्थितः, उत्पन्नो वा प्रपञ्चो यस्य। ज्ञानत्वयाऽप्युत्पत्तिपक्ष उत्पत्तिः, अन्यथा तु प्रलयः । ततश्च प्रपञ्चरूपो निष्प्रपञ्चरूपश्च कपिल उक्तो भवति । तथात्वे सामर्थ्यम्—**स्वच्छन्दशक्तिमिति** । स्वेच्छावशवर्तिनी यस्य शक्तिः ।।३३।।

व्याख्यार्थ—सर्वरूप कपिल के शरण में मैं जाता हूँ । उन सब रूपों को गिनाते हैं। पर अक्षर, प्रधान (प्रकृति), पुरुषः उस प्रकृति का अधिष्ठाता, महान् (मुख्यपुत्र), कालः (गुणों में क्षोभ उत्पन्न करने वाला), कविः (महत्तत्व का अभिमानी मूलब्रह्मा) अथवा सूत्रात्मक ब्रह्मा, त्रिवृतम् अहङ्कार, लोक पालाः (सभी देवता) । इस तरह भगवान् (कपिल) की कारणरूपता को कहकर आत्मानुभूत्या आदि से कार्यरूपता को कहते हैं अनुगतः का अर्थ है अपने में लीन, स्थित अथवा अपने मे उत्पन्न प्रपञ्च (जगत्) जिसका (कार्य है) श्रुति का ऐसा पक्ष है कि 'जिसका ज्ञानमयतप है' 'उसने तप किया' 'उसने तप करके' इस सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि की, इन श्रुति वाक्यों से ऐसा निश्चय होता है कि यहाँ उत्पत्ति पक्ष लिया गया है उस पक्ष में अनुगत पद का अर्थ उत्पत्ति होता है । इस श्रुति के पक्ष को लेकर ही यहाँ अनुगत का अर्थ उत्पत्ति किया है (परन्तु) सांख्य के पक्ष से तो अनुगत पद का अर्थ प्रलय ही लेना होगा । इसी को 'ज्ञानत्वयाऽप्युत्पत्तिपक्ष उत्पत्तिः, अन्यथा तु प्रलयः' इससे कहा है । कपिलजी प्रपञ्चरूप भी हैं और प्रपञ्च रूप से रहित भी हैं ऐसा ऊपर के कथन से ज्ञात होता है ये दोनों कसे हो सकते हैं ऐसी आशंका करके उसका उत्तर 'स्वच्छन्दशक्ति' से दिया है । अर्थात् कपिलजी इतने समर्थ हैं कि उनकी शक्ति उनकी इच्छा के अनुसार वर्त्तन (कार्य) करती है ।।३३।।

आभास—एवं स्तुत्वा नमस्कृत्य विज्ञापनामाह—

आभासार्थ—इस तरह स्तुति और नमस्कार करके अपनी बात कहते हैं—

श्लोक—**आ स्माऽऽभिपृच्छेऽद्य पतिं प्रजानां त्वयाऽवतीर्णर्ण उताऽऽप्तकामः ।**
परिव्रजत्पदवीमास्थितोऽहं चरिष्ये त्वां हृदि युञ्जन्विशोकः ।।३४।।

श्लोकार्थ—हे प्रभो ! आपकी कृपा से तीनों ऋणों से मुक्त हो गया हूँ और मेरे सभी मनोरथ पूर्ण हो गये हैं । अब मैं सन्यास मार्ग को ग्रहण कर आपका चिन्तन करते हुए शोक रहित होकर विचरूँगा । आप समस्त प्रजाओं के स्वामी हैं अतएव इसके लिए मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ ।।३४।।

सुबोधिनी–आ स्माऽऽभिपृच्छ इति । प्रजानां पतिं त्वामाभिपृच्छे स्म । **आ** प्रश्नः, गन्तुर्गमने संमतिसूचकः । **स्मे**ति प्रसिद्धे, । पुत्राज्ञया भगवदाज्ञया च गन्तव्यमिति । अभिशब्दः सर्वप्रकारवाची, गमने सर्वे प्रकाराश्च वक्तव्या इति । प्रजापतित्वमनुशासनवत्, स्वस्य तथाऽधिकारात् । वेदाधिकारे हि, '**त्वं यज्ञः**' इत्यादि । तदप्याह वचनेनैव–**त्वयाऽवतीर्णर्ण इति** । त्वया कृत्वा अवतीर्णान्युत्तारितानि स्वयमेव गतानि ऋणानि यस्य । किञ्च, **उताऽऽप्तकामोऽपि** त्वयमाहं जापः । पुत्रो भगवानात्मेति पुत्रकामनाऽप्यात्मकामनैव जाता । अतः स्वाधिकारं त्वयि समर्प्य, ऋणत्रयापाकरणं कृत्वा, पूर्णकामो भूत्वा ब्रह्मविदहम्, **परिव्रजत्पदवीं** संन्यासपदवीम्, इदानी**मास्थितः** परहंसो भूत्वा देहपातपर्यन्तं ब्रह्मविदो जीवतः कृत्यं **त्वां** पुराणपुरुषोत्तमं हृदये **युञ्जन्** हृदये ध्यायन् **चरिष्ये** । देहस्य प्रतिपत्तिरेषा, यतः शोकादुत्तीर्णः । गतशोकत्वाच्च नाऽन्यत् कर्तव्यम् । एतेन ज्ञाने जातेऽपि शोकश्चेन् सर्वथा न निवृत्तः, तदा सम्यक् ज्ञानं न जातमित्यध्यवसेयमित्युक्तम् ।३४।

व्याख्यार्थ– ब्रह्माजी के अनुशासन से कर्दमजी में प्रजापतिपन था इसी तरह ब्रह्माजी की प्रार्थना से कपिलजी में भी प्रजापतिपन की संभावना से यहां कपिलजी को प्रजा का पति कहा है । हे कपिल ! आप प्रजा के पति हैं इसलिए आपसे आज्ञा चाहता हूँ 'आ' (पद) यह गमन में सम्मति सूचक है 'स्म' का अर्थ ऐसा प्रसिद्ध है । पुत्र की आज्ञा से और भगवान् की आज्ञा से जाना चाहिये । यहाँ 'अभि' शब्द सर्व प्रकार वाची है अर्थात् जाने में सब प्रकार कहने चाहिये । कर्दमजी को वैसा अधिकार था अतः अनुशासन की तरह कपिलजी में प्रजापतित्व था । वेद का अधिकार होने से त्वं यज्ञः ऐसा कहा । तुम्हारे उत्पन्न होने से मेरे ऋण स्वयं चले गये । इसको 'त्वयाऽवतीर्णर्ण' से कहा है । आपके कारण मेरे सब मनोरथ पूर्ण हो गये । यहाँ आत्मारूप भगवान् पुत्र हैं इसलिए पुत्र कामना भी आत्मकामना ही हो गई । अतः अब मैं अपना अधिकार आपको सौंपकर तीनों ऋणों से मुक्त होकर ब्रह्मवेत्ता में पूर्ण काम होकर संन्यास मार्ग को इस समय ग्रहण कर रहा हूँ । परमहंस होकर जब तक यह देह नहीं गिरेगी तब तक ब्रह्म वेत्ता के जीवन का कार्य है पूर्ण पुरुषोत्तम आपका हृदय में ध्यान करते हुए विचरण करूँगा । क्योंकि शोक रहित होने वाले के लिये यह देह की प्रतिपत्ति बताई है जब शोक नहीं रहा तो और दूसरा कर्त्तव्य ही क्या बाकी रहा । इससे यह सिद्ध होता है कि यदि ज्ञान होने पर भी शोक सर्वथा दूर नहीं होता तो उसके लिये यह कहना पड़ेगा कि उसे सम्यग् (पूरा) ज्ञान नहीं हुआ है ।।३४।।

आभास—एवमाज्ञायां प्रार्थ्यमानायां भगवान् स्वावतारप्रयोजनमयं विशेषाकारेण न जानातीति तं वदन् आज्ञां प्रयच्छति **मयेति** षड्भि—

आभासार्थ – इस तरह जब कर्दमजी ने आज्ञा की प्रार्थना की तो भगवान् ने समझ लिया कि ये ऋषि मेरे अवतार के प्रयोजन को विशेष रूप से नहीं जानते हैं इसको कहते हुए उन्हें आज्ञा देते हैं इसे छ श्लोकों से कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच । श्लोक—**मया प्रोक्तं हि लोकस्य प्रमाणं सत्य ! लौकिके ।**
अथाऽजनि मया तुभ्यं यदवोचमृतं मुने ।।३५।।

श्लोकार्थ—भगवान् ने कहा हे सत्य स्वरूप ! मुने ! वैदिक और लौकिक सभी कर्मों में लोक के लिये मेरा कथन ही प्रमाण है। इसलिये मैंने जो तुम्हें कहा था कि 'मैं तुम्हारे यहाँ जन्म लूँगा' उसे सत्य करने के लिये ही मैंने यह अवतार लिया है ॥३५॥

सुबोधिनी-मयि परमो विश्वासः कर्तव्य इति वक्तुं स्ववाक्यस्य सत्यत्वमुपपादयत्यग्रे फलावश्यकत्वविश्वासाय । **हे सत्य** सत्यरूप । **लौकिके** मया प्रोक्तमेव लोकस्य **प्रमाणम्**, यतोऽहमेव जगत्कर्ता, पोषकश्च, मद्वाक्यमेव च वेदश्च । सत्ये अलौकिके लौकिके चेति वा । सत्यरूपे लौकिके वा । अनेन आसुरान् प्रति न प्रमाणमित्युक्तम् । अतः स्ववाक्यप्रामाण्यसिद्ध्यर्थमथ भिन्नप्रक्रमेण लौकिकजडजीवव्यतिरिक्तस्य ममाऽपि जन्म कृतम् । तदाह—**मयाऽजनीति** । पूर्वप्रतिज्ञाम ह—**तुभ्यं यदवोचमिति** । **'अथाहं स्वांशकलया'** **इति** । **तुभ्यं** त्वदर्थे । **तद्दतमेव** । **मुन इति** संबोधनमुभयपरिज्ञानार्थम् ॥३५॥

व्याख्यार्थ—मेरे में तुम को पूर्ण विश्वास करना चाहिए इसको कहने के लिए अपने वाक्य की सत्यता का उपपादन करते हैं क्योंकि उससे आगे फल अवश्य होगा ऐसा विश्वास हो जायगा । 'सत्य !' यह संबोधन है जिसका अर्थ है, हे सत्यस्वरूप! लौकिक में मैंने लोक का प्रमाण कह दिया है क्योंकि मैं ही लोक का कर्त्ता और पोषक हूँ मेरे वाक्य और वेद ही प्रमाण हैं । 'सत्य लौकिके' ऐसा एक पद मानने पर अर्थ होता है सत्य अर्थात् अलौकिक में अथवा लौकिक में अथवा सत्यरूप लौकिक में । इससे असुरों के लिए यह प्रमाण नहीं है यह कहा गया । अतः अपने वचन को प्रमाणित करने के लिए भिन्न क्रम से लौकिक जड़ जीव से अलग होते हुए भी मैंने जन्म लिया उसे 'मयाऽजनि' से कहा । तुम से मैंने पहले कहा था इससे पूर्व की प्रतिज्ञा कही वो पूर्व को प्रतिज्ञा यह थी कि 'मैं तुम्हारे यहाँ अपनी अंशकला के सहित जन्म लूँगा' मैंने यह जन्म तुम्हारे लिये लिया है यह सत्य है इसे 'तुभ्यं' और ऋतम् (सत्य) इन दो शब्दों से बताया मुने ! इस संबोधन का अर्थ है तुम पूर्व की बात को और इस समय की दोनों बातों को जानते हो ॥३५॥

आभास—प्रयोजनमपि पूर्वोक्तमेवेति तदाह द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—जन्म का प्रयोजन भी जो पहले कहा था वही है इसे दो श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन्मुमुक्षूणां दुराशयात् ।**
प्रसंख्यानाय तत्त्वानां संमतायाऽऽत्मदर्शने ॥३६॥

श्लोकार्थ—इस लोक में मेरा यह जन्म लिङ्ग शरीर से मुक्त होने की इच्छा वाले मुनियों के लिये आत्मदर्शन में उपयोगी प्रकृति आदि तत्वों का विवेचन करने के लिए ही हुआ है ॥३६॥

सुबोधिनी—एतन्म इति । मे एतज्जन्म दुराशयान्मुमुक्षूणामर्थे । आशयः संघातात्मा, स चेद्दुष्टः, तदात्मानं नाशयति । अत एवंभावादुत्क्रमिष्यतः प्राणिन उद्धारार्थं तत्त्वानां सख्यानं कर्तव्यम् । साक्षादपि हि दृश्यमाना अत्यन्तासङ्कीर्णाः स्थाण्वादयो वक्रकोटरादिभिः पुरुषादिभ्यो विविच्यन्ते, न त्वन्यथा; किं पुनरतीन्द्रिया मिथो मिश्रीभूताः कालाकाशादयः । अत एव तेषां तत्त्वानां प्रसंख्यानं कर्तव्यमुद्देशलक्षणाभ्याम् । तस्याऽपि प्रयोजन**मात्मदशने** । निमित्ते सप्तमी । आत्मज्ञानार्थं तत्त्वानामपि संख्यानं कर्तव्यम्, अन्यथा सङ्घाते पतित आत्मा न तेभ्यो विवेकमर्हति न च अद्वयात्मज्ञानप्रतिपादकश्रुतिविरोधः, विद्यमाने हि भेदव्यवहारे साङ्ख्यप्रवृत्तिः । न हि स्वभावतो यादृशं जगन्निर्द्धारितमात्मज्ञान उपयुज्यते, उद्देश्यापरिज्ञानद्वारा आत्मज्ञानार्थमिति तत्त्वविदः । इतरभिन्नतया आत्मज्ञानार्थमित्यन्ये । तेषां तु स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां परलोकेप्सूनां श्रुतिश्रवणाभावात् वेदविरोधो नाऽऽशङ्कनीयः । तेषां संघातजनितदोषरूपाहङ्काराभाव एव फलम् । अतस्तादृशधर्मोपचितकालान्तरोत्पन्नब्राह्मणदेहे पुनः श्रुत्यनुसारेणाऽऽत्मविचारो भविष्यतीति न किञ्चिदनुपपन्नम् । एत एव प्रसंख्यानमात्मदर्शने सम्मतम् । नह्यात्मविदः साङ्ख्ये विप्रतिपद्यन्ते ।।३६।।

व्याख्यार्थ—मेरा यह जन्म दुष्ट (दोषयुक्त) आशय से जो मुक्त होना चाहते हैं उनके लिये है । यहाँ आशय से संघात, आत्मा का ग्रहण है यदि वह दोषयुक्त हो तो आत्मा को नष्ट कर देता है । जो इस प्रकार के संघातरूप आत्मा से मुक्ति चाहता है उस प्राणी के उद्धार के लिये तत्वों की गणना करनी चाहिए । जो साक्षात् दिखाई देते हैं और जो अत्यन्त अलग अलग हैं ऐसे स्थाणु (वृक्ष के ठूँठ) आदि का भी पुरुष यह डेढा है इसमें खोखला है आदि रूप से विवेचन करते हैं तो फिर क्या जो इन्द्रियातीत हैं । (इन्द्रियों से जिनका ज्ञान नहीं हो सका) और परस्पर एक दूसरे से मिले हुए हैं ऐसे काल, आकाश आदि का विवेचन क्यों न किया जाय । अतः उन तत्वों की गणना उद्देश्य (नाम से) और लक्षण से करनी चाहिए । आत्म दर्शन उस गणना का प्रयोजन है । 'आत्मदशने' में जो सप्तमी (विभक्ति) है वह निमित्त में हैं अर्थात् आत्मज्ञान (दर्शन) के निमित्त तत्वों की गणना करनी चाहिए । यदि ऐसा न किया गया तो संघात में पड़ी हुई आत्मा अपने को उनसे अलग नहीं जान सकेगी । शंका हो सकती है कि 'एकात्मज्ञान' की प्रतिपादक श्रुति से पृथक् ज्ञान विरुद्ध होगा एवं भेद व्यवहार जब रहेगा तब ही सांख्य शास्त्र की प्रवृत्ति होगी स्वभाव से यह जगत् जैसा है उसका निर्धारण (निश्चय) जब तक न हो तब तक उसका आत्मज्ञान में उपयोग नहीं हो सकता । 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वभू' इस श्रुति में 'इदम्' पद से यह दिखाई देने वाला जो सब जगत् है उस जगत् की जगत् रूप से उद्देश्यता नहीं है क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष से विरोध है अतः 'तत्सत्म्' ऐसा कहकर सत्यत्वरूप से जगत् की उद्देश्यता और सद्रूपता सांख्य के द्वारा प्रतिपादन की जाती है । इसलिए उसके द्वारा आत्मज्ञान के लिये यह सांख्य है ऐसा तत्ववेत्ता (सांख्यवादी) कहते हैं । अन्य सांख्यवादियों का ऐसा कहना है कि इतर भिन्न ज्ञान द्वारा आत्मज्ञान के लिये यह सांख्यज्ञान है । जो परलोक की लिप्सा रखने वाले स्त्री-शूद्र और द्विजबन्धु (निकृष्ट ब्राह्मण आदि) हैं उनको वेद के सुनने का अभाव होने से वेद विरोध होगा ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये । उन्हीं के लिये तो संघातजनित दोषरूप जो अहङ्कार है उस अहङ्कार का अभाव हो जाना ही फल है । अतः इस प्रकार के धर्म से उपचित (समृद्ध) कालान्तर में उत्पन्न जो ब्राह्मण देह है उसमें पुनः श्रुति के अनुसार आत्म विचार हो जायगा इसलिए कोई भी बात अनुचित नहीं है । अतएव

प्रसंख्यात (सांख्य) आत्मदर्शन के लिये उपयोगी है। जो आत्मज्ञानी होते हैं वे सांख्य ज्ञान का विरोध नहीं करते ॥३६॥

आभास—नन्विदं प्रसंख्यानमाधुनिकं चेत्कृतमनेन। अथ परम्परागतं कृतमवतारेणेत्याशङ्कयाऽऽह—

आभासार्थ—शंका होती है कि यह सांख्यशास्त्र यदि आधुनिक है तो यह अनावश्यक है और यदि कहो कि यह तो परम्परा से चला आया है नया नहीं है तो फिर इसके लिए अवतार की क्या आवश्यकता है इस पर कहते हैं—

श्लोक—**एष आत्मपथोऽव्यक्तो नष्टः कालेन भूयसा।**
तं प्रवर्तयितुं देहमिमं विद्धि मया भृतम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—आत्मज्ञान का यह सूक्ष्म मार्ग बहुत समय से लुप्त हो गया था। इसे पुनः प्रवर्तित करने के लिये ही मैंने यह देह ग्रहण की है ऐसा जानो ॥३७॥

सुबोधिनी—**एष इति**। अयमनादिसिद्ध एव आत्ममार्गः। भूयसा कालेन क्षीयमाणो नष्टः। पश्चाद**व्यक्तो** लोके काऽप्यप्रकटः। पुराणानां कृशरतया निरूपकत्वान्न व्यक्तिः। सर्वथाऽव्यक्तौ तज्ज्ञातॄणां स्मृतिसंस्कारनाशान्नाशः। तं पुनः प्रवर्तयितुं सर्वेषामुद्धारार्थमिमं देहं मया भृतं विद्धि ॥३७॥

व्याख्यार्थ—आत्म मार्ग में यह सांख्य शास्त्र अनादि सिद्ध था ही। परन्तु बहुत समय से क्षीण होते होते नष्ट हो गया। पीछे अव्यक्त (अप्रकट) होने से लोक में कहीं ज्ञात नहीं होता। पुराण तो संकीर्ण रूप से (खिचड़ी की तरह) वर्णन करता है अतः इस सांख्य की अभिव्यक्ति नहीं होती। जब सब प्रकार से अव्यक्त (अप्रकट) हो गया तो उसके जानने वालों को न तो उसकी स्मृति रही और न संस्कार; इसलिए वह (सांख्य शास्त्र) नष्ट हो गया। उसी को पुनः प्रवर्त्तित करने के लिये सबके उद्धार के लिये मैंने इस देह को धारण किया है ऐसा जानो ॥३७॥

आभास—ततः सर्व एवाऽनेन मार्गेण मुच्यन्त इति देवहूतिप्रभृतीनामपि मुक्तिर्भविष्यतीतीतरचिन्तां परित्यज्य भवान् मुक्तो भवत्वित्याह—

आभासार्थ—तो फिर सभी इस मार्ग से मुक्त होते हैं इसलिए देवहूति प्रभृति की भी मुक्ति हो जायगी अतः आप अन्य चिन्ता को छोड़कर मुक्त हो जाईये—

श्लोक—**गच्छ कामं मयाऽऽदिष्टो मयि संन्यस्तकर्मणा।**
जित्वा सुदुर्जयं मृत्युममृतत्वाय मां भज ॥३८॥

श्लोकार्थ—मुने! मैं आज्ञा देता हूँ तुम इच्छानुसार जाओ और अपने सम्पूर्ण

कर्म मुझे अर्पण करते हुए दुर्जय मृत्यु को जीत कर मोक्ष पद प्राप्त करने लिये मेरा भजन करो ।।३८।।

सुबोधिनी–गच्छेति। मयाऽऽदिष्ट आज्ञप्तो गच्छ। इतो गत्वा सर्वदा परिभ्रमणं कर्तव्यम्। ततः कर्तव्यमाह–**मयि संन्यस्तकर्मणा सुदुर्जयं मृत्युं जित्वा अमृतत्वाय** परमानन्दप्राप्तये **मां भज**। कर्माणि बहुविधानि। मृत्युजये साधनत्वेन निरूपितानि बहून्यपि कर्माणि। सर्वकर्माणि भगवति समर्पणीयानीत्येके। भगवद्भजनविरोधीनि तदर्थं त्यक्तव्यानीत्यपरे। तत्र प्रथमेन मयि समर्पितेन कर्मणा सुदुर्जयमपि मृत्युं जयति तदा बाधकस्य मृत्योरभावात् परमानन्दप्राप्त्यर्थं पश्चान्मद्भजनं कर्तव्यम्। परिभ्रमणं सर्वकर्मसमर्पणमादौ कर्तव्यम्। तस्मिन् कृते देहपरिणामः पलितता क्षुत्पिपासे चेन्न भविष्यन्ति तदा पश्चाद्भजनं कर्तव्यम्, स्वस्थकार्यत्वाद्भजनस्य। पलिताद्यभावश्च मृत्युजयबोधकः ।।३८।।

व्याख्यार्थ—मैं आज्ञा देता हूँ तुम जाओ। यहाँ से जाकर सर्वदा भ्रमण करते रहना। उसके बाद का कर्त्तव्य बताते हैं–सब कर्मों को मेरे में समर्पित करके दुर्जय (न जीते जाने वाली) मृत्यु को जीत कर परमानन्द की प्राप्ति के लिए मेरा भजन करना। कर्म अनेक प्रकार के हैं। मृत्यु के जीतने के लिए साधनरूप से बहुत कर्मों का निरूपण किया है। कुछ लोगों का तो कहना है कि सब कर्म भगवान् में समर्पित कर देना चाहिये। दूसरे ऐसा कहते हैं कि जो भगवद् भजन में बाधा उपस्थित करते हैं उन कर्मों का भगवद् भजन के लिये त्याग कर देना चाहिये। इनमें सर्व प्रथम तो कर्मों को मेरे में समर्पित कर देने से सुदुर्जय मृत्यु को भी जीत लेता है तब बाधक मृत्यु के अभाव से परमानन्द की प्राप्ति के लिये पीछे भजन करना चाहिये। परिभ्रमण और सर्व कर्मो का समर्पण तो आदि में करना चाहिये। उसके करने से देह परिणाम श्वेत बाल एव भूख प्यास यदि न होंगे तब पीछे भजन करना चाहिये। **स्वस्थ** रहने पर ही भजन हो सकता है। पलित (बालों को सफेदी) आदि का अभाव मृत्यु पर विजय का बोधक है ।।३८।।

आभास—भयं तु द्वैतकार्यम्, शोकश्च सङ्घातकार्यम्, तदुभयं ततो निवर्तिष्यत इत्याह—

आभासार्थ—द्वैत (दो का ज्ञान) का कार्य भय है और संघात (देह) का कार्य शोक है ये दोनों उससे मिट जायेंगे इसे कहते हैं—

श्लोक—**मामात्मानं स्वयंज्योतिः सर्वभूतगुहाशयम्।**
आत्मन्येवाऽऽत्मना वीक्ष्य विशोकोऽभयमृच्छति ।।३९।।

श्लोकार्थ—मैं स्वयं प्रकाश और सम्पूर्ण जीवों के अन्तःकरणों में रहने वाला परमात्मा ही हूँ। अतः जब तुम विशुद्ध बुद्धि के द्वारा अपने अन्तःकरण में मेरा साक्षात्कार कर लोगे तब सब प्रकार के शोकों से छूटकर निर्भय पद प्राप्त कर लोगे ।।३९।।

सुबोधिनी—मामात्मानमिति । साङ्ख्ये आत्मैव चिद्रूपा भगवच्छब्दवाच्यः । तमात्मनैव सङ्घाता-न्निवृत्त आत्मा भजति । आत्मनैव भजनं मुख्यम्; यथा शरीरेण लोके, द्रव्यादिना च गौणम्; तथाऽऽत्मना मुख्यम्, देहेन्द्रियादिभिर्गौणमिति तस्योपास्यत्वाय गुणानाह—**स्वयंज्योतिः सर्वभूत-गुहाशयमिति** । तत्स्वप्रकाशं सर्वभूतान्तःकरणे विद्यमानं च, अतः प्राप्त्यर्थम् परिज्ञानार्थं वा तत्र यत्नो न कर्तव्यः । सङ्घाताद्विवेके भाव्यमाने स्फुरितः स्वात्मा व्यापकं च, तमात्मानं स्फुटं करोति । यथा वहिःस्थितो वह्निः काष्ठे संबद्धः, काष्ठान्तर्गतवह्निमपि मथनादिव्यतिरेकेणैव शीघ्रं प्रकाशयति, ऐक्यं च प्राप्नोति; तथाऽत्रा-ऽप्यनुसन्धेयम् । तदा सर्वमात्मैवेति भयं शोकश्च निवर्तते । उद्देश्ये स्वपरिज्ञाते तस्येदन्त्वं सुतरा-मेवाज्ञातं भवति । संसर्गे वह्नावेव काष्ठस्थितोऽपि वह्निस्तिष्ठति, काष्ठस्योपभुक्तत्वात्, तेनैव च प्रकाशितस्तदाह—**आत्मन्येवाऽऽत्मनेति** । एवं दृष्ट एव पुनः सङ्घातपातशङ्काभावात् विशोको भवति । अभयोपपत्तिरुक्ता स्वयमेव सर्वो भवतीति ।।३९।

व्याख्यार्थ—सांख्य शास्त्र में चैतन्य रूप आत्मा ही को भगवान् कहते हैं । संघात से निवृत्त आत्मा उसी भगवान् की आत्मा से भजन करतो है । आत्मा से भजन करना ही मुख्य है । जैसे लोक में शरीर से की जाने वाली सेवा मुख्य होती है और द्रव्य से की जाने वाली गौण होती है । उसी तरह आत्मा से किया जाने वाला भजन मुख्य और देह, इन्द्रिय आदि से किया जाने वाला भजन गौण होता है । भगवान् उपासना करने के योग्य हैं अतः उनके गुणों को स्वयं ज्योतिः और 'सर्वभूतगुहाशयम्' पदों से कहा है वह भगवान् स्वयं प्रकाश है अतः उसके लिए अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं रहती तथा सब प्राणियों के अन्तःकरण में विद्यमान है, अतः उसकी प्राप्ति के लिये अथवा पहचान के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता । संघात से वह आत्मा जब अलग समझ में आ जाता है तब वह आत्मा व्यापक उस आत्मा को स्पष्ट कर देता है । जैसे बाहर रहने वाली अग्नि जब लकड़ी से सम्बन्ध करती है तब उस लकड़ी के अन्दर रहने वाली अग्नि को भी आपस में दो लकड़ियों के घिसने के विना ही शीघ्र प्रकट कर देती है और उस काष्ठ की लकड़ी के साथ वह बाहर की अग्नि मिल जाती है उसी तरह यहाँ बाहर रहने वाली आत्मा उस अन्तः करण में स्थित आत्मा को प्रकट करके उस आत्मा में मिल जातो है । तब सब आत्मा ही आत्मा हो जाती है तो भय और शोक अपने आप चला जाता है । उद्देश्य जिसे श्लोक में 'मां' पद से बताया है उस (आत्मा) का ज्ञान यदि नहीं होता है तो उससे सम्बन्धित यह सब अज्ञात ही रहता है । जैसे बाहर की अग्नि का संसर्ग (सम्बन्ध) होने पर ही लकड़ी में रहने वाली अग्नि काष्ठ के उपभुक्त होने पर रहती है उसी बाह्य अग्नि से वह लकड़ी के अन्दर की अग्नि प्रकाशित हुई है उसी को 'आत्मन्येवाऽऽत्मना' से स्पष्ट किया है । इस तरह जब वह आत्मा को समझ लेता है तो फिर मेरा कहीं संघात में पतन न हो जाय ऐसी शंका रहती नहीं अतः उसे शोक नहीं होता अभय होने के विषय की युक्ति तो पहले कही जा चुकी है । इसलिए स्वयं ही सब हो जाता है ।।३९ ।

आभास—एवं तमनुशास्य मात्रे कर्तव्यमाह—

आभासार्थ—इस तरह ऋषि को आदेश देकर माता के लिए जो कर्त्तव्य है उसे कहते हैं—

श्लोक—**मात्रे चाऽऽध्यात्मिकीं विद्यां शमनीं सर्वकर्मणाम् ।**
वितरिष्ये यया चाऽसौ भयं चातितरिष्यति ।।४०।।

श्लोकार्थ—माता देवहूति को भी मैं सम्पूर्ण कर्मों से छुड़ाने वाला आत्मज्ञान प्रदान करूँगा, जिससे संसाररूप भय से पार हो जायेगी ॥४०॥

सुबोधिनी-मात्रे चेति । एषा त्वाधिदैविकी विद्योक्ता, मात्रे पुनः आध्यात्मिकी विद्याम् । तत्र विवेकेन स्वात्मदर्शनमेव । अत एव सर्वकर्मणां शमनीम् । सा तस्याः साधनेन यद्यपि न भविष्यति, तथापि अहमेव वितरिष्ये, वितरण-गुणेनैव दास्यामि । यया विद्यया, मत्कृपया चाऽञ्जसा सामस्त्येन भयमतितरिष्यति । चकाराच्छोकम् । अतितरणं पुनः सङ्घातप्रत्यापत्त्यभाव ॥४०॥

व्याख्यार्थ—कपिलजी ने कर्दमजी से कहा, मैंने तुम्हारे लिए आधिदैविको विद्या कही और माता के लिए आध्यात्मिकी विद्या कहूँगा । उसमें विवेक से आत्म ज्ञान ही होगा । अतएव वह विद्या सब कर्मों को शमन करती है । यद्यपि वह विद्या उसके साधन से हो न सकेगी तथापि मैं ही उस विद्या का वितरण करूँगा अर्थात् वितरण के गुण से ही उसे दूँगा । जिस विद्या से मेरी कृपा से सब तरह के भय से पार हो जायेगी । 'च' से शोक का भी ग्रहण होता है शोक से भी मुक्त हो जायेगी । अतितरण का आशय यह है कि फिर कभी संघात की प्रत्यापत्ति नहीं होगी ॥४०॥

आभास—एवं स्वगृहीतदेहद्वयस्य साऽऽत्मनः प्रतिपत्तिं श्रुत्वा स्वरूपप्राप्तिपर्यन्तं कृतवानित्याह—**एवमिति** सप्तभिः ।

आभासार्थ—इस तरह आत्मा के सहित अपने से गृहीत देहद्वय की प्रतिपत्ति को सुनकर स्वरूप प्राप्ति पर्यन्त उन्होंने वैसा किया इसे सात श्लोकों से कहते हैं—

कारिका-**आदौ ततो निर्गमनं व्रतानि च बहिस्तथा । आन्तरं मनसा ध्यानं दोषाभावस्तथान्तरः ॥१॥**
ततो गुणाश्च तत्रैव ततो ज्ञानोदयस्तथा । ततः फलस्य सम्प्राप्तिः प्राप्ते ज्ञाने त्वियं क्रिया ॥२॥

कारिकार्थ-पहले तो वहाँ से निर्गमन और फिर बाहर मनमें व्रतों का करना फिर मन से आन्तर ध्यान उस ध्यान से आन्तर (अन्दर के) दोषों की निवृत्ति दोषों के निवृत्त होने पर गुण और ज्ञान का उदय हुआ ज्ञानोदय के अनन्तर फल प्राप्ति हुई इस तरह ज्ञान प्राप्त होने पर यह क्रिया हुई यह सातों का समुदायार्थ है ॥१-२॥

आभास—आदौ ततो निर्गमनमाह—

आभासार्थ—सबसे पहले आश्रम से निकलने को कहते हैं—

मैत्रेय उवाच । श्लोक—**एवं समुदितस्तेन कपिलेन प्रजापतिः ।**
दक्षिणीकृत्य तं प्रीतो वनमेव जगाम ह ॥४१॥

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी कहते हैं—भगवान् कपिल के इस प्रकार कहने पर प्रजापति कर्दमजी उनकी परिक्रमा कर प्रसन्नता पूर्वक वन को चले गये ॥४१॥

सुबोधिनी—एवमिति । तेन कपिलेन पूर्वोक्तप्रकारेणोदितः । तथा स्वयं चेन्न कुर्यादन्योऽपि न करिष्यतीति स्वयं प्रजापतिः पुत्रं प्रदक्षिणीकृत्य, तद्वाक्यात्प्रीतो वनमेव जगाम । हेत्याश्चर्यम् । भगवन्तं विहाय वनं गत इति वाक्याच्च गतः ॥४१॥

व्याख्यार्थ—कपिलजी ने जो पूर्व में कहा था उसी के अनुसार किया यदि स्वयं वे नहीं करें तो अन्य भी नहीं करेगा इसलिए स्वयं प्रजापति होते हुए भी अपने पुत्र की प्रदक्षिणा करके कपिलजी के वचन से प्रसन्न होकर वन को चले गये । 'ह' यह आश्चर्य वाचक है, अर्थात् भगवान् को छोड़कर वन में चला जाना आश्चर्य की बात है, किन्तु कपिलजी ने जाने की कही थी इसलिए चले गये ॥४१॥

आभास—गतस्य व्रतान्याह—

आभासार्थ—वन में जाकर जो व्रत किये उन्हें कहते हैं—

श्लोक—**व्रतं स आस्थितो मौनमात्मैकशरणो मुनिः ।**
निःसङ्गो व्यचरत् क्षोणीमनग्निरनिकेतनः ॥४२॥

श्लोकार्थ—वहाँ अहिंसामय संन्यास धर्म का पालन करते हुए वे श्री भगवान् की शरण हो गये तथा अग्नि और आश्रम का त्याग करके निःसंग भाव से पृथ्वी पर विचरने लगे ॥४२॥

सुबोधिनी—व्रतमिति । मौनं वाग्व्यापारपरित्यागः, तद्व्रतत्वेन गृहीतमादेहपर्यन्तम् । अनेन नामप्रपञ्चः परित्यक्तो भवति । रूपप्रपञ्चपरित्यागमप्याह—**आत्मैकशरण इति** । आत्मैवैकं शरणं यस्य **'अयमात्मा ब्रह्म'** इति । **मुनिरिति** वासनामयप्रपञ्चनिवृत्तिः । एवं स्वकर्तृकप्रपञ्चपरित्यागमुक्त्वा; अन्यकृतस्याऽपि सम्बन्धाभावमाह—**निःसङ्ग इति** ; निर्गतः सङ्गो यस्मात् । **परिभ्रमः** स्वधर्मः । **अनग्निः** पाकादिरहितः । **अनिकेतनो** गृहादिरहितश्च । अग्निगृहसम्बन्धराहित्यं यथा भवति तथा व्यचरत् । नाग्निस्पृष्टं भक्षयति, न क्वापि गृहं प्रविशतीत्यर्थः ॥४२॥

व्याख्यार्थ—वाणी व्यापार के परित्याग को मौन कहते हैं जब तक देहपात न हो तब तक मौनव्रत को उन्होंने रक्खा । मौन रखने से नाम प्रपञ्च का परित्याग हो जाता है नाम प्रपञ्च की तरह रूप प्रपञ्च का भी उन्होंने परित्याग किया इसे 'आत्मैकशरणः' से बताया है केवल आत्मा ही शरण (रक्षक) जिसके 'यह आत्मा ब्रह्म है' वे मुनि (मननशील) थे अतः वासनामय प्रपञ्च का भी उनमें अभाव था । इस तरह स्वयं कृत प्रपञ्च के परित्याग को कहकर परकृत प्रपञ्च के अभाव को कहने के लिए 'निःसंङ्गः' कहा; चला गया है संग जिससे, अर्थात् संग का जब अभाव होगा तो 'परकृतप्रपञ्च' का स्वतः अभाव हो जायेगा । परिभ्रम (विचरण) यह स्वयं का धर्म है पाक आदि से रहित को अनग्नि कहते हैं और घर आदि जिसके न हो उसे 'अनिकेतनः' कहते हैं तात्पर्य यह है कि अग्नि एवं घर के सम्बन्ध से रहित होकर विचरण करते थे । अग्नि का धुंआ छूवा नहीं खाते थे और न कहीं घर में प्रवेश करते थे ॥४२॥

आभास—आन्तरमाह—

आभासार्थ—अब आन्तर मन के ध्यान को कहते हैं—

श्लोक—**मनो ब्रह्मणि युञ्जानो यत्तत्सदसतः परम् ।**
गुणावभासे विगुण एकभक्त्याऽनुभाविते ।।४३।।

श्लोकार्थ—जो कार्य और कारण से अतीत है सत्वादिगुणों का प्रकाशक एवं निर्गुण है और अनन्य भक्ति से ही प्रत्यक्ष होता हैं उस पर ब्रह्म में अपना मन लगा दिया ।।४३।।

सुबोधिनी—वैदिकोऽयमुपनिषत्प्रकारेणाऽऽवृत्तचक्षुर्भूत्वा मनो ब्रह्मणि नियम्य, अहङ्कारादिरहितः सन् भक्तिं प्राप्य, ज्ञानं च, भागवतीं गतिं प्राप्त इति पञ्चमेन सम्बन्धः । तद्ब्रह्मप्रपञ्चातीतमुभयरूपं परिज्ञाय, माहात्म्यार्थमेकं परिज्ञाय, अपरस्मिन्मनो निवेश्य । तच्च ब्रह्म कार्यकारणातीतमपि गुणानामवभासो यत्रेति । कारणगुणप्रवर्तकं, सदाद्यंशैश्च गुणानुत्पादकमिति । तत्र मनसः स्थापने उपायमाह–**एकभक्त्याऽनुभावित इति** । अनन्यया भक्त्या प्रेम्णैव तत्र मनः स्थिरं भवति । भक्त्या च तत्रानुभावो जनित इति न निःसङ्गत्वादयो ब्रह्मधर्मा बाधक । ४३।।

व्याख्यार्थ- कर्दमजी वैदिक थे इसलिये उनने उपनिषद् में बताते हुए इस प्रकार से अपने नेत्रों को बंद कर मन का ब्रह्म में नियमन कर अहङ्कार रहित होते हुए भक्ति और ज्ञान को प्राप्त करके गति को प्राप्त हुए इस तरह का इस पञ्चम श्लोक से सम्बन्ध है । ब्रह्म और प्रपञ्च से अतीत उभयरूप उस ब्रह्म को जानकर । प्रपञ्च (जगत्) को तो ब्रह्म के माहात्म्य के लिए जाना और ब्रह्म में मन को निविष्टकर (लगा) दिया । वह ब्रह्म कार्यकारण से अजीब (परे) होते हुए भी गुणों का अवभास जिसमें होता है । कारणगुण का तो वह प्रवर्त्तक है और सद् आदि अंशों से गुणों का उत्पादक है । उस ब्रह्म में मन को लगाने का उपाय 'एक भक्त्यानुभावितः' से कहते हैं अनन्यभक्ति एवं प्रेम से ही उस ब्रह्म में मन स्थिर होता है भक्ति से उसमें अनुभाव उत्पन्न हो गया था इसलिए निःसंगत्व आदि ब्रह्म धर्म बाधक नहीं होंगे ।।४३ ।

आभास—मनश्चेत्संसक्तं ब्रह्मणि, देहादावहङ्कार, स्वत एव निवृत्तो भवतीत्याह–

आभासार्थ–जब मन ब्रह्म में लग जाता है तब देह आदि में रहने वाला अहङ्कार स्वतः (अपने आप) ही निवृत हो जाता है—

श्लोक—**निरहङ्कृतिर्निर्ममश्च निर्द्वन्द्वः समदृक् स्वदृक् ।**
प्रत्यक् प्रशान्तधीर्धीरः प्रशान्तोर्मिरिवोदधिः ।।४४।।

श्लोकार्थ—वे अहङ्कार, ममता और सुख दुःख आदि द्वन्द्वों से छूटकर समदर्शी

हो सब में अपनी आत्मा को ही देखने लगे। उनकी बुद्धि अन्तर्मुख और शान्त हो गयी। उस समय धीर कर्दमजी शान्त लहरों वाले समुद्र के समान जान पड़ने लगे ॥४४॥

सुबोधिनी–निरहंकृतिरिति। अहङ्कारस्य वृत्तिद्वयमहंममेति। नास्तीत्याह–**निरहंकृतिर्निर्ममश्चेति**। चकारादाकृत्यादिष्वपि तदध्यासाऽभावः तदनन्तरमूर्म्यभावोऽपि जात इत्याह–**निर्द्वन्द्व इति**। यदेकस्मिन्नागतेऽपरमागच्छति, नत् द्वन्द्वम्; यथा लौकिकसुखानन्तरं दुःखमावश्यकमिति, यथा क्षुत्पिपासे, जरामृत्यु शोकमोहावित्यादीनि द्वन्द्वानि। तदा विषयेषु वैषम्यग्रहणे प्रयोजनाभावात् सर्वत्र **समदृक्** समं ब्रह्म वश्यति। आत्मानमात्मनि वा पश्यतीति **स्वदृक्**। तदा तस्य बहिर्मुखतयाऽऽत्मस्फूर्तिर्न जातेत्याह–**प्रत्यगिति**। स स्वयमन्तर्मुखतयैव स्फुरतीत्यर्थः। बुध्द्या हि विक्षिप्तया बहिर्मुखो भवति, तदपि नास्तीत्याह–**प्रशान्तधीरिति**। बहिस्तादृशस्य ज्ञापकं दृष्टान्तेनाऽऽह–**प्रशान्तोर्मिरिवोदधिरिति**। प्रशान्ता ऊर्मयो यस्य। यथा निस्तरङ्गः समुद्रश्चाञ्चल्यरहितः ॥४४॥

व्याख्यार्थ—'अहन्ता' और 'ममता' ये दोनों अहङ्कार की वृत्तियाँ हैं। ये दोनों ही उन मुनि में नहीं थी इसे निरहंकृतिर्निर्ममश्च' से बताया है। च' से आकृति (भाव) आदि में भी उनके अध्यास का अभाव था। उसके अनन्तर ऊर्मि का अभाव भी हो गया इसे 'निर्द्वन्द्वः' से कहते हैं जो एक के आने पर दूसरा आ जाय उसे द्वन्द्व कहते हैं जैसे लौकिक सुख के आने पर दुःख का आना भी आवश्यक है जैसे भूख और प्यास जरा (बुढ़ापा) और मृत्यु शोक और मोह ये द्वन्द्व है एक के आने के बाद दूसरा आ जाता है। मुनि तो निर्द्वन्द्व हो गये थे तब विषयों में वैषम्य (विषमता) के ज्ञान का कोई प्रयोजन न होने से समदृक् हो गये सम का अर्थ हैं उस ब्रह्म को देखने लगे। आत्मा को आत्मा में जो देखता है उसे स्वदृक् कहते हैं (१) प्रत्यग् पद इसलिये दिया है कि वे मुनि जब आत्मा को आत्म में देखने लगे तब उनकी बहिर्मुखरूप से आत्म स्फूर्ति नहीं हुई। किन्तु वह आत्मा स्वयं अन्तर्मुखता से ही स्फुरित होती है। बुद्धि में जब कोई विक्षेप होता है तो बहिमुख हो जाता है इसके लिए उनको 'प्रशान्तधीः' बताया, शान्त है बुद्धि जिसकी। प्रशान्त बुद्धि कैसा होता है इसे बाह्य दृष्टान्त से बताते हैं 'प्रशान्तोर्मिरिवोदधिः' पूर्ण रूप से शान्त हो गई है तरङ्गे (लहरें) जिसकी ऐसे समुद्र की तरह जिस तरह तरङ्गों से रहित समुद्र चञ्चलता से रहित होता है उसी तरह मुनि के चित्त की सब वृत्तियां हो गयी ॥४४॥

आभास—एवं सर्वदोषरहितस्य भक्तिर्जातेत्याह—

आभासार्थ—इस तरह मुनि सब दोषों से रहित हो गये तब उनमें भगवान् की भक्ति हो गई–

श्लोक—**वासुदेवे भगवति सर्वज्ञे प्रत्यगात्मनि।**
परेण भक्तिभावेन लब्धात्मा मुक्तबन्धनः ॥४५॥

श्लोकार्थ—परम भक्ति भाव के द्वारा सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ श्री वासुदेव में चित्त स्थिर हो जाने से वे सब बन्धनों से मुक्त हो गये ॥४५॥

सुबोधिनी–वासुदेव इति । अन्तःकरणे शुद्धसत्त्वात्मके आविर्भूते **भगवति** षंगुणसंपन्ने ज्ञानशक्तियुक्ते ज्ञानसहितो भगवान् परमहंसैर्ज्ञे इति **सर्वज्ञ** इत्युक्तम् । स च स्वस्य स्वरूपमेवेत्याह–**प्रत्यगात्मनीति** । प्रत्यक्त्वमात्रे भगवानेव तथा स्फूर्तियुक्तोऽपि भवेत्, अत **आत्मनीति** । **परेण** माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहेन । **भक्तिभावेन** मानसभजनक्रियया सह परमादरेण तस्मिन् लब्धात्मा जातः, तत्रात्मभावं प्राप्तः । बहिर्निवर्तकानि बन्धनानि ततो निवृत्तानीत्याह–**मुक्तबन्धन इति** ।।४५।।

व्याख्यार्थ—शुद्धसत्वात्मक अन्तःकरण में षड्गुण सम्पन्न ज्ञान शक्ति युक्त भगवान् के प्रकट हो जाने पर शंका हो सकती है कि ज्ञान सहित भगवान् को तो परमहंस ही जान सकते हैं इसका उत्तर 'सर्वज्ञ' से दिया है ये भगवान् सभी के जानने योग्य हैं। वह तो भगवान् का स्वरूप ही है उसे 'प्रत्यात्मनि' से बताया है। अन्तर्मुखता मात्र में भगवान् ही उस तरह से स्फूर्ति युक्त होगा अतः आत्मनि ऐसा पद दिया 'पर' का अर्थ है माहात्म्य ज्ञान पूर्वक स्नेह से और भक्तिभावेन का अर्थ है मानसिक भजन क्रिया के साथ परम आदर से उस भगवान् में आत्मभाव को प्राप्त हो गये। 'मुक्त बन्धनः' पद इसलिए दिया है कि बाहर निवर्त्तक जो बन्धन है वे सब वहाँ से निवृत्त हो गये ।।४५।।

आभास—तदा तस्य जातस्य ज्ञानस्य स्वरूपमाह—

आभासार्थ—तब उन मुनि को जो ज्ञान हुआ उसका स्वरूप कहते हैं—

श्लोक—**आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम् ।**
अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्यपि चाऽऽत्मनि ।।४६।।

श्लोकार्थ—सम्पूर्ण भूतों (जड, चेतन आदि) में अपनी आत्मा श्री भगवान् को और सम्पूर्ण भूतों को आत्म स्वरूप श्री हरि में स्थित देखने लगे ।।४६।।

सुबोधिनी–आत्मानमिति । भगवानेव स्वात्मा, स सर्वेषु भूतेषु समवस्थितः । एवं सर्वत्र स्वात्मानं भगवद्रूपं दृष्टवान् । सर्वाणि च भूतानि भगवद्रूप आत्मनि वाऽपश्यत् । जगत आधाराधेयभूतं भगवन्तं साक्षात्कृतवानित्यर्थः ।।४६।।

व्याख्यार्थ—भगवान् ही अपनी आत्मा है वह सब भूतों (जड, चेतन आदि) में स्थित है। इस तरह सर्वत्र अपनी आत्मा को भगवद् रूप देखा अथवा सब भूतों को भगवद् रूप आत्मा में देखा। जगत् के आधार और आधेय भूत अपने आत्मरूप भगवान् को साक्षात् कर लिया यह इसका अर्थ है ।।४६।।

आभास—एवं जाते पूर्णज्ञाने फलमाह—

आभासार्थ—इस तरह पूर्ण ज्ञान हो जाने पर जो फल हुआ उसे कहते हैं—

श्लोक—**इच्छाद्वेषविहीनेन सर्वत्र समचेतसा ।**
भगवद्भक्तियुक्तेन प्राप्ता भागवती गतिः ॥४७॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार इच्छा और द्वेष से रहित सर्वत्र समबुद्धि और भगवद्भक्ति से सम्पन्न हो श्री कर्दमजी ने भगवान् का परम पद प्राप्त कर लिया ॥४७॥

सुबोधिनी—इच्छाद्वेषेति । चित्तं तदैव ब्रह्मरसस्पृष्टं लौकिकान्निवर्तते, यदा इच्छा, द्वेषश्च विषयेभ्योऽपगच्छति, सर्वत्र च चित्तं वैषम्यं न गृह्णाति । चित्तदोषादेव विषये वैषम्यं स्फुरति, अन्यथैकस्मिन्नेव विषये क्रमाद्रागद्वेषौ न भवेताम् । ब्रह्मरसस्पृष्टं सर्वत्र ब्रह्मस्थितमिति सममेव गृह्णाति । अनेन ब्रह्मभावस्तस्योक्तः । ततो मुख्यां भक्तिमाह—**भगवद्भक्तियुक्तेनेति** । '**यावान् यश्चास्मि यादृशः**' इति ज्ञानसहिता प्रेमलक्षणा भक्तिरुत्पन्ना । भगवच्छब्दाच्च विषयपरिज्ञानलक्षणं ज्ञानमायाति ततो भगवत्संबन्धिनीं गतिं प्राप्तवान्, यया गत्या भगवान् गच्छति । भगवति वा गतिः, भगवद्भावं सायुज्यं वा प्राप्तवानित्यर्थः ॥४७॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे चतुर्विंशाध्यायविवरणम् ।

व्याख्यार्थ—ब्रह्मरस का स्पर्श करने वाला चित्त लौकिक से तब ही निवृत्त होता है जब विषयों से इच्छा और द्वेष चले जाते हैं अर्थात् विषयों की इच्छा भी नहीं रहती और न उन विषयों से द्वेष होता है । सब जगह चित्त विषमता को ग्रहण नहीं करता चित्त में जब दोष होता है तभी विषयों में विषमता का ज्ञान होता है यदि चित्त में कोई दोष न हो तो एक ही विषय में क्रम से राग और द्वेष नहीं होते । ब्रह्म रस से स्पष्ट चित्त सब जगह अर्थात् सब में ब्रह्म ही स्थित है इसलिये उनको समान रूप से ग्रहण करता है इनमें राग द्वेष या विषमता का भान ही नहीं होता । इससे उसकी ब्रह्मभावता कही गई । उस ब्रह्मभाव के अनन्तर उनको मुख्य भक्ति प्राप्त हुई इसे भगवद् भक्ति युक्तेन से कहा है 'मैं जितना हूँ जैसा हूँ' इस प्रकार के ज्ञान सहित प्रेमलक्षणा भक्ति उत्पन्न हुई भगवत् शब्द के कथन से विषय परिज्ञान ही है लक्षण जिसका, उस ज्ञान का भी ग्रहण होता है अर्थात् उन्हें ज्ञान और भक्ति दोनों ही प्राप्त हो गये । उनके होने से भगवत्संबन्धिनी गति को प्राप्त हो गये । जिस गति से भगवान् जाते हैं उस गति को प्राप्त किया अथवा भगवद्गति का अर्थ भगवति गतिः भगवद्गतिः ऐसा करना भगवान् में गति भगवद्भाव अथवा सायुज्य को प्राप्त कर लिया ॥४७॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के चौबीसवें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत) टीका हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय का संक्षिप्त सार

स्वायंभुव मनु सुत भए दोई। तनया तीनि; सुनो अब सोई।
दच्छ प्रजापति कौं इक दई। इक रुचि, एक कर्दम-तिय भई।
कर्दम कै भयौ कपिलऽवतार। सूर कह्यौ भागवतऽनुसार।।

कपिल अवतार एवं कर्दमजी का वन गमन

हरि हरि हरि सुमिरननि करौ। हरि कौ ध्यान सदा हिय धरौ।
ज्यौं भयौ कपिलदेव-अवतार। कहौं सो कथा, सुनो चित्तधार।
कर्दम पुत्र-हित तप कियौ। तासु नारि हू यह व्रत लियौ।
हरि-सौ पुत्र हमारें होई। और जगत-सुख चहैं न कोई।
नारायन तिनकौं बर दियो। मो सौं और न कोऊ बियौ।
मैं लैहौं तुम गृह अवतार। तप तजि, करौ, भोग संसार।
दुहूँ तब तीरथ माहिं नहाए। सुन्दर रूप दुहूँ जन पाए।
भोग समग्री जुरी अपार। बिचरन लागे सुख संचार।
तिनके कपिलदेव सुत भए। परम सुभाग्य मानि तिन लए।
कर्दम कह्यौ तिन्हैं सिर नाइ। आज्ञा होई, करौं तप जाइ।
अभिद अछेद रूप मम जान। जो सब घट है एक समान।
मिथ्या तनु कौ मोह बिसार। जाहु रहौ भावै गृह-बार।
करत इन्द्रियनि चेतन जोइ। मम स्वरूप जानौ तुम सोइ।
जब मम रूप तजि जाइ। तब सब इन्द्री-सक्ति नसाई।
ताकौं जानि मग्न ह्वै रहै। देहऽभिमान ताहि नहिं दहै।
तन-अभिमान जासु नसि जाइ। सो नर रहै सदासुख पाइ।
और जो ऐसी जानै नाहिं। रहै सो सदा काल-भय माहिं।
यह सुनि कर्दम बनहिं सिधाए। उहाँ जाइ हरि-पद चित्त लाए।
हरि-स्वरूप सब घट यौं जान्यौ। ऊख माहिं ज्यौं रस है सान्यौ।
खोई तन, रस आतम-सार। ऐसी बिधि जान्यौ निरधार।
यौं लखि, गहि हरि-पद-अनुराग। मिथ्या तनु कौ कीन्यौ त्याग।
तनहि त्यागि कै हरि-पद पायौ। नृप सुनि हरि-स्वरूप उर ध्यायौ।

राग बिहाग—भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।
श्री वल्लभ नख चन्द्र छटा बिन सब जग माहि अन्धेरो।।१।।
साधन और नहिं या कलि में जासों होय निवेरो।
सूर कहा कहे दुविध आंधरो बिना मोल को चेरो।।२।।

इति शुभम्

॥ श्री हरि ॥

श्रीमद्भागवत के तीसरे स्कन्ध के अध्याय १७ से २४ तक के श्लोकों के अकारादि वर्णों के अनुसार

—: अनुक्रमणिका :—

श्लोक	पेज नं०	श्लोक	पेज नं०
अङ्गञ्चमलपङ्केन	२७४	अहंत्वाऽशृणवं	२३२
अत:सा रूपव	२६०	आगस्कृत्	६३
अतस्त्वमृषि	३०७	आत्मा न सर्व	३३०
अतोभजिष्ये	२३७	आमंत्र्यतं	२४३
अतोह्यन्यो	२२४	आसन्नशाण्डीर	६१
अथ संप्रस्थिते	२०६	आस्माऽभिपृच्छे	३१६
अथर्वणे	३११	आहचाऽऽयुध	८१
अथाऽऽदर्शं	१७८	आहैनमेह्यज्ञ	३४
अथापिपृच्छे	२२०	आत्मजाया	१६८
अथोटजं	२१५	इच्छाद्वेष	३३१
अथोरुधाऽसृजत्	८६	इतिकोषारवा	१०३
अधर्मश्च	२१६	इति सायन्तनी	१५४
अधुनैषोऽभि	६७	इन्द्रियार्थेषु	२६४
अन्तर्ग्रामेषु	६	इत्यव्यलीकं	१६३
अन्येपुन:	२६३	इमादुहितर:	३०७
अन्येषांपुण्य	१०४	ईदृग्गृहतत्पश्यन्ति	२७३
अन्योन्य श्लेषणो	१४५	उत्पाताबहव:	५
अयातया	२४६	उद्धसत्तडिदम्भोद	७
अयंसिद्ध	३१०	उद्यतस्यहि	२३०
अवधार्य	६६	उपर्युपरि	२७०
अवादयन्	३०२	उभयोर्ऋषिकुल्याया	२४४
अशक्नुवन्	२४२	ऊर्जस्वन्ते	१५६
अहोएतत्	१६६	एक: स्वयं	१६०
अहोपापच्य	३१४	एतत्तआदि	२५३
अहोरूपमहो	१४६		

श्लोक	पेज नं०	श्लोक	पेज नं०
एतन्महापुण्यं	१०६	गिरय: प्रत्य	६२
एतन्मे जन्म	३२१	गृहन्ती बीडयात्मानं	१४७
एतावत्येव	३०६	गृहाम्पुण्यतमां	११
एतेवयं	५०	गृहीताहंग	२१५
एतौ तौ पार्षदावस्य	१००	घोषेऽरण्येच	१०
एवमाविष्कृता	२२२	चक्रे हिरण्यकशिपु:	१५
एवं गदाभ्यां	५८	चक्षुष्मत्पद्म	२७१
एवं तमनु	२०३	चुक्रोश विमना	८
एवं ब्रुवाण	२६४	जग्राह त्रिशिखं	८४
एवं योगानुभावेन	२८६	जगृहुस्तद्विसृष्टां	१५४
एवं समुदित:	३१६	जात हर्षोऽपतन्	१८०
एवं हिरण्याक्ष	१०२	जुष्टं बताऽद्य	१८२
एष आत्मपथो	३२३	ततश्चगदया	५४
एष ते देव	६२	तत ते ऋष्य:	३१२
एष मानवि	३०६	ततोनिवृत्त्या	१६
एषा घोरतमा संध्या	६५	ततो हसन्	१४१
एवमुग्रश्रवा:	१२३	तत: सपत्नं	७१
कदम्ब चम्पका	३११	तत:समाधि	१७४
कराल दंष्ट्र:	७६	तत्कर्दमाश्रमपदं	३०३
कांत्या ससर्ज	१५५	तत्प्रतीच्छ	२३०
काम: स भूयात	२३५	तत्राति कृत्यं	२६७
कारण्डवै:	२११	तत्रोपलभ्याऽसुर	२२
कालेन भूयसा	२५६	तथासचाऽहं	१८५
कासि कस्यासि	१५१	तथैवहरिणै:	२११
किमन्व पृच्छन्	१२०	तदादिते:	६४
किरीटिनं कुण्डलिनं	१७८	तदेवमाकर्ण्य	३२
किं दुरापादनं	२८५	तदैव सेतव:	२१६
कुशकाशमयं	२४७	तदोजसा दैत्य	८५
कुशा: काशास्त	२४६	तद्वै बिन्दुसरो	२०६
कृत्वा दयांच	२०१	तत्र्राणायाऽसृजत्	२२३
खराश्च कर्कशै	१०	तपसाविद्यया	१६६
गच्छ कामं	३२३	तमायान्त	२४४
गतेशतधृतौ	३१०	तयो:संवदतो:	१२१
गदायाम पविद्धयां	७४	तयो:स्पृधो	५६

श्लोक	पेज नं०	श्लोक	पेज नं०
तवसंदर्शनात्	२२५	त्वमेकः किल	१४३
तस्मिन्नलुप्त	२८२	त्वया मे	३०५
तस्मिन्प्रविष्टे	२१	त्वयि संस्थिते	३७
तस्मिन्विमान	२६८	त्वं च सम्यक्	२००
तस्मिन्सुधन्वन्	२०७	त्वं नः सपत्नैः	३५
तस्यनाभेः	१३३	त्वं पद्मथानां	५२
तस्य वै	१७१	त्वं लोकपालो	२३
तस्या माधत्त	२८६	तत्र तत्र विनिक्षप्त	२७०
तस्यां वहु	३०२	ददर्श तत्राभिजितं	३३
तस्यां स वै	१७२	दितिस्तु भर्तुः	४
तानि चै कैकशः	१३१	दिविस्पृशौ हेम	१३
तानः कोर्त्तय	१२२	दिव्योप्रकरणों	२६६
तान्येव तेऽभि	३१७	दिष्ट्या त्वया	२२७
तावत्प्रसन्नो	१७५	दिष्ट्या त्वां	६८
तावादिदैत्यौ	१२	दिष्ट्या मे	२२६
तावाश्वास्य	३१०	देवताः प्रभया	१३६
ता क्वणत्	१४५	देवस्तानाह	१३८
तांदृष्ट्वा	२७६	देवहूत्यपि	३०१
तां प्रार्थयन्ति	२३६	देवोदेवान्	१४०
तुष्टोऽमद्य	२६०	देहेन वं	१६३
ते तु तत्	१६२	दैत्यस्ययज्ञा	६०
तेनाऽष्ट लोकप	२८३	दैवेन दुर्वितर्क्येण	१२६
तेनेत्थमाहृतः	८८	दृष्टवाऽ न्याश्च	११
तेभ्यो ह्यकेकैश	१६७	द्वैपायनाद नवरो	११८
तेभ्यः सोऽस्यसृ	१६५	द्यौर्नष्ट भगणा	६१
तत्वात्म	१६०	द्वाः सु विद्रुम	२७१
तत्त्वानुभूत्यो	१६३	धृतव्रताऽसि	२६६
तनिः सरन्त	४२	न तेऽजराक्ष	१८६
तंमुष्टिभिः	६५	नमो नमस्ते	१००
तं वीरमारात्	२७	नयदा रथं	२१७
तं वीक्ष्य	१६	न यावदेष	६४
तं व्यग्र चक्रं	७५	न वै जातु	६६
तं सुखाराध्य	१०६	निमज्याऽस्मिन्	२७३
तं सूरिभिस्तत्त्व	३१८	निर्वेद वादिनी	२६७

श्लोक	पेज नं०	श्लोक	पेज नं०
निरहं कृतिर्निर्ममश्च	३२८	बर्हिष्मती नामपुरी	२४५
निशम्यात्मऽऽभुवा	३	बर्हिष्मती नामविभुः	२४७
निष्णात योगमाया सु	२४९	बहुजन्म विप	३१५
निरीक्ष तस्तस्य	२०४	बाढ़मुद्वोढु	२३३
नून चंक्रमणं	२१६	बह्मन् दुहि तृभिः	२९३
नेह यत्कर्म	२९५	ब्रह्माऽसृजत्स्बमुखतो	२२२
नैकत्र ते जयति	१५३	भगवन्तंपरं ब्रह्म	३०४
नैतब्दताऽ धीश	१९१	भगवांस्तु मदा	५६
पति सा	२९१	भर्त्तुः पुरस्बात	२८०
पदासव्येन	८०	भूषणानि परा	२७७
परानुषक्त	४६	भ्राजिष्णुना विमानेन	२८५
परं प्रधानम्	३१८	मत्तद्विज गणैः	२१०
पश्यामि नाऽन्यं	३२६	मनुः स्यन्दन	२०६
पाहि मां	१४३	मनो ब्रह्माणि	३२८
पितृव्या प्रस्थिते	२५६	मनोवीर्य मदो	१७
पुण्यद्रुमलता	२०९	मयायथानूक्त	१०२
पुनर्गदास्वां	५७	मयाप्रोक्त	३२०
पुलहाय गतिं	३११	मरीचये कलां	३११
पेतुः सुमनसो	३०३	मही प्रतिष्ठा	११५
प्रजापतिपतिः	१२६	मा खिदो	२९८
प्रजापतिर्नाम	१४	मात्र चा ऽऽध्यात्मिकी	३२५
प्रजापतेः सुतः	१९७	मामात्मानंस्वयं	३२४
प्रजापतेस्ते	१८६	मुहुः परिधयो	८
प्रजाःसृजेति	१७४	मैनं मायाविनं	६३
प्रत्तां दुहितरं	२४२	यः पृष्टो मुनिभि	२२२
प्रवबुर्वायव	९०	य उद्यत	२३१
प्रविश्य तत्तीर्थ	२१२	यतोऽभवत्	२३८
प्रादुष्कृतानां	६३	यदा तु भवतः	२२९
प्रांशु पद्म पलाशाक्षं	२१४	यदा सस्मार	२८०
प्रियव्रतोत्तान पदौ	२२८	यस्मिन भगवतो	२०८
प्रियव्रतोत्तानपादौ	१४०	यावा कोस्वित्त्व	१५२
प्रियायाः प्रियं	२६८	यां हर्म्य पृष्ट	२३६
प्रेक्षयित्वाभुवो	२८७	या त आत्मभूतं	२००
बहुभिर्यक्ष	६२	ये मरीच्यादयो	१२६

श्लोक	पेज नं०	श्लोक	पेज नं०
ये मे स्वधर्म	२६१	स आहतो	६६
येऽ हीयन्ता	१६३	स उग्रधन्वन्	२४०
यो गजेन्द्र	१०५	स उ।व्रज्य	१४२
योऽर्केन्द्वग्नन्द्रि	२१७	स एव भगवान्	३१५
यो वै हिरण्याक्ष	१०२	स एवमुत्सिक्त	२५
यं योगिनौ	६६	स एव स्वान्तरं	२५०
य: प्रष्टो मुनिभि:	२५२	सकिन्नरान्	१६१
रजः प्रधानात्	१३१	सगामुदस्तात्	४५
राद्धं बत	२६५	सङ्गीतवत्	६
रुचिर्यो भगवान्	१७२	सञ्ज्ञेय:	२६५
रुदन्तो रासभ:	१०	सचाऽवतीर्ण	३१३
लिखन्त्य धौमुखो	२६१	स चेह विप्र	१६८
लोकाश्च लोका	१८४	स तदा	७३
वायुर्ववौ सुदु:स्पर्श:	६	स तामा।तती	८२
वासुदेवे भगवति	३२६	स तुद्यमानो	३७
वितर्कयन्तो बहुधा	१५०	स तं निशम्या	७८
विदित्वा तव	१६५	स तं विरज	१७६
विद्याधरी सहस्रेण	२८१	स तां कृतमल	२८१
विद्योतमानंवपुषा	२१२	सत्यं वयं	४६
विनष्टामु स्वमाया	६५	सत्वयाऽऽराधित	३००
विन्यस्त चरणाम्भोज	१७६	सद्वितीया:	१२६
विभज्य नवधा	२८७	स भवान्	२२७
विसृज्य कामं	२५८	सभाजयन्	३०४
विश्रम्भेणात्म	२५७	सभार्य:	२४७
विससर्जात्मन:	१३७	समाहितं ते	१६६
विहारस्थान	२७२	सर्वकामदुघं	२६८
वृक्णे स्यशूले	८७	सर्वतद्भुग	२६२
वेदाह माद्य	३०८	सर्वषपूगानु	२१
वेश्रम्भके सुरसने	२८४	स वै तिरो	१८
व्रतं स आस्थितो	३२७	स वै देवर्षि	२५८
शतरूपा महाराज्ञी	२४१	ससर्जच्छायया	१३५
शारीरा मानसा	२५१	सहाचला	६
श्रोण्योरध्यस्तया	२७८	सहाऽहंस्वांश	३०२
स आत्मानं	१६४	सातद्भुर्त:	२७४

श्लोक	पेज नं०	श्लोक	पेज नं०
सा अन्तः सरसि	२७५	स्नातंकृतशिरः	२७
साहता	७२	स्रग्भिर्विचित्र	२६६
साऽहं	२६६	स्व पौरुषे	८३
सिद्धान्विद्या	६१	स्व सैन्यचरण	२१८
सुदता सुभ्रुवा	२७८	स्वायम्भुवस्य	१७०
सृजन्नमर्षितः	५५	स्वीयं वाक्यं	३१६
सृष्द्वाऽ भूत पिशाचान्	१५६	हरेर्धृतः क्रोड़	१२४
सोऽधिक्षिप्तो	५४	हिरण्याक्षो	१५
सोऽनुप्रविष्टो	१३३	हंसपारावत	२७३
सोऽनुज्ञात्वा	२४	क्षत्तामहाभाग	११७
सोऽवधार्यस्य	१४४	क्षितौ शयानं	६८
सोऽशापिष्टा	१३२	क्षुतृड्भ्यां	१३८
स्नानेन तां	२७६	ज्ञान विज्ञान	३०८

※ ※ ※

—: शुद्धि पत्र :—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	६	सौर गये	लौट गये
४	१६	यावया	वाक्या
५	५	....	इति
७	२	ग्रवाह	प्रवाह
८	२५	....	प्रदकोयः
१३	१७	वित्यइदा	वित्यङ्गदा
१४	११	....	तन्मध्ये
१७	१६	स्त्रीधादिकं	स्त्रीधनादिकं
१९	१३	स्प्रष्टत्वा	सृष्टत्वा
२७	२२	त्वेन निरूप्य	त्वेन भगवन्तं निरूप्य
७०	१०	इति व	इति बोधयति
१०२	८	मारणे हेतु.......प्रादिसूका	हरिरितितस्य तथा करणे स्वधर्मा हेतु । आदि सूकद

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०५	२६	शरीरणै	शरीरेणै
१०६	३३	क्षक्षय........आयुषा	क्षक्षयः इति वाक्यात् । तत्रयमाह आयुषा
११७	१६	सः........सुष्ठु	सः । किञ्च, सुहृत्, सुष्ठु
१२५	६	मनिष्यनिवृति	मनिष्ट निवृति
१४०	४	षंव नाः	एवं ताः
१४३	६	इमा मामेव	इमा प्रजा मामेव
१४६	६	दृष्टाया (तेष्वेत) वर्णनम्	दृष्टाया वर्णनम्
१५३	१६	पतत्यङ्ग	पतत्पतङ्ग
१८२	२१	सिरद्धिस्माकं	सिद्धिरस्माकं
१८३	१	स्वतः........दर्शनं	स्वतः सिद्धाः दर्शनं
१६१	८	प्राप्ता....सवमेन	प्राप्तां तदा सर्व मेव
२००	अन्तिम पंक्ति		आगे का भाग पृष्ठ ३४० पर देखें
२०१	२३	आत्मतत्व	आत्म व त्वं
२१४	१२	राक्यये	शक्यते
२१६	अन्तिम पंक्ति		आगे का भाग पृष्ठ ३४० पर देखें
२३२	१४	बाधक मुक्ता	बाधकमुक्त्वा
२४४	६	स्थिानतामुप	स्थितानामुप
२४८	७	शत्रणां	शत्रूणां
२६३	२४	यद	यदर्थं
२७५	२३	मर्वाः	सर्वाः
२७६	१८	कर्मकरीदान्सी	कर्मकरीदासी
२६७ कारिका	१	तथाऽध्याम्	तथाऽध्याये
३०२	७	सनि	सति
३०६	२१	कटभार्दन	कैटभार्दन
३१६	२८	ग्रहेऽवतीर्णोसि	गृहेऽवतीर्णोसि
३१६	४	ज्ञानत्वयऽप्यु	ज्ञानशक्तयाऽप्यु
३२०	४	पर हंसो	परम हंसो
३२०	८	शोकत्वान्ज	शोकत्वान्च
३२५	२	चिद्रूपा	चिद्रूपो
३२७	१८	नानप्रपञ्चः	नामप्रपञ्चः
३२६	५	ममेति । ....नाश्ती	ममेति । तदुभयमपि नास्ती
३३०	२	षगुएसंपन्ने	षड् गुणसंपन्ने
३३०	३	परमहंसंज्ञें	परमहंसैज्ञेय
३३०	२१	राधेयभूतं........भगवन्तं	राधेयभूतम स्वात्मरूपं भगवन्तं